सम्पूर्ण योगसूत्र व्याख्या सहित

भूमिका :-

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।

योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां, पतंजलि प्रांजलिरानतोऽस्मि।।

'योगशास्त्र से मन का, व्याकरण शास्त्र से वाणी का और वैद्यक शास्त्र से शरीर के मल नष्ट करने वाले पतंजलि मुनि के सम्मुख मैं नतमस्तक हूँ।

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः ।

चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ।।१४६।। वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्)

शरीर , वाणी और बुद्धि के मलों को दूर करने के लिये जिन्होंने तीन शास्त्रों की रचना की।

योगशास्त्र के आद्य प्रवर्तक हिरण्यगर्भ माने जाते हैं। हिरण्यगर्भ से प्रारम्भ हुई योगशास्त्र परम्परा गुरु और शिष्य के उपदेश द्वारा पतंजलि तक अखंड चलती रही। पतंजलि ने उस परम्परा को सूत्रबद्ध करके संग्रहीत किया। अत: योगशास्त्र की परम्परा अन्य शास्त्रों के समान अति प्राचीन काल से जारी है। इस बात की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण प्राचीन वेद वाङ्मय में मिलते हैं। योगसूत्र के पहले ही सूत्र से यह स्पष्ट है। यह पहला सूत्र है 'अथ योगानुशासनम्'। इस सूत्र में अनुशासन शब्द का अर्थ है 'बाद में किया हुआ उपदेश'। मुमुक्षु के लिए चित्तवृत्ति निरोध रूप योग साधना अनिवार्य है। मोक्ष की सिद्धि प्राप्त करने के लिए पतंजलि मुनि के द्वारा प्रकाशित योगमार्ग अत्युत्कृष्ट तथा अत्यावश्यक है। पतंजलि प्रणीत राह के राहियों को राह में आने वाले विघ्नों, खतरों तथ संकटों से मानवीय मन का स्वरूप ध्यान में रखकर स्पष्टतया सावधान किया गया है।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।४.१।।श्रीमद् भगवद्गीता

श्रीभगवान् ने कहा — मैंने इस अविनाशी योग को विवस्वान् (सूर्य देवता) से कहा (सिखाया); विवस्वान् ने मनु से कहा; मनु ने इक्ष्वाकु से कहा।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१३.२।। श्रीमद् भगवद्गीता।

समस्त कार्य? करण और विषयोंके आकारमें परिणत हुई त्रिगुणात्मिका प्रकृति पुरुषके लिये भोग और अपवर्गका सम्पादन करनेके निमित्त देहइन्द्रियादिके आकारसे संहत (मूर्तिमान्) होती है? वह संघात ही यह शरीर है? उसका वर्णन करनेके लिये श्रीभगवान् बोले –, इदम् इस सर्वनामसे कही हुई वस्तुको शरीरम् इस विशेषणसे स्पष्ट करते हैं। हे कुन्तीपुत्र शरीरको चोट आदिसे बचाया जाता है इसलिये? या यह शनैःशनैः क्षीण — नष्ट होता रहता है इसलिये? अथवा क्षेत्रके समान इसमें कर्मफल प्राप्त होते हैं इसलिये? यह शरीर क्षेत्र है इस प्रकार कहा जाता है। यहाँ इति शब्द एवम् शब्दके अर्थमें है। इस शरीररूप क्षेत्रको जो जानता है — चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त (इस शरीरको) जो ज्ञानसे प्रत्यक्ष करता है अर्थात् स्वाभाविक या उपदेशद्वारा प्राप्त अनुभवसे विभागपूर्वक स्पष्ट जानता है उस जाननेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। यहाँ भी इति शब्द पहलेकी भाँति एवम् शब्दके अर्थमें ही है? अतः क्षेत्रज्ञ ऐसा कहते हैं। कौन कहते हैं उनको जाननेवाले अर्थात् उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंको जो जानते हैं वे ज्ञानी पुरुष (कहते हैं)।

एकाग्रता —

'चित्तवृत्तिनिरोध' का अभिप्राय है मन की आत्यंतिक या परमावधि की एकाग्रता। यही योग दर्शन का उद्देश्य है। इस एकाग्रता की साधना और फल योगसूत्रों में सुस्पष्ट किये गए हैं। पातंजलि योग अष्टांगयोग के नाम से भी प्रसिद्ध है, क्योंकि पतंजलि ने योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्यहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग बताए हैं। आठ अंगों के लक्षण और उनके अनुष्ठान से प्राप्तव्य, लौकिक तथा अलौकिक लाभ आदि का विवेचन भी पतंजलि ने किया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम होते हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान, ये पांच नियम हैं। इनमें यम सार्वभौम हैं, यह पतंजलि का मत है। इनके आचरण के लिए देश काल परिस्थिति का कोई बंधन नहीं है। ये महाव्रत हैं और किसी भी कारण इनका आचरण टाला नहीं जा सकता। एक दृष्टि से हम यह भी कह सकते हैं कि पांच यम समाज धारणा के लिए अत्यावश्यक हैं। अत: वे सामाजिक कर्तव्य सिद्ध होते हैं। शौच आदि नियम वैयक्तिक कर्तव्य रूप हैं। व्यक्ति जीवन विकास के लिए उनका आचरण आवश्यक है। यमों का पालन न

करने वाला, अर्थात् हिंसक, असत्यभाषी, चोरकर्मी, कामासक्त और अत्यधिक लोभी मनुष्य सामाजिक स्वास्थ्य के लिए घातक सिद्ध होता है। परन्तु नियमों की अवज्ञा करने वाला अर्थात् मलिन, असंतुष्ट, उच्छृंखल, शास्त्रों का अनभ्यासी और नास्तिक मनुष्य, यद्यपि समाज धारणा को प्रत्यक्षत: अस्त व्यस्त तो नहीं करेगा, पर वैयक्तिक जीवन ज़रूर बरबाद करेगा।

यह योगशास्त्र चार पादों या भागों में विभक्त है-

समाधि पाद (५१ सूत्र)

साधना पाद (५५ सूत्र)

विभूति पाद (५५ सूत्र)

कैवल्य पाद (३४ सूत्र)

कुल सूत्र = १९५

समाधिपाद :-

समाधिपाद में चित्तवृत्तिनिरोध का फल वर्णित है। वह है 'जीव का स्वस्वरुप में अवस्थान'। यह बताते हुए निरोध रहित स्थिति में जीव किन किन वृत्तियों में अवगुंठित हो जाता है, वृत्तियां कितनी और कौन कौन सी हैं, आदि बातें पतंजलि ने बतायी हैं। पतंजलि बताते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ज्ञान के साधन अर्थात् प्रमाण हैं। इसी पाद में शब्द से विकल्पात्मक ज्ञान होता है, यह कल्पना पतंजलि ने प्रस्तुत की है। पतंजलि ने विकल्प का लक्षण बताया है 'शब्दाज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प:' कभी, शब्दोच्चार के तुरन्त बाद किसी विषय का ज्ञान होता है। परन्तु इस ज्ञान में ज्ञात विषय अर्थात् वस्तु का कहीं भी अस्तित्व में नहीं रहता। जैसे, वंध्यापुत्र, खरगोश का सींग, गोल त्रिकोण, पुरुष का चैतन्य आदि शब्द प्रयोग सुन लेने के बाद कुछ ज्ञान होता है, परन्तु ज्ञात वस्तु का संसार में अस्तित्व कभी होता नहीं है। एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः । मृगतृष्णाम्भसि स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः ॥ अहो , कितना आश्चर्य ! यह देखो वंध्या स्त्री का पुत्र जा रहा है। उसके बालों में आकाशपुष्प की माला है और उसने मृगतृष्णा के जल में स्नान किया है। और उसके हाथ में खरगोश के सींग से तैय्यार किया हुआ धनुष्य है। सब आश्चर्यकारक ही है। एक बहरे ने सुना कि गूँगे ने कहा है कि अन्धे ने देखा है कि लंगड़ा दौड़ रहा है | बोलने वाला किसी वस्तु की स्थूल कल्पना करके बोलता है तथा सुनने वाला भी कल्पित वस्तु का ज्ञान पाता है। यह मनुष्यमात्र का अनुभव है और इसी की ओर निर्देश पतंजलि ने किया है। इस विकल्प रुप पदार्थ को हम सत्य भी नहीं कह सकते तथा सर्वथा असत्य भी नहीं कह सकते। क्योंकि बन्ध्या स्त्री भी संसार में होती ही है और पुत्र भी सभीको देखने में आते ही हैं। पतंजलि द्वारा प्रस्तुत इस विकल्प की कल्पना अभिनव तथा मौलिक है। इसी पाद में पतंजलि ईश्वर का स्वरुप और उसकी आवश्यकता बताते हैं। ईश्वर अविद्या, अस्मिता आदि पांच क्लेशों से तथा कर्म, जन्म-मरण और वासना से सदैव मुक्त रहता है। जीवन का मूल स्वरुप भी यही है। अविद्योपाधिः सन् आत्मा जीव इत्युच्यते । नैयायिकों ने ईश्वर का अस्तित्व अनुमान से सिद्ध किया है। क्षित्यंकुरादि सृष्टि का उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिए। मर्त्य मनुष्य तो इस सृष्टि का सृजन कभी नहीं कर सकता। नित्यज्ञान, नित्य इच्छा और नित्यकृति इन तीन गुणों से मंडित ईश्वर अनुमान के आधार पर सिद्ध होता है। 'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' इस न्याय के अनुसार वस्तु के अस्तित्व का अवलोकन करने वाली लक्षण और प्रमाण, ये दो ही आँखें हैं। ईश्वर का स्वरुप और उसके उपयोग के साथ साथ प्रथम पाद में समाधि के प्रकार, चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करने के साधन आदि विषय चर्चित हैं।

साधनपाद :-

दूसरे साधनपाद में क्लेश, द्रष्टा का अर्थात् पुरुष का स्वरुप, अविद्या का कारण, योग के आठ अंग और उनकी फलश्रुति आदि वर्णित हैं।

विभूतिपाद :-

तीसरे विभूतिपाद में योग के अंतरंग साधन, योगानुष्ठान से प्राप्त होने वाली विभिन्न सिद्धियाँ आदि विषयों का प्रतिपादन करते हुए पतंजलि ने सूचित किया है कि सिद्धियों का मोह करना समाधि के लिए अनिष्टकारी तथा कैवल्य प्राप्ति के मार्ग में विघ्न ही है। कुछ फल सबकी अनुभूति का विषय हो सकते हैं तथा वर्तमान काल में भी स्वीकारणीय हैं। अहिंसावृत्ति दृढ़ होते ही वैरभाव छूट जाता है। संतोष से उत्कृष्ट सुख का लाभ होता है इत्यादि।

कैवल्य पाद :-

चौथे पाद में विज्ञानवाद के खंडन के साथ साथ स्वरुप प्रतिष्ठा अर्थात् कैवल्य का वर्णन किया है। चित्तवृत्तिनिरोध से द्रष्टाअपने केवल विशुद्ध रुप में रहता है और वही है स्वरुप प्रतिष्ठा या कैवल्य। । इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि पतंजलि ने योगसूत्र की रचना करके एक अतीव उपयुक्त शास्त्र की परम्परा प्रदीप्त की और मनुष्य जाति को ऐहिक तथा पारलौकिक आनंद का अखंड निर्मल आत्मनिर्भर निर्झर उपलब्ध करा दिया।

"नत्वा पतञ्जलिमृषिं वेदव्यासेन भाषिते । संक्षिप्तस्पष्टबह्वर्था भाष्ये व्याख्या विधास्यते॥'

विषय सूची

योगसूत्र व्याख्या – समाधिपाद

व्याख्याता — स्वामी निर्दोष

अथ समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ॥१.१॥

योग का तात्पर्य है एकीभाव को प्राप्त हो जाना , मिलजाना , जुड़जाना किसके साथ ? द्रष्टा के साथ अथवा अपने स्वरुप के साथ क्योंकि हम भ्रान्तिवश दृश्य के साथ जुड़े हुए हैं इसीलिये जीवन में दुःख है, भय है, शोक है और चिन्ता है | योग एक उपाय है , विधि है जिससे हम दृश्य से हटकर द्रष्टारुप होकर बैठजायें जैसे एक कुशल किसान जिस प्रकार अपने खेत को तैयार करता है वैसे ही हम

अपने चित्त की भूमि को कैसे तैयार करें इसके लिए महर्षि पतञ्जलि ने उत्तम अधिकारियों के लिए सर्वप्रथम समाधिपाद की रचना की। अर्थात् मन को समाहित करने की शिक्षा का आरम्भ जिसके द्वारा लक्षण, भेद, उपाय और फलों के सहित शिक्षा दी जाए अर्थात् व्याख्या की जाय उसको अनुशासन कहते हैं इसीलिए 'अथ योगानुशासनम्'। इसके अर्थ हुए कि अब लक्षण, भेद, उपाय और फलों सहित योग की शिक्षा देनेवाले शास्त्र को आरम्भ करते हैं | कुछ लोग योग को समाधि कहते हैं यद्यपि समाधि योग का अङ्ग है योग का फल नहीं। योग का अन्तिम तात्पर्य, परिणाम उसका फल तो सत्वान्यताख्याति अथवा पुरुषख्याति है , प्रकृति-पुरुष का विवेक होकर के पुरुष में तादात्म्यापत्ति योग का फल है। लेकिन जब तक चित्त समाहित नहीं होता, समाधिस्थ नहीं होता तब तक इस भूमिका को प्राप्त नहीं किया जा सकता। 'युजिर् योगे, संयोजने' और 'युज् समाधौ' – इन दो धातुओं से योग शब्द की निष्पत्ति होती है। "संयोगोयोग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो:" — जीवात्मा का परमात्मा से संयोग, यही योग है। जीव की उपाधि अन्तःकरण है (मन है) और ईश्वर की माया समष्टि मन है) इन दोनों उपाधियों को यदि हटा दिया जाए और शुद्ध चेतन में स्थिति हो जाए तो योग सिद्ध हुआ समझो। "समाधिःसमतावस्था जीवात्मपरमात्मनो: ब्रह्मण्येवस्थितिर्यासासमाधि: प्रत्यगात्मनः " — जब जीवात्मा और परमात्मा एक सम अवस्था में अवस्थित हो जाएँ अर्थात प्रत्यगात्मा की ब्रह्म में सम्यक् स्थिति हो जाए उसी का नाम समाधि है। योगी याज्ञवल्क्य ने कहा है कि —

"इज्याध्ययन-दानानि तपः स्वाध्याय-कर्म च ।

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ॥"

बाह्य चित्त वृत्ति के निरोध से जो आत्माका यथार्थ ज्ञान होता है, यह परम धर्म है । इस प्रकार सभी व्याख्याकारों ने मुख्यतः व्यास जी ने यहाँ पर योग का अर्थ समाधि में ही लिया है और समाधि की सारी भूमियों में (सारी अवस्थाओंमें) में जो चित्त का धर्म है। वह तीन भूमियों में, तीन अवस्थाओं में दबा रहता है और केवल दो भूमियों में प्रकट होता है। चित्तकी पांच भूमियां है, पांच अवस्थाएं हैं — क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध इनका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे किया जाएगा। इनमें से अत्यन्त चञ्चल चित्त को क्षिप्त, जैसे किसी शान्त सरोवर में किसीने ढेला डाल दिया अथवा चित्तकी जो stressed अवस्था है वह क्षिप्त अवस्था है। जैसे कि व्यक्ति अनेक इच्छाओं को एक साथ पूरा करना चाहता है, उसको क्षिप्त अवस्था कहते हैं। दूसरी है मूढ़ अवस्था, इसमें निद्रा, तन्द्रा और आलस्य आदि से युक्त जो चित्त है इसको मूढ़ कहते हैं। क्षिप्त से जो श्रेष्ठ चित्त है अर्थात् जिसमें कभी कभी स्थिरता होती है ऐसे चित्त को विक्षिप्त चित्त कहा जाता है। {वि} — उपसर्ग है, इसका अर्थ विगत, विरुद्ध, विपरीत और विशेष, इस प्रकार से इस उपसर्गके अर्थ होते हैं – "विगतः क्षिप्तत्वं यस्मात्" अथवा "क्षिप्तत्वेन विपरीतम्" । ऐसा जो चित्त है, उसको विक्षिप्त चित्त कहेंगे। इस अवस्था में कुछ कुछ स्थिरता रहती है। क्षिप्त और मूढ़ चित्त में तो योगकी गन्ध भी नहीं होती और विक्षिप्त चित्त में जो कभी कभी क्षणिक स्थिरता होती है उसकी भी योगपक्ष में गिनती नहीं है क्योंकि यह स्थिरता दीर्घकाल तक स्थिर नहीं रहने पाती, शीघ्र ही प्रबल चञ्चलता से नष्ट हो जाती है इसलिए विक्षिप्त भूमि भी योगरूप नहीं है। जिसका एक ही अग्र विषय हो अर्थात् एक ही विषय में विलक्षण वृत्ति के व्यवधान से रहित, बीच-बीच में कोई दूसरी बात न आ जाये, इस प्रकार एक ही वृत्ति का जो प्रवाह होता है उसको एकाग्रचित्त कहते हैं। ऐसी एकाग्रता नृत्य में भी हो जाती है, गायन, वादन में भी हो जाती है इष्टपदार्थ के भोजन में भी हो जाती है, इष्टमित्र के संयोग में भी ऐसी एकाग्रता हो जाती है। यह 'एकाग्र' नाम वाली जो चित्त की वृत्ति है अथवा अवस्था है, ये अपने आत्मा के सत्स्वरुप को प्रकाशित करने में और क्लेशों का नाश करने में, बन्धन को ढीला करने में और निरोधवृत्ति के प्रति अभिमुख करने में सहायक होती है। इसी एकाग्रवृत्ति में सम्प्रज्ञात-समाधि अथवा सम्प्रज्ञात-योग प्राप्त होता है। इसके चार भेद हैं – वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ये सब विषय आगे आएंगे। इसके बाद जब सारी वृत्तियों का निरोध हो जाता है उस – सर्ववृत्ति निरोधस्वरुप – जो चित्त की वृत्ति है उस निरुद्ध चित्त में असम्प्रज्ञात समाधि घटित होती है, उसी को असम्प्रज्ञात-योग कहते हैं। इस समाधि अवस्था को प्राप्त करने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने आठ साधन बताये हैं, वो योग के आठ अंग कहे जाते हैं — यम, नियम,

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि — ये आठ अंग हैं। योग के आदिवक्ता हिरण्यगर्भ हैं – हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि: स उच्यते।

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद यत्।

ये वचन, याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत और श्रीमद्भागवत से लिए हैं। ऋग्वेद में भी कहा है —

हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।१०.१२१.१|| (ऋग्वेदः)

सभी उत्पत्तिशील पदार्थों और प्राणियों का एक ही स्वामी हिरण्यगर्भ (परम पिता परमेश्वर) है ईश्वर ही पृथ्वी को धारण कर समस्त चर अचर जीवों का भरण पोषण करने वाला है हम यज्ञ कर्म द्वारा उस परमेश्वर की स्तुति कर पूजा करते हैं | इस मन्त्र में 'कस्मै' शब्द का अर्थ 'एकस्मै' ले लेना चाहिए, ये वहां पर अध्याहृत कर लेना चाहिए। वह एक ही देव है जिसने 'द्यौ' व 'पृथ्वी' को धारण किया हुआ है।

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते

हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः।- (छान्दोग्य उपनिषद्. १. ६. ६)

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दशि स्तुतः।

योगै: सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभु: स्मृतः।। — महाभारत

हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृत:।

महानिति च योगेषु विरञ्चीति तथाप्यजः।।

हिरण्यगर्भो जगदान्तरात्मा (अद्भुत रामायण)

इस प्रकार ये हिरण्यगर्भ भगवान् ही योग के और वेदों के आदि-प्रवक्ता हैं, इन्होने कहा है —

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।२.३.११ || (कठोपनिषद)"

उस स्थिर दशा को जिसमें इन्द्रियां मन की धारणा की अवस्था के अधीन हैं, 'योग' कहते हैं; उस दशा में मनुष्य सर्वथा सचेतन-जागरूक हो जाता है; क्योंकि 'योग' ही पदार्थों का उद्भव तथा लय दोनों ही है।

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् || २.३.१० ||" (कठोपनिषद्)

जब पाँचो इन्द्रियाँ शान्त होकर स्थिर हो जाती हैं तथा मन भी उनके साथ स्थिर हो जाता है, और 'बुद्धि' की प्रक्रियाएँ भी शान्त हो जाती हैं तो वह उच्चतम अवस्था (परमा गति) होती है, ऐसा मनीषीगण कहते है। अर्थात् जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं प्रत्याहार के द्वारा अन्तर्मुख हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा रहित हो जाती है, चित्त की सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब उसको परम गति — सबसे ऊंची अवस्था कहते हैं, उसी को योग मानते हैं। जो इन्द्रियों की निश्चल धारणा है, शरीर स्थिर, प्राण स्थिर, मन स्थिर, इन्द्रियां स्थिर उस समय वह योगी जो प्रमाद से अपने स्वरूप को भूला हुआ जो वृत्ति-सारुप्य प्रतीत हो रहा था, उससे रहित हो जाता है अर्थात् शुद्ध परमात्म-भाव में अवस्थित हो जाता है क्योंकि योग, प्रभव और अप्यय निरोध के संस्कारों के प्रादुर्भाव अर्थात प्रकट होने और व्युत्थान के संस्कारों के अभिभव अर्थात दबने का जो स्थान है, जहाँ व्युत्थान नहीं होता और निरोध की अवस्था स्थिर रहती है, उसी को योग कहते हैं।

गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है —

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह ||६.१० ||

शरीर और मन को संयमित किया हुआ योगी एकान्त स्थान पर अकेला रहता हुआ आशा और परिग्रह से मुक्त होकर निरन्तर मन को आत्मा में स्थिर करे। अर्थात् योगी पुरुष अकेला एकान्त स्थान में बैठकर, एकाग्रचित्त होकर, आशा और सङ्ग्रह को त्यागकर निरन्तर आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़े।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् || ६. ११ || (श्रीमद् भगवद्गीता)

शुद्ध (स्वच्छ) भूमि में कुश, मृगशाला और उस पर वस्त्र रखा हो ऐसे अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापित करके।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये || ६. १२ || (श्रीमद् भगवद्गीता)

वहाँ (आसन में बैठकर) मन को एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में किये हुये आत्मशुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे | समं काय शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् || ६. १३ || काया, सिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किये हुए स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्र भाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ | अर्थात सर गर्दन और धड़ एक सीध में, अचल और स्थिर करके, स्थिर रहे हुए, इधर उधर न देखता हुआ, नासिका के अग्रभाग में दृष्टी रख। नासिका का अग्रभाग माने, नासिका का मूल जहाँ पर है अर्थात आज्ञाचक्र में, वृत्ति को स्थिर करे। थोड़ा सा अधखुली आँखों से, थोड़ा ऊपर देखते हुए शाम्भवी मुद्रा में जल्दी एकाग्रता आ जाती है |

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः || ६.१४ || (श्रीमद् भगवद्गीता)

(साधक को) प्रशान्त अन्त:करण, निर्भय और ब्रह्मचर्य ब्रत में स्थित होकर, मन को संयमित करके चित्त को मुझमें लगाकर मुझे ही परम लक्ष्य समझकर बैठना चाहिए |

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।६. १५ ।। (श्रीमद् भगवद्गीता)

इस प्रकार सदा मन को स्थिर करने का प्रयास करता हुआ संयमित मन का योगी मुझमें स्थित परम निर्वाण (मोक्ष) स्वरूप शांति को प्राप्त होता है |

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन || ६. ४६ ||(श्रीमद् भगवद्गीता)

क्योंकि योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और (केवल शास्त्र के) ज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इसलिए हे अर्जुन तुम योगी बनो।।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्यायुक्तो योगबलेनचैव।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैतिदिव्यम् || ८. १० ||

वह (साधक) वह भक्तियुक्त चित्त वाला पुरुष अन्तकाल में योगबल से प्राण को भ्रकुटि के मध्य सम्यक् प्रकार स्थापन करके निश्चल मन से भक्ति युक्त होकर उस परम दिव्य पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है |

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।

मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।८.१२।। (श्रीमद् भगवद्गीता)

हे अर्जुन ! सब इन्द्रियों के द्वारों को रोककर अर्थात इन्द्रियों को विषयों से हटाकर तथा मन को हृद्देश में स्थित करके और प्राण को अपने ब्रह्मरन्ध्र में स्थापन करके योगधारणा में स्थिर होकर –

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।८.१३।। (श्रीमद् भगवद्गीता)

जो पुरुष (ॐ) ऐसे, इस एक अक्षर रुप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरुप मुझ , परमात्मा का चिन्तन करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है। इन श्लोकों का तात्पर्य है कि हृदय बहुत सी नाड़ियों का केन्द्रस्थान है वहां से एक नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र की तरफ जाती है। जैसा कि श्रुति बतलाती है —

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति ।। २ .३ .१६ ।। (कठोपनिषत्)

एक सौ एक हृदय की नाड़ियां हैं उनमें से एक, 'सुषुम्ना' नाम वाली नाड़ी मूर्धा की ओर निकलती है उस नाड़ी से ऊपर चढ़ता हुआ योगी अमृतत्व, ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। दूसरी नाड़ियों से निकलने में भिन्न-भिन्न गति की प्राप्ति होती है। जो योगी प्रत्याहार द्वारा मन को हृदय में स्थिर करके, पूरे मनोबल से, सारे प्राण को उस मुख्य नाड़ी से, प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाता है और वहां योगधारणा का आश्रय किये हुए 'ॐ' का जाप करता हुआ और उसके अर्थभूत ईश्वर का चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागता है वह

परमगति को प्राप्त होता है, किन्तु इस प्रक्रिया को अन्तसमय में वही कर सकता है जिसने जीवनकाल में इसका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लिया हो। योगदर्शन का परम प्रयोजन स्वरूप स्थिति है, इसको अत्यन्त सुगमता से, सरलता से नियम तथा ज्ञानपूर्वक इसको क्रियात्मक रूप कैसे दिया जाए इसका सुन्दरतम वर्णन योगदर्शन में किया गया है। साधनों के भेद से योग को राजयोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, निष्काम कर्मयोग, अनासक्ति योग, भक्तियोग, हठयोग, लययोग इत्यादि श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। इस दर्शन का मुख्य विषय राजयोग अर्थात ध्यानयोग है पर उपर्युक्त सब प्रकार के योग इसके ही अन्तर्गत हैं।

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते || १. २ || (हठयोग प्रदीपिका)

केवल राजयोग के लिए ही हठविद्या का उपदेश किया जाता है।

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते।

सूर्यचंद्रमसोर्योगाद्धठयोग निगद्यते।। (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

सूर्य – पिङ्गला नाड़ी अथवा दाहिनी नासिका अथवा प्राणवायु इसको ह-कार कहते हैं और चन्द्र – इड़ा नाड़ी अथवा अपान वायु और बायीं नासिका, इसको ठ-कार कहते हैं। ह-कार सूर्य, ठ-कार चन्द्रमा। इन सूर्य और चन्द्र अर्थात पिङ्गला और इड़ा नाड़ियों से बहने वाला जो प्राण का प्रवाह है अथवा प्राण और अपान वायु को मिलाने का नाम हठयोग है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ || ५. २७ || (श्रीमद् भगवद्गीता)

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।५ .२८।। (श्रीमद् भगवद्गीता)

बाह्य पदार्थोंको बाहर ही छोड़कर और नेत्रोंकी दृष्टिको भौंहोंके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपान वायुको सम करके जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वशमें हैं, जो मोक्ष-परायण है तथा जो इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित है, वह मुनि सदा मुक्त ही है |

अपाने जुह्वति प्राण प्राणेऽपानं तथाऽपरे।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः || ४. २९ || (श्रीमद् भगवद्गीता)

अन्य (योगीजन) अपानवायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, तथा प्राण में अपान की आहुति देते हैं, प्राण और अपान की गति को रोककर, वे प्राणायामके परायण हुए योगीलोग अपानमें प्राणका पूरक करके, प्राण और अपानकी गति रोककर फिर प्राणमें अपानका हवन करते हैं | इस प्रकार प्राणायाम और प्रत्याहार से मनोवृत्तियों को एकाग्र और निरुद्ध दशा की तरफ आगे बढ़ाया जा सकता है। यम और नियम, ये न केवल व्यक्तिगत रूप से, विशेषतया योगियों के लिए बल्कि सामान्य रुप से सभी वर्णों, आश्रमों तथा मत-मतान्तरों, जातियों, देशों और समस्त मनुष्य समाज के लिए माननीय हैं, मुख्य कर्तव्य हैं, परम धर्म हैं। इस प्रकार इस पातञ्जल योगदर्शन में सब प्रकार के योगों का समावेश हो गया है। दूसरा सूत्र है –

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥१.२॥

चित्त की वृत्तियों को रोकना, यही योग है। निरोध अर्थात रोकना। जो बहिर्मुख वृत्तियाँ हैं जो संसार की तरफ, जो बाह्य विषयों की तरफ जा रही हैं, वहां से उनको लौटा कर, उलटाकर, अन्तर्मुख करके अपने चित्त में लीन कर लेना, यही योग है। ऐसा यह निरोध सब चित्त की भूमियों में, सब प्राणियों का धर्म है जो कभी किसी के चित्त में प्रकट हो जाता है प्रायः यह चित्तों में छिपा हुआ ही रहता है अर्थात चित्त से तमरुपी मल का जो आवरण है उसको हटाकर और राजस की जो विक्षेपरूप चञ्चलता है उससे निवृत्त होकर सत्व के प्रकाश में जो एकाग्र वृत्ति से रहे उसको योग समझना चाहिए। सारी सृष्टि, सत्व, रजस और तमस, इन तीन गुणों का ही परिणाम रुप है। एक धर्म, आकार अथवा रुप को छोड़कर, धर्मान्तर के ग्रहण अर्थात दुसरे धर्म, आकार अथवा रुप के धारण करने को परिणाम कहते हैं। चित्त इन गुणों का सबसे प्रथम सत्व प्रधान परिणाम है इसीलिए इसको चित्तसत्व भी कहते हैं, यह इसका अपना व्यापक स्वरुप है। यह सारा स्थूल जगत जिसमें हमारा व्यवहार चल रहा है। रज तथा तम प्रधान गुणों का परिणाम है। बाह्य जगत के रज और तम प्रधान पदार्थों और विषयों से जब इस चित्त का संपर्क होता है तो उसको चित्तवृत्ति कहते हैं। इस विषय को और स्पष्ट रुप से समझना चाहिए, मानो चित्त एक अगाध, परिपूर्ण सागर का जल है। जिस प्रकार पृथ्वी के सम्बन्ध से खाड़ी, झील, तलाव, कुआं, सरोवर इत्यादि अनेक प्रकार के परिणाम (परिमाण) को जल प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार चित्त अपने अन्तर में राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय इत्यादि आकारों को धारण कर लेता है और जिस प्रकार वायु आदि के वेग से जल में तरंगे उठती हैं इसी प्रकार चित्त, इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों से आकर्षित होकर उनके जैसे ही आकारों के रुप में परिणित हो जाता है – यह सब चित्त की वृत्तियाँ कहलाती हैं जो कि अनन्त है और प्रतिक्षण उदय होती रहती हैं जैसे जल, वायु आदि के अभाव में तरंग आदि आकारों को परिणामों को त्याग कर अपने ही स्वभाव में, शान्त स्वभाव में अवस्थित हो जाता है वैसे ही जब चित्त, बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयाकार परिणाम को त्यागकर अपने स्वरुप में अवस्थित हो जाता है तब उसको चित्तवृत्ति निरोध कहते हैं। ये वृत्तियाँ रजोगुणी, तमोगुणी और सतोगुणी होती हैं। जब उसमें रजोगुण और तमोगुण, इन दोनों का मेल होता है तब ऐश्वर्य और विषय प्रिय लगते हैं। जब यह तमोगुण से युक्त होता है तब अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य को प्राप्त होता है। वही चित्त जब तमोगुण के नष्ट होने पर रजोगुण के अंश से युक्त होता है तब धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। वही चित्त जब रजोगुण के लेशमात्र मल से भी रहित होता है तब वह अपने स्वरुप में स्थिर होता है, प्रतिष्ठित कहलाता है। तब चित्त में सत्व और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान होता है जिसको विवेक-ख्याति अथवा भेदज्ञान कहते हैं। विवेकख्याति के परिपक्व होने पर धर्म-मेघ समाधि की अवस्था प्राप्त होती है अर्थात वहां धर्म बरसता है, ब्रह्मानन्द अपना आत्मानन्द अपना ही स्वरुप है उसमें वो सराबोर हो जाता है। इस प्रकार चित्त से साक्षी पुरुष को भिन्न देखना ही विवेकख्याति कहलाती है। अब तीसरा सूत्र है –

तदा द्रष्टुः स्वरुपेऽवस्थानम् ॥ १.३॥

तदा – उस समय (निरोध की अवस्था में) द्रष्टुः – द्रष्टा की – स्वरूपे – अपने ही रूप अर्थात् चेतन-मात्र में अवस्थानम् – स्थिति हो जाती है । क्योंकि इसमें कोई सांसारिक, प्राकृतिक विषय नहीं रह जाता और जब अविवेक की अवस्था होती है अर्थात जब विवेक नहीं होता है उस समय यह चित्त अपनी स्वाभाविक पांच अवस्थाओं में रहता है उनके नाम पहले गिनाये थे – मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। ये पाँच चित्त की भूमियाँ (भूमिकायें) हैं। इनमें पहली तीन भूमियाँ सामान्य संसारी लोगों की होती हैं और अन्तिम दो भूमियां (एकाग्र और निरुद्ध) योग में सहायक होती हैं।

मूढ़ अवस्था में तमोगुण प्रधान और सत्वगुण गौण होता है अर्थात दबा हुआ होता है , तमोगुण की प्रधानता होती है इसलिए निद्रा, तन्द्रा, मोह, भय, आलस्य, दीनता, भ्रम इत्यादि इसके गुण है।

दूसरी अवस्था है क्षिप्त अवस्था – इसमें रजोगुण प्रधान होता है तथा तम और सत्वगुण गौण होते हैं। दुःख, चञ्चलता, चिन्ता, शोक और संसार के कामों में प्रवृत्ति, अज्ञान, अधर्म, राग, अनैश्वर्य, और ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य इन सबमें मिली-जुली प्रवृत्ति इस क्षिप्त अवस्था में होती है। कभी धर्म का विचार करता है कभी अधर्म का विचार करता है।

तीसरी अवस्था है विक्षिप्त अवस्था – यह सत्व प्रधान है, इसमें रज और तमोगुण गौण हैं, दबे हुए रहते हैं। इस अवस्था में सुख, प्रसन्नता, क्षमा, श्रद्धा, धैर्य, चैतन्यता, उत्साह, वीर्य, दान और दया और विशेषकर के ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐस्वर्य की वृत्तियों की प्रबलता रहती है।

चौथी अवस्था है एकाग्र अवस्था – इस अवस्था में भी सत्व गुण ही प्रधान रहता है, रज और तम, ये नाममात्र के लिए रहते हैं। इस अवस्था में वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। इस अवस्था में तटस्थता आती है। यह इष्ट अवस्था है, प्राप्त करने जैसी स्थिति है।

और अगली है पांचवीं निरुद्ध अवस्था – ये तीनों गुणों से बाहर है। यहाँ सारे चित्त के परिणाम बन्द हो जाते हैं केवल संस्कार शेष रहते हैं। इसी अवस्था में दृष्टा की स्वरूपस्थिति होती है। यह ऊँचे योगियों की स्थिति है। जब चित्त की वृत्तियों का सम्पूर्णतया निरोध हो जाता है तो – तदा द्रष्टुः स्वरुपे अवस्थानं – तदा माने तब ऐसी स्थिति में वह अपने स्वरुप में स्थित हो जाता है और यदि नहीं होता तो चौथा सूत्र है —

वृत्तिसारूप्यम् इतरत्र ॥ १.४ ॥

वृत्तिसारुप्यम् इतरत्र – जब वह शुद्ध द्रष्टा की स्थिति में नहीं होता तब वृत्ति की ही समानरुपता को धारण कर लेता है। अब ये वृत्तियाँ पांच प्रकार की होती है। पतञ्जलि ने वृत्तियों का विभाग किया है, पांच में उनको बाँट दिया है। वो कौन कौन सी होती हैं यह अगले प्रकरण में विचार करेंगे। वृत्ति विमर्श :- योगका अर्थ है, स्वयं के स्वरुप का यथार्थ ज्ञान कराना लेकिन इसका यथार्थ ज्ञान इसलिए नहीं होता है कि प्रकृति से यह मिला हुआ है, प्रकृति में इसका प्रतिबिम्ब पड़ता है और अन्तः करण प्रकृति का परिणाम है । मूल प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था है, उसमें जब क्षोभ होता है तो प्रकृति से विकृति उत्पन्न होती है। पहली विकृति है महत्तत्व, महत्तत्व से फिर अहङ्कार का जन्म होता है और अहङ्कार से पञ्च तन्मात्राओं का जन्म होता है और फिर उन पञ्च तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन, इन सबकी उत्पत्ति होती है, तो मूल रुप से यह त्रिगुण रुप का ही चमत्कार है। इस त्रिगुण के कारण ही मन में शान्त, घोर और मूढ़ – ये तीन प्रकार की अवस्थाएं हमेशा रहती हैं। जब सत्वगुण प्रधान होता है तब शान्त अवस्था होती है; जब रजोगुण बलवान होता है तो घोर अवस्था होती है और जब तमोगुण प्रधान हो जाता है तो मूढ़ावस्था आ जाती है। इन्ही के अवान्तर भेद करके पञ्च अवस्थाएं कही गयी हैं – मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। मूढ़, में तमोगुण की और क्षिप्त में रजोगुण की और विक्षिप्त में सतोगुण की प्रधानता रहती है और एकाग्र में सत्व बहुत ज्यादा बढ़ जाता है, यह अवस्था समाधी के बहुत ही करीब है और निरुद्ध तो सम्पूर्ण योग ही है। जब सारी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, शान्त हो जाती हैं, तब पुरुष अपने स्व के रुप में प्रतिष्ठित, अवस्थित हो जाता है और यदि वृत्तियाँ निरुद्ध नहीं हुईं तो यह पुरुष वृत्तियों के आकार जैसा ही दिखता है :- जैसे लाल फूल के ऊपर आप स्फटिक रख दीजिये तो स्फटिक भी लाल लाल दिखता है लेकिन अगर वहां से फूल को हटा दो या लाल कपडे को हटा दो तो स्फटिक अपने शुद्ध रुप में सफ़ेद, शुभ्र, जैसा है वैसा दिखता है। जैसे कोई लाल चश्मा लगा ले तो सारी बिल्डिगें , पेड़-पौधे सब लाल-लाल दिखें और पीला चश्मा लगा ले तो पीले दिखें, हरा चश्मा लगा ले तो हरे हरे दिखें ऐसे ही जो जो वृत्ति होती है उसी वृत्ति की स्वरुपता को यह धारण कर लेता है। अब यह वृत्तियाँ हज़ारों होती हैं। मिठाई के आकार की वृत्ति, साइकिल के आकार की वृत्ति, घर के आकार की वृत्ति, स्त्री के आकार की वृत्ति, पुरुष के आकार की वृत्ति यमाकार वृत्ति , नियमाकार वृत्ति , आसनाकार वृत्ति आदि | परन्तु इनको अच्छी तरह से समझने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने इनको पांच विभागों में बाँट दिया है। उनका विवरण पांचवें सूत्र में है — पांचवां सूत्र है-

वृत्तयः पञ्चतय्यःक्लिष्टाऽक्लिष्टाः॥१.५॥

वृत्तियाँ पांच प्रकार की होती हैं – क्लिष्ट अर्थात रागद्वेषादि क्लेशों की हेतु और अक्लिष्ट अर्थात रागद्वेषादि क्लेशों को नाश करनेवाली। बाह्य पदार्थ असंख्य होने के कारण उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ भी असंख्य हैं। इन सबका सुगमता से ज्ञान हो सके इसलिए उन सब निरोद्धव्य वृत्तियों को पांच श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इन पांच प्रकार की वृत्तियों में से कोई क्लिष्ट रुप होती

हैं और कोई अक्लिष्ट रुप। सत्व प्रधान वृत्तियाँ अक्लिष्ट रुप होती हैं और तमस प्रधान वृत्तियाँ क्लिष्ट रुप होती हैं अर्थात जिन वृत्तियों के हेतु अविद्या आदि पांच क्लेश हैं और जो कर्माशय, अर्थात अन्तःकरण में कर्मों के संस्कार इकट्ठा करती हैं, कर्मों के समूह की उत्पत्ति की भूमियां हैं वे क्लिष्ट कहलाती हैं और जहाँ अविद्या आदि दोष नहीं हैं वहां कर्माशय के समूह का भी नाश हो जाता है इसलिए वे अक्लिष्ट कहलाती हैं | विवेकख्याति रुप वृत्ति अक्लिष्ट कहलाती है | यद्यपि क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार बहुत गहरे जमे होते हैं तथापि उनके छिद्रों में सत्शास्त्र, सत्सङ्ग, गुरुजनों के उपदेश से, अभ्यास और वैराग्य से अक्लिष्ट वृत्तियाँ भी वर्तमान रहती हैं अर्थात उनके द्वारा अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। वृत्तियों का यह स्वभाव है कि वे अपने सदृश संस्कारों को उत्पन्न करती हैं। क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट संस्कारों को उत्पन्न करती हैं और अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारों को। इस प्रकार छिपी हुई अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होकर अक्लिष्ट संस्कारों को और अक्लिष्ट संस्कार अक्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करते रहते हैं। यह चक्र यदि निरन्तर चलता रहे तो क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध हो जाता है पर इनके संस्कार सूक्ष्म रूप से वृत्तियों के छिद्रों के रुप में बने रहते हैं जब उनका भी नाश हो जाए तब निर्बीज समाधि सम्पन्न होती है । उपर्युक्त विधि के अनुसार जब क्लिष्ट वृत्तियाँ यहाँ-वहां सब जगह से दब जाती हैं तबअक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध परवैराग्य से हो जाता है और इन सब वृत्तियों का निरोध ही असम्प्रज्ञात योग है। अब इन पांच वृत्तियों के नाम बतलाते हैं।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥ १.६॥

ये हैं – प्रमाण, विपर्यय , विकल्प, निद्रा और स्मृति। ये पांच प्रकार की वृत्तियाँ हैं। प्रमाण वृत्ति के तीन भेद हैं | इन वृत्तियों में सबसे पहले प्रमाण वृत्ति के स्वरुप को बताते हैं |

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥१.७॥

प्रत्यक्ष , अनुमान ,और आगम (वेद, शास्त्र तथा आप्त-पुरुष के वचन) ये तीन प्रमाण वृत्तियाँ हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ज्ञान के साधन अर्थात् प्रमाण हैं। सबसे पहली वृत्ति है प्रमाणवृत्ति, जिसमें हमारा सारा लौकिक व्यवहार चलता है। वो प्रमाण हैं तीन – प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रत्यक्ष – अक्षं अक्षं प्रति जायमानं इति प्रत्यक्षं | जो प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से जाना जाय सो प्रत्यक्ष प्रमाण | अनुमान – अप्रत्यक्ष पदार्थ का ज्ञान जो प्रत्यक्ष के सहारे से हो सो | प्रत्यक्षं अनु , जैसे अनुज होता है , अनुयायी होता है | ऐसे ही अनुमान प्रत्यक्ष का अनुगमन करता है | (और) आगमाः – वेद, शास्त्र तथा आप्त-पुरुषों के वचन – (ये तीन) प्रमाणानि – प्रमाण (वृत्तियाँ हैं) । प्रत्यक्ष प्रमाण वो होता है, जिसका हमको ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान होता है – रुप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध इन सबका ज्ञान हमको आँख, कान, नाक, रसना , त्वचा और मन से होता है। ये प्रत्यक्ष ज्ञान के करण हैं। ज्ञान को प्रमा कहते हैं और करण को प्रमाण अर्थात करण को ज्ञान का साधन कहते हैं और ज्ञाता को प्रमाता कहते हैं। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय; यह त्रिपुटी है। प्रमा माने यथार्थ ज्ञान और उस यथार्थ ज्ञान, यथार्थ प्रमा का जो साधन है उसको प्रमाण कहते हैं और चक्षु आदि इन्द्रियां उस ज्ञान के साधन हैं इसलिए वो प्रमाण हैं और रूप, रस, गन्धादि प्रमेय हैं तो मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ ये सब प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और यह बात मैं अनुमान से जानता हूँ और यह बात मैं वेद-शास्त्र के द्वारा जानता हूँ इस प्रकार से तीन प्रमाण होते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

अनुमान प्रमाण के तीन भेद होते हैं – पूर्ववत् , शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् अनुमान वो होता है जैसे कारण को देख के कार्य का अनुमान करना, बादलों के देखकर के होने वाली वर्षा का अनुमान कर लेना। दूसरा होता है शेषवत् , कार्य से कारण का अनुमान जैसे नदी के मटीले पानी के देखकर ऊपर पहाड़ में कहीं वर्षा हुई है ऐसा अनुमान कर लेना; इसको शेषवत् कहते हैं और एक होता है सामान्यतोदृष्ट – जो सामान्य रुप से देखा गया हो जैसे एक बच्चे के साथ एक पुरुष जाता हो तो उन्हें देख कर पिता-पुत्र का अनुमान कर लेना | प्रत्येक कार्य के पीछे निमित्त कारण सामान्य रूप से देखा जाता है | परन्तु विशेष रूप से न देखा गया हो जैसे घड़ा, जैसे मिटटी के बने हुए घड़े को देखकर उसके बनाने वाले कुम्हार का अनुमान कर लेना क्योंकि प्रत्येक बनी हुई वस्तु का कोई न कोई चेतन,

निमित्त कारण सामान्य रूप से देखा जाता है। अनुमान का मूल प्रत्यक्ष ही है क्योंकि पूर्व प्रत्यक्ष द्वारा ही अनुमान होता है | व्याप्तिग्रह के बिना अनुमान नहीं होता | अनुमान के विषय में उदयनाचार्य की यह उक्ति बहुत ही प्रसिद्ध है " कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः । वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥"न्यायकुसुमांजलि. ५.१ " उदयनाचार्य ने तर्क के {अनुमान के} द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है। कुसुमांजलि में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये निम्नलिखित आठ 'प्रमाण' दिये हैं —

(१) कार्यात्- अर्थात् कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमेयं सृष्टेः निमित्तकारणं परमात्मा एव । यह जगत् कार्य है अतः इसका निमित्त कारण अवश्य होना चाहिए। जगत् में सामंजस्य एवं समन्वय इसके चेतन कर्ता से आता है। अतः सर्वज्ञ चेतन ईश्वर इस जगत् के निमित्त कारण एवं प्रायोजक कर्ता हैं।

(२) आयोजनात् — जड़ होने से परमाणुओं में आद्य स्पन्दन नहीं हो सकता और बिना स्पंदन के परमाणु द्वयणुक आदि नहीं बना सकते। जड़ होने से अदृष्ट भी स्वयं परमाणुओं में गतिसंचार नहीं कर सकता। अतः परमाणुओं में आद्यस्पन्दन का संचार करने के लिए तथा उन्हें द्वयणुकादि बनाने के लिए चेतन ईश्वर की आवश्यकता है।

(३) धृत्यादेः — जिस प्रकार इस जगत् की सृष्टि के लिए चेतन सृष्टिकर्ता आवश्यक है, उसी प्रकार इस जगत् को धारण करने के लिए धर्ता एवं इसका प्रलय में संहार करने के लिए चेतन संहर्ता की आवश्यकता है. और यह कर्ता-धर्ता-संहर्ता ईश्वर है। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ तिष्ठतः ।९। " (बृहदारण्यकोपनिषद्-३.८.९) "अविनाशी भगवान की शक्ति के नियंत्रण में सूर्य और चन्द्रमा अपनी कक्षा में घूमते रहते हैं।"

(४) पदात् — अर्थात शब्दों से , पदों में अपने अर्थों को अभिव्यक्त करने की शक्ति ईश्वर से आती है। "इस पद से यह अर्थ बोद्धव्य है", यह ईश्वर-संकेत पद-शक्ति है। वेदेषु ईश्वरादि पदात् परमात्मा ईश्वरः अनुमेयः । "स : पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात्"

(५) प्रत्ययतः — प्रत्यय माने विश्वास या निश्चय | धर्म और अधर्म के बीच में धर्म का निश्चय करना | कर्तव्य और अकर्तव्य के मध्य कर्तव्य का निर्णय करना | तथा पाप और पुण्य का निर्णय भी ईश्वर की प्रेरणा के बिना नहीं हो सकता | अतः इन विषयों में प्रामाण्य और विश्वास परमेश्वर के माध्यम से ही होता है । वृत्तियों के उदय और अस्त होने में भी ईश्वरेच्छा ही प्रमाण है "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।" मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (उनका अभाव भी) होता है।

(६) श्रुतेः — अर्थात् वेदात् , वेद पौरुषेय है आयुर्वेद के समान वेद होने से | "सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति" जिस (परम) पद का सभी वेद महिमागान करते हैं | वेद के बिना ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् ।" अर्थात् जो वेद नहीं जानता वह ईश्वर को नहीं जान सकता । तथा "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो" समस्त वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य (जानने योग्य) वस्तु हूँ

(७) वाक्यात् — 'वाक्यत्वात्' वेद पौरुषेय है , महाभारत आदि के समान वाक्य होने से।

"निश्वसितमस्य वेदाः वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि ।

स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः ।।२।।भामती"

"तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥"

'उसका' ही ज्ञान प्राप्त करके व्यक्ति मृत्यु की पकड़ से परे चला जाता है तथा इस महद्-गति के लिए दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है।

(८) संख्याविशेषात् — नैयायिकों के अनुसार द्वयणुक का परिणाम उसके घटक दो अणुओं के परिमाण्डल्य से उत्पन्न नहीं होता, अपितु दो अणुओं की संख्या से उत्पन्न होता है। संख्या का प्रत्यय चेतन द्रष्टा से सम्बद्ध है, सृष्टि के समय जीवात्मायें जड़ द्रव्य रूप में

स्थित हैं एवं अदृष्ट, परमाणु, काल, दिक्, मन आदि सब जड़ हैं. अतः दो की संख्या के प्रत्यय के लिए चेतन ईश्वर की सत्ता आवश्यक है। अदृष्टात्- अदृष्ट जीवों के शुभाशुभ कर्मसंस्कारों का आगार है। ये संचित संस्कार फलोन्मुख होकर जीवों को कर्मफल भोग कराने के प्रयोजन से सृष्टि के हेतु बनते हैं. किन्तु अदृष्ट जड़ है, अतः उसे सर्वज्ञ ईश्वर के निर्देशन तथा संचालन की आवश्यकता है। अतः अदृष्ट के संचालक के रूप में सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

और तीसरा है आगम प्रमाण अथवा शब्द प्रमाण क्योंकि अलौकिक विषय में वेद ही प्रमाण हो सकते हैं।

स्वर्गकामो यजेत् – अब स्वर्ग किसने देखा है और जब देखा ही नहीं तो अनुमान भी कैसे कर सकते हैं तो उसमें केवल वेद ही, आप्त वचन ही प्रमाण हैं। {अन्य सभी प्रमाण इन तीनों के अन्तर्गत ही है जैसे कि उपमान , अर्थापत्ति , अनुपलब्धि , ऐतिह्य , सम्भव और चेष्टा संकेत आदि } यह प्रमाणों का विषय शास्त्रों में बड़ी ही जटिल भाषा में और बड़े ही विस्तार से वर्णन किया गया है, यहाँ तो हम संक्षेप में केवल परिचय मात्र ही दे रहे हैं। तो पांच वृत्तियों में से पहली वृत्ति है प्रमाण और दूसरी वृत्ति है विपर्यय । विपर्यय माने – मिथ्या ज्ञान, विपरीत ज्ञान, यथार्थ ज्ञान से भिन्न। जिसका वर्णन अगले आठवें सूत्र में करते हैं।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् अतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥१.८॥

पांच वृत्तियों में से दूसरी वृत्ति है विपर्यय। विपर्यय वृत्ति को अविद्या और तम आदि नामों से भी जाना जाता है। जो निज रूप में प्रतिष्ठित ज्ञान है वह तो प्रमाण ज्ञान है और इसके विपरीत (उलटा) जो ज्ञान है उसको विपर्यय ज्ञान कहते हैं। इसीलिये विपर्यय वृत्ति को प्रमाण नहीं कहा जा सकता क्योकि प्रमाणवृत्ति से यह कट जाती है। संशय ज्ञान भी विपर्ययज्ञान के अन्तर्गत ही है क्योंकि जब यथार्थ ज्ञान होता है तब ये दोनों बाधित हो जाते हैं। " विपर्ययो नाम मिथ्याज्ञानं अतद्रूपप्रतिष्ठम् "- सूत्र है – विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् अतद्रूपप्रतिष्ठम् ||

अतद्रूपप्रतिष्टं यज्ज्ञानं सत्यत्ववर्जितम्।

अविद्याख्यं भवेद्योगे संज्ञा तस्य विपर्ययः ॥ २० ॥ योगसूत्रसारः"

यह विपर्यय नाम वाली चित्त की वृत्ति अविद्या कही जाती है। फिर आगे चल कर इसी के पाँच भेद हो जाते हैं जो समस्त संसार में दुःख के महाकारण हैं। इन भेदों का विवरण दूसरे पाद में (साधनपादके तीसरे सूत्र में) किया जायगा। भेद केवल इतना ही है कि विपर्यय चित्त की एक वृत्तिरूप है और पञ्च क्लेश वृत्तियों के संस्कार रुप होते हैं। विपर्यय: – विपर्यय (का अर्थ है) मिथ्या ज्ञान, उलटा ज्ञान , विपरीत ज्ञान (जो) अतद्रूप – उस (वस्तु के) स्वरुप में प्रतिष्ठित नहीं है । विपर्यय माने मिथ्या ज्ञान और अतद्रूपप्रतिष्ठम् – जो उस पदार्थ के निज रूप में प्रतिष्ठित नहीं है अर्थात जो उस पदार्थ के वास्तविक रुप को प्रकाशित नहीं करता। ऐसा ज्ञान विपर्ययज्ञान या मिथ्या ज्ञान है। जैसे सीपी में चांदी देखना, एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा देखना, रज्जु में सर्प देखना, स्थाणु में पुरुष देखना या चोर की कल्पना करना ये सब विपर्यय ज्ञान के उदहारण हैं । तत्त्व-पक्षपातो हि धियां स्वभाव इति । सत्य तत्व का पक्षपात करना ही बुद्धि का स्वभाव होता है। सत्य से विपरीत को विपर्यय कहते हैं। इस विपर्यय के पांच अन्य नाम बताए हैं-तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अंधतामिस्त्र। इनके रहते आत्मस्वरुप का दर्शन नहीं हो सकता। योग दर्शन में विपर्यय का स्वरुप —

"तमो मोहो महामोहस्तामिस्त्रो ह्यन्धसंज्ञितः ।

अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ।। २.२६ ।। वराहपुराणम्"

सर्वप्रथम है तम (अज्ञान), दूसरा है मोह, माने अविवेक तीसरा है महामोह (भोगेच्छा), चौथा है तामिस्त्र (क्रोध) एवं पाँचवां अन्धतामिस्त्र (अभिनिवेश) माने शरीर को मैं और मेरा मानकर मृत्यु से भयभीत होना नामक पंचपर्वा (पाँच प्रकार की) अविद्या उत्पन्न

हुई । ये ही विपर्यय के पाँच भेद हैं।

“मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ रामचरितमानस उत्तरकाण्ड” सब रोगों की जड़ मोह (अज्ञान) है। उन व्याधियों से फिर और बहुत से शूल उत्पन्न होते हैं। काम वात है, लोभ अपार (बढ़ा हुआ) कफ है और क्रोध पित्त है जो सदा छाती जलाता रहता है।

अब विपर्यय के प्रतिभेदों की विस्तृत चर्चा करते है —

“भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।

तामिस्त्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्त्रः ॥ ४८॥ सांख्यकारिका”

भावार्थ — (विपर्यय के पाँच भेद — तमस्, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अंधतामिस्त्र है। उसमें से अनुक्रम से) तमस् के आठ, मोह के भी आठ, महामोह के दस, तामिस्त्र के अठारह और अंधतामिस्त्र के भी अठारह प्रकार है। अब विपर्यय के भेद-प्रतिभेद का विस्तृत वर्णन बताते है। (१) तमस् ; आत्मा से भिन्न – मूल प्रकृति, महत् तत्व , अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं को ही आत्मा मान लेना पहला तमस् नामक भेद है। जिसे अविद्या भी कहते है। योगसूत्र में इसे ही अन्य चार भेदों का मूल माना है। वहां इसकी परिभाषा करते हुए – ‘अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मा मान लेना ही अविद्या कहा गया है। प्रकृति के मूल आठ भेद – १. मूलप्रकृति, २. महत्तत्व , ३. अहंकार और ५. पञ्चतन्मात्राएं / यद्यपि ये ‘पुरुष’ नहीं है इन्हीं में से किसी एक को अथवा सभी को पुरुष (आत्मा) मान लेना ही आठ प्रकार की अविद्या अथवा तमस् के भेद है। ज्ञान का आवरक होने से इसे तम कहते हैं। प्रकृति का ज्ञान रखने और वैराग्य होने पर भी पुरुष के विषय में इस प्रकार का अज्ञान होने के कारण उपासक को अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती। (२) मोह , यह भी आठ प्रकार का होता है अणिमादि आठ ऐश्वर्यों में {अणिम, महिमा, लघिमा, गरिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व में ममता का होना } अस्मिता होना यह मोह है। (३) महामोह राग रुप है और दस प्रकार का है। शब्द, स्पर्श, रुप, रस, और गन्ध लौकिक और अलौकिक (दृष्टानुश्रविक) के भेद से दस प्रकार का होता है। (४) तामिस्त्र — द्वेष रुप है और यह अठारह १८ प्रकार का है। आठ प्रकार का अणिमादि ऐश्वर्य और शब्दादि दस प्रकार के विषय मिलकर अठारह हो जाते हैं और फिर ये परस्पर टकराकर द्वेष (क्रोध) उत्पन्न करते हैं। (५) अन्धतामिस्त्र — भी इसी तरह अठारह प्रकार का है और यह अभिनिवेश रुप है। अर्थात ये १८ नष्ट हो जायंगे इस प्रकार का भय बना रहता है। इस प्रकार ये सब मिल कर खूब दुःख देते हैं। मोह दशमौलि, तदभ्रात अहँकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी । लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध पापिष्ठ – विबुधांतकारी ॥४॥ विनय पत्रिका||

विपर्यय वृत्ति किस प्रकार अक्लिष्ट रुप हो सकती है ? इस शंका के निवारण के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यह सारा त्रिगुणात्मक जगत ‘अविद्या है’, ‘माया है’, ‘स्वप्न है ’, ‘शून्य है’, ‘विज्ञान है’, इत्यादि कल्पनायें ‘अविद्यावादी’ ‘मायावादी’, ‘स्वप्नवादी’, ‘शून्यवादी’ ‘विज्ञानवादी’, इत्यादि की भ्रममूलक, अयथार्थ और विपर्ययरुप हैं; क्योंकि त्रिगुणात्मक जड़तत्व को ‘अविद्या’, ‘माया’, अथवा ‘शून्य’, मानने में उसीके अन्तर्गत होनेके कारण सारे वेद- शास्त्र, साधन-सम्पत्ति, पुरुषार्थ, योग-अभ्यास और स्वयं ये सिद्धान्त और युक्तियाँ भी ‘अविद्या’, ‘माया’, ‘स्वप्न’, अथवा ‘शून्य’ रुप होकर विपर्यय सिद्ध होंगी और सारे सांसारिक तथा पारमार्थिक व्यवहार दूषित हो जायँगे। इस लिये त्रिगुणात्मक जड़तत्व को ‘अविद्या’, ‘माया’, ‘स्वप्न’, अथवा ‘शून्य’ मानना विपर्यय वृत्ति है। वास्तव में इस त्रिगुणात्मक जड़तत्व को आत्मा से भिन्न अनात्मतत्व मानना ही प्रमाण वृत्ति है। इस अनात्मतत्व में आत्मा का भान होना अर्थात् उसमें आत्माध्यासरुप विपर्यय-वृत्ति ही सारे बन्धनों का कारण होने से अत्यन्त क्लिष्टरुप है। इस अनात्मतत्व से आत्माध्यास को हटाना ही मनुष्य का मुख्य प्रयोजनऔर परम पुरुषार्थ है। इसलिये उपर्युक्त ‘अविद्यावादी’ ‘मायावादी’ और ‘शून्यवादियों’ की विपर्यय-वृत्ति सम्बन्धी बाह्य वाद-विवाद को छोड़कर अन्तर्मुख होते समय जड़तत्व से आत्माध्यास हटाने में

साधनरूपसे जब सहायक हो तो अक्लिष्टरूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार विज्ञान अर्थात चित्त आत्मा को बाह्य जगत दिखलाने के लिये त्रिगुणात्मक करण अर्थात साधन रुप ही है। इसलिये इससे अतिरिक्त बाह्य जगत को न मानना भी विपर्यय है; किंतु अन्तर्मुख होते समय जब साधनरूपसे जडतत्वसे आत्माध्यास हटाने में सहायक हो , तब यह विपर्यय-वृत्ति भी अक्लिष्टरूप धारण कर लेती है। मिथ्या ज्ञान कराना यही इस वृत्ति की विशेषता है और यह संसार के समस्त अनर्थों का बीज है, अतः यह अवश्य ही निरोद्धव्य है, यह भाव है । "सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।। ३. २.१ ।। ब्रह्मसूत्र।" मध्यवर्ती अवस्था में (स्वप्न का) होता है (वास्तविक) सृजन; क्योंकि उपनिषद ऐसा कहते हैं। तथा "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ३.२.५॥ ब्रह्मसूत्र। " हालांकि, परम भगवान के ध्यान से, जीव की तिरोहित शक्तियां और उसका स्वरुप प्रकट हो जाता है जो कि अज्ञान काल में अस्पष्ट रहता है; क्योंकि आत्मा का बंधन और मुक्ति उसी के ध्यान से प्राप्त होती है।

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।२.४५।।श्रीमद् भगवद्गीता" जो इस प्रकार विवेकबुद्धिसे रहित लोग हैं उन कामपरायण पुरुषों के लिये वेद त्रैगुण्यविषयक हैं अर्थात् तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारको ही प्रकाशित करनेवाले हैं। परंतु हे अर्जुन तू असंसारी हो कर निष्कामी हो। तथा निर्द्वन्द्व हो अर्थात् सुखदुःखके हेतु जो परस्पर विरोधी (युग्म) पदार्थ हैं उनका नाम द्वन्द्व है उनसे रहित हो कर और नित्य सत्त्वस्थ हो अर्थात् सदा सत्त्वगुणके आश्रित हो। तथा निर्योगक्षेम हो। अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेका नाम योग है और प्राप्त वस्तुके रक्षणका नाम क्षेम है योगक्षेमको प्रधान माननेवालेकी कल्याणमार्गमें प्रवृत्ति होनी अत्यन्त कठिन है अतः तू योगक्षेमको न चाहनेवाला हो। तथा आत्मवान् हो अर्थात् (आत्मविषयोंमें) प्रमादरहित हो। तुझ स्वधर्मानुष्ठानमें लगे हुए के लिये यह उपदेश है।

अब विकल्प-वृत्ति का लक्षण बताते हैं —

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥१.९॥

तीसरी वृत्ति है विकल्प — शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्योविकल्पः। शब्दज्ञान से उत्पन्न जो ज्ञान, उसका अनुगामी अर्थात उसके पीछे चलने वाला और वस्तु से शून्य, वस्तु की सत्ता की अपेक्षा नहीं रखता हो उसको विकल्पवृत्ति कहते हैं। जैसे राहु का सिर, मनुष्य ब्राह्मण है। राहु और सिर कोई अलग अलग वस्तु नहीं है; ब्राह्मण और मनुष्य कोई अलग अलग वस्तु नहीं है। यह शर्मा जी ब्राह्मण हैं अब शर्मा तो ब्राह्मण होता ही है। यह पुरुष चैतन्य है; पुरुष का चैतन्य, भैय्या चैतन्य के सिवाय पुरुष होता ही कहाँ है ? काले कोट वाला देवदत्त है, अब काले कोट वाले तो न जाने कितने वकील हैं , ये तो देवदत्त का कोई लक्षण नहीं हुआ। निष्क्रियः पुरुषः, अब आदमी कुछ न कुछ तो करता ही रहता है फिर भी शब्द व्यवहार होता है कि यह आदमी निकम्मा है आदि-आदि। तो शब्दों में तो जिसका व्यवहार हो लोक में, परन्तु वस्तु से शून्य हो {जिसमें वास्तविकता न हो} उसका नाम विकल्प है। इसी प्रकार अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः — पुरुष उत्पत्ति के धर्म वाला नहीं है तो पुरुष तो उत्पत्ति के धर्म वाला है ही नहीं फिर भी ऐसा शब्द व्यव्हार होता है। जैसे काठ की पुतली; पुतली तो काठ की ही होती है। मिटटी का घड़ा; घड़ा तो मिटटी का ही होता है। पुरुष का चैतन्य; पुरुष है तो चैतन्य ही होगा तो जहाँ अभेद में भेद और भेद में अभेद की कल्पना होती है उसको विकल्प वृत्ति कहते हैं। राहु और शिर, काठ और पुतली, यह दो-दो वस्तु नहीं है तथापि अभेद में भेद का आरोप किया गया है। लोहा और आग अथवा पानी और आग – यह दो-दो वस्तु हैं तथापि लोहे का गोला जलाने वाला है अथवा पानी से हाथ जल गया; इस कथन में भेद में अभेद का आरोप किया गया है तो शब्दज्ञानानुपाती — शब्द से तो जिसका व्यवहार हो लेकिन वास्तविकता में जो न हो। जैसे कलकत्ता यहाँ से पूरब में है लेकिन जापान में खड़े हो जाओ तो कलकत्ता पूरब में रहेगा? इसी प्रकार कवि लोग अनेक प्रकार की उत्प्रेक्षायें कर देते हैं जैसे कि "चन्द्रमुखी ललना", धूमस्तम्भः, {धुऐं का खम्भा} आदि — तो ये सब जो देश, काल और वस्तु से सापेक्ष होता है ये सब विकल्पवृत्ति ज्ञान के अन्तर्गत है। जो ज्ञान शब्दजनित ज्ञान के साथ-साथ होनेवाला है; और वस्तु की सत्ता से शून्य हो, वह विकल्प अर्थात कल्पना मात्र है । वस्तु का अभाव होने

से यह विकल्प वृत्ति शब्दों का आभास मात्र है इसलिये यह प्रमाण नहीं है। इसमें भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट भाव से विकल्प वृत्ति दुख और सुख देने वाली होती है। जैसे कि उपासना के लिये शालग्राम शिला में चतुर्भुज विष्णु बुद्धि, नर्मदेश्वर शिवलिङ्ग में पञ्चवक्त्र और त्रिनेत्र महेश्वर की बुद्धि, यह अक्लिष्ट विकल्प वृत्ति का उदाहरण है। अब क्लिष्ट विकल्प वृत्ति के उदाहरण देखिये —

"यस्यात्मबुद्धि: कुणपे त्रिधातुके स्वधी: कलत्रादिषु भौम इज्यधी: ।

यत्तीर्थबुद्धि: सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखर:॥ १०.८४.१३ ॥ श्रीमद्भागवत"

भावार्थ — वसुदेवजीके यज्ञ महोत्सव में श्री कृष्णजी उपदेश देते हैं — हे महत्माओ एवं सभासदो ! जो मनुष्य कफ, वात और पित्त इन तीन धातुओं से बने हुए शव तुल्य शरीर को ही अपना "आत्मा या "मैं" ऐसा समझता है तथा स्त्री पुत्र आदि को ही अपना समझता है और मिट्टी, पत्थर, लकडी आदि पार्थिव विकारों को ही "इष्टदेव" मानता है तथा जो केवल जल को ही तीर्थ समझता है लेकिन ज्ञानी महापुरुषों (चल तीर्थों) को तीर्थ नहीं समझता है, वह मनुष्य होने पर भी पशुओं में नीच गधा के समान अज्ञानी है।

पाषाण खण्डेश्वपि रत्न बुद्धिः कान्तेति धीः शोणितमांसपिण्डे।

पञ्चात्मके वर्ष्मणि चात्मभावो जयत्यसौ काचन मोहलीला ||

पत्थरके टुकड़ों में रत्नबुद्धि , शोणित और मांस के पिण्ड में प्रिय बुद्धि, पञ्चभूतात्मक देह में आत्मबुद्धि यह सब मोहलीला का चमत्कार है। 'अहं वृत्ति' भी एक विकल्प वृत्ति ही है, क्योंकि इसमें चेतन और अहंकार के भेद में अभेद का आरोप किया जाता है। पल, घड़ी, दिन, मास आदिकी ज्ञानरुप वृत्तियां भी विकल्प-वृत्तियाँ हैं; क्योंकि क्षणों के भेद में अभेद का आरोप किया जाता है। गौ आदि शब्दों में शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेद में अभेदसे भासनेवाली वृत्ति भी विकल्प वृत्ति ही है।

अब चौथी वृत्ति है – निद्रा —

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १.१०॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा — अभाव की प्रतीति को आश्रय करने वाली, अभाव प्रत्यय का आलम्बन करनेवाली जो वृत्ति है; वह निद्रा वृत्ति है। मैंने कुछ नहीं जाना, मैंने कुछ नहीं देखा सबका अभाव था, न पदार्थ था न मैं था, न दृष्टा था न दृश्य था, प्रतीति मात्र का अभाव था। अभाव की प्रतीति को आश्रय करनेवाली जो वृत्ति है वो निद्रा है। निद्रा वृत्ति ही है, इसको सूचित करने के लिए सूत्र में वृत्ति शब्द का ग्रहण किया। कई आचार्य निद्रा को वृत्ति नहीं मानते किन्तु योग के आचार्य आत्मस्थिति के अतिरिक्त चित्त की प्रत्येक अवस्था को वृत्ति ही मानते हैं। अभाव शब्द से जागृत और स्वप्नावस्था की वृत्तियों का अभाव अर्थात जागृत और स्वप्न की वृत्तियों के अभाव का जो हेतु तमोगुण है उसको जानना चाहिए। रजोगुण का धर्म, क्रिया और प्रवृत्ति है। जागृत अवस्था में चित्त में रजोगुण प्रधान होता है इसलिए वह सत्वगुण को गौणरूप से अपना सहकारी बनाकर अस्थिर रुप से क्रिया में अर्थात विषयों में प्रवृत्त करने में लगा रहता है। तमोगुण का धर्म है स्थिति, दबाना, रोकना अर्थात प्रकाश को और क्रिया को रोकना। सुषुप्ति अवस्था में तमोगुण, रजस तथा सत्व को प्रधान रुप से दबा देता है इसलिए चित्त में तमोगुण का ही परिणाम प्रधान रुप से होता रहता है। उस समय में अभाव की ही प्रतीति होती रहती है। जिस प्रकार एक अँधेरे कमरे में सब वस्तुएं छिप जाती हैं किन्तु सब वस्तुओं को छिपाने वाला अन्धकार दिखलाई देता है जो वस्तुओं के अभाव की प्रतीति कराता है। प्राण चलता रहता है, रुधिराभिसरण होता रहता है, करवटें बदलते रहते हैं लेकिन कुछ पता नहीं लगता; काम तो सारे चल रहे हैं और आत्मा तो कभी सोता ही नहीं वो तो नित्य चैतन्य है। इस प्रकार तमोगुण सुषुप्ति अवस्था में चित्त की सब वृत्तियों को दबा कर स्वयं स्थिर रुप से प्रधान रहता है किन्तु रजोगुण का नितान्त अभाव नहीं होता, तनिक मात्रा में रहता हुआ वह इस अभाव की प्रतीति कराता रहता है | चित्त के ऐसे परिणाम को निद्रावृत्ति कहते हैं। तब चित्त में तमोगुण वाली, मैं सोता हूँ, इस प्रकार की वृत्ति होती है, इस वृत्ति के संस्कार चित्त में उत्पन्न होते हैं फिर उससे स्मृति होती है कि

मैं सोया, मैंने कुछ नहीं जाना। यहाँ पर इतना विशेष यह भी जान लेना कि जिस निद्रा में सत्वगुण के लेशसहित तमोगुण का प्रचार होता है उस निद्रा से उठकर पुरुष को, मैं सुख से सोया मेरा मन प्रसन्न है और मेरी प्रज्ञा स्वच्छ है इस प्रकार की स्मृति होती है और जिस निद्रा में रजोगुण के लेशसहित तमोगुण का सञ्चार होता है उससे उठने पर इस प्रकार की स्मृति होती है कि मैं दुःखपूर्वक सोया, मेरा मन अस्थिर और घूमता सा है और जिस निद्रा में केवल तमोगुण का प्राबल्य होता है तो उससे उठने पर, मैं एकदम बेसुध सोया, मेरे शरीर के अंग भारी हो रहे हैं, मेरा चित्त व्याकुल है इस प्रकार की स्मृति होती है। यदि उस वृत्ति का प्रत्यक्ष न हो तो उसके संस्कार भी न हों और संस्कार न होने से स्मृति भी नहीं हो सकती इसलिए निद्रा एक वृत्ति है, वृत्तिमात्रका अभाव नहीं है। श्रुति और स्मृतियोंने भी निद्रा को वृत्ति ही माना है —

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च, गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।

तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥ ११. २७ ॥ श्रीमद्भागवत ||

जागृत, स्वप्न और निद्रा — ये गुणों से बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। एकाग्रता के तुल्य होते हुए भी निद्रा तमोमयी होने से सबीज तथा निर्बीज समाधि की विरोधिनी है इसलिए रोकने योग्य है। नशा तथा क्लोरोफार्म आदि से उत्पन्न हुई मूर्छित अवस्था भी निद्रावृत्ति के अन्तर्गत ही है।

"त्रिषुधामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।

तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सनातनः ॥ कैवल्योपनिषत्- १-१८"

तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) में जो कुछ भी भोक्ता, भोग्य और भोग के रूप में है, उनसे विलक्षण, साक्षीरुप, चिन्मय स्वरुप, वह सदाशिव स्वयं मैं ही हूं। मैं ही स्वयं वह ब्रह्मरुप हूँ, मुझमें ही यह सब कुछ प्रादुर्भूत हुआ है, मुझमें ही यह सभी कुछ स्थित है और मुझमें ही सभी कुछ विलीन हो जाता है; वह अद्वय ब्रह्मरुप परमात्मा मैं ही हूँ॥ " मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ ३.२.१० ॥ ब्रह्मसूत्र ||" जैसे दूसरी सभी वृत्तियों की तरह सुख ,दुःख और मोहात्मक वृत्तियाँ भी समाधि की विरोधिनी होने से निद्रा वृत्ति भी निरोद्धव्य ही हैं।

"जाग्रद्वृत्तिस्तथा वृत्तिः स्वाप्निकी तमसा यदा।

अभिभूते भवेतां सा वृत्तिर्निद्रेति कथ्यते ॥ २२ ॥

अभावश्चान्यवृत्तीनां तामसो जायते तदा।

मलिना चित्तसत्त्वस्य वृत्तिर्निद्रेति कीर्तिता ॥ २३ ॥

निद्राया वृत्तिरुपत्त्वं स्मरणादेव बुध्यते।

जागृतौ यादृशी दृष्टा स्मृतिर्निद्रा च तादृशी ॥ २४ ॥

विना वृत्तिं कथं ज्ञानम् ज्ञानाभावे कथम् स्मृतिः।

तस्मान्निद्रा भवेद्वृत्ति स्मृत्यासत्त्वाद्धि जागृतौ ॥ २५ ॥

जाग्रत् स्वप्नवृत्ती यदा तमसा मोहकारिणाऽभिभूयेते, वृत्त्यन्तराणाम् तामसेऽभावे जाते तदा चित्तस्य सद्वृत्तिरुपिणी मलिना वृत्तिः `निद्रा' इति कथ्यते। जाग्रदवस्थायां निद्राया अनन्तरं यादृशी स्मृतिः जायते निद्रा तादृशीति ज्ञातव्या। स्मृतिरनुभवाधीना, अनुभवश्च वृत्याधीनः। अतः निद्रा चित्तवृत्तिः।

जब मन पुरीतत नाड़ी में प्रवेश करता है तब सामान्य ज्ञान का अभाव हो जाता है तब निद्रा होती है।

"यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥ माण्डुक्योपनिषद्"

जब कोई सोता है तथा किसी भी कामना की अभिलाषा नहीं करता, न किसी स्वप्न को देखता है, तब वह है पूर्ण सुषुप्तावस्था। सुषुप्ति जिसका स्थान है, जो 'एकीभूत' हो गया है, जो प्रज्ञानघन अर्थात् स्वयं में घनीभूत प्रज्ञा है जो केवल आनन्दमय है, जो निरपेक्ष आनन्द का रसास्वाद करता है, सचेतन मन जिसके लिए द्वार है 'प्राज्ञ' 'प्रज्ञा का ईश', 'वह' तृतीय पाद है। बिना अनुभव के स्मृति नहीं होती अतः निद्रा वृत्ति रूप है।

अब अगली पांचवीं और अन्तिम वृत्ति है स्मृति —

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ १.११ ॥

अनुभूत विषय असम्प्रमोषः स्मृतिः — अनुभव किया हुआ जो विषय है और उसमें असम्प्रमोश, घटाया बढ़ाया नहीं, चुराया नहीं, इधर उधर से कुछ जोड़ा या तोड़ा नहीं ,बस तन्मात्र ही, बस जितना है उतना ही ज्ञान होना, इसको स्मृति कहते हैं। अनुभूत — (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा के) अनुभव किए हुए विषयों का असम्प्रमोष: — न छिपना अर्थात् संस्कारवश उनका ज्ञान के स्तर पर प्रकट हो जाना स्मृति कहलाता है। {असम्प्रमोष माने अस्तेय = अनपहरण अर्थात् चोरी न करना } सभी प्रकार की स्मृतियाँ प्रमाण- विपर्यय- विकल्प और निद्रा- की स्मृतियाँ अनुभव के बाद ही प्रकट होतीं हैं। 'संस्कार मात्र जन्यं ज्ञानं स्मृतिः', ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः, अर्थात् स्मृति वह ज्ञान है जिसका विषय पहले से ही ज्ञात हो। स्मृति से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है।

"गृहीतग्राहिणी वृत्तिश्चित्तस्य स्मृतिरुच्यते।

ऊना स्यादनुभूतेस्मा नाधिका तु कदाचन॥ २६ ॥ योगसूत्र सारः"

अनुभवसे ज्ञात, जानी हुई जो वस्तु है उसको अनुभूत कहते हैं। जब किसी दृष्ट या श्रुत, देखी या सुनी हुई वस्तु का ज्ञान होता है तब एक प्रकार का उस अनुभूत वस्तु का तदाकार संस्कार चित्त में पड़ जाता है फिर जब किसी समय जब कोई उद्बोधक सामग्री उपस्थित होती है तो वो संस्कार प्रफुल्लित हो उठता है और तब चित्त इस संस्कार विषयक परिणाम को प्राप्त हो जाता है। यह अनुभूत पदार्थ विषयक चित्त का तदाकार परिणाम स्मृति नाम की वृत्ति कहलाता है। यह स्मृति अनुभूत विषय से कुछ कम तो हो सकती है लेकिन ज्यादा कभी नहीं। इस प्रकार से संक्षेप में पाँच वृत्तियाँ बतायीं और इनका निरोध कैसे करना ? इसके लिये कहते हैं कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इनका निरोध होता है ये बात अगले सूत्र की व्याख्या में करेंगे। अब तक जो पाँच वृत्तियाँ बतायीं — प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति; ये वृत्तियाँ सात्विक, राजस और तामस होने से सुख, दुःख और मोह रुप परिणाम देती हैं। सात्विक वृत्तियाँ सुख देती हैं, राजस दुःख देती हैं और तामस मोह की कारण हैं और सुख-दुःख-मोह ये क्लेशरुप हैं। ये सब वृत्तियाँ ही निरोध करने योग्य हैं। मोह तो स्वयं ही अविद्यारुप होने से सब दुखों का मूल है। मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥ सब रोगों की जड़ मोह (अज्ञान) ही है। उन व्याधियों से फिर और बहुत से शूल उत्पन्न होते हैं। दुःख की वृत्तियाँ स्वयं ही दुःखरुप हैं। सुख की वृत्तियाँ सुख के विषयों और उनके साधनों में राग उत्पन्न करती हैं — सुखानुशयी रागः — सुखभोग के पश्चात् जो उसकी वासना रहती है वह राग है। उन सुख के विषयों तथा उन सुख के साधनों में विघ्न होने पर द्वेष उत्पन्न होता है। दुःखानुशयी द्वेषः —

इसलिए क्लेशजनक सुख, दुःख और मोहस्वरूप होने से ये सभी प्रकार की वृत्तियाँ त्याज्य हैं। इनका निरोध होने पर एकाग्रता रुप सम्प्रज्ञात योग और उसके बाद परवैराग्य के उदय होने पर असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। इसीको स्वस्वरूपावस्थान अथवा सत्वान्यथाख्याति, सत्व से {अंतःकरण से} मैं अलग हूँ, सत्व माने अन्तः करण, सत्व माने चित्त, चित्त से पुरुष, जीवात्मा, शुद्धचैतन्य अलग है; वो सबका साक्षी है, सबका दृष्टा है – साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च – ये स्वरुप है, इसको ही पुरुषान्यथाख्याति, सत्वान्यथाख्याति आदि नामों से कहा गया है | जिसको कि योग का फल बताया है। स्मृति चाहे सुखकी हो या दुःखकी, है तो विक्षेप रुप ही और तत्व साक्षात्कार में बाधक ही है। इसलिये निरोद्धव्य है।

अब इन पाँचों वृत्तियोंके निरोध का उपाय क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं –

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१.१२॥

अब अगला बारहवां सूत्र है – अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः – इन सारी वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के लिए दो उपाय हैं; अभ्यास और वैराग्य। चित्त का स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवाह वैराग्य द्वारा निवृत्त होता है और अभ्यास द्वारा आत्मोन्मुख, आन्तरिक प्रवाह स्थिर हो जाता है। भगवान् वेद व्यास जी ने अभ्यास और वैराग्य को बड़े सुन्दर रूपक से वर्णन किया है जो इस प्रकार है – चित्त एक उभयतोवाहिनी नदी है जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता रहता है, इसकी दो धाराएं हैं; एक संसार-सागर की ओर, दूसरी कल्याण-सागर की ओर बहती रहती है। जिसने पूर्व-जन्म में सांसारिक विषयों के भोगार्थ कार्य किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विषय मार्ग से बहती हुई संसार-सागर में जा मिलती है और जिसने पूर्व-जन्म में कैवल्यार्थ प्रयास किया है, काम किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक मार्ग में बहती हुई कल्याण-सागर में जा मिलती है। संसारी लोगों की प्रायः पहली धारा तो जन्म से ही खुली होती है किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र, गुरु तथा आचार्य की सेवा से एवं ईश्वर चिन्तन से खोलते हैं। पहली धारा को बन्द करने के लिए विषयों के श्रोत पर वैराग्य का बन्ध लगाया जाता है और अभ्यास की कुदाली से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोद कर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक के श्रोत में डाल दिया जाता है तब प्रबल वेग से वह सारा प्रवाह कल्याण रुपी सागर में जा कर लीन हो जाता है। इस कारण अभ्यास तथा वैराग्य दोनों ही इकट्ठे मिलकर चित्त की वृत्तियों के निरोध के साधन हैं।

“आत्मा नदी संयम पुण्यतीर्था सत्योदका शील शमादियुक्ता । तस्यां स्नातः पुण्यकर्मा पुनाति न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा। (वामन पुराण, ४३.२५)”

आत्मा नदीरूप है, संयम और पुण्य इसके तीर्थ हैं। इसमें सत्य का जल बह रहा है और सदाचार और शान्ति आदि से युक्त है। इस आत्मा रुपी नदी में जो स्नान करता है वह पवित्र हो जाता है। जल से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती और आत्मा शब्द, चित्त और मन का ही पर्यायवाची है।

आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे।

परमात्मनि जीवेर्के हुताशन समीरयोः।। अनेकार्थसङ्ग्रहः

आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि ।

चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च ।। इति धरणिः ।

यह श्लोक धरणी कोश से लिया है। जिस प्रकार पक्षी का आकाश में उड़ना दोनों ही पंखों के अधीन होता है न केवल एक पंख के ऊपर; इसी प्रकार समस्त वृत्तियों का निरोध न केवल अभ्यास से ही और न केवल वैराग्य से ही हो सकता है किन्तु उसके लिए अभ्यास

और वैराग्य, दोनों का ही समुच्चय होना आवश्यक है। तमोगुण की अधिकता से चित्त में लयरूप निद्रा, आलस्य, निरुत्साह आदि मूढ़ावस्था का दोष उत्पन्न होता है और रजोगुण की अधिकता से चित्त में चञ्चलता रुप विक्षेप दोष उत्पन्न होता है। अभ्यास से तमोगुण की निवृत्ति होती है और वैराग्य से रजोगुण की। योग के जो आठ प्रधान अंग बताये जाते हैं – उनमें से यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पांच बहिरंग हैं, उनकी सिद्धि में अभ्यास अधिक सहायक होता है और तीन अंतरंग हैं – धारणा, ध्यान और समाधि यहाँ वैराग्य सहायता करता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को मन को रोकने के उपाय बताते समय अभ्यास और वैराग्य दोनों को ही समुच्चय रुप से साधन बतलाया है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। श्रीमद्भगवद्गीता।।६.३५।।

अर्थ — श्रीभगवान् कहते हैं — हे महबाहो ! नि:सन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है; परन्तु, हे कुन्तीपुत्र ! उसे अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में किया जा सकता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।। श्रीमद्भगवद्गीता।।६.३६।।

अर्थ — असंयत मन के पुरुष द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है, परन्तु स्वाधीन मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा उपाय से योग प्राप्त होना संभव है, यह मेरा मत है।

यहाँ भगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा हे महाबाहो ! ऐसा कह के सम्बोधन किया है, अर्थात् आपके हाथ बहुत लम्बे हैं — यानि के आप यह कर सकते हो। पहले भी दुसरे अध्याय में भी कहा था क्लैव्यं मा स्म गम: पार्थ – हे अर्जुन ! तू नपुंसकता को ग्रहण न कर। तू कर सकता है। हे महाबाहो ! निस्संदेह मन चञ्चल है और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ये वश में हो जाता है। दूसरा सम्बोधन है कौन्तेय। अर्थात कुन्ती का पुत्र। कुन्त, भाला की नोक को कहते हैं अर्थात कुशाग्र बुद्धि वाला, शब्दों के यथार्थ तात्पर्य को समझ के उनको प्रयोग में लाने वाला। जिसने मन को वश में नहीं किया है उसको योग की प्राप्ति कठिन है; ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं किन्तु स्वाधीन मन वाला प्रयत्नशील, अभ्यास करनेवाला पुरुष इस सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

"आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्

व्यापारैर्बहुकार्य भारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।

दृष्ट्वा जन्म जरा विपत्ति मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते

पीत्वा मोहमयीं प्रमाद मदिरा मुन्मत्त भूतं जगत् ।। ७।। (वैराग्य शतकम्)"

सूर्य के उदय और अस्त के साथ मनुष्यों की ज़िन्दगी रोज -रोज घटती जाती है । समय भागा जाता है, पर कारोबार में मशगूल रहने के कारण वह भागता हुआ नहीं दीखता । लोगों को पैदा होते, बूढ़े होते, विपत्ति ग्रसित होते और मरते देखकर भी उनमें भय नहीं होता । इससे मालूम होता है कि मोहमाया की प्रमादरूपी मदिरा के नशे में संसार मतवाला हो रहा है। सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि —

"अपामार्गलतेवायं विरुद्धफलदो भवः। प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय संसाराय पराग्दृशाम् ।। २७ ।। बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकम्"

अर्थ — यह संसार अपामार्ग (हिन्दी में इसे 'चिरचिटा', 'लटजीरा', 'चिरचिरा ' आदि नामों से जाना जाता है। इसे लहचिचरा भी कहा जाता है। कहीं-कहीं इसे कुकुरघास भी कहा जाता है।) की लता के समान है , यदि अपामार्ग की लता को नीचे से ऊपर की तरफ स्पर्श करें तो बड़ा ही सुकोमल, सुखस्पर्श होता है और यदि ऊपर से नीचे की ओर स्पर्श करें तो उँगलियों को फाड़ देता है , बैसे ही अन्तर्दृष्टि वाले को योग सुलभ है और बहिर्दृष्टि वाले को संसार में फँसा देता है। विषयों में दोषदर्शन करना ही वैराग्य का कारण है और लक्ष्य की प्रक्रिया को बार-बार दोहराना ही अभ्यास है। इस प्रकार इन दोनों से {अभ्यास और वैराग्य से } चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। जैसे बाढ़ में आई हुई नदी ग्राम , नगरादि को डुबा भी सकती है और नहर , नाली आदि के निर्माण से खेतों में सिंचाई के काम भी आ सकती है | बैसे ही चित्त नदी को वैराग्य से बाँध कर विषयों की तरफ दौड़ने से रोका जाता है और निद्रा आदि दोषों को योग क्रियाओं के अभ्यास से हटाकर आत्माभिमुख प्रवाह वाली बनाया जाता है। अब वृत्तियों को रोकने के उपाय, अभ्यास और वैराग्य में से प्रथम अभ्यास का स्वरुप और प्रयोजन अगले सूत्र में बतलाते हैं।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास: ॥१.१३॥

तत्रस्थितौ यत्नोभ्यासः — तत्र, उस द्रष्टाभाव में (चित्त के शान्त स्वरुप में) स्थिति प्राप्त करने के लिए उन दोनों, अभ्यास और वैराग्य में; स्थितौ, चित्त की शान्त स्थिति में; यत्नः, यत्न करना अभ्यास है क्योंकि दृष्टा के स्वरुप में स्थित होना है तो उस स्थिति में चित्त को स्थिर करने का नाम, बारम्बार उसको touch करने का नाम अभ्यास है। चित्त के वृत्ति रहित होकर शांत प्रवाह में बहने की स्थिति को स्थिति कहते हैं। उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए वीर्य, पूर्ण सामर्थ्य और उत्साह पूर्वक यत्न करना अभ्यास कहलाता है। यम-नियम आदि योग के आठों अंगों का बार बार अनुष्ठान रुप प्रयत्न अभ्यास का स्वरुप है और चित्त वृत्तियों का निरोध होना अभ्यास का प्रयोजन है। संसार व्यवहार में भी पठन-पाठन, लेखन, पाकक्रिया में कुशलता, क्रय-विक्रय, नृत्य-गायन,वादन आदि सर्वकार्य अभ्यास से ही सिद्ध होते हैं। अभ्यास के बल से रस्सी पे चढ़े हुए नट तथा सर्कस आदि में न केवल मनुष्य किन्तु सिंह, अश्व आदि पशु भी अपनी प्रकृति के विरुद्ध आश्चर्यजनक कार्य करते हुए देखे जाते हैं। अभ्यास के प्रभाव से अतिदुस्साध्य कार्य भी सिद्ध हो सकते हैं इसलिए जब मुमुक्षु चित्त की स्थिरता के लिए अभ्यासनिष्ठ होगा तो वह स्थिरता भी उसको अवश्य प्राप्त होकर, चित्त वशीभूत हो जाएगा क्योंकि अभ्यास के आगे कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है |

"विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-

र्विपक्षः पौलस्त्य रणभुवि सहायाश्च कपयः ।

पदातिर्मर्त्योऽसौ सकलमवधीद्राक्षसकुलं

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ॥ १७० ॥भोजप्रबन्धः||"

अर्थ — अजेय लंका नगरी को जीतना था , पयोनिधि को चरणों से पार करना था, प्रतिपक्षी पुलस्त्यका पौत्र रावण था, संग्राम भूमि में सहायक थे बंदर, पैदल मानव राम, उन्होंने संहारा सारा राक्षस कुल, बड़े जनों की क्रियासिद्धि पौरुष से होती है; न कि साधनों से । यहाँ "क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे" – यहाँ पर सत्व शब्द का अर्थ उत्साह और संकल्प की दृढ़ता में ही है समुद्र की प्रेरणा से राम ने अथवा तो नल ने या सब वानरों ने मिलकर के इतने लम्बे-चौड़े समुद्रके ऊपर बड़ा भारी पुल बना दिया था, यह सब उत्साह और दृढ़ संकल्पशक्ति का ही परिणाम था। सूत्र का तात्पर्य है कि चित्त की प्रशान्त स्थिति को प्राप्त करने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वह अभ्यास है।

"श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा ज्ञात्वा शुभाशुभम्।

न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते ॥ ३२ ॥ महोपनिषद् चतुर्थोऽध्यायः"

अर्थात् जो व्यक्ति शुभ या अशुभ को सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, स्वाद लेकर अर्थात् खाकर तथा सूंघकर भी (ये पांचो ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं सुनकर यह श्रोत्र कान का, स्पर्श अर्थात् छूकर यह त्वक् इन्द्रिय का विषय है। देखकर यह नेत्रेन्दिय का, स्वाद लेकर यह रसनेन्द्रिय का, तथा सूंघकर यह घ्राणेन्द्रिय का विषय है ।) इन सबको प्राप्त कर अनुकूलता में न तो हर्षित होता है और न ही प्रतिकूलता में विषाद करता है वही सही अर्थों में शान्त है और वही सच्चा योगी है । वृत्तिरहित चित्त का स्वरुपनिष्ठ जो परिणाम है वही स्थिति कहलाता है, उसी स्थिति को प्राप्त करने का यत्न उत्साह कहलाता है, पुनः पुनः अपने चित्त में उस शान्त स्थिति का निवेशन अभ्यास कहलाता है। सूत्र में {स्थितौ} शब्द सप्तमी विभक्ति में है अतः इस शंका के निवारण के लिये महाभाष्य से एक उदाहरण देते हैं "उदाहरणम् — चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुंजरम् । केशेषु चमरीं हन्ति, सीम्नि पुष्कलको हत: ।। (महाभाष्यम्) चर्मणि द्वीपिनं हन्ति — चमडे के लिये बाघ को मारता है । दन्तयोर्हन्ति कुंजरम् — दांतों के लिये हांथी को मारता है । केशेषु चमरीं हन्ति — बालों के लिये चमरी हिरण को मारता है । सीम्नि पुष्कलको हत: — अण्डकोश में विद्यमान कस्तूरी के लिये कस्तूरी-मृग को मारता है ।

यदि फलवाचक निमित्तशब्दस्य कर्मणा सह संयोग उत समवायसम्बन्ध: भवति चेत् निमित्त (फलवाचक) शब्देन सह सप्तमी विभक्ति: भवति ।

हिन्दी — यदि फलवाचक निमित्त शब्द का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध हो तो निमित्त वाचक (फलवाचक) शब्द के साथ सप्तमी विभक्ति होती है ।

"उत्साहः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।

षडेते यत्र तिष्ठन्ति तत्र देवोऽपि तिष्ठति ॥

उत्साह ,साहस, दृढ़ता, ज्ञान, शक्ति और वीरता। जहां ये छह हैं, वहां भगवान सहायता करते हैं। अब हमारे अभ्यास में जो विघ्नरुप राजस और तामस वृत्तियों के अनादि प्रबल संस्कार चित्त की एकाग्रता के जो विरोधी हैं उनसे प्रतिबद्ध, उनसे घिरा हुआ अभ्यास और एकाग्रतारुप जो स्थिति है उसको सम्पादन करने में हम कैसे समर्थ हो सकते हैं इस शङ्का की निवृत्ति के लिए अगले सूत्र में अभ्यास की दृढ़-भूमि कैसे प्राप्त हो इसका उपाय बताते हैं।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥१.१४॥

स: तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढभूमिः। सः माने वह, जो पूर्वोक्त स्थिति को प्राप्त करने के लिये किया गया अभ्यास है वह। तु माने किन्तु दीर्घकाल — माने बहुत लम्बे काल पर्यन्त नैरन्तर्य = निरन्तर अर्थात लगातार, व्यवधान रहित सत्कार आसेवितः — सत्कार से आदरपूर्वक ठीक ठीक सेवन किया हुआ अर्थात् श्रद्धा, वीर्य और भक्ति पूर्वक अनुष्ठान किया हुआ अभ्यास- दृढ़भूमिः — दृढ़ अवस्था वाला हो जाता है। विषयभोग और वासनाजन्य व्युत्थान के संस्कार मनुष्य के चित्त में अनादि जन्म-जन्मान्तरों से पड़े चले आ रहे हैं उनको थोड़े ही समय में बीज-सहित नष्ट कर देना अत्यन्त कठिन कार्य है। वे निरोध के संस्कारों को तनिक सी भी असावधानी होने पर दबा के धर-दबोचते हैं इस कारण अभ्यास को दृढ़ भूमि बनाने के लिए धैर्य के साथ दीर्घकाल पर्यन्त लगातार श्रद्धा और उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते रहना चाहिए। ये दृढ़ भूमि प्राप्त करने के लिए सूत्र में तीन विशेषण दिए हैं।

पहला विशेषण है 'दीर्घकाल' वहां दीर्घकाल से दस-बीस आदि वर्षों का नियम नहीं है क्योंकि योग के अधिकारी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। जिन्होंने पूर्व-जन्मों में अभ्यास के संस्कारों को दृढ़ कर लिया है और जिनका वैराग्य भी तीव्र है उनको शीघ्र या अतिशीघ्र समाधि का लाभ हो जाता है। इतरजनों को शीघ्र समाधि-लाभ नहीं होता तो उन्हें निराश नहीं होना चाहिए किन्तु धैर्य के साथ चिरकाल तक एकाग्रता के निमित्त दृढ़ अवस्था के लिए अभ्यास का सेवन करते रहना चाहिए।

दूसरा विशेषण है 'नैरन्तर्य' — अर्थात् अभ्यास को लगातार, निरन्तर, व्यवधान रहित करते रहना चाहिए। रोज एक ही समय पर और जितना काल निश्चित कर लिया है उतने काल के लिए, ऐसा न हो कि एक मास अभ्यास किया और फिर दस दिन के लिए छोड़ दिया और फिर तीन मास किया और फिर एक मास के लिए छोड़ दिया। इस प्रकार व्यवधान के साथ किया हुआ अभ्यास बहुत समय में भी दृढ़भूमि नहीं हो पाता इसलिए बिना व्यवधान के, बिना अन्तराल के, बिना रुकावट के अभ्यास को निरन्तर करते रहना चाहिए। जैसे आप यदि दूध को उबालना चांहते हैं और एक -एक मिनिट के अग्निताप को बन्द कर देते हैं तो आप उस दूध को कभी भी उबाल नहीं पायेंगे। जबतक न उबले तबतक निरन्तरता आवश्यक है।

तीसरा विशेषण है 'सत्कार आसेवितः' — वह अभ्यास ठीक ठीक अभ्यास पूर्वक श्रद्धा, भक्ति, वीर्य, ब्रह्मचर्य और उत्साहपूर्वक अनुष्ठान किया जाना चाहिए। दीर्घकाल तक निरन्तर सेवन किया हुआ अभ्यास भी बिना इस विशेषण के दृढ़ अवस्था वाला नहीं हो सकेगा। इन तीनो विशेषणों से युक्त अभ्यास, व्युत्थानरुप जो राजस, तामस वृत्तियाँ हैं उनके संस्कारों को प्रतिबद्ध कर सकेगा और इन संस्कारों को तिरोभूत करके चित्त की स्थिरता रुप प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ हो सकेगा। अतः अभ्यासी जनों को थोड़े काल में हीअभ्यास से घबराना नहीं चाहिये किन्तु दृढ़भूमि प्राप्ति के लिए दीर्घकाल, निरन्तर सत्कार से अभ्यास करते रहना चाहिए। इस सूत्र में जो सत्कार शब्द है उसका अर्थ श्रद्धा होता है – श्रद्धा योगिनं जननीमिवपाति – श्रद्धा माता की तरह योगी की रक्षा करती है। गीता में भी भगवान् ने श्रद्धा को तीन तीन रुपों में बांटा है —

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु।। १७-२।। (श्रीमद् भगवद्गीता)

श्रीभगवान् बोले — मनुष्योंकी वह स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विकी तथा राजसी और तामसी — ऐसे तीन तरहकी ही होती है, उसको तुम मेरेसे सुनो। सात्त्विक मनुष्य देवताओंका पूजन करते हैं, राजस मनुष्य यक्षों और राक्षसोंका और दूसरे जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेतों और भूतगणोंका पूजन करते हैं। गीता के सत्रहवें अध्याय का नाम ही है — श्रद्धा त्रय विभाग योग।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहि प्रकृति भेदतः। सात्विकी राजसी चैव तामसी च बुभुत्सवः ।।८२ ।।

तासां तु लक्षणं विप्राः शृणुध्वं भक्तिभावतः। श्रद्धा सा सात्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका ।।८३ ।।

प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासा मूलिकापरा। विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता।।८४ ।। विष्णुगीता,अध्याय ३ ।।

अर्थात देहधारियों की प्रकृति के भेदानुसार सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार की श्रद्धा होती है। विशुद्ध ज्ञानमूलक श्रद्धा सात्विक है, प्रवृत्ति और जिज्ञासामूलक श्रद्धा राजसिक है और विचारहीन संस्कारमूलक श्रद्धा तामसिक है। इनमें सात्विक श्रद्धा ही श्रेष्ठ है। श्रद्धा कीदृशी ? श्रद्धा का स्वरुप क्या है ? गुरुवेदान्तवाक्यादिषु विश्वासः श्रद्धा। गुरु और वेदान्त के वाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है। सूत्र में इसी श्रद्धा को 'सत्कार' शब्द से अनुष्ठान करना बतलाया गया है। भक्तियोगः क्रियायोगः चर्यायोगस्तथैव च। कर्मयोगो हठो मन्त्रो ज्ञानयोगो लयस्तथा ॥ ४६ ॥ अद्वैतोलक्ष्ययोगश्च सिद्धिर्ब्रह्मस्तथा शिवः। वासनाध्यानयोगौ च सर्वे सूत्रेषु दर्शिताः ॥ ४७ ॥ योगसूत्रसारः

अब अगला सूत्र वैराग्य के विषय में है। ये वैराग्य दो प्रकार होता है – अपर वैराग्य और पर वैराग्य। अगले सूत्र में प्रथम अपर वैराग्य का रूप बताते हैं —

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१.१५॥

अभ्यास का लक्षण बताने के बाद अब वैराग्य का लक्षण बताते हैं। दृष्ट-आनुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य। दृष्ट माने देखे हुए और आनुश्रविक माने सुने हुए तो देखे और सुने हुए विषयों में जिसको कोई तृष्णा नहीं है उसका "वशीकार संज्ञा वैराग्यं", वशीकार नाम वाला ये वैराग्य है। दृष्ट माने देखे हुए — बम्बई, कलकत्ता देखा हुआ है, वहां पर कोई वासना इकट्ठी हो जाए और स्वर्गादि के सुने हुए हैं, उसके विषय में {रम्भा, तिलोत्तमा, अमृत, कल्पवृक्ष आदि में} कोई तृष्णा हो जाए, तो इनका वश में होना, तृष्णा का वश में होना। देखे और सुने हुए विषयों में जो तृष्णा है, प्राप्त करने की इच्छा है उसका वश में होना उसी का नाम है वशीकार वैराग्य। इस वैराग्य का नाम है वशीकार वैराग्य और इसी को अपर वैराग्य भी कहते हैं। विषय दो प्रकार के होते हैं दृष्ट और आनुश्रविक। दृष्ट वे हैं जो इस लोकमें दृष्टिगोचर होते हैं जैसे रुप, रस, गन्ध, स्पर्श; रसमलाई, मलाईपूरी, कचौरी, रबड़ी और धन-सम्पत्ति, स्त्री, राज्य, ऐश्वर्य और आनुश्रविक वे हैं जो वेदों और शास्त्रों में जिनका वर्णन हुआ है — वैकुण्ठ, गोलोक, स्वर्ग, अमरावती, अलकावती, भोगवती ये सब विषय दो प्रकार होते हैं — शरीरान्तर वेद्य जैसे देवलोक, स्वर्ग, विदेह और प्रकृतिलय का आनन्द और अवस्थान्तर वेद्य जैसे दिव्यरस, दिव्यागन्ध अथवा तीसरे पाद में वर्णित, अर्जित की हुई सिद्धियां; इन दोनों प्रकार के — दिव्य और अदिव्य, सांसारिक और पारलौकिक इन विषयों की उपस्थिति में जब चित्त प्रसंख्यान ज्ञान के बल से, इनमें दोषदृष्टि के बल से इनको देखता हुआ "इनके संग दोष से सर्वथा रहित हो जाता है", इस प्रकार विचार करता हुआ जब इनको न ग्रहण करता है न इनसे परे हटता है, तब वीतराग अवस्था में, इनमें उसका ग्रहण करने वाला राग और उससे परे हटने वाला द्वेष ये दोनों ही निवृत्त हो जाते हैं। जैसा कि कहा गया है —

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

ये कुमारसम्भव का बड़ा ही प्रसिद्ध श्लोक है कि विकार का हेतु, विकार का कारण उपस्थित होनेपर भी जिनके चित्तों में विकार उत्पन्न नहीं होता वे ही धीर पुरुष हैं। पूरा श्लोक इस प्रकार है —

प्रत्यर्थिभूतामपितां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोनुमेने । विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।। १.५९।।
(कुमारसम्भवम्)

समाधि में विघ्नस्वरुप वो जो गिरिराज की कन्या, गिरिराज की अनुमति से भगवान् शङ्कर के सेवा में लगी हुई थी उसकी उपस्थिति होनेपर भी सेवा करते हुए भी भगवान् शङ्कर के चित्त में कोई विकार नहीं हुआ उनकी समाधि खण्डित नहीं हुई – येषां न चेतांसि त एव धीराः, भगवान् ने गीता में भी कहा है — मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।

ये जो शब्दस्पर्शादि विषय हैं ये आगमापायी हैं, आने-जाने वाले हैं; इनको प्राप्त करके मोहित न हो जाना, इनको सहन कर लो। तो इस प्रकार जो धीर

पुरुष हैं उनका चित्त एकरस बना रहता है। चित्त की ऐसी अवस्था का नाम ही वशीकार संज्ञा वैराग्य है। इसी को अपर वैराग्य भी कहते हैं जिसकी अपेक्षा से दूसरे सूत्र में पर वैराग्य बतलाया है। किसी विषय के केवल त्यागने को वैराग्य नहीं कहते क्योंकि रोगादि होने के कारण भी विषयों से अरुचि हो जाती है जिससे उनका त्यागना हो जाता है। किसी विषय के अप्राप्त होने पर भी उसका भोग नहीं किया जा सकता। दिखावे के लिए तथा भय, लोभ और मोह के वशीभूत होकर अथवा दूसरों के आग्रह से भी किसी विषय को त्यागा जा सकता है। डॉक्टर मना कर दे, शुगर मत खाओ, तो फिर मजबूरी है, क्या करें , परन्तु उसकी तृष्णा सूक्ष्म रुप से बनी रहती है। विवेक के द्वारा विषयों को "अनन्त दुःख रुप हैं और बन्धन का कारण है", ऐसा समझ कर उनमें पूर्णतया अरुचि का हो जाना तथा उसमें सर्वथा संगदोष से निवृत्त हो जाना, यही वैराग्य का लक्षण है। न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। ये राजा ययाति की प्रसिद्ध उक्ति है — विषयों की कामना विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं होती किन्तु जैसे अग्नि

में हवि डालने से अग्नि की ज्वाला और अधिक प्रज्वलित होती है, बढ़ती है इस तरह से भोगने से भोग की अभिलाषा और बढ़ती जाती है। भर्तृहरि जी ने भी कहा है —

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।

कालो न यातो वयमेव याताः तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

अर्थात भोग नहीं भोगे गए, (भोगों को हमने नहीं भोगा) भोगों ने ही हमको भोग लिया किन्तु हमीं भोगे गए; तप नहीं तपे, हमीं तप गए; समय नहीं बीता किन्तु हम ही बीत गए; तृष्णा जीर्ण नहीं हुई किन्तु हम ही जीर्ण हो गए। इसलिए वैराग्य ही सुख का कारण है — तदुक्तम् —

वैराग्यमाद्यं यतमानसंज्ञं क्वचिद्विरागो व्यतिरेकसंज्ञकः ।

एकेन्द्रियाख्यं हृदि रागसौक्ष्म्यं तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम्, इति ॥

वैराग्य की चार संज्ञाएं हैं , चार नाम हैं — यतमान वैराग्य, व्यतिरेक वैराग्य, एकेन्द्रिय वैराग्य और वशीकार वैराग्य।

यतमान वैराग्य — वह है जैसे कि चित्त में रागद्वेष पहले से ही जमे हुए हैं, उनके संस्कार हैं, जैसे कि कुछ अच्छा लगता है, कुछ बुरा लगता है तो इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में वो रागद्वेष को प्रवृत्त करते हैं। उन रागद्वेषादि दोषों को बार बार चिन्तनरूप प्रयत्न से जिससे कि वो इन्द्रियों को उन विषयों में प्रवृत्त न कर सकें, वो यतमान संज्ञक वैराग्य है।

व्यतिरेक वैराग्य — फिर विषयों में दोषों का चिन्तन करते करते निवृत्त और विद्यमान चित्त मलरूप दोषों का व्यतिरेक निश्चय अर्थात इतने मल निवृत्त हो गए हैं और इतने निवृत्त हो रहे हैं और इतने निवृत्त होनेवाले हैं। इस प्रकार जो निवृत्त और विद्यमान चित्त-मलों का पृथक-पृथक रूप से जो ज्ञान है, वह व्यतिरेक संज्ञक वैराग्य है।

एकेन्द्रिय वैराग्य — जब यह चित्त मलरूपी रागादि दोष बाह्य इन्द्रियों को तो विषयों में प्रवृत्त करने में असमर्थ हो गए हों किन्तु सूक्ष्म रूप से मन में निवास करते हों जिससे विषयों की सन्निधि जब उपस्थित हो तो फिर से चित्त में क्षोभ उत्पन्न कर सकें। तो इस प्रकार जब केवल मन में सूक्ष्म रुप से विषय की वासना बनी रहती है तो उसको एकेन्द्रिय वैराग्य, उसका नाम उस वैराग्य की संज्ञा हो जाती है एकेन्द्रिय वैराग्य, यह केवल एक इन्द्रिय में , केवल मन में रहता है, राग या तृष्णा के रूप में |

वशीकार वैराग्य — और वशीकार संज्ञा उसकी होती है कि जब सूक्ष्मरूप से भी जब चित्त के मल, रागादि दोषों की निवृत्ति हो जाए और दिव्य-अदिव्य, सुने हुए, देखे हुए समस्त विषयों के उपस्थित होनेपर भी उपेक्षा बुद्धि बनी रहे, अपेक्षा-बुद्धि न रहे तब यह तीनों संज्ञाओं से परे, उसका नाम होता है वशीकार संज्ञक वैराग्य अर्थात् यह ज्ञान कि “ममैते वश्या नाहं एतेषां वश्य इति”, ये मेरे वशीभूत हैं, मैं इनके वशीभूत नहीं हूँ। ये पहली तीन भूमि वाले वैराग्य निरोध के साक्षात हेतु नहीं हैं। निरोध का साक्षात हेतु तो यह चौथी भूमि वाला वशीकार संज्ञक वैराग्य ही है। इसलिए सूत्रकार ने इसी वशीकार संज्ञा वाले वैराग्य का वर्णन किया है । किन्तु ये जो वशीकार संज्ञा वाला वैराग्य है यह पहली तीन भूमियों को पार करके ही प्राप्त होता है। जब तक इन तीन भूमियों को लांघकर नहीं जाएगा तब तक ये चौथी भूमिवाले वशीकारसंज्ञक वैराग्य तक नहीं पहुँच पायेगा और इसी का दूसरा नाम है अपर वैराग्य और इसका फल है एकाग्रता और सम्प्रज्ञात समाधि जिसकी सबसे ऊंची भूमि पुरुष और चित्त की भिन्नता प्रतीत करानेवाली विवेकख्याति है। वैराग्य के बिना विवेक होता नहीं किन्तु यह भी त्रिगुणात्मक चित्त की ही एक वृत्ति है इससे भी विरक्त हो जाना पर वैराग्य है और उसका फल है असम्प्रज्ञात समाधि। विषयों में दोष दर्शन करने से ही वैराग्य हो सकता है। प्राचीनकाल में सौभरि नाम के एक परम तपस्वी थे, दोष दर्शन के अभाव में उन्हें दुःखी होना पड़ा और वे दुःखी होकर शोक से कहने लगे कि —

अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विन: सच्चरितव्रतस्य। अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात् प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत् ॥९.६.५०॥ (श्रीमद्भागवतम्)

अर्थात् हे मनुष्यों! तुम में से जो लौकिक पदार्थों से सुख प्राप्त करना चाहते हैं, वे सावधान हो जाएँ। मेरे अधोपतन की ओर देखें कि पहले मैं कहाँ था और अब मैं कहाँ पर हूँ। मैंने योग शक्ति द्वारा पचास शरीर धारण किए तथा सहस्रों वर्षों तक पचास स्त्रियों के साथ विहार करता रहा फिर भी इन्द्रिय भोगों से तृप्ति नहीं हुई, अपितु और अधिक तुष्टि की लालसा बनी रही। अतः मेरे अधोपतन से शिक्षा लें और सावधान रहकर इस दिशा की ओर न भटकें।" गीता में भी भगवान ने कहा है कि —

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥२.६०॥ (श्रीमद्भगवद्गीता)

हे कुन्तीनन्दन! (रसबुद्धि रहनेसे) यत्न करते हुए विद्वान् मनुष्यकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मनको बलपूर्वक हर लेती हैं। इन्द्रियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि वे विवेकशील और आत्म नियंत्रण का अभ्यास करने वाले मनुष्य के मन को भी अपने वश में कर लेती है।

"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।५.२२।। श्रीमद् भगवद्गीता"

क्योंकि हे कुन्तीनन्दन ! जो इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले भोग (सुख) हैं, वे आदि-अन्तवाले और दुःखके ही कारण हैं। अतः विवेकशील मनुष्य उनमें रमण नहीं करता। इसलिये भी (इन्द्रियोंको विषयोंसे) हटा लेना चाहिये क्योंकि विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न जो भोग हैं वे सब अविद्याजन्य होनेसे केवल दुःखके ही कारण हैं क्योंकि आध्यात्मिक आदि (तीनों प्रकारके) दुःख उनके ही निमित्तसे होते हुए देखे जाते हैं। एव शब्दसे यह भी प्रकट होता है कि ये जैसे इस लोकमें दुःखप्रद हैं वैसे ही परलोकमें भी दुःखद हैं। संसारमें सुखकी गन्धमात्र भी नहीं है यह समझकर विषयरूप मृगतृष्णिकासे इन्द्रियोंको हटा लेना चाहिये। ये विषयभोग केवल दुःखके कारण हैं इतना ही नहीं किंतु ये आदिअन्तवाले भी हैं विषय और इन्द्रियोंका संयोग होना भोगोंका आदि है और वियोग होना ही अन्त है। इसलिये जो आदिअन्तवाले हैं वे केवल बीचके क्षणमें ही प्रतीतिवाले होनेसे अनित्य हैं। हे कौन्तेय परमार्थतत्त्वको जाननेवाला विवेकशील बुद्धिमान् पुरुष उन भोगोंमें नहीं रमा करता। क्योंकि केवल अत्यन्त मूढ़ पुरुषोंकी ही पशु आदिकी भाँति विषयोंमें प्रीति देखी जाती है। कल्याणके मार्गका प्रतिपक्षी यह (कामक्रोधका वेगरूप) दोष ब्रड़ा ही दुःखदायक है सब अनर्थोंकी प्राप्तिका कारण है और निवारण करनेमें अति कठिन भी है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि इसको नष्ट करनेके लिये खूब प्रयत्न करना चाहिये।

सम्प्रज्ञात समाधि के साधन अपर वैराग्य को बतला कर अब अगले सूत्र में असम्प्रज्ञात समाधि का साधन जो पर वैराग्य है उसका वर्णन अगले सूत्र में करते हैं ।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१.१६ ॥

अपर-वैराग्य ही परवैराग्यकी जन्मभूमि है । स्वरूप ज्ञान की पराकाष्ठा ही पर – वैराग्य है। पुरुष के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से जो प्रकृति के गुणों में तृष्णा रहित हो जाना है – वह पर-वैराग्य है। तत् माने वह =वैराग्य ; परम् = पर (सबसे ऊंचा) है जो

पुरुषख्यातेः = प्रकृति – पुरुष विषयक विवेकज्ञान -अथवा उसको सत्व – पुरुषान्यथा – ख्याति कहें — ऐसी विवेकख्याति के उदय होने से ; गुण – वैतृष्ण्यम् = गुणों में तृष्णा रहित हो जाना है | विवेकख्याति द्वारा पुरुष के असल स्वरुप के ज्ञान से जो प्रकृति के गुणों में तृष्णा रहित हो जाना है – वह पर-वैराग्य है। इस पर वैराग्य से गुणों से साथ तादात्म्य टूट जाता है। यह ज्ञान की परम सीमा है। इस पर-वैराग्य में रजोगुण और तमोगुण का गन्धमात्र भी नहीं रहता। इस वैराग्य के उदय होनेपर योगी मानता है कि जो प्राप्त करने योग्य था वह प्राप्त हो गया, जो नाश करने योग्य पाँच क्लेश थे वे नष्ट हो गये, अब संसार का संक्रम (चक्र, सिलसिला) टूट गया है, जिसके टूटे बिना मनुष्य उत्पन्न होकर मरता है और मरकर उत्पन्न होता है। इस तरह यह वैराग्य तृष्णा का विरोधी है। इसीके निरन्तर अभ्यास से कैवल्य पद प्राप्त होता है |

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज।। २.१७ ।। (संन्यासोपनिषद्)

धर्म-अधर्म तथा सत्य-असत्य (तामसी और सात्विकी वृत्ति) दोनों का ही परित्याग कर देना चाहिए। तदनन्तर जिसके द्वारा इस प्रकार सत्य-असत्य का परित्याग किया जाता है, उसका भी त्याग कर देना चाहिए | इन सब विषय भोगों में तृष्णा का अभाव होना पर-वैराग्य है | इसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है। विवेकख्याति (प्रसंख्यान) की स्थायी अवस्था का नाम धर्ममेघ-समाधि है।

धर्ममेघमिमं प्राहुस्समाधिं योगवित्तमाः।

वर्षत्येष यतो धर्मामृतधारास्सहस्रशः ॥ ६० ॥ (वेदान्तपंचदशी)

योग वेत्ताओं में श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ पुरुष इस निर्विकल्प समाधि को धर्ममेघ कहते हैं, क्योंकि यह धर्मरुप अमृत की हजारों धाराओं को बरसाने लगती है।

“वैराग्यं हि परं हेतुस्समाधेर्यस्य विद्यते।

असम्प्रज्ञातनामाऽसौ समाधिः काशते तदा ॥ ३८ ॥योगसूत्रसारः”

इस प्रकार चित्त आसक्ति रहित होकर सर्ववृत्तिशून्य हो जाता है और इसीको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

“संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥३.२.५॥ मुण्डकोपनिषद्”

‘उसे’ प्राप्त करके, ज्ञान की पूर्णता से संतृप्त ऋषिगण जिन्होंने ‘आत्मा’ की पूर्णता प्राप्त कर ली है, जो समस्त कामनाओं से मुक्त (वीतराग) हैं, प्रशान्त हैं, उस सर्वव्यापी को सब ओर से प्राप्त करते हैं तथा उससे स्वयं को युक्त करके ये विद्वान् उस ‘सर्वात्म-रूप’ में पूर्णरुप से प्रवेश कर जाते हैं।

“अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वत: . नित्यं सन्निहितो मृत्यु: कर्तव्यो धर्म्मसङ्ग्रहः॥ २,४७.२४ ॥ गरुडपुराणम्-(धर्मकाण्डः)-अध्यायः ४७”

हमारा शरीर सदा रहने वाला नहीं है, धन भी हमेशा टिका नहीं रहता और मृत्यु सदा साथ रहती है, अत: मनुष्य को चाहिए कि वह धर्म के कार्यों को करता रहे। न जाने जीवन कब समाप्त हो जाए। इसलिए धर्मसंग्रह ही परम कर्त्तव्य है । माना कि अन्धेरा घना है लेकिन

दिया जलाना कहाँ मना है। पहला वैराग्य विषयों के प्रति है और दूसरा वैराग्य गुणों के प्रति है। यह दूसरा वैराग्य ही निरोध समाधि के लिये अनुकूल है।

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।२.४५।।श्रीमद् भगवद्गीता"

हे अर्जुन वेदों का विषय तीन गुणों से सम्बन्धित (संसार से) है तुम त्रिगुणातीत, निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्व (शुद्धता) में स्थित, योगक्षेम से रहित और आत्मवान् बनो। वेद त्रैगुण्यविषयक हैं अर्थात् तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारको ही प्रकाशित करनेवाले हैं। परंतु हे अर्जुन तू असंसारी हो निष्कामी हो। तथा निर्द्वन्द्व हो अर्थात् सुखदुःखके हेतु जो परस्पर विरोधी (युग्म) पदार्थ हैं उनका नाम द्वन्द्व है उनसे रहित हो और नित्य सत्त्वस्थ हो अर्थात् सदा सत्त्वगुणके आश्रित हो। तथा निर्योगक्षेम हो। अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेका नाम योग है और प्राप्त वस्तुके रक्षणका नाम क्षेम है योगक्षेमको प्रधान माननेवालेकी कल्याणमार्गमें प्रवृत्ति होनी अत्यन्त कठिन है अतः तू योगक्षेमको न चाहनेवाला हो। तथा आत्मवान् हो अर्थात् (आत्मविषयोंमें) प्रमादरहित हो। तुझ स्वधर्मानुष्ठानमें लगे हुएके लिये यह उपदेश है।

इस प्रकार निरोध के उपायभूत अभ्यास और वैराग्य का लक्षण बताकर अब अगले सूत्र में इन दोनों उपायों से सिद्ध होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधि के अवान्तर भेदों का निरूपण करते हैं |

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥१.१७॥

ध्यान के रथ के दो पहिये हैं, एक है अभ्यास और दूसरा है वैराग्य। ऐसे रथ में बैठ कर जैसे कोई धनुर्धर पहले स्थूल वस्तु को लक्ष्य बनाता है फिर सूक्ष्म वस्तु को बैसे ही योगी भी पहले सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करता है फिर असम्प्रज्ञात समाधि का। समाधि का उपाय अभ्यास और वैराग्य को बतलाकर अब उपेय का निरूपण करते हैं। यह उपेय चार प्रकार का है। (१) वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि (२) विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि (३) आनंदानुगत सम्प्रज्ञात समाधि (४) अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि। किसी एक प्रकार की वृत्ति की अनुवृत्ति करना , और फिर उसी वृत्ति में एकाग्र हो जाना सम्प्रज्ञात समाधि है। वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता, रुप, अनुगमात् , (युक्त हो जाना) संप्रज्ञातः ॥सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। तर्क्यन्ते प्रमिति विषयी क्रियन्ते, पञ्चभूतादयः विषयाः इति तर्काः। विशेषेण तर्कणं, अवधारणं इति व्युत्पत्तिः। विशेष रुप से समझना ही वितर्क है। यह सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है। ये चारों समाधियाँ सालम्ब समाधि कहलातीं हैं। सबसे पहली है — १.) स्थूल विषयों की ग्राह्य भावना वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात है। २.) विशेषेण सूक्ष्मपर्यन्तं चरणमिति विचारः। सूक्ष्मभूत विषयक पाँच तन्मात्राओं की ग्राह्य भावना विचारानुगत सम्प्रज्ञात है। ३.) तन्मात्राओं तथा इन्द्रियों के कारणरुप सत्वप्रधान अहंकार-विषयक केवल ग्रहण भावना का नाम आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात है। इसमें आनन्द विषयाकार 'अहं' वृत्ति रहती है। ४.) और अस्मिता जो कि अहंकार का भी कारण है इसलिए अहंकार से भी सूक्ष्मतर है, अर्थात् चेतन से प्रतिबिम्बित चित्तसत्व बीजरुप अहंकारसहित-विषयक गृहीतृ भावना का नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात है। इसमें अस्मिता विषयाकार 'अस्मि' वृत्ति रहती है। उपनिषद में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है —

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥ (कठोपनिषद्)

प्रज्ञावान् व्यक्ति अपनी वाणी को मन में नियन्त्रित रखे, उस मन को ज्ञानस्वरुप आत्मा अर्थात बुद्धि में नियन्त्रित रखे तथा ज्ञान को अर्थात बुद्धि को 'महान् आत्मा' (महत्तत्व) में लय करे, नियन्त्रित रखे और उस महत्तत्व को पुनः उस 'आत्मा' में नियन्त्रित रखे जो शान्त-स्वरुप है।

भक्तियोगः, क्रियायोगः, चर्यायोगस्तथैव च।

कर्मयोगो, हठो, मन्त्रो, ज्ञानयोगो, लयस्तथा ॥ ४६ ॥

अद्वैतो,लक्ष्ययोगश्च, सिद्धिर्ब्रह्मस्तथा शिवः।

वासना,ध्यानयोगौ, च सर्वे सूत्रेषु दर्शिताः ॥ ४७ ॥ (योगसूत्रसारः)

ये सभी १५ प्रकार के साधन समाधि के उपाय रुप हैं। गीता में भी भगवान ने कहा है कि —

"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।६.२१।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जो सुख आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य है, उस सुखका जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस सुखमें स्थित हुआ यह ध्यानयोगी फिर कभी तत्त्वसे विचलित नहीं होता।

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।६.२२।।"

जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।

"तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।६.२३।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको 'योग' नामसे जानना चाहिये। (वह योग जिस ध्यानयोगका लक्ष्य है,) उस ध्यानयोगका अभ्यास बिना उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना चाहिये।

इस प्रकार अपर वैराग्यजन्य संप्रज्ञात समाधि का निरुपण करके अब पर-वैराग्यजन्य असंप्रज्ञात समाधि का लक्षण कहते हैं |

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व: संस्कारशेषोऽन्यः ॥१.१८॥

विराम-(सभी वृत्तियों के निरोध का) प्रत्यय= प्रतीति का कारण (जो परवैराग्य है; उसका अभ्यास जिसकी पूर्व-अवस्था है और जिसमें चित्त का स्वरुप 'संस्कार' मात्र ही शेष रह जाता है, वह योग अन्य है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है।

योऽकामो निष्काम आप्तकामो आत्मकाम न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति॥ (बृहदारण्यकोपनिषत् ४-४-६)

जो अकाम है, निष्काम है, पूर्णकाम है, आत्मकाम है जो कामनाओं से रहित है उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।

'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ४.३.१० ॥ (ब्रह्मसूत्र)

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैव उत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तः, तदध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सह अतः परं परिशुद्धं विष्णोः परमं पदं प्रतिपद्यन्ते — इतीत्थं क्रममुक्तिः अनावृत्त्यादिश्रुत्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या । न ह्यञ्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः सम्भवतीत्युपपादितम् ॥ १० ॥

ब्रह्मलोक (आदित्यलोक =विशुद्ध सत्वमय चित्त) में पहुंच कर वह कार्य {शबल ब्रह्म} को लाँघकर उस कार्य से परे जो उसका अध्यक्ष परब्रह्म है, उसके साथ ऐश्वर्य को भोगता है। इसको क्रममुक्ति कहते हैं।

यावद्बद्धो मरुद् देहे यावच्चित्तं निराकुलम्।

यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुत:।।

जब तक शरीर में सांस रोक दी जाती है तब तक मन अबाधित रूप से स्थिर रहता है और जब तक ध्यान दोनों भौहों के बीच लगा है तब तक मृत्यु से कोई भय नहीं है।

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।६.२२।।श्रीमद् भगवद्गीता"

जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दु:ख से भी विचलित नहीं होता है।

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।८.१६।।श्रीमद् भगवद्गीता"

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती है; परन्तु हे कौन्तेय ! मुझको (शुद्ध परमात्मतत्व को) प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता। यही असम्प्रज्ञात समाधि है | इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरुप दिखलाकर अब अगले सूत्र में यह बतलाते हैं कि जिन योगियों ने पिछले जन्म में विचारअनुगत से ऊंची आनन्दानुगत अथवा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की भूमि को प्राप्त कर लिया है , उनको असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति के लिये अन्य साधारण मनुष्यों जैसी पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं होती। वे तो जन्म से ही पिछले योगबल के कारण इसके प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं। यह असम्प्रज्ञात योग दो प्रकार का होता है। एक उपाय प्रत्यय और दूसरा भव प्रत्यय।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१.१९॥

जन्म से ही जिन्हें ज्ञान होता है उन योगियों को 'भवप्रत्यय' कहते हैं। 'भवात् प्रत्ययः भवप्रत्ययः' विदेह और प्रकृतिलय योगियों को जन्म से ही असंप्रज्ञात समाधि की प्रतीति होती है। षाटकौशिक स्थूलशरीर जिनको नहीं होता वे विदेह कहलाते हैं। [विदेह माने देव] स्थूल शरीर के ये छः कोश (त्वचा, रक्त, मांस, स्नायु, मज्जा और अस्थि) हैं। अर्थात् जिस योगी का देह का अहंकार निवृत्त हो गया वह विदेह है। अब अहंकार से आगे अन्तर्मुख होने पर जब ज्ञाता, भोक्ता अहंकार का भी नाश हो जाता और अस्मिता मात्र शेष रहती है तब उसे प्रकृतिलय कहते हैं। जो लोग अस्मिता रुप प्रकृति की उपासना करते हैं वे प्रकृतिलय कहलाते हैं। रामचरित मानस में इस चिति शक्ति का निरुपण इन शब्दों में किया है।

"भव भव विभव पराभव कारिनि । विश्व बिमोहिनि स्ववश बिहारिनि ।।"

पहले भव शब्द का अर्थ है जन्म, दूसरे भव शब्द का अर्थ है संसार और विभव शब्द का अर्थ है उस संसार का वैभव अर्थात स्थिति तथा पराभव माने प्रलय करने वाली। तथापि अपने मूल स्वरुप में तटस्थ है। जिन योगियों ने स्वरूपावस्थिति को शरीर-त्याग से पूर्व लाभ नहीं कर पाया है उनकी गति योगभ्रष्ट कह करके भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार बतलाई है —

"पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥।।६.४०।। श्रीमद्भगवद्गीता"

हे पार्थ ! उस पुरुष का, न तो इस लोक में और न ही परलोक में ही नाश होता है; हे तात ! कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है।

"प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।६.४१।। श्रीमद् भगवद्गीता"

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त होकर वहाँ दीर्घकाल तक वास करके शुद्ध आचरण वाले श्रीमन्त (धनवान) पुरुषों के घर में जन्म लेता है।

"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।६.४२।। श्रीमद् भगवद्गीता"

अथवा, वह (साधक) ज्ञानवान् योगियों के ही कुल में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जन्म इस लोक में नि:संदेह अति दुर्लभ है।

"तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।६.४३।।श्रीमद् भगवद्गीता "

हे कुरुनन्दन ! वहाँपर उसको पूर्वजन्मकृत साधन-सम्पत्ति अनायास ही प्राप्त हो जाती है। फिर उससे वह साधनकी सिद्धिके विषयमें पुनः विशेषतासे यत्न करता है।

"पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।६.४४।। श्रीमद्भगवद्गीता"

उसी पूर्वाभ्यास के कारण वह अवश हुआ योग की ओर आकर्षित होता है। जो केवल योग का जिज्ञासु है वह शब्दब्रह्म का अतिक्रमण करता है। अर्थात् (वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है।)

"प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।६.४५।। श्रीमद्भगवद्गीता"

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी सम्पूर्ण पापों से शुद्ध होकर अनेक जन्मों से (शनै: शनै:) सिद्ध होता हुआ, तब परम गति को प्राप्त होता है। इस प्रकार विदेह और प्रकृतिलयोंकी असम्प्रज्ञात-समाधि की जन्मसिद्ध योग्यता बतलाकर अर्थात भव प्रत्यय

योगियों का वर्णन करके अब साधारण योगियों के लिये उपाय से समाधि को प्राप्त करना बतलाते है अर्थात् उपाय प्रत्यय योगियों का वर्णन करते हैं।

मोक्षस्य नहि वासोस्ति ग्रामान्तरवनेथवा।

अज्ञानहृदयग्रन्थि नाशो मोक्ष इति स्मृतः।।

"वेदान्तानामशेषाणामादि मध्यावसानतः ।

ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमितिधीः श्रवणं भवेत् ॥ १००॥ पञ्चदशी"

वेदान्त में 'श्रवण' यह एक पारिभाषिक शब्द है। सभी वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य है कि जो ब्रह्म है वही प्रत्यागात्मा है और जो आत्मा है वही ब्रह्म है, इस प्रकार के निश्चय को श्रवण कहते हैं। इसलिये अब सावधानी पूर्वक श्रवण कीजिये क्योंकि अब काम की बात शुरु होती है। उपाय बताते हैं।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥१.२०॥

दूसरे साधकों को जो उपाय प्रत्यय के अधिकारी हैं उनको , श्रद्धा , वीर्य , स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक (वह असम्प्रज्ञात समाधि) जो योग का इष्ट साध्य है; इतरेषाम् = दूसरों की अर्थात् जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं उन साधारण योगियों की होती है। ये श्रद्धा आदि पाँच योग के उपाय हैं। योग के विषय में चित्त की प्रसन्नता ही श्रद्धा है; उत्साह ही वीर्य है; जाने हुए विषय का न भूलना ही स्मृति है; चित्त की एकाग्रता ही समाधि है; और अपने ज्ञेय का ज्ञान होना ही प्रज्ञा है।

"श्रद्धा स्नेहः शेमुषीपात्रमेषा वर्तिवृत्तिः ज्योतिरात्मा प्ररुढः।

ध्वान्तोऽविद्या तद्विनाशो विमोक्षः साक्षी ब्रह्मैवेति वेदान्ततत्वम्।।"

व्यास भाष्य के अनुसार श्रद्धा एक माता की तरह कल्याणकारी बनके योगी की रक्षा करती है । "सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति । तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यम् उपजायते । समुपजात-वीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते । स्मृत्युपस्थाने चित्तम् अनाकुलं समाधीयते । समाहित-चित्तस्य प्रज्ञा-विवेक उपावर्तते । येन यथावद् वस्तु जानन्ति । तद्-अभ्यासात् तद्-विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥२०॥ व्यास भाष्य।" अर्थात् श्रद्धा , वीर्य , स्मृति , समाधि और प्रज्ञा के क्रम से सभी साधक समाधि के मार्ग में अग्रसर हो सकते हैं। इस प्रकार श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा ये पाँच साधन समाधि प्राप्त करने के उपाय हैं। और फिर इन पाँचों साधनों के अभ्यास से और पर-वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है। अब शीघ्रतम समाधि का लाभ किसको होता है इसका वर्णन अगले सूत्र में करते हैं —

तीव्रसंवेगानाम् आसन्नः ॥ १.२१ ॥

तीव्रसंवेगानाम् = जो तीव्र संवेग वाले हैं उनको समाधिलाभ; आसन्नः = शीघ्रतम = निकटतम होता है। इस सूत्र के आदि में भाष्यकारों ने "अधिमात्रोपायानाम्" अधिमात्र उपायवालों को' इतना पाठ और सम्बद्ध किया है तथा 'समाधिलाभः समाधिफलं च भवति इति।' समाधि का लाभ और उसके फल का लाभ होता है ये शब्द सूत्र के अन्त में लगाने चाहिये। अब ये पांचों उपाय यदि तीव्र संवेग वाले हों तो समाधिलाभ शीघ्रतम होता है। अर्थात जिनकी साधन की गति तीव्र है, उनकी समाधि शीघ्र सिद्ध होती है । और यह तीव्र संवेग भी मृदु, मध्य, और अधिमात्र के भेद से तीन प्रकार का होता है।

"विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।

प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्ध कर्म चयोऽचिरात् || ६.७.३५ || (विष्णुपुराणम्)

जो योगी विनिष्पन्न समाधि हो जाता है, वह योग रुप अग्नि के सम्पर्क से कर्म समूह के दग्ध हो जाने से , उसी जन्म में शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

संवेग माने अभ्यास में वेग, इस प्रकार वैराग्य एवं अभ्यास वाले योगियों को अतिशीघ्र ही समाधि एवं समाधि के फल की प्राप्ति होती है। अब ये तीव्र संवेग योगियों के पुरुषार्थ के अनुसार कितने प्रकार के होते हैं यह अगले सूत्र में बतलाते हैं —

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥ १.२२ ॥

मृदु — हल्का या मन्द, मध्य — मध्यम (बीचवाला) या सामान्य और अधिमात्रत्वात् — तीव्र या उच्च्व कक्षा का ये तीन भेद का होने से; ततः = उस (मृदुतीव्र संवेगवाले और मध्यतीव्र संवेगवाले के समाधिलाभ) से; अपि = भी; विशेषः = (अधिमात्र माने अतिशय तीव्र संवेग वाले को समाधि-लाभ में) विशेषता होती है। अर्थात तीव्र पुरुषार्थ (अभ्यास और वैराग्य) करने वाले को शीघ्र ही समाधिलाभ हो जाता है। अब इस अधिमात्र तीव्र संवेग से ही समाधि लाभ होता है अथवा दूसरा भी कोई सुगम उपाय है या नहीं ? ऐसी आशंका होने पर समाधि का एक अन्य उपाय बताते हैं |

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १.२३ ॥

ईश्वर – प्रणिधानाद् , भक्ति-विशेषात् = ईश्वर के प्रणिधान से ; वा = अथवा (शीघ्रतम समाधि लाभ होता है) अथवा ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन करने से शीघ्र ही समाधिलाभ होता है।

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।१८.६२।। श्रीमद्भगवद्गीता"

हे भारत ! तुम सम्पूर्ण भाव से उसी (ईश्वर) की शरण में जाओ। उसके प्रसाद से तुम परम शान्ति और शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे।

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।९.२७।। श्रीमद्भगवद्गीता"

हे कौन्तेय ! तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान देते हो और जो कुछ तप करते हो, वह सब तुम मुझे अर्पण करो।

"क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥१०॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्"

प्रकृति नाशवान है और जीवात्मा अविनाशी है। वह, एक मात्र ईश्वर नाशवानप्रकृति और जीवात्मा दोनों पर शासन करता है। उस एकं पर ध्यान करने से और उसके साथ संयुक्त तथा तादात्म्य हो जाने से अन्त में समस्त अज्ञान या भ्रान्ति से मुक्ति मिल जाती है।

"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०.१०।। श्रीमद्भगवद्गीता"

उन (मुझ से) नित्य युक्त हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करने वाले भक्तों को, मैं वह 'बुद्धियोग' देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं।

"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।९.३२।।श्रीमद् भगवद्गीता"

हे पृथानन्दन ! जो भी पापयोनिवाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं।

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।७.१४।। श्रीमद्भगवद्गीता"

यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है। अर्थात् जिससे पार होना बड़ा कठिन है ऐसी है। इसलिये जो सब धर्मोंको छोड़कर अपने ही आत्मा मुझ मायापति परमेश्वर की ही सर्वात्मभावसे शरण ग्रहण कर लेते हैं वे सब भूतोंको मोहित करनेवाली इस मायासे तर जाते हैं, वे इसके पार हो जाते हैं अर्थात् संसारबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। ईश्वर की भक्ति से सारे विघ्न समाप्त हो जाते हैं। अब अगले सूत्र में उस ईश्वर के स्वरूप का निरूपण करते हैं ।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १.२४ ॥

"क्लेश", क्लिश्नन्तीति क्लेशाः जो दुःख देते हैं वे क्लेश कहलाते हैं। ये क्लेश पांच प्रकार के हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। "कर्म", विहित, निषिद्ध और मिश्ररूप इस तरह से तीन प्रकार कर्म होते हैं । "विपाक" (विपच्यन्त इति विपाकाः) जो परिपक्व हो जाते हैं वे विपाक कहलाते हैं माने उन कर्मों का फल जैसे कि जाति, (जन्म) आयु (उम्र) और भोग (सुख दुःखादि) ही विपाक कहलाते हैं। और "आशय", आफलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः" जबतक फल का पाक न हो तबतक वे वासना के संस्कार चित्त में सोते रहते हैं इसलिये उस चित्त को आशय कहते हैं। उन आशयै: माने और उन कर्मों की वासना का संस्कार जिस अन्तःकरण में रहता है , उससे अपरामृष्ट: माने असम्बद्ध, पुरुषविशेष: माने जो अन्य संसारी पुरुषों से विलक्षण है, विशेष है। वह "ईश्वरः" ईशनशील इच्छामात्र से सकल जगत के उद्धार में समर्थ चेतन जो सदा ही मुक्त है वह ईश्वर है। ईश्वर इन अविद्यादि पाँचों क्लेशों से मुक्त है। ये क्लेश, कर्म, सुखदुःखादि तो मन में रहते हैं लेकिन व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि ये तुम में (पुरुष में) हैं, जैसे जय, पराजय सैनिकों में होती है लेकिन कहा जाता है कि राजा या भारत जीत गया या हार गया बैसे ही तुम्हारे सबसे भीतर की चेतना भी इन पाँचों क्लेशों से परे है फिर भी मन के सम्बन्ध से हम इनको अपने में आरोपित कर लेते हैं। वास्तब में राजा न जीता न हारा क्योंकि वह तो लड़ा ही नहीं। इसी प्रकार मैं धनी हूँ या दरिद्र हूँ अथवा सुखी हूँ या दुःखी हूँ अथवा सफल हूँ या असफल हूँ इत्यादि प्रकार का ज्ञान जो मन के सम्बन्ध से होता है वही अविद्या है। देखिये रामचरित मानस में ईश्वर का स्वरुप —

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा।।

सहज प्रकाशरुप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना।।

हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना।।

राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना।।

राम सच्चिदानंदस्वरुप सूर्य हैं। वहाँ मोहरुपी रात्रि का लवलेश भी नहीं है। वे स्वभाव से ही प्रकाश स्वरुप और (षडैश्वर्ययुक्त) भगवान है, वहाँ तो विज्ञानरुपी प्रातःकाल भी नहीं होता (अज्ञानरुपी रात्रि हो तब तो विज्ञानरुपी प्रातःकाल हो; भगवान तो नित्य ज्ञानस्वरुप हैं)। हर्ष, शोक, ज्ञान, अज्ञान, अहंता और अभिमान- ये सब जीव के धर्म हैं। श्री रामचन्द्रजी तो व्यापक ब्रह्म, परमानन्दस्वरुप, परात्पर प्रभु और पुराण पुरुष हैं। इस बात को सारा जगत जानता है॥ और जीव का स्वरुप बताया है —

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ कठोपनिषद्"

'वह' जो 'जीव आत्मा', है वह मन तथा इन्द्रियों से युक्त है और वह कर्ता तथा भोक्ता है। उपनिषद में ईश्वर की विशेषता इस प्रकार बताई गई है —

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया || ८ || श्वेताश्वतरोपनिषद्"

न उस 'देव' का मनुष्य जैसा कोई देह है और करणीय कर्म भी कुछ है ही नहीं, न ही उसके कर्म का कोई करण (साधनभूत अंग) इन्द्रियां हैं, न ही कोई 'उससे' बढ़कर है न ही हमें 'उसके' समान कोई दिखायी पड़ता है क्योंकि 'उसकी' शक्ति अन्य सबसे बहुत अधिक बढ़कर है, सबसे परे है, मनुष्य केवल विविध नामों तथा विविध रूपों में उसका वर्णन सुनते हैं। वस्तुतः 'उसका' बल, 'उसकी' क्रियाएँ तथा 'उसका' ज्ञान स्वभावतः आत्म-समर्थ तथा स्वयं ही स्वयं का कारण हैं। उस ईश्वर के ज्ञान, बल और क्रिया ये तीनों स्वाभाविक और नित्य हैं। गीता में भी ईश्वर का स्वरुप स्पष्ट किया है जैसे कि —

"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥[गीता १३.२२]"

(यह आत्मा) उपद्रष्टा है अर्थात् स्वयं क्रिया न करता हुआ पासमें स्थित होकर देखनेवाला है। जैसे कोई यज्ञविद्यामें कुशल अन्य पुरुष स्वयं यज्ञ न करता हुआ, यज्ञकर्ममें लगे हुए पुरोहित और यजमानोंद्वारा किये हुए कर्मसम्बन्धी गुणदोषोंको तटस्थभावसे देखता है, उसी प्रकार कार्य और करणों के व्यापारमें स्वयं न लगा हुआ उनसे अन्य विलक्षण आत्मा उन व्यापारयुक्त कार्य और करणों को समीपस्थ भावसे देखनेवाला है। अथवा देह, चक्षु, मन, बुद्धि और आत्मा — ये सभी द्रष्टा हैं। उनमें बाह्य द्रष्टा शरीर है और उससे लेकर उन सबकी अपेक्षा अन्तरतम – समीपस्थ द्रष्टा अन्तरात्मा है। जिसकी अपेक्षा और कोई आन्तरिक द्रष्टा न हो ! वह अतिशय सामीप्य भावसे देखनेवाला होनेके कारण उपद्रष्टा होता है (अतः आत्मा उपद्रष्टा है)। अथवा (यों समझो कि) यज्ञके उपद्रष्टाकी भाँति सबका अनुभव करनेवाला होनेसे आत्मा उपद्रष्टा है। तथा यह अनुमन्ता है — क्रिया करनेमें लगे हुए अन्तःकरण और इन्द्रियादिकी क्रियाओंमें सन्तोषरुप अनुमोदनका नाम अनुमनन है। उसका करनेवाला है। अथवा यह इसलिये भी अनुमन्ता है कि कार्यकरणकी प्रवृत्तिमें स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ भी उनके अनुकूल प्रवृत्त हुआ सा दीखता है। अथवा अपने व्यापारमें लगे हुए अन्तःकरण और इन्द्रियादिको उनका साक्षी होकर भी कभी निवारण नहीं करता इसलिये अनुमन्ता है। तथा यह भर्ता है चैतन्यस्वरुप आत्माके भोग और अपवर्गकी सिद्धिके निमित्तसे संहत हुए चैतन्यके आभासरुप शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका स्वरुप धारण करना भी भरण है और वह चैतन्यरुप आत्माका ही किया हुआ है, इसलिये आत्माको भर्ता कहते हैं। आत्मा भोक्ता है। अग्निके उष्णत्वकी भाँति नित्यचैतन्य आत्मसत्तासे समस्त विषयोंमें पृथक्पृथक् होनेवाली जो बुद्धिकी सुख, दुःख और मोहरुप जो प्रतीतियाँ हैं वे सब चैतन्य आत्माद्वारा ग्रस्त की हुई सी दीखती हैं, अतः आत्माको भोक्ता कहा जाता है। आत्मा महेश्वर है। वह सबका आत्मा होनेके कारण और स्वतन्त्र होनेके कारण महान् ईश्वर है इसलिये महेश्वर है। वह परमात्मा है। अविद्याद्वारा प्रत्यक् आत्मारुप माने हुए जो शरीरसे लेकर बुद्धिपर्यन्त (आत्मशब्दवाच्य पदार्थ) हैं। उन सबसे उपद्रष्टा आदि लक्षणोंवाला आत्मा परम (श्रेष्ठ) है — इसलिये वह परमात्मा है। यह देहमें रहता हुआ भी देहसे पर (सम्बन्ध-रहित) ही है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥ मुण्डकोपनिषद्"

दो सुन्दर पंखों वाले पक्षी, घनिष्ठ सखा, समान वृक्ष पर ही रहते हैं; उनमें से एक वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को खाता है, अन्य खाता नहीं अपितु अपने सखा को केवल देखता है।

"कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।

कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥ ४२ ॥ शुकरहस्योपनिषद्"

यह जीव कार्यरुप उपाधि वाला और ईश्वर कारण रुप उपाधि वाला है। इन कार्य और कारण रुप उपाधियों को छोड़ देने पर विशुद्ध ज्ञान रुप ब्रह्म ही शेष रहता है॥ इस प्रकार उपाधि के भेद से ही जीव और ईश्वर में भेद है निरुपाधिक शुद्ध स्वरुप में स्वतः कोई भेद नहीं। ईश्वर वह पुरुष है अथवा चेतना है जो इन अविद्यादि पांच क्लेशों और कर्म तथा कर्माशय और उनके फल सुखदुःखादि से मुक्त है, परे है। इन सबका तीनों कालों में भी ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिये उस ईश्वर को {पुरुष-विशेष} कहा है। क्योंकि वह दूसरे सामान्य पुरुषों से अलग है।

"तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।

स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः || (महाभारत शा० ३५१/१४)"

इनमें जो परमात्मा है, वह नित्य निर्गुण माना गया है। उसीको नारायण नामसे जानना चाहिये। वही सर्वात्मा पुरुष है।

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ ६.११ ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्"

उस 'एकमेव देव' का ही अस्तित्व है, प्रत्येक प्राणी में 'वही' गूढ़ रूप से छिपा हुआ है क्योंकि 'वही' सर्वव्यापी एवं समस्त प्राणियों का 'अन्तरात्मा' है, 'वह' सभी कर्मों का अध्यक्ष-स्वामी है, एवं सभी जीवसत्ताओं का आवास है। 'वही' सकल जगत-व्यापारों का 'महान् साक्षी' है जो विचारों में परस्पर सम्बद्धता लाता है, 'वह' है 'निरपेक्ष' एवं निर्गुण, जिसमें न कोई मनोभाव है न कोई गुण है। "तत्त्वमसि।" आदि श्रुतियाँ भी इसी अभेद ज्ञान का ही निरुपण करतीं हैं क्योंकि अभेदज्ञान ही मोक्षफलक सुना गया है। जिसमें ऐश्वर्य की परमावधि है उसे ईश्वर कहते हैं।

"पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।११.४३।।श्रीमद् भगवद्गीता"

आप ही इस चराचर संसारके पिता हैं, आप ही पूजनीय हैं और आप ही गुरुओंके महान् गुरु हैं। हे अनन्त प्रभावशाली भगवन् ! जब कि सारे त्रिभुवनमें आपके समान ही दूसरा कोई नहीं है फिर अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है। जिससे किसी वस्तुकी समानता की जाय उसका नाम प्रतिमा है, जिन आपके प्रभावकी कोई प्रतिमा नहीं है, वह आप अप्रतिमप्रभाव हैं। इस प्रकार हे अप्रतिमप्रभाव अर्थात् हे निरतिशयप्रभाव । इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है !

"आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात् ।

कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम् ॥ पञ्चशिखाचार्य || ज्ञानोद्रेकादविद्यानिवृत्तिरूप एकः रागसंक्षयादिन्द्रियोपशमरूपो द्वितीयः कृच्छ्रक्षयाद्धर्माधर्मकरणरुपाद्धर्माधर्मानुत्पादरूपस्तृतीयः । एतत्रयं ज्ञानद्वारभूतत्वाद् गौणं मोक्षत्रयम् । आत्यन्तिकत्रिविधदुःखनिवृत्तिरेव मुख्यो मोक्षः । तदुक्तं गोतमेन सूत्रेण दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति ।

"आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत् ।

तथात्मैको ह्यनेकेषु जलाधारेष्विवांशुमान् ।। ३७६.१४ ।। (अग्निपुराण)

जैसे एक ही आकाश अनेक घड़ाओं अनेक जैसा दीखता है तथा जैसे अनेक जलाधारों में एक ही सूर्य अनेक रूप से प्रतिबिम्बित होता है बैसे ही एक आत्मा अनेक अन्तःकरणों में अनेक जैसा प्रतीत होता है। इस प्रकार ईश्वर का स्वरूप बताकर अब अगले सूत्र में ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १.२५ ॥

तत्र निरतिशयं सर्व-ज्ञ-बीजम् । तत्र = तस्मिन् भगवति, अर्थात उस (ईश्वर में) सर्वज्ञ-बीजम् – सर्वज्ञत्वस्य, सर्वज्ञत्व का बीज अर्थात् ज्ञान – निरतिशयम् – अतिशयता से रहित है ; अर्थात अनन्त ज्ञान है , निरतिशय है । माने सम्पूर्ण ज्ञान है। जो वस्तु किसीकी अपेक्षा से कम या ज्यादा हो , वह सातिशय कही जाती है और जो काष्ठा (सीमा) को प्राप्त होकर कहीं विश्रान्त हो जाय , वह निरतिशय कही जाती है। जिस ज्ञान के बराबर अथवा अधिक ज्ञान हो उसको सातिशय ज्ञान ; और जिसके बराबर अथवा अधिक ज्ञान न हो अर्थात जो काष्ठा को प्राप्त हो जाय , उसको निरतिशय ज्ञान कहते हैं। जिस प्रकार ज्ञान की सर्वोच्च सीमा का आधार ईश्वर को बतलाया है, इसी प्रकार धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री (चल सम्पत्ति), और सम्पत्ति (अचल सम्पत्ति) की काष्ठा का भी आधार ईश्वर को जानना चाहिये।

"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।

वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति (विष्णु पुराण ६।५।१८)"

जो सृष्टि और प्रलय, प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश , ज्ञान और अज्ञान को समझता है, उसे भगवान कहा जाना चाहिए। सर्व के ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट बीज जिसमें रहता है सो ईश्वर है। इसीलिये वह पुरुषविशेष भी है। कोई थोड़ा जानता है, कोई अधिक जानता और कोई बहुत अधिक जानता है, ये सब ज्ञान की सीमायें हैं, इन सभी सीमाओं से परे जो सर्वोच्च ज्ञान का स्वामी है वही निरतिशय ज्ञानी है।

"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।

अनन्तशक्तिश्च विभोविधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।।१२.३१।। वायुपुराणम्"

विधि तत्त्व को जानने वाले व्यक्तियों ने प्रभु महेश्वर के षडङ्ग तत्व को इस प्रकार बताया है, सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबुद्धि, स्वतन्त्रता, नित्य (हमेशां रहनेवाली) अविनश्वर शक्ति और अनन्त शक्ति || ३१ ||

"ईश्वरः परमाणुत्वाद्भावग्राह्यो मनीषिणाम् ।

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यन्तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।। ३९.२१५ ।।

द्रष्टृत्वमात्मसम्बन्धमधिष्ठानत्वमेव च।

अव्ययानि दशैतानि तस्मिंस्तिष्ठति शङ्करे ।। ३९.२१६ ।। वायुपुराणम्"

तथा च "ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।

ततश्च देवा मैत्रेय न्यूना दक्षादयस्ततः ॥ १,२२.५८ ॥ विष्णुपुराणम्"

{ ब्रह्मविष्णु शिवादीनां यः परः स महेश्वरः। }

एवं च "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।९.२९।।श्रीमद्भगवद्गीता"

मैं समस्त भूतों में सम हूँ; न कोई मुझे अप्रिय है और न प्रिय; परन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे मुझमें और मैं भी उनमें हूँ।

"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥२.१.३४ ॥ ब्रह्मसूत्रम्"

(वैषम्य) सबके साथ समान बरताव न करना (नैर्घृण्य) दया से शून्य होना (न) नहीं है जिसमें क्योंकि (सापेक्षत्वात्) कर्म की अपेक्षा से होने के कारण (तथा) ऐसे ही (हि) निश्चय (दर्शयति) श्रुति दिखाती है।

'न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्। एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्. ३ । ९) इति,

'यह न तो अच्छे कर्म से वृद्धि को प्राप्त होता है और न ही बुरे कर्म से छोटा होता है। यह प्राण एवं प्रज्ञा रुप चैतन्य युक्त परब्रह्म ही इस देहाभिमानी पुरुष से श्रेष्ठ कार्य करवाता है। वह ऐसे श्रेष्ठ कृत्य उसी से करवाता है, जिसे वह इन प्रत्यक्ष लोकों से ऊर्ध्व की तरफ ले जाना चाहता है और जिसे वह इन श्रेष्ठ लोकों की अपेक्षा नीचे ले जाना चाहता है, उससे अशुभ कार्य करवाता है।

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।४.११।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जो मुझे जैसे भजते हैं, मैं उन पर वैसे ही अनुग्रह करता हूँ; हे पार्थ सभी मनुष्य सब प्रकार से, मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं। पृथ्वी में से गन्ना मीठे परमाणुओं आकर्षित कर लेता है और मिर्ची तीखे परमाणुओं को।

"यः सर्वज्ञः यः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः।

तस्मात् एतत् ब्रह्म नाम रुपम् अन्नं च जायते ॥९॥ मुण्डकोपनिषद्"

जो 'सर्वज्ञ' है, सर्वविद् है, 'वह' जिसका तप ज्ञानमय है, 'उससे' ही यह 'ब्रह्म', यह 'नाम' 'रुप' एवं 'अन्न' उत्पन्न होते हैं।

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।५.१४।।श्रीमद्भगवद्गीता"

परमेश्वर मनुष्योंके न कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके साथ संयोगकी रचना करते हैं; किन्तु स्वभाव ही बरत रहा है। उन जीवों की प्रकृति ही (सब कुछ) करती है। अतः ईश्वर में सर्वज्ञता के बीज की निरतिशयता अर्थात् पराकाष्ठा है।

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ६.२२॥श्वेताश्वतरोपनिषद्"

जिसके हृदय में 'ईश्वर' के प्रति परम प्रेम तथा परमा भक्ति है तथा जैसी 'ईश्वर' के प्रति है वैसी ही 'गुरु' के प्रति भी है, ऐसे 'महात्मा' पुरुष को जब ये महान् विषय बताये जाते हैं, तब वे स्वतः अपने आन्तर अर्थों को उद्घाटित कर देते हैं, सचमुच, उस 'महात्मा' के लिए वे स्वतः प्रकाशित हो जाते हैं। गुरुभक्ति भी अवश्य करनी चाहिये इस बात को बताने के लिये , सबका गुरु ईश्वर है तथा वह ब्रह्मादिकों से भी श्रेष्ठ है, यह बात बतलाने के लिये अगले सूत्र में ईश्वर में क्या विशेषता है यह बतलाते हैं।

पूर्वेषाम् अपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १.२६ ॥

पूर्वेषाम् = पूर्वकाल में उत्पन्न ब्रह्मा – विष्णु – महेश्वरादि का भी गुरु और सनकादिकों का ; अपि = भी गुरुः = (वह ईश्वर) ही उपदेष्टा है ; कालेन – अनवच्छेदात् = क्योंकि वह काल से अवच्छिन्न (परिमित) नहीं है। अर्थात सदा ही विद्यमान है। काल का भी हेतु होने से ईश्वर को नित्य कहा जाता है।

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवंआत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥६.१८॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्"

जो सृष्टि के पूर्व 'सृष्टिकर्ता ब्रह्मा' को उत्पन्न करता है तथा जो वेदों को उन्हें (ब्रह्मा को) प्रदान करता है, जो 'आत्मा' तथा 'बुद्धि' में प्रकाशित हो रहा है, मैं मोक्ष की कामना से उसी 'देव' की शरण ग्रहण करता हूँ। 'तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत् सूरयः' = ब्रह्मणे। आदि कवि जो ब्रह्मा है, उनके हृदय में जिसने ब्रह्म (वेद) विस्तृत किया,

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।४.१।। श्रीमद् भगवद्गीता"

श्रीभगवान् ने कहा — मैंने इस अविनाशी योग को विवस्वान् (सूर्य देवता) से कहा (सिखाया); विवस्वान् ने मनु से कहा; मनु ने इक्ष्वाकु से कहा।

"प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि । स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम् ॥ २.४.२२॥ श्रीमद्भागवत"

जिन्होंने सृष्टिकाल में ब्रह्मा के हृदय में पूर्व कल्प की स्मृति जागृत (जगाने) करने के लिए ज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी को प्रेरित किया और वे अपने अंगों सहित वेद के रूप में उनके मुख से प्रकट हुईं, वे ज्ञान के मूल कारण मुझ पर कृपा करें और मेरे हृदय में प्रकट हों।

"मौनव्याख्या प्रकटितपरब्रह्मतत्वंयुवानं

वर्शिष्ठान्तेवसदृषिगणैरावृतं ब्रह्मनिष्ठैः ।

आचार्येन्द्रं करकलित चिन्मुद्रमानन्दमूर्तिं

स्वात्मारामं मुदितवदनं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥१॥"

मैं उस दक्षिणामूर्ति की स्तुति और प्रणाम करता हूं, कौन हैं वे? – जो दक्षिण दिशा की ओर मुख करके विराजमान हैं । और जो उनकी मौन स्थिति से,परम ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करते हैं , जो दिखने में जवान हैं , जो पुराने, बृद्ध साधुओं और शिष्यों से घिरे हैं , जिनका मन ब्रह्म तत्व पर टिका हुआ है, शिक्षकों में जो सबसे बड़े हैं , जो अपने हाथ से चिन्मुद्रा को दिखाते हैं , जो अपने आत्म आनन्द के साकार विग्रह हैं , जो अपने भीतर चरम आनंद की स्थिति में हैं ,और जिनका चेहरा मुस्कुराता हुआ है।

गुरु बिन भव निधि तरइ न कोई ।

जौ बिरंचि संकर सम होई ।। रामचरित मानस ||

गुरु के बिना कोई भवसागर नहीं तर सकता, चाहें वह ब्रह्माजी और शंकरजी के समान ही क्यों न हो !" सदगुरु का अर्थ शिक्षक या आचार्य नहीं है । शिक्षक अथवा आचार्य हमें थोड़ा-बहुत ऐहिक ज्ञान देते हैं लेकिन सदगुरु तो हमें निजस्वरूप का ज्ञान दे देते हैं । जिस ज्ञान की प्राप्ति के बाद मोह उत्पन्न न हो, दुःख का प्रभाव न पड़े और परब्रह्म की प्राप्ति हो जाए ऐसा ज्ञान गुरुकृपा से ही मिलता है । उसे प्राप्त करने की भूख जगानी चाहिए । इसीलिये कहा गया है —

गुरु गोबिन्द दोउ खड़े, काके लागु पाँव ।

बलिहारी गुरु आपकी, जिन गोबिन्द दियो बताय ।।

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतैरपि।

दुर्लभा चित्तविश्रान्तिः विना गुरुकृपां पराम्॥१२८॥ स्कंदपुराणे-गुरुगीता।"

बहुत कहने से क्या ? करोडों शास्त्रों से भी क्या ? चित्त की परम् शांति, गुरु कृपा के बिना मिलना दुर्लभ है ।

प्रेरकः सूचकश्वैव वाचको दर्शकस्तथा। शिक्षको बोधकश्चैव षडेते गुरवः स्मृताः।। प्रेरणा देनेवाले, सूचन देनेवाले, (सच) बतानेवाले, (रास्ता) दिखानेवाले, शिक्षा देनेवाले, और बोध करानेवाले — ये सब गुरु समान है।

योगीन्द्रः श्रुतिपारगः समरसाम्भोधौ निमग्नः सदा

शान्ति क्षान्ति नितान्त दान्ति निपुणो धर्मैक निष्ठारतः।

शिष्याणां शुभचित्त शुद्धिजनकः संसर्ग मात्रेण यः

सोऽन्यांस्तारयति स्वयं च तरति स्वार्थं विना सद्गुरुः।।

भावार्थ — योगियों में श्रेष्ठ, श्रुतियों को समझा हुआ, (संसार/सृष्टि) सागर में समरस हुआ, शांति-क्षमा-दमन ऐसे गुणोंवाला, धर्म में एकनिष्ठ, अपने संसर्ग से शिष्यों के चित्त को शुद्ध करनेवाले, ऐसे सद्गुरु बिना स्वार्थ अन्य को तारते हैं और स्वयं भी तर जाते हैं।

सङ्गति — इस प्रकार गुरु रुप ईश्वर का निरुपण करके अब उसका प्रणिधान किस प्रकार करना चाहिये ; यह बतलाने के लिये तथा उपासना की सुविधा के लिये उसका वाचक (नाम) अगले सूत्र में बतलाते हैं।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १.२७ ॥

उस ईश्वर का वाचक (नाम) प्रणव अर्थात् ॐ कार है । ओंकार को ही आदिध्वनि कहा जाता है। प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणव ओङ्कारः । जिसके द्वारा नम्रता से स्तुति की जाय अथवा भक्त जिसकी उत्तमता से स्तुति करता है वह प्रणव कहलाता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि —

"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।१७.२३।।श्रीमद्भगवद्गीता"

ओम्, तत्, और सत् — यह तीन प्रकारका ब्रह्मका निर्देश है। जिससे कोई वस्तु बतलायी जाय उसका नाम निर्देश है। अतः यह ब्रह्मका तीन प्रकारका नाम है। ऐसा वेदान्तमें ब्रह्मज्ञानियों द्वारा माना गया है। पूर्वकालमें इस तीन प्रकारके नामसे ही ब्राह्मण, वेद और यज्ञ ये सब रचे गये हैं।

आचार्य पुष्पदन्त ने भी शिवमहिम्न स्तोत्र में ॐ की महिमा बताई है —

"त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।

तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः

समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्॥२७॥"

अर्थात् — हे सर्वेश्वर! ॐ तीन तत्वों से बना है अ, ऊ, म जो तीन वेदों (ऋग, साम, यजु), तीन अवस्था (जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्त), तीन लोकों, तीन कालों, तीन गुणों तथा त्रिदेवों को इंगित करता है। हे ॐकार आप ही इस त्रिगुण, त्रिकाल, त्रिदेव, त्रिअवस्था, और त्रिवेद के समागम हैं।

अजपा मन्त्र के मूल में भी ॐ ही है। {हंसः , सोऽहं} यह अजपा मन्त्र है।

"हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।

हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा || ३१ || योगचूडामण्युपनिषद्"

श्वास 'स' कार ध्वनि (वायु) के माध्यम से भीतर और 'ह' कार के साथ बाहर आती है। इस तरह यह जीव हंस-हंस (हंसमंत्र) का जप सदैव करता रहता है ॥ सोऽहं – इसका विपरीत होता है।

गीता में भी कहा है कि — ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।८.१३।। जो पुरुष ओऽम् इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

"अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।

वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ।।२.७६।। मनुस्मृतिः ||"

(प्रजापतिः) परमात्मा ने अकारम् उकारं च मकारं ओम् शब्द के 'अ' 'उ' और 'म्' अक्षरों को (अ+ उ + म् = ओम्) (च) तथा (भूः भुवः स्वः इति) 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' गायत्री मन्त्र की इन तीन व्याहृतियों को वेदत्रयात् निरदुहत् तीनों वेदों से दुहकर साररूप में निकाला है । "जो अकार उकार और मकार के योग से 'ओम्' यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है । जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं । जैसा पिता और पुत्र का प्रेम सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है । इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है ।"

"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥२.२.४॥- मुण्डकोपनिषत् "

प्रणव धनुष है, [सोपाधिक] आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है । उसका सावधानतापूर्वक वेधन करना चाहिये और बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये। जैसे बाण लक्ष्य के अन्दर घुस जाता है।

"वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिः न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।

स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यः तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ – श्वेताश्वतरोपनिषत् १-१३"

जैसे कि अग्नि की मूर्ति अपने उद्गम अरणि में स्थित होते हुए भी तब तक दिखाई नहीं देती जब तक इसे रगड़ कर अग्नि को प्रज्जवलित नहीं किया जाता यद्यपि अग्नि का सूक्ष्म रूप अरणि में हमेशा विद्यमान रहता है। तथापि नीचे वाले अरणि को रगड़ कर पुनः उत्तरारणी के द्वारा मन्थन से अग्नि को प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रणव पर ध्यान करके आत्मा को अभिव्यक्त रूप में देखा जाता है जो ध्यान से पूर्व भी अव्यक्त रूप में मौजूद ही था ।

"स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्यन्निगूढवत्॥१४॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्"

अपनी देह को अरणि बनाकर उसे प्रणव रूपी ऊपरी अरणि के साथ ध्यान की क्रिया रूपी रगड़ के अभ्यास द्वारा गूढ़ अग्नि की भांति उस भगवान की परम ज्योति को देखना चाहिये।

"यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येव□सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥ १.४.४ ॥ छान्दोग्योपनिषत् ॥"

जब कोई उपासक व्यक्ति ऋग्वेद में महारथ हासिल कर लेता है तो वह जोर से ऊंचे स्वर से ओम का उच्चारण करता है; इसी प्रकार जब उसने सामवेद और यजुर्वेद में भी महारथ हासिल कर ली हो। तब यही स्वर शब्दांश ओम उसकी अन्तरात्मा में प्रकाशित हो जाता है; यही मूल नाद है तथा यह अमर और निडर है। इसमें प्रवेश कर जैसे देवता अमर और निडर हो गये वैसे ही वह अमर और अभय हो जाता है।

"ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्।ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओं शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति।ओमिति ब्राह्मणः

प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति || १ || तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली अष्टमोऽनुवाकः"

'ओम्' ही ब्रह्म है, 'ओम्' ही यह समस्त विश्व है। 'ओम्' ही अनुमोदन सूचक अक्षर है 'ओम्' कहकर ही वे कहते हैं, अब हम सुनें तथा वे 'ओम्' कहकर ही प्रवचन का आरम्भ करते हैं। 'ओम्' से ही सामवेद की ऋचाओं का गान करते हैं; 'ओम्' 'शोम्' कह कर ही वे शास्त्रों का उच्चार करते है। 'ओम्' से यज्ञ का होता (अध्वर्यु) प्रत्युत्तर देता है। 'ओम्' से ब्रह्मा सृष्टि का आरम्भ करते हैं (अथवा 'ओम्' से मुख्य होता (ब्रह्मा) अनुमति देता है।) 'ओम्' से ही अग्निहोत्र की अनुमति दी जाती है। ज्ञान की व्याख्या करने के पूर्व ब्राह्मण 'ओम्' का उच्चार करके कहता है- "मैं ब्रह्म (वेद) को प्राप्त करूँ।" इस प्रकार वास्तव में वह 'ब्रह्म' को प्राप्त कर लेता है।

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥१॥ माण्डुक्योपनिषद् "

'ओम्' ही है यह 'अक्षर-शब्द', 'ओम्' ही समस्त 'विश्व' है और यह 'ओम्' की ही व्याख्या है! भूत, वर्तमान तथा भविष्य अर्थात् जो कुछ था, जो कुछ है तथा जो कुछ होगा, वह सब 'ओम्' है। इसी प्रकार 'काल' (त्रिकाल) की सीमा से परे जो कुछ भी हो सकता है वह भी 'ओम्' ही है।

"सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥ माण्डुक्योपनिषद्"

वह , यह 'आत्मा'है , और 'अक्षर दृष्टि से मात्राओं वाला -शब्द' है 'ओम्'; और 'उसके' पाद (अंश) हैं उसके वर्णाक्षर, तथा वर्णाक्षर हैं 'उसके' पादांश-'अकार', 'उकार' तथा 'मकार'।

"अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२ ॥ माण्डूक्योपनिषद्"

चौथा पाद मात्रारहित है , इसलिये उसको चतुर्थ कहते हैं। यह (अमात्रा), 'अव्यवहार्य' है , उसमें कोई व्यवहार नहीं है। इस (सृष्टि) प्रपञ्च का उपशम अर्थात् अन्त है , वह परम मंगलकारी-'शिव', और 'अद्वैत' (अद्वितीय) ऐसा है 'ओम्'। 'आत्मा' ही आत्मा के द्वारा 'आत्मा' में प्रवेश करके 'आत्मा' को जानता है, जो यह जानता है, वही सबकुछ जानता है।

'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः स्तत्सेतुः प्रणवः स्मृतः ।

स्रवत्यनोंकृतं पूर्व्वं परस्ताच्च विशीर्य्यते ॥'

माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकाम प्रसाधनम्।

ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ||

"सर्वेषामेव मन्त्राणां कारणं प्रणवः स्मृतः।

तस्मात् व्याहृतियोजातास्ताभ्यो वेद त्रयं तथा।। -वृद्धहारीत"

अर्थ — ओंकार समस्त मन्त्रों का हेतुभूत है, ओंकार से व्याहृतियाँ उत्पन्न हुईं और व्याहृतियों से तीनों वेद उत्पन्न हुए।

"प्रणवस्य जपान्नित्यं तथा तस्यार्थभावनात्।

एकाग्रं जायते चित्तं परमात्मा प्रकाशते ॥ ५१॥

तस्मादीशप्रणिध्यानादन्तराया भवन्ति न।

स्वरूपज्ञानमप्यस्य योगिनस्सम्प्रजायते ॥ ५२ ॥ योगसूत्रसारः ||

योगी याज्ञवल्क्य ने कहा है कि —

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।

तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति।।

ॐ के बारे में बहुत कुछ लिखा जा सकता है लेकिन लिखने , पढ़ने से कुछ काम बनने वाला नहीं है , कम से कम १०८ बार लम्बे प्रणव का जप रोज कर लेना चाहिये। अब ईश्वर प्रणिधान का लक्षण और उनके के नाम का जप कैसे करना चाहिए यह उपासनात्मक बात अगले सूत्र में बताई है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १.२८ ॥

तत् जपः- उस प्रणव का (ॐ कार का) जप ; तदर्थ = उस प्रणव के अर्थस्वरूप (का) भावनम् = पुनः पुन: चिन्तन करना ,ध्यान करना (ईश्वर – प्रणिधान है) अभिप्राय यह है कि ॐ का जप उसके अर्थ की भावना के साथ करना चाहिये | {प्रणव-जपेन सह ब्रह्म-ध्यानं प्रणिधानम्।} महर्षि वेदव्यासजी महाराज ने इस योगसूत्र की व्याख्या में लिखा है —

“स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥६.६.२॥ विष्णुपुराणम्”

स्वाध्याय से योग=चित्तवृत्तियों के निरोध की प्राप्ति करे, योग=चित्तवृत्तियों का निरोध करके स्वाध्याय=वेद का अध्ययन करे। स्वाध्याय और योग की सम्मिलित शक्ति से आत्मा में भगवान् स्वयं प्रकाशित हो जाते हैं। यह है स्वाध्याय का महान् फल । जपात् श्रान्तश्चरेद् ध्यानं ध्यानात् श्रान्तश्चरेज्जपम्। जप-ध्यान-परिश्रान्त आत्मतत्वं विचारयेत्।। यदि जप में थकान मालूम हो तो आँख बन्द करके ध्यान करो और ध्यान में तबीयत ऊबने लगे तो माला लेकर जप करो। यदि दोनों में थकान मालूम पड़े तो स्वाध्याय करो, पढ़ो , पाठ करो!

प्रणवेन परं ब्रह्म ध्यायीत नियतो यतिः।

जपंश्च प्रणवं मन्त्रं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।।

कोटिसूर्यसमं तेजो ध्यायेदात्मनि निर्मलम् ।। ३३-५९ ।। नारदपुराणम्

“अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६॥ मुण्डकोपनिषद् द्वितीयो मुण्डकः द्वितीयः खण्डः ॥ रथ के चक्र की नाभि में जुड़े हुए अरों की भाँति जहाँ नाड़ियाँ एकत्रित हो जाती हैं, ‘वह’ ही है जो अन्तर में विचरण करता है,- ‘वही’ बहुविध रूप में जन्म लेता है। ‘आत्मा’ का ‘ओम्’, के रूप में ध्यान करो, तथा अन्धतमस् से परे उस पार जाने का तुम्हारा मार्ग मंगलमय (स्वस्ति) हो। इस सूत्र का अर्थ लिङ्ग पुराण में बहुत ही स्पष्ट रूप में प्रदर्शित किया गया है —

“अविद्ययास्य संबंधो नातीतो नास्त्यनागतः।।

भवेद्रागेण देवस्य शंभोरंगनिवासिनः।। ९.३६ ।।

कालेषु त्रिषु संबंधस्तस्य द्वेषेण नो भवेत्।।

मायातीतस्य देवस्य स्थाणोः पशुपतेर्विभोः।। ९.३७ ।।

तथैवाभिनिवेशेन संबंधो न कदाचन।।

शंकरस्य शरण्यस्य शिवस्य परमात्मनः।। ९.३८ ।।

कुशलाकुशलैस्तस्य संबंधो नैव कर्मभिः।।

भवेत्कालत्रये शंभोरविद्यामतिवर्तिनः।। ९.३९ ।।

विपाकैः कर्मणां वापि न भवेदेव संगमः।।

कालेषु त्रिषु सर्वस्य शिवस्य शिवदायिनः।। ९.४० ।।

सुखदुःखैरसंस्पृश्यः कालत्रितयवर्तिभिः।।

स तैर्विनश्वरैः शंभुर्बोधानंदात्मकः परः।। ९.४१ ।।

आशयैरपरामृष्टः कालत्रितयगोचरैः।।

धियां पतिः स्वभूरेष महादेवो महेश्वरः।। ९.४२ ।।

अस्पृश्यः कर्मसंस्कारैः कालत्रितयवर्तिभिः।।

तथैव भोग संस्कारैर्भगवानंतकांतकः।। ९.४३ ।।

पुंविशेषपरो देवो भगवान्परमेश्वरः।।

चेतनाचेतना युक्त प्रपंचादखिलात्परः।। ९.४४ ।।

लोके सातिशयत्वेन ज्ञानैश्वर्यं विलोक्यते।।

शिवेनातिशयत्वेन शिवं प्राहुर्मनीषिणः।। ९.४५ ।।

प्रतिसर्गं प्रसूतानां ब्रह्मणं शास्त्रविस्तरम्।।

उपदेष्टा स एवादौ कालावच्छेदवर्तिनाम्।। ९.४६ ।।

कालावच्छेदयुक्तानां गुरुणामप्यसौ गुरुः।।

सर्वेषामेव सर्वेशः कालावच्छेदवर्जितः।। ९.४७ ।।

अनादिरेष संबंधो विज्ञानोत्कर्षयोः परः।।

स्थितयोरीदृशः सर्वः परिशुद्धः स्वभावतः।। ९.४८ ।।

आत्मप्रयोजनाभावे परानुग्रह एव हि।।

प्रयोजनं समस्तानां कार्याणां परमेश्वरः।। ९.४९ ।।

प्रणवो वाचकस्तस्य शिवस्य परमात्मनः।।

शिवरुद्रादिशब्दानां प्रणवोपि परः स्मृतः।। ९.५० ।।

शंभोः प्रणववाच्यस्य भावना तज्जपादपि।।

या सिद्धिः स्वपराप्राप्या भवत्येव न संशयः।। ९.५१ ।।

ज्ञानतत्त्वं प्रयत्नेन योगः पाशुपतः परः।।

उक्तस्तु देवदेवेन सर्वेषामनुकंपया।। ९.५२ ।। लिङ्गपुराणम् – उत्तरभागः/अध्यायः ९"

'जप' इस शब्द से मन्त्रयोग बता दिया और 'अर्थभावन' इस शब्द से विवेकज्ञान अभ्यासरूपी ज्ञानयोग बता दिया तथा अभेदभावरूप अद्वैतयोग भी इसीसे समझ लेना चाहिये।

"व्यक्ताव्यक्ते च पुरुषस्तिस्रो मात्राः प्रकीर्तिताः।

अर्धमात्रा परं ब्रह्म ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः।। गरुड़ पुराण ||"

इस प्रकार जप करने से मन्त्रयोग तथा उस मन्त्र के अर्थ की भावना करने से ज्ञानयोग और अभेदभावना करने से अद्वैतयोग सिद्ध होता है | एकाग्रता का उपाय बतलाकर अब आगे अगले सूत्र में असम्प्रज्ञात समाधि से पूर्व ईश्वर प्रणिधान रूपी उपासना का विशेष फल बतलाते हैं।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ १.२९ ॥

ततः = उस ईश्वर प्रणिधान से , नाम जप से और अर्थ भावना से ; प्रत्यक्-चेतना =अन्तरात्मा (जीवात्मा) का ; अधिगम:= ज्ञान, प्राप्ति, साक्षात्कार; अपि = भी होता है; अन्तराय अभाव: च = और विघ्नों का, अन्तरायों का (बाधाओं का) अभाव होता है। तात्पर्य यह है कि अर्थभावना के साथ किये गए जप से साधक को स्वयं के स्वरुप का ज्ञान मिलता है और योग मार्ग में आने वाली बाधाओं से भी मुक्ति प्राप्त हो जाती है। {प्रतीपं विपरीतम् अञ्चति विजानातीति प्रत्यक्, स चासौ चेतनश्च} जो विपरीत को जानता है और चेतन है उसको प्रत्यक् चेतन कहते हैं। अर्थात अविद्याविशिष्ट जीव। (विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्षक्तिः सा प्रत्यक्चेतना तदधिगमो ज्ञानं भवतीत्यर्थः। (भोजवृत्ति) जो दृक् शक्ति विषयों को छोड़ कर अपने अन्तःकरण में सम्मुख प्रवृत्त होती है , वह प्रत्यक्चेतना है |

वेद में भी कहा है कि —

"तस्य ह न देवाश्च नाभूत्यै ईशते । आत्मा ह्येषां स भवति ॥ – बृहदारण्यकोपनिषत् १-४-१०"

अर्थात् — देवता भी उस ज्ञानी के लिये विघ्न करने में समर्थ नहीं होते क्योंकि वह उन देवताओं का भी आत्मा हो जाता है।

"यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः॥२.१५॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्"

जब योगी इस शरीर में स्थित आत्म तत्व के सत्य के द्वारा ब्रह्म तत्व के सत्य को आत्म-प्रकाशित सत्ता के रुप में अनुभव कर लेता है, तब उस सत्ता को अजन्मा, शाश्वत तथा प्रकृति के सभी तत्वों सें मुक्त और शुद्ध जान कर वह सभी बन्धनों से छूट जाता है। श्रीमद्भागवत में भी ईश्वर को बताने के लिये 'प्रत्यक्' शब्द का प्रयोग किया है —

"ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक

मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।

प्रत्यक्प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं

यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ।।५.१२.११ ।।श्रीमद्भागवतपुराणम्"

विशुद्ध परमार्थरुप ज्ञान ही अद्वितीय भीतर बाहर के भेद से रहित सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तिर्वर्ती (सबका प्रत्यगात्मा) और सर्वथा निर्विकार है। वही भगवान है और उसी को विद्वान वासुदेव भी कहते है।

"तस्मान्मुमुक्षोः सुसुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः ।

चित्तेन चिन्तयानेन वञ्च्यते ध्रुवमन्यथा ॥"

इसलिये मुमुक्षु को सर्वान्तिर्यामी , सर्वव्यापक भगवान वासुदेव की शरण ग्रहण करनी चाहिये। यही सबसे सरल मार्ग है, अन्यथा निश्चय ही ठगा जाता है।

"त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः स्वौकः विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते । नान्यस्य बर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान् धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥ १० ॥ श्रीमद्भागवत पुराणम्/स्कन्धः ११/अध्यायः ४"

आपके भक्त आपकी भक्ति के प्रभाव से देवताओं की राजधानी अमरावती का उल्लंघन करके आपके परम-पद को प्राप्त होते हैं। इसलिये जब वे भजन करने लगते हैं, तब देवता लोग तरह-तरह से उनकी साधना में विघ्न डालते हैं। किन्तु जो लोग केवल कर्मकाण्ड में लगे रहकर यज्ञादि के द्वारा देवताओं को बलि के रुप में उनका भाग देते रहते हैं, उन लोगों के मार्ग में वे किसी प्रकार का विघ्न नहीं डालते। परन्तु प्रभो! आपके भक्तजन उनके द्वारा उपस्थित की हुई विघ्न-बाधाओं से गिरते नहीं। बल्कि आपके करकमलों की छत्रछाया में रहते हुए वे विघ्नों के सिर पर पैर रखकर आगे बढ़ जाते हैं, अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होते।।

"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।१४.२६।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा अर्थात् उपासना करता है, वह इन तीनों गुणों से मुक्त होकर , अतीत होकर ब्रह्म बनने के लिये योग्य हो जाता है। और भी कहा है कि —

"नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रय: || ३.१८ || श्रीमद् भगवद्गीता"

उस (कर्मयोगसे सिद्ध हुए) महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है, और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है, तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें (किसी भी प्राणीके साथ) इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। "मायाप्रवर्तके विष्णौ कृता भक्तिर्दृढा नृणाम् । सुखेन प्रकृतेरन्यं स्वं दर्शयति दीपवत् ॥ नारदपुराण ||" माया के प्रवर्तक भगवान विष्णु में यदि दृढ़ भक्ति हो तो सुख पूर्वक आत्मसाक्षात्कार हो जाता है जैसे दूसरी चीजों से दीपक अलग ही दीखता है। शुद्ध भक्ति के बिना भगवान के दर्शन होने पर भी बुद्धि शुद्ध नहीं होती और ना ही भक्ति या मुक्ति मिलती, दुर्योधनादि जैसों के हजारों दृष्टान्त हैं।

शुद्ध भक्ति की परिभाषा भक्तिरसामृत सिन्धु में इस प्रकार की गई है —

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा || (१.१.११)

अर्थात्, अन्य अभिलाषाओं से शून्य एवं स्मार्त्त-कर्मादि से अनावृत होकर आनुकूल्येन कृष्ण स्मरण ही भक्ति है।

"यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।

अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः॥२.१५॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्"

जब योगी इस शरीर में स्थित आत्म तत्व के सत्य के द्वारा ब्रह्म तत्वके सत्यको आत्म-प्रकाशित सत्ता के रुप में अनुभव कर लेता है, तब उस सत्ता को अजन्मा, शाश्वत तथा प्रकृति के सभी तत्वों से मुक्त और शुद्ध जान कर वह सभी बन्धनों से छूट जाता है।

"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।४.१४।। श्रीमद्भगवद्गीता"

कर्म मुझे लिप्त नहीं करते; न मुझे कर्मफल में स्पृहा है। इस प्रकार जो मुझे तत्व से जानता है, वह भी कर्मों से नहीं बन्धता है।

"तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।८.७।।श्रीमद् भगवद्गीता"

इसलिए, तुम सब काल में मेरा निरन्तर स्मरण करो; और युद्ध करो मुझमें अर्पण किये मन, बुद्धि से युक्त हुए निःसन्देह तुम मुझे ही प्राप्त होओगे।

"लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।

येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥१५॥ पाण्डवगीता"

अर्थ — जिनके हृदयमें नीलकमल के समान श्याम रंगके जनार्दनका वास है, उन्हें सदैव यश और लाभ मिलता है , उनकी सदैव जय होती है, उनका पराजय कैसे संभव है !

यामुनाचार्य जी कहते हैं कि — मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव । नियतस्वमिति प्रबुद्धधीः अथवा किं नु समर्पयामि ते ।। ५३ ।।

हे मेरे नाथ! महापुरुषों के संगसे मुझे ऐसा ज्ञात हुआ है कि मैं भी आपका हूँ और मेरे पास जो कुछ है वह भी आपका ही है तो फिर मैं समर्पण करूँ तो क्या करूँ ? अर्थात मैं समर्पण करता हूँ, ऐसा यदि कहता हूँ तो यह भी एक प्रकारका मेरा कहना अपराध होगा । इस

प्रकार ईश्वर प्रणिधान से जिन विघ्नों का नाश होता है और जो चित्त को विक्षिप्त करके एकाग्रता का भङ्ग करने वाले हैं उन योग के विघ्नों का स्वरुप अगले सूत्र में बताते हैं।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १.३० ॥

अब समाधि के नौ ९ (विघ्नों का) विरोधियों का वर्णन करते है। व्याधि (रोग), स्त्यान – अकर्मण्यता , (मानसिक जड़ता) संशय – संदेह, प्रमाद – बुद्धि की शिथिलता (प्रज्ञामान्द्य) , आलस्य – शरीर की शिथिलता , अविरति – विषयतृष्णा, भ्रान्ति-दर्शन – मिथ्या अनुभव, अलब्ध-भूमिकत्व – समाधि नहीं लग पाना , अनवस्थितत्व – समाधि लाभ होने पर भी अधिक देर तक समाधि में नहीं ठहर पाना। ते – ये चित्त (के ९ नौ) विक्षेपाः – क्षोभ हैं और ये ही अन्तरायाः – विघ्न या बाधाएं हैं । सबसे पहले शरीर के स्वास्थ्य के बारे में बताते हैं — (१) व्याधि :- शरीर की धातु , रस और करण की विषमता से उत्पन्न ज्वरादि रोग व्याधि कहलाते हैं। महर्षि चरक ने संक्षेप में रोग और आरोग्य का लक्षण यह लिखा है- वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों का सम मात्रा (उचित प्रमाण) में होना ही आरोग्य और इनमें विषमता होना ही रोग है। सुश्रुत ने स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण विस्तार से दिया है —

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

जिसके सभी दोष (वात, पित्त और कफ) सम मात्रा में हों, अग्नि सम हो, धातु, मल और उनकी क्रियाएं भी सम (उचित रुप में) हों तथा जिसकी आत्मा, इंद्रिय और मन प्रसन्न (शुद्ध) हों उसे स्वस्थ समझना चाहिए। इसके विपरीत लक्षण हों तो अस्वस्थ समझना चाहिए। रोग को विकृति या विकार भी कहते हैं। अत: शरीर, इंद्रिय और मन के प्राकृतिक (स्वाभाविक) रुप या क्रिया में विकृति होना ही रोग है।

मनुस्मृति में शरीर के बारह मल इस प्रकार से बताये गये हैं —

“वसा शुक्रं असृङ्मज्जा मूत्रविट्घ्राणकर्णविट् ।

श्लेशमाश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ।। ५.१३५।। मनुस्मृतिः”

मनुष्य देह के बारह मल निम्नोक्त रूप से हैं– (१) वसा (चर्बी), (२) वीर्य, (३) रक्त, (४) मज्जा, (५) मूत्र, (६) विष्ठा, (७) आँख का मल , (८) नाक का मल , (९) कान का मल, (१०) आँसू, (११) कफ और (१२) पसीना।

भुक्त -पीत (खाये -पीये) अन्न -जल के परिपाक दशा को प्राप्त हुए सार का नाम रस है। उस रस का ठीक से न पचना रस की विषमता है।

करण — नेत्रादि इन्द्रियों का नाम है। कम देखना, कम सुनना आदि करण की विषमता है।

(२) स्त्यान माने थकाबट (चित्त की अकर्मण्यता या मानसिक जड़ता) अर्थात इच्छा होने पर भी किसी कार्य को करने की (योग साधना की) सामर्थ्य का न होना।

(३) संशय — (संदेह) मैं योग साधन कर सकूंगा या नहीं , योग सिद्ध होगा या नहीं ” इस प्रकार की दुविधा होना संशय है।

(४) प्रमाद — कामादि की प्रवलता से समाधि के साधनों में उदासीनता , समाधि के साधनों का अनुष्ठान न करना ही प्रमाद है। योगशास्त्रानुसार समाधि के साधनों की भावना न करना । या उन्हें ठीक से न समझना । असावधानी; लापरवाही; गफलत; अंतःकरण

की दुर्बलता; उपेक्षा, ये सब प्रमाद की कक्षा में आते हैं।

"प्रमादो वै मृत्यु:" प्रमादाद्वै असुराः पराभवन् अप्रमादाद्ब्रह्मभूताः सुराश्च। महाभारतम्-०५ -उद्योगपर्व-अध्याय ४२ ||

"कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग- मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।

एकः प्रमादी स कथन्न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥११५.२१॥ गरुडपुराणम्"

हिरन, हाथी, पतिंगा, भौंरा और मछली क्रमशः शब्द,स्पर्श,रूप,गन्ध तथा रस इनमें से केवल एकमें आसक्त होकर मारे जाते हैं। तथा जो प्रमादी व्यक्ति,इन पाँचों इन्द्रियों के अधीन हुआ है वह कैसे बच सकता है?

"अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१४.१३।। श्रीमद्भगवद्गीता"

हे कुरुनन्दन ! तमोगुण के प्रवृद्ध होने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह ये सब उत्पन्न होते हैं।

"लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद् बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः । प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः सोपानपङ्क्तौ पतितो यथा तथा।।३२५।। विवेकचूडामणिः"

जैसे खेलने की गेंद यदि असावधानी वश सीढ़ियों पर गिरकर स्वतः नीचे-नीचे चली जाती है, वैसे ही यदि साधक का चित्त (ब्रह्मरूपी) लक्ष्य से जरा-सा भी बहिर्मुख हुआ, तो क्रमशः पतित होता चला जाता है। प्रमा माने यथार्थ बोध उस यथार्थज्ञान का जो दमन करदे वह प्रमाद है। अथवा प्रकृष्ट मद (नशा या मस्ती) ही प्रमाद है।

"यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।१८.३९।। श्रीमद् भगवद्गीता "

जो सुख प्रारम्भ में और परिणाम (अनुबन्ध) में भी आत्मा (मनुष्य) को मोहित करने वाला होता है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा जाता है। विवेक विहीनता का नाम प्रमाद है।

"यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।६.२६।। श्रीमद् भगवद्गीता "

यह अस्थिर और चञ्चल मन जहाँ-जहाँ विचरण करता है, अथवा जिन कारणों से (विषयों में) विचरण करता है,वहाँ-वहाँसे हटाकर इसको एक परमात्मामें ही लगाये। अर्थात् आत्मा में स्थिर करे।

(५) आलस्य — चित्त अथवा शरीर के भारी होने के कारण ध्यान का न लगना। शरीर का भारीपन कफ आदि के प्रकोप से होता है और चित्त का भारीपन तमोगुण की अधिकता से होता है। {आलस्यं ज्ञानसाधनेष्वप्रवृत्तिः।}

"आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपु:।

नास्त्युद्यमसमो बन्धु: कुर्वाणो नावसीदति।।८६।। नीतिशतकम् "

आलस्य ही मनुष्य के शरीर में रहने वाला सबसे बड़ा शत्रु होता है, तथा परिश्रम के जैसा कोई मित्र नहीं होता, क्योंकि परिश्रम करने वाला व्यक्ति कभी दुखी नहीं होता, जबकि आलस्य करने वाला व्यक्ति सदैव दुखी रहता है।

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।

न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगा:।।१३८।। (पञ्चतन्त्रम्)

व्यक्ति के मेहनत करने से ही उसके काम पूरे होते हैं। सिर्फ इच्छा करने से उसके काम पूरे नहीं होते। जैसे सोये हुए शेर के मुंह में हिरण स्वयं नहीं आता, उसके लिए शेर को परिश्रम करना पड़ता है।

(६) अविरति — विरति माने वैराग्य का न होना ही अविरति है। विषयों में तृष्णा बनी रहना अर्थात विषयेन्द्रिय – संयोग से चित्त की विषयों में तृष्णा होने से वैराग्य का अभाव अविरति है।

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥१.२.२४॥ कठोपनिषद्"

जो दुष्कर्मों से विरत नहीं हुआ है, जो शान्त नहीं है, जो अपने में एकाग्र (समाहित) नहीं है अथवा जिसका मन शान्त नहीं है वासनाओं से भरा है , ऐसे किसी को भी यह 'आत्मा' प्राप्त नहीं हो सकता। वह केवल बुद्धिवाद से आत्मतत्त्व को नहीं पा सकता। तो फिर कैसे प्राप्त कर सकता है ?

प्रज्ञानेन, ब्रह्मविज्ञानेन एनं प्रकृतमात्मानम् आप्नुयात्, यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च, समाहितचित्तः समाधान फलादप्युपशान्तमानसश्चाचार्यवान् प्रज्ञानेन एवं यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

ब्रह्म विज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है।

(७) भ्रान्तिदर्शन — मिथ्याज्ञान (योग के साधनों तथा उनके फल को मिथ्या जानना) भ्रान्ति दर्शनं माने विपर्यय-ज्ञानम् (उलटा ज्ञान)। शास्त्रोक्त अर्थ से विपरीतनिश्चय करना।

"अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।१८.३२।। श्रीमद् भगवद्गीता"

हे पार्थ ! तमस् (अज्ञान अन्ध:कार) से आवृत जो बुद्धि अधर्म को ही धर्म मानती है और सभी पदार्थों को विपरीत रुप से जानती है, वह बुद्धि तामसी है।

(८) अलब्धभूमिकत्वं (समाधि-भूमेः अलाभः।) मधुमती आदि जो समाधि की भूमिकायें आगे बताई जांयगी उनमें स्थिति न होना। अलब्धभूमिकत्व माने किसी प्रतिबन्धक वश समाधि-भूमि को न पाना अर्थात समाधि में न पहुंचना।

(९) अनवस्थितत्वं — (अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा ।) प्राप्त हुई समाधि भूमि को पाकर भी उसमें चित्त का न ठहरना अर्थात ध्येय का साक्षात्कार करने से पूर्व ही समाधि का छूट जाना। इसलिये यह अस्थिरता भी दोष है।

उपर्युक्त नौ विघ्न एकाग्रता से हटाने वाले हैं और चित्त की ५ वृत्तियों के साथ होते हैं, उनके अभाव में नहीं होते। इसलिए ये सब चित्त के विक्षेप, योग के मल , योग के अन्तराय, और योग के विरोधी, विघ्न या दुश्मन कहलाते हैं। केवल ये नौ ही योग के प्रतिबन्धक नहीं

हैं, किन्तु उनके वर्तमान होने पर अन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं, जिनका निर्देश अगले सूत्र में करते हैं —

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ १.३१ ॥

पिछले सूत्र में कहे हुए नौ प्रतिबन्धों के साथ साथ ये पाँच अन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं। १. दुख, २. दौर्मनस्य, (मन खराब होना) ३. अंगमेजयत्व, (अंगों में एक प्रकार का कम्पन या अङ्गों अकड़-जाना या जकड़-जाना) ४. श्वास और ५. प्रश्वास। (श्वास लेने में और छोड़ने में एक अनियमित एवं अनियंत्रित गति भी एक प्रकार का विक्षेप है।)

(१) दु:ख = "प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्" पीड़ा तीन प्रकार की होती है।

आध्यात्मिक दुःख — जो दुख शरीर और मन के कारणों से प्राप्त होता है।

अधिभौतिक दुःख — जो दुख हमें अन्य जीवों से प्राप्त होता है।

आधिदैविक दुःख — जो दुख हमें प्रकृति से प्राप्त होता है।

दैहिक = देह से संबंधित रोग और काम, क्रोध जन्य मानस परिताप (शरीर और मन के दुःख आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं।)

और भौतिक ताप = सिंह, सर्प चोर, ड़ाकू आदि दुष्ट प्राणियों से उत्पन्न पीड़ा (आधिभौतिक) । भौतिक आपदायें हैं।

दैविक = ग्रह, नक्षत्र जन्य पीड़ा , विद्युत-पात (बिजली का गिरना) अतिवर्षा, अनावृष्टि, अतिवायु, या फिर अचानक ही घर में या जँगल में आग लग जाना तथा महामारी आदि ये सब (आधिदैविक) दैवीय प्रकोप ,पीड़ायें हैं। पर्यावरण में असंतुलन के कारण प्राकृतिक आपदाएं अधिक आती हैं अतः सभी सामूहिक रुप से पर्यावरण का संतुलन बनाये रखने का प्रयास करें तो ये दुःख कम हो सकते हैं।

(२) दौर्मनस्य — इच्छा की पूर्ति न होने पर मन का खराब होना। इसके लिए ऋषि , मुनियों ने त्रिकाल सन्ध्या का विधान किया है। यह निष्काम कर्म के अभ्यास का अद्भुत उपाय है। निष्काम होना कोई साधारण सी बात नहीं है यह एक उच्च्य कोटि की उपलब्धि है।

"विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति।।२.७१।।श्रीमद्भगवद्गीता"

जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।

(३) अङ्गमेजयत्व — शरीर के अङ्गों का काँपना। कभी कभी अफीम आदि नशीली वस्तुओं की आदत पड़ जाने से और उनके अभाव में आदमी हाथ पाँव पटकने लगता है , उसके शरीर में संतुलन नहीं रहता है। यह जो शरीर के अङ्गों का काँपना है यह योगाङ्ग आसन का वाधक है।

(४) श्वास — श्वास रेचक का विरोधी है। बिना इच्छा के बाहर के वायु का नासिका द्वारा अंदर आना श्वास नाम का प्रतिबन्धक है।

(५) प्रश्वास — प्रश्वास पूरक का विरोधी है। बिना इच्छा के भीतर के वायु का नासिका छिद्रों के द्वारा बाहर निकलना प्रश्वास है – जब व्यक्ति शारीरिक या मानसिक रूप से असंतुलित हो जाता है तब श्वास , प्रश्वास की गतिविधि भी स्वाभाविक नहीं रह पाती है। रेचक और पूरक प्राणायाम ,अर्थात योग के अंग हैं अतः ये हमारे स्वामित्व में ही होने चाहिये। श्वास, प्रश्वास का अनियंत्रित चलना योगके

अङ्गभूत प्राणायाम का विरोधी है। इस प्रकार (ये पाँच उपविघ्न या उपविक्षेप हैं) जो कि विक्षेप-सहभुव: – विक्षेपों के साथ-साथ होनेवाले हैं। इसलिए कहा कि —

"प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यःकदाचन ।

प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः ॥१४॥ अध्यात्मोपनिषत्||"

ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद न करे, क्योंकि प्रमाद ही मृत्यु है (अपनी आत्मा के अनुसन्धान को छोड़कर जीवन बिताना प्रमाद है), ऐसा विद्या के ज्ञाता (विद्यावान्) ब्रह्मवादी कहते हैं ॥ विद्यावान गुनी अति चातुर । राम काज करिबे को आतुर।। विद्यावान तो वही है जो अपने आत्माराम को सुखी करने के लिए आतुर है । महायोगी हनुमान जी ने कहा कि —

"यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी । तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन् ।। ७.१०८.३६ ।। रामायणम् / उत्तरकाण्डम् / सर्गः १०८"

जब तक आपका जीवनचरित संसार के जीवों के विचार को पवित्र करता रहेगा तब तक मैं स्थिर होकर आपकी आज्ञा पालन करने के लिए धरती पर रहूँगा" | इन सभी दुःखों से छूटने का बहुत ही सरल उपाय गीता जी में बताया है।

"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।१२.८।। श्रीमद्भगवद्गीता"

तुम अपने मन और बुद्धि को मुझमें ही स्थिर करो, तदुपरान्त तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है।

"अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।१२.९।।श्रीमद् भगवद्गीता"

हे धनंजय ! यदि तुम अपने मन को मुझमें स्थिर करने में समर्थ नहीं हो, तो अभ्यासयोग के द्वारा तुम मुझे प्राप्त करने की इच्छा (अर्थात् प्रयत्न) करो। {चित्तको सब ओरसे खींचकर बारंबार एक अवलम्बनमें लगानेका नाम अभ्यास है उससे युक्त जो समाधानरूप योग है ऐसे उस अभ्यासयोगके द्वारा — मुझ — विश्वरूप परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छा कर।

"अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।।१२.१०।। श्रीमद्भगवद्गीता"

यदि तुम अभ्यास में भी असमर्थ हो तो मत्कर्म परायण बनो; अर्थात् मेरे लिये कर्म करनेको ही प्रधान समझनेवाला हो। इस प्रकार मेरे लिए कर्मों को करते हुए भी तुम सिद्धि को प्राप्त करोगे।

"अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।१२.११।। श्रीमद्भगवद्गीता"

और यदि इसको भी करने के लिए तुम असमर्थ हो, तो आत्मसंयम से युक्त होकर मेरी प्राप्ति रूप योग का आश्रय लेकर, तुम समस्त कर्मोंके फलका त्याग करो। अर्थात सबकुछ भगवानको सौंप दो। यह प्रेमयोग का अभ्यास है।

"कामतोऽकामतो वाऽपि यत्करोमि शुभाशुभम् ।

तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् "

किसी कामना से या बिना किसी कामना के जो शुभ या अशुभ कर्म मैं कर रहा हूँ, वह सब तुम्हें (ईश्वर) को समर्पित कर दे रहा हूँ, क्योंकि तुम्हारे द्वारा ही प्रेरित होकर मैं वे कर्म करता हूँ।

"साधु वाऽसाधु वा कर्म यद्यदाचरितं मया ।

तत्सर्वं कृपया देव गृहाणाराधनं मम ॥"

अच्छा या बुरा जो कुछ भी मुझसे बन पड़ा, वह सब आपकी कृपा से ही सम्भव हो सका है। अतः हे देव ! कृपया मेरी आराधना को स्वीकार करें।

उपर्युक्त विक्षेप और उपविक्षेप विक्षिप्त चित्तवालों को ही होते हैं , एकाग्र चित्त वालों को नहीं होते। इन समाधि के शत्रुओं को अभ्यास और वैराग्य द्वारा निरोध करना चाहिये। उन दोनों में से (अभ्यास और वैराग्य में से) अभ्यास के विषय का उपसंहार करने के लिये अगला सूत्र है —

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ १.३२ ॥

तत् – उन (विक्षेपों को) प्रतिषेधार्थम् – दूर करने के लिए एक तत्त्व का "एकं तत्त्वम् ईश्वरः।" अभ्यासः — अभ्यास (करना चाहिए) । उन पूर्वोक्त विक्षेप तथा उपविक्षेपोंको दूर करने के लिये एकतत्व का अभ्यास करना चाहिये अर्थात किसी एक अभिमत (इष्ट) तत्व द्वारा चित्त की स्थिति के लिये यत्न करना चाहिये। एक तत्व का अर्थ होता है प्रधानतत्व अथवा ईश्वरतत्व। इस प्रकार एक तत्व में एकाग्रता होने पर सारे विक्षेप समाप्त हो जाते हैं। एकाग्रता ईश्वर-चैतन्य में करनी चाहिये विषयों में नहीं। जैसे ॐ, राम, शिव, कृष्ण, दुर्गा, सूर्य, गणेश, साकार, निराकार, गुरु या आत्मा आदि कोई भी हो सकता है, पर एकतत्त्व का ही अभ्यास होना चाहिये। उसी एक इष्टतत्व में ही चित्त को बार -बार लगाना चाहिये।

"विक्षेपैस्तैर्यदा चित्तं बाधते योगिनं तदा।

अभ्यासेन च संस्कर्तुं प्रयतेत स संयमी ॥ ५६॥ योगसूत्रसारः"

वह एक ॐ ही सबका आत्मा है। सभी प्रकार विक्षेपों से बचने के लिये उसी एक दीर्घ प्रणव का अभ्यास करना चाहिये।

"अभियोगात्सदाभ्यासात्तत्रैव च विनिश्चयात् ।।

पुनःपुनरनिर्वेदात्सिध्येद्योगो न चान्यथा ।। ४५ ।।

दृढ़ता और चिरस्थायी अभ्यास से, तथा उसके दृढ़ पालन से और निराशा से दूर रहकर, योग सिद्ध किया जा सकता है अन्यथा नहीं।

आत्मक्रीडस्य सततं सदात्ममिथुनस्य च ।।

आत्मन्येव सु तृप्तस्य योगसिद्धिर्न दूरतः ।। ४६ ।।

जो हमेशा स्वयं के साथ खेलता है, जो हमेशा सर्वोच्च आत्मा के संपर्क में रहता है, जो हमेशा स्वयं से संतुष्ट रहता है, उसके लिए योग में पूर्णता दूर नहीं है।

अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति ।।

आत्मारामः स योगींद्रो ब्रह्मीभूतो भवेदिह ।। ४.४१.४७।। स्कन्दपुराणम्"

जो आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु को नहीं देखता वह महान (पूर्ण) योगी है। वह अपने आत्मा में पूर्ण आनंद लेता है। वह यहीं ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१.२.१६॥ कठोपनिषद्"

यही 'अक्षर' है 'ब्रह्म', यही 'अक्षर' है 'परम-तत्त्व'। यदि इस 'अक्षर' को कोई जान ले, तो वह जिसकी भी इच्छा करता है, वही उसे प्राप्त हो जाता है।

"यह श्रेष्ठ आलम्बन है, यह परम आलम्बन है। इस आलम्बन को जानकर व्यक्ति ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥६.११॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्"

उस 'एकमेव देव' का ही अस्तित्व है, प्रत्येक प्राणी में 'वही' गूढ़ रुप से छिपा हुआ है क्योंकि 'वही' सर्वव्यापी एवं समस्त प्राणियों का 'अन्तरात्मा' है, 'वह' सभी कर्मों का अध्यक्ष-स्वामी है, एवं सभी जीवसत्ताओं का आवास है। 'वही' सकल जगत-व्यापारों का 'महान् साक्षी' है जो विचारों में परस्पर सम्बद्धता लाता है, 'वह' है 'निरपेक्ष' एवं निर्गुण, जिसमें न कोई मनोभाव है न कोई गुण है।

"एको देवः केशवो वा शिवो वा एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा। एको वासः पत्तने वा वने वा एका नारी सुन्दरी वा दरी वा।।६९।। नीतिशतकम् – भर्तृहरि:"

इष्टदेव एक ही हो चाहे केशव हो या शिव ; मित्र भी एक ही हो चाहे राजा हो या संन्यासी ; निवास भी एक ही हो चाहे शहर हो या जंगल ; पत्नी भी एक ही हो या तो सुंदरी या फिर पर्वत की गुफा । सुन्दरी और दरी ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्ग में हैं। प्रीति एक ही से करनी चाहिये – वह चाहे सुन्दरी स्त्री से हो अथवा निर्जन पर्वतगुहा (स्त्री संसर्ग से दूर ब्रह्मचर्य) से हो । तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अपना चित्त स्थिर रखना चाहिए और एक में ही मन को रमाना चाहिए। मन को कभी भटकने नहीं देना चाहिए। किसी एक ही देवता में मन रमाने से सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं। मित्रता भी स्थाई होनी चाहिए तब चाहे वह किसी सम्पन्न के साथ हो अथवा विपन्न के साथ तथा व्यक्ति को निवास का एक स्थान निश्चित करना चाहिए और एक ही स्त्री से सम्पर्क करना चाहिए। वस्तुतः यही चित्त की एकाग्रता है यही उचित माना गया है। भटकाव के, प्रलोभन के अनेक साधन हैं, किन्तु प्रयास कर इन भटकावों से,प्रलोभनों से दूरी बनानी चाहिए। द्वैध भाव से मनुष्य का कल्याण सम्भव नहीं है, इसलिए निश्चयपूर्वक एक ही प्रकार का मार्ग अपनाना चाहिए ।

"अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८.८।। श्रीमद्भगवद्गीता"

हे पार्थ अभ्यासयोगयुक्त अनन्यगामी चित्तद्वारा अर्थात् चित्तसमर्पणके आश्रयभूत मुझ एक परमात्मामें ही विजातीय प्रतीतियोंके व्यवधानसे रहित तुल्य प्रतीतिकी आवृत्तिका नाम अभ्यास है वह अभ्यास ही योग है ऐसे अभ्यासरूप योगसे युक्त उस एक ही आलम्बनमें लगा हुआ विषयान्तरमें न जानेवाला जो योगीका चित्त है उस चित्तद्वारा शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार चिन्तन करता हुआ योगी परम निरतिशय — दिव्य पुरुषको जो आकाशस्थ सूर्यमण्डलमें परम पुरुष है — उसको प्राप्त होता है।

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् । (महा० अनु०१४९।१३१).

'भगवान्के भक्तोंका कहीं कभी भी अशुभ नहीं होता ।

संसारी से प्रीतड़ी, सरै न एको काम |

दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम ||

कबीरदास जी कहते हैं कि संसारियों से प्रेम जोड़ने से, कल्याण का एक काम भी नहीं होता| दुविधा में तुम्हारे दोनों चले जयेंगे, न माया हाथ लगेगी न स्वस्वरूप स्थिति होगी,

अतः जगत से निराश होकर अखंड वैराग्य करो। सर्व सुख सार परमात्मा से प्रेम करो। अनिश्चय की स्थिति में व्यक्ति दोनों से हानि उठाता है |

सङ्गति — जब चित्त में असूया, ईर्ष्या आदि मल होते हैं तब वह शान्त स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता अतः चित्त को निर्मल करने का उपाय तथा व्यवहार दशा में योगी का आचरण कैसा होना चाहिये यह बात अगले सूत्र में बतलाते हैं।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् ॥ १.३३ ॥

१.) मैत्री =मित्रता (सौहार्द) , २.) करुणा =दया (पराये दुःखों को निवृत्त करने की इच्छा), ३.) मुदिता =हर्ष और ४.) उपेक्षा =उदासीनता इन चार धर्मों की सुखी, दु:खी, पुण्यात्मा और पापात्मा के विषय में (यथाक्रम) भावना करने से चित्त प्रसन्न अर्थात निर्मल होता है। राग और द्वेष की विरोधी मैत्री आदि भावना से चित्त निर्मल होकर एकाग्रता और स्थिरता का लाभ प्राप्त कर सकता है। इसी को चर्या योग कहा गया है। मुख्य चर्यायोग तो वैराग्य ही है। गीता में भी कहा है कि

“रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।२.६४।। श्रीमद् भगवद्गीता”

आसक्ति और द्वेषको (राग-द्वेष) कहते हैं इन दोनोंको लेकर ही इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है। परंतु जो मुमुक्षु होता है वह स्वाधीन अन्तःकरणवाला अर्थात् जिसका अन्तःकरण इच्छानुसार वश में है ऐसा पुरुष रोगद्वेषसे रहित और अपने वशमें की हुई श्रोत्रादि इन्द्रियोंद्वारा अनिवार्य विषयोंको ग्रहण करता हुआ प्रसादको प्राप्त होता है। प्रसन्नता और स्वास्थ्य को प्रसाद कहते हैं।

“प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।२.६५।। श्रीमद् भगवद्गीता ”

प्रसाद के होने पर सम्पूर्ण दुखों का अन्त हो जाता है और प्रसन्नचित्त पुरुष की बुद्धि भी शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। क्योंकि (उस) प्रसन्नचित्तवाले की अर्थात् स्वस्थ अन्तःकरणवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे आकाशकी भाँति स्थिर हो जाती है, केवल

आत्मरूपसे निश्चल हो जाती है। इस वाक्यका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार प्रसन्नचित्त और स्थिरबुद्धिवाले पुरुषको कृतकृत्यता मिलती है।

"प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः ॥ ११ ॥ हितोपदेशः"

जैसे हम को हमारे प्राण ही बहुत प्यारे होते हैं, वैसे ही सभी प्राणियों को भी अपने प्राण प्यारे होतें हैं । सज्जन लोग अपने आप पर जितनी दया करते हैं, उतनी ही दया सभी प्राणियों पर करते हैं । इसलिए सुखी लोगों के साथ मैत्री ,प्रेम और सौहार्द, रखने से ईर्ष्या नामवाले कालुष्य की निवृत्ति होती है , दुःखी लोगों पर करुणा और दया करने से असूया नामवाला कालुष्य निवृत्त होता है , पुण्यशाली लोगों के प्रति हर्ष का भाव रखने से द्वेष नामवाला कलुष दूर हो जाता है और अपुण्यशाली (पातकी तथा कृतघ्न) पुरुषों के प्रति उपेक्षा का भाव रखने से अमर्ष (असहिष्णुता) नामवाला कालुष्य दूर होता है। मुख्य रूप से राग (विषयों में इच्छा) , द्वेष (वैर, अनिष्टों में रोष) ये दो ही चित्त के विक्षेपक हैं। यदि ये दोनों ही जड़ से उखाड़ दिये जाँय तो चित्त की प्रसन्नता होने से एकाग्रता होती है। अब एक दूसरा उपाय अगले सूत्र में बताते हैं।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥
१.३४ ॥

वा = अथवा ,
प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम् , (इन दोनों क्रियाओं से भी) नासिका द्वारा बारम्बार श्वास को बाहर फेंकने और रोकने से (इन दोनों प्रक्रियाओं से) प्राणस्य = प्राणवायु को स्थिर करने से भी चित्त स्थिर होता है ।
प्रच्छर्दन माने वमन या रेचन और विधारण माने कुम्भक । इन दोनों क्रियाओं से भी चित्त को निर्मल (प्रसन्न) करना चाहिये।
इस सूत्र में प्राणायाम के केवल दो भेद रेचक और कुम्भक बतलाये हैं। रेचक के लिये यहाँ प्रच्छर्दन शब्द का प्रयोग किया है जिसका मतलब है कोष स्थित वायु को जोर से बाहर फेंकना और कुम्भक के लिये विधारण शब्द का प्रयोग हुआ है। यह प्राणायाम कपालभाति से मिलता – जुलता है। पाँच बार या इक्कीस बार रेचक करके श्वास को बाहर ही रोक देना चाहिये , इस प्रकार कम से कम तीन बार करें।
"कौष्ठय्स्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामस्ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत्। (व्यास भाष्य)"
प्राणों को एक आयाम देना (एक स्थिरता देना) यही प्राणायाम है। मनु जी ने कहा है कि —
"प्राणायमैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।

प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ।। ६.७२ ।। मनुस्मृतिः/षष्ठोध्यायः"

अर्थात् नियमपूर्वक
प्राणायाम करने से शारीरिक दोष दूर होते हैं, कुम्भक से शरीर और मन दोनों ही मलरहित होते हैं, धारणा से पाप नष्ट होता है, प्रत्याहार से इन्द्रियों का संसर्ग छूटता है तथा ध्यान से सबके शासक परमेश्वर का ज्ञान होता है।

"रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा ।

प्राणायामा-स्त्रयः प्रोक्ता रेचकपूरककुम्भकाः ॥१०॥ अमृतनादोपनिषत् "

पूरक, रेचक और कुम्भक के रुप में की जाने वाली तीन क्रियाओं को प्राणायाम कहते हैं।

"प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।

वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचपूरककुम्भकाः ॥ ११.१.४० ॥ देवीभागवतपुराणम्"

प्राणायाम सभी प्रकार के पापों का नाश करता है। पाप निवृत्ति होने से चित्त लक्ष्य में एकाग्र हो जाता है।

"हकारेण तु सूर्यः स्यात्सकारेणेन्दुरुच्यते ।

सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते ॥ १३३॥ योगशिखोपनिषत्"

राग , द्वेष और मोह ये तीन दोष कहे गये हैं और प्राणायाम को समस्त दोषों का क्षय करने वाला कहा गया है। दोष निवृत्त होने पर एकाग्रता बड़ी सरलता से हो जाती है। "द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने ।

एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥ २७॥ मुक्तिकोपनिषत् "

चित्त रुप वृक्ष के दो बीज हैं पहला है प्राणस्पंदन और दूसरा है वासना इन दोनों में से एक के क्षीण हो जाने से दोनों ही नाश को प्राप्त होते हैं।

"दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् । । ६.७१ । । मनुस्मृतिः"

जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत हो जाते हैं । ' प्राण ' तत्व का ज्ञान भी योग मार्ग के पथिक को आवश्यक है। प्राण श्वास नहीं है। श्वास तो वायु है। प्राण आत्मा भी नहीं है जैसा कि कुछ लोग समझते हैं , किन्तु प्राण वह जड़तत्व है जिससे श्वास – प्रश्वास आदि समस्त क्रियायें एक जीवित शरीर में होती हैं। प्रश्नोपनिषद में प्राणतत्व का अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है-

"सः ईक्षाञ्चक्रे कस्मिन् उत्क्रान्ते अहम् अपि उत्क्रान्तः भविष्यामि। कस्मिन् प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामी ॥३॥ प्रश्नोपनिषद् षष्ठः प्रश्नः"

उसने 'स्वयं' के विषय में विचार किया। 'वह कौन हो सकता है जिसके उत्क्रमण करने (निकल जाने) से मैं इस शरीर से निकल (उत्कान्त हो) जाऊँगा तथा जिसके स्थित रहने से मैं स्थित रहूँगा?'

"स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपोमंत्राः कर्मलोकालोकेषु च नाम च। -प्रश्नोपनिषद् ६.४ ||"

अर्थात्- परमात्मा ने सबसे प्रथम प्राण की रचना की। इसके बाद श्रद्धा उत्पन्न की । तत्पश्चात् आकाश और फिर वायु, फिर ज्योति फिर जल फिर पृथ्वि, फिर इन्द्रियाँ एवं मन तथा अन्न, फिर अन्न से वीर्य को तथा वीर्य से तप तथा तप से मन्त्रों को, इन मन्त्रों से कर्म, कर्म से लोकों को, फिर लोकों में नाम को रचा; 'आत्मा' से इस क्रम में समस्त पदार्थों का जन्म हुआ। मनुष्य के शरीर में क्रिया के भेद से प्राण को दस भिन्न – भिन्न नामों में विभक्त किया गया है।

"सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः । प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः ॥ ||२२||

नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः ।

हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ॥ ||२३||

समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ।

व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ॥ ||२४||

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा।

कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ ||२५||

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजयः।

एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥ ||२६|| योगचूडामण्युपनिषद् "

प्राणों के नाम, स्थान और कार्य :- हमारा शरीर जिस तत्व के कारण जीवित है, उसका नाम 'प्राण' है। शरीर में हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियां, नेत्र-श्रोत्र आदि ज्ञानेंद्रियाँ तथा अन्य सब अवयव-अंग इस प्राण से ही शक्ति पाकर समस्त कार्यों को करते है। प्राण से ही भोजन का पाचन, रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, रज, ओज आदि सभी धातुओं का निर्माण होता है तथा व्यर्थ पदार्थों का शरीर से बाहर निकलना, उठना, बैठना, चलना, बोलना, चिंतन-मनन-स्मरण-ध्यान आदि समस्त स्थूल व सूक्ष्म क्रियाएँ होती है। प्राण की न्यूनता-निर्बलता होने पर शरीर के अवयव शिथिल व मृतप्राय हो जाते है। प्राण के बलवान होने पर समस्त शरीर के अवयवों में बल, पराक्रम आते है और पुरुषार्थ, साहस, उत्साह, धैर्य, आशा, प्रसन्नता, तप, क्षमा, आदि की प्रवृत्ति होती है। शरीर के बलवान व निरोग होने पर ही भौतिक व आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती है। इसलिए हमें प्राणों की रक्षा करनी चाहिए अर्थात शुद्ध आहार, प्रगाढ़ निद्रा, ब्रह्मचर्य, प्राणायाम आदि के माध्यम से शरीर को प्राणवान बनाना चाहिए। ईश्वर इस प्राण को जीवात्मा के उपयोग के लिए प्रदान करता है। जैसे ही जीवात्मा किसी शरीर में प्रवेश करता है प्राण भी उसके साथ शरीर में प्रवेश करता है और जीवात्मा के शरीर में से निकलते ही शरीर से प्राण भी निकल जाता है।

मुख्यत: प्राण ५ बताए गए हैं- प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। उपप्राण भी ५ ही बताए हैं- नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय।

१. प्राण

— इसका स्थान नासिका से हृदय तक है। भुक्त अन्न-जल को पचाना और अलग करना, अन्न को पुरीष ;पानी को पसीना और मूत्र तथा रसादि को वीर्य बनाना प्राण वायु का मुख्य काम है। नेत्र, श्रोत्र, मुख आदि अवयव इसी के सहयोग से कार्य करते है। यह सभी प्राणों का राजा है। जैसे राजा अपने अधिकारियों को विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त करता है, वैसे ही यह भी अन्य प्राणों को विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त करता है।

२. अपान — इसका स्थान नाभि से पाँव तक है। यह गुदा इंद्रिय द्वारा मल व वायु तथा मूत्रेन्द्रिय द्वारा मूत्र व वीर्य को तथा योनि द्वारा रज व गर्भ को शरीर से बाहर निकालने का कार्य करता है।

३. समान — इसका स्थान नाभि से हृदय तक है। यह खाए हुए अन्न को पचाने तथा पचे हुए अन्न से रस, रक्त आदि धातुओं को बनाने का कार्य करता है।

४. उदान — यह कण्ठ से शिर (मस्तिष्क) तक के अवयवों में रहता है। शब्दों का उच्चारण, वमन आदि के अतिरिक्त यह अच्छे कर्म करने वाले जीवात्मा को उत्तम योनि में व बुरे कर्म करने वाले जीवात्मा को बुरे लोक (सूअर, कुत्ते आदि की योनि) में तथा जिस मनुष्य के पाप-पुण्य बराबर हो, उसे मनुष्य लोक(मनुष्य योनि) में ले जाता है।

५. व्यान — यह सम्पूर्ण शरीर में रहता है। हृदय से मुख्य १०१ नाड़ियाँ निकलती हैं, प्रत्येक नाड़ी की १००-१०० शाखाएँ है तथा प्रत्येक शाखा की भी ७२००० उपशाखाएँ है। इस प्रकार कुल ७२७२१०२०१ नाड़ी शाखा-उपशाखाओं में यह रहता है। समस्त शरीर में रक्त संचार, प्राण-संचार का कार्य यही करता है तथा अन्य प्राणों को उनके कार्यों में सहयोग भी देता है।

उपप्राण —

१. नाग — यह कण्ठ से मुख तक रहता है। डकार, हिचकी ,छींकना आदि कर्म इसी के द्वारा होते है।

२. कूर्म — इसका स्थान मुख्य रूप से नेत्र गोलक है। यह नेत्र गोलकों में रहता हुआ उन्हें दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे घुमाने की तथा पलकों को खोलने बंद करने की क्रिया करता है। आँसू भी इसी के सहयोग से निकलते है।

३. कृकल — यह मुख से हृदय तक के स्थान में रहता है तथा जंभाई, भूख, प्यास आदि को उत्पन्न करने का कार्य करता है।

४. देवदत्त — यह नासिका से कण्ठ तक के स्थान में रहता है। इसका कार्य आलस्य, तन्द्रा, निद्रा आदि को लाने का है।

५. धनंजय — यह सम्पूर्ण शरीर में व्यापक रहकर पोषणादि का कार्य करता है। इसका कार्य शरीर के अवयवों को खींचे रखना, माँसपेशियों को सुंदर बनाना आदि है। शरीरमें से जीवात्माके निकल जाने पर भी यह नहीं निकलता, फलत: इस प्राण के होने से ही शरीर फूल जाता है। अतः इसको निकालने के लिये हिन्दू लोग ३ या ४ घन्टे के बाद शरीर को जला देते हैं।

"अपाने जुह्वति प्राण प्राणेऽपानं तथाऽपरे।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।४.२९।। श्रीमद् भगवद्गीता"

तथा (कोई अन्य (योगीजन)) अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करते हैं अर्थात् पूरक नामक प्राणायाम किया करते हैं। वैसे ही अन्य कोई प्राणमें अपानका हवन करते हैं अर्थात् रेचक नामक प्राणायाम किया करते हैं। मुख और नासिकाके द्वारा वायुका बाहर निकलना प्राणकी गति है और उसके विपरीत (पेटमें) नीचेकी ओर जाना अपानकी गति है। उन प्राण और अपान दोनोंकी गतियोंको रोककर कोई अन्य लोग

प्राणायामपरायण होते हैं अर्थात् प्राणायाममें तत्पर हुए वे केवल कुम्भक नामक प्राणायाम किया करते हैं।

सूक्ष्म प्राण का वर्णन — नाड़ी शक्ति —

"सुषुम्नेडा पिंगला च

गांधारी हस्तिजिह्विका।

कुहूः सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी || २.१४ ||

वारुण्यलम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी।

एतासु त्रिस्रो मुख्याः स्युः पिंगलेडासुषुम्निका — शिवसंहिता || २. १५ ||

हमारे शरीर में प्राण शक्ति के प्रवाह के लिए असंख्य नाड़ीयाँ होती हैं इनमें से १५ नाड़ियाँ मुख्य होती हैं। (१) सुषुम्णा (सरस्वती) (२) इड़ा (गंगा) (३) पिंगला (यमुना) (४) गांधारी , {वामनेत्र से वाम अंगूठे तक में } (५) हस्तजिह्वा , { दक्षिण नेत्र से दक्षिण अंगूठे तक में } (६) पूषा , {दक्षिण कर्ण में} (७) यशस्विनी , {वाम कर्ण में} सुनने के लिये और (८) शूरा – गन्ध ग्रहणार्थ नासिका देश में भ्रूमध्य पर्यन्त जाती है , (९) कुहू , लिङ्ग देश में रहती है , (१०) सरस्वती (विद्या) जिह्वा के अग्रभाग पर्यन्त रहकर वाक्यों को प्रकट करती है , (११) वारुणी (वारुणी नाड़ी मूत्र विसर्जन करती है ।) (१२) अलम्बुषा {मुखमण्डल में} (१३) विश्वोदरी , {विश्वोदरी नाड़ी से चार प्रकार के अन्न खाद्य, पेय, चोस्य,लेह्य ग्रहण करने का सामर्थ्य व पचाने का सामर्थ्य नियंत्रित होता है।} (१४) शंखिनी , {गुदास्थान में} (१५) चित्रा , {चित्रा नाड़ी या सिवनी नामक नाड़ी शिश्न से शुक्राणु को निकालने का काम करती है।}

"एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ।

इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥ १८॥

सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ।

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ॥ १९॥

यशस्विनी वामकर्णे आनने चाप्यलम्बुषा ।

कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी ॥ २०॥ योगचूडामण्युपनिषत्"

भावार्थः — शरीर के बाएँ भाग में इडा नाड़ी, दाहिने भाग में पिंगला, मध्य भाग में सुषुम्ना, बाईं आँख में गांधारी, दाहिनी आँख में हस्तिजिह्वा, दाहिने कान में पूषा, बाएँ कान में यशस्विनी, मुखमण्डल में अलम्बुषा, जननांगों में कुहू और गुदा में शांखिनी नाड़ी स्थित है। इड़ा नाड़ी को चंद्र नाड़ी या चन्द्रस्वर भी कहते हैं, पिंगला नाड़ी को सूर्य नाड़ी या सूर्यस्वर कहते हैं। और सुषुम्ना नाड़ी को अग्नि तत्व के समान सौम्य व तेजोमय माना गया है। सुषुम्ना नाड़ी सबसे महत्वपूर्ण होती है । सुषुम्णा नाड़ी इडा व पिंगला नाड़ी के मध्य से सीधी गुजरती हैं और जिस जिस स्थान पर इडा पिंगला और सुषुम्णा मिलती है वहां शक्ति चक्रों का निर्माण होता है । इन चक्रों की संख्या ७ होती हैं। सुषुम्ना नाड़ी को सरस्वती नदी के समान माना है और यह नाड़ी योग के परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए महत्वपूर्ण है। यह नाड़ी सत्वगुण प्रधान नाड़ी हैं। योगी जन इसी नाड़ी के द्वारा अपने योग के लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। धनात्मक ऊर्जा ,ऋणात्मक ऊर्जा और (तटस्थ) उदासीन उर्जा जो दोनों के समान अनुपात में मिलने से निर्मित होती हैं। इन तीनों शक्तियों को ब्रह्मा, विष्णु, तथा महादेव के रूप में माना जाता है । तीन प्रकार के गुण होते हैं, सत्व, रज और तम, ये तीनों गुण तीनों नाड़ीयों (सुषुम्णा, इड़ा व

पिंगला) में विद्यमान रहते हैं। अन्य १२ नाड़ीयाँ शरीर के अलग-अलग कार्यों, प्रक्रियाओं, अंगो को नियंत्रित करती है। सुषुम्णा नाड़ी अति सुक्ष्म नली के समान है, जो गुदा के निकट से निकलकर मेरुदण्ड के भीतर से होती हुई मस्तिष्क के ऊपर सहस्रार या शून्य चक्र जिसे ब्रह्मरंध्र के नाम से भी जानते हैं,वहां तक जाती हैं। गुदा के बाऐं भाग से इड़ा नाड़ी निकलती है तथा दाऐं भाग से पिंगला निकलती है । दोनों इड़ा व पिंगला गुदा भाग से निकलकर नासिका के मूल स्थान पर जहां आज्ञा चक्र है वहाँ मिल जाती हैं । आज्ञाचक्र में सुषुम्णा इड़ा व पिंगला तीनों मिलकर युक्त त्रिवेणी संगम का निर्माण करतीं हैं । और जहां से तीनों नाड़ियाँ निकलती हैं अर्थात् मुक्त होती है (मुलाधार चक्र के तनिक नीचे से) उसे मुक्त त्रिवेणी कहते हैं। साधारण रुप से प्राण शक्ति निरंतर इडा व पिंगला नाड़ियों से ही श्वास-प्रश्वास के रुप से प्रवाहित होती रहती हैं । हमारा श्वास कभी बाएं नथुने से और कभी दाएं नथुने से चलता है। और कभी-कभी दोनों नथुनों से समान रुप से श्वास प्रश्वास की गति होती रहती हैं। जब बाएं नथुने से श्वास अधिक वेग से चलता रहे तो उसे इडा नाडी के सक्रिय होने का प्रमाण समझना चाहिए। और जब दाएं नथुने से अधिक वेग से श्वास चलती रहे तो उसे पिंगला नाड़ी के सक्रिय होने का प्रमाण समझना चाहिए। और जब दोनों नथुनों से समान गति से एक क्षण एक नथुने से और दूसरे क्षण दूसरे नथुने से प्रवाहित हो तो उसे सुषुम्ना नाड़ी के सक्रिय होने का प्रमाण समझना चाहिए। स्वस्थ मनुष्य का नाड़ी चक्र प्रतिदिन प्रातः काल सूर्योदय के समय से ढाई -ढाई घड़ी के (एक-एक घंटे के) हिसाब से क्रमशः एक -एक नथुने से बारी बारी से चलता रहता है । इस प्रकार अहोरात्र अर्थात् १ दिन और रात में १२ बार बाएं और १२ बार ही दाएं नथुने से क्रमानुसार श्वास चलता हैं। नाड़ी शक्ति का ज्ञान होना केवल स्वास्थ्य के ठीक रखने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका ज्ञान होने पर अनेक दिव्य शक्तियों को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। और जो भी हम अब तक सुनते आए हैं जैसे की अष्ट सिद्धियां, नव निधियां, कुंडलिनी शक्ति, दिव्य दृष्टि तथा टेलीपैथी, हिप्नोटिज्म, मेस्मेरिज्म इत्यादि अनेक प्रकार की अविश्वसनीय और आश्चर्यजनक शक्तियों को प्राप्त कर सकते हैं। इस विषय की विशेष जानकारी शिव स्वरोदय ग्रन्थ तथा पातञ्जलयोगप्रदीप से प्राप्त कर लेनी चाहिए।

"प्रधानो मारुतः प्राणः प्राणाधारो हि मानवः।

प्राणायामेन चित्तस्य निग्रहस्सुलभस्सदा ॥ ५९ ॥

प्रयत्नात् कुक्षितो वायुं नासिकापुटमार्गतः।

शनैर्निस्सारयेत् सम्यक् प्रश्वासोऽयं निगद्यते ॥ ६० ॥

रेचितस्य बहिर्वायोः स्थापनं कुम्भकं मतम्।

श्वासप्रश्वासकुम्भाश्च हठयोगो निगद्यते ॥ ६१ ॥ योगसूत्रसारः"

अब चित्त-स्थिति के दुसरे उपाय तथा सम्प्रज्ञात समाधि के पूर्वाङ्ग बताते हैं।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ १.३५ ॥

विषयवती = (शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध) विषयोंवाली; वा = अथवा; प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति; उत्पन्ना = उत्पन्न हुई; मनसः = मन की; स्थितिनिबन्धिनी = स्थिति को बाँधने वाली होती है। अथवा (शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध) विषयों वाली प्रवृत्ति उत्पन्न होकर वह भी मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है ।

नासिका के अग्रभाग में संयम की दृढ़ता से तन्मात्रा रुप दिव्यगन्ध का साक्षात्कार होता है उसको गन्धप्रवृत्ति तथा गन्धसंवित् कहते हैं। जिह्वाके अग्रभाग में संयम की स्थिरता से दिव्यरस का साक्षात्कार होता है उसको रसप्रवृत्ति या रससंवित् कहते हैं। तालु में संयम करने से दिव्यरुप का साक्षात्कार होता है उसको रुपप्रवृत्ति या रुपसंवित् कहते हैं। जिह्वाके मध्यभाग में संयम करने से दिव्यस्पर्श का

साक्षात्कार होता है उसका नाम स्पर्शप्रवृत्ति या स्पर्शसंवित् है । जिह्वाके मूलमें दिव्यशब्द का साक्षत्कार होता है उसको शब्दप्रवृत्ति या शब्दसंवित् कहते हैं। इसप्रकार ये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्तकी स्थिति को बाँधती हैं और संशय का नाश करतीं हैं, तथा समाधिप्रज्ञाकी उत्पत्ति में द्वाररूप होतीं हैं । इस प्रकार विषयों का साक्षात्कार होने से श्रद्धा बढ़ती है। चन्द्र,सूर्य, नक्षत्र,मणि,प्रदीप,रत्नप्रभा आदि में चित्त के संयम करने से जो इनका साक्षात्कार होता है वह भी विषयवती प्रवृत्ति ही जाननी चाहिये। "या हि नासादिदेशेषु दृष्टिः पुंसां स्थिरा भवेत्। स लक्ष्ययोग आख्यातो योगे श्रद्धाकरः परः || इति स्मृतेः" शुरुआत में ऐसे छोटे-छोटे लक्ष्यों में वृत्ति स्थिर करने से हिम्मत बढ़ जाती है और भरोसा हो जाता है कि मैं कर सकता हूँ। फिर आगे परमेश्वर जैसे सूक्ष्म विषय में भी एकाग्रता करने का साहस हो सकता है। यह लक्ष्ययोग है।

इसी प्रकार अब अगले सूत्र में एक और उपाय बतायेंगे —

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ १.३६ ॥

विशोका= शोकरहित; वा= अथवा; ज्योतिष्मती= प्रकाशवाली (प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन की स्थिति को बाँधनेवाली होती है) |

अथवा शोकरहित और ज्योतिष्मती – प्रकाशवाली (प्रवृत्ति भी मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है) ।

सूत्र में 'उत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी' — 'उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाँधनेवाली होती है।' इतना वाक्य शेष है , इसलिये इतना वाक्य और जोड़ लेना चाहिये। विशोका माने सुखमय (सात्विक) अभ्यास से जिसका शोक (दुःख) अर्थात रजोगुण का परिणाम दूर हो गया है। ज्योतिः =सात्विक प्रकाश। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति=सात्विकप्रकाश जिसमें अधिक या श्रेष्ठ हो, वह प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कहलाती है। 'तरति शोकम् आत्मवित्' (छा. उ. ७/१/३) इति, "आत्मज्ञानी दु:खों से पार हो जाता है।"

जिस प्रकार पूर्वोक्त विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन को स्थिर कर देती है, वैसे ही 'विशोका ज्योतिष्मती' नामवाली प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर अन्य समस्त वृत्तियों को रोक कर चित्त को स्थिर कर देती है।

पूर्व सूत्र में कहा गया था कि विषयवती प्रवृत्ति पञ्च ज्ञानेन्द्रियों में संयम करने से होती है वैसे ही यहाँ ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के लिये हृदय और आज्ञाचक्र में ध्यान करने का विधान है।

रेचक प्राणायाम के द्वारा हृदय के मध्य अष्टदल कमल के ऊर्ध्वमुख होकर खिलने पर सूर्य, इन्दु, ग्रह तथा मणिप्रभा आदि के नाना रूपों में ज्योति का दर्शन होता है।

"अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।

ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ॥४॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्।

तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥५॥ मण्डलब्राह्मणोपनिषद् पञ्चमं ब्राह्मणम् ||"

अनाहत शब्द और उस शब्द के अन्दर जो ध्वनि होती है, उस ध्वनि के अन्तर्गत ज्योति रहती है और ज्योति के अन्तर्गत मन होता है ॥ जो मन इस त्रिजगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार रुप कर्म का सम्पादन करता है, वही मन जिसमें विलय होता है, वह विष्णु का परम पद है ॥

('हं' 'सः' सोऽहम्) यह अजपा गायत्री मन्त्र है।

"हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।

हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥३१॥ योगचूडामण्युपनिषद्"

श्वास 'स' कार ध्वनि (वायु) के माध्यम से भीतर और 'ह' कार के साथ बाहर आती है। इस तरह यह जीव हंस-हंस (हंसमंत्र) का जप सदैव करता रहता है।

"अस्यैव जपकोट्यां नादमनुभवति एवं सर्वं हंसवशान्नादो दशविधो जायते । चिणीति प्रथमः । चिञ्चिणीति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः । शङ्खनादश्चतुर्थम्। पञ्चमस्तन्वीनादः । षष्ठस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादः। अष्टमो मृदङ्गनादः। नवमो भेरीनादः। दशमो मेघनादः ॥१६॥ हंसोपनिषद्"

हंस मन्त्र के (सोऽहम् मंत्र के) अनुष्ठान से अनेक प्रकार के फल होते हैं। इसी मन्त्र के एक करोड़ जप पूरे होने पर दस प्रकार के नाद का अनुभव होता है। पहला नाद चिणी , दूसरा नाद है चिञ्चिणी, तीसरा घण्टानाद, चौथा शङ्खनाद, पाँचवां तन्त्रीनाद, छठा है तालनाद, सातवाँ वेणुनाद, आठवाँ मृदङ्गनाद, नवमाँ भेरीनाद, दशम मेघनादः । नवम से आगे बढ़कर दशम का ही अभ्यास करना चाहिए।

"आनन्दलक्षणमनाहतनाम्नि देशे नादात्मना परिणतं तव रुपमीशे ।

प्रत्यङ्मुखेन मनसा परिचीयमानं शंसन्ति नेत्रसलिलैः पुलकैश्च धन्याः ॥१९॥ कालिदास कृत अम्बास्तवः"

और आज्ञाचक्र में ध्यान करने पर इसीको शाम्भवी मुद्रा कहते हैं।

"अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता ।

एषा सा शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥"

योग में ये पांच प्रमुख मुद्राएं हैं। १.) खेचरी मुद्रा (मुख के लिए), २.) भूचरी मुद्रा (नाक के लिए), ३.) चांचरी मुद्रा (आंख के लिए), ४.) अगोचरी मुद्रा (कान के लिए), ५.) उन्मनी मुद्रा (सहस्त्रार के लिये) योगासन, मुद्रा और प्राणायाम की अनेक विधियाँ हैं परन्तु वे सब गुरुमुख से ही प्रयोगात्मक रूप से सीखनी चाहिये , किताबें पढ़कर नहीं। इसीलिये इनके बारे में नहीं लिखा है।

अब मन को स्थिर करने का चौथा उपाय बतलाते हैं।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ १.३७ ॥

वीतराग-विषयम्= रागरहित महापुरुषों के चित्त का ध्यान करनेवाला; वा = अथवा; चित्तम्=चित्त (मनकी स्थिति को बाँधनेवाला होता है) इस सूत्र में भी 'मनसः स्थितिनिबन्धनी' मन की स्थिति बाँधनेवाला होता है — इतना वाक्य मिलाने से सूत्र का अर्थ पूरा होता है।

जिन महान योगियों का चित्त अर्थात अंतःकरण राग मुक्त हो गया है, जिन्होंने विषयों की अभिलाषा को पूर्णतया छोड़ दिया है, जिसके कारण उनके चित्त से अविद्या आदि क्लेशों के संस्कार समाप्त हो गये हैं, ऐसे योगियों के चित्त का आश्रय लेने से तथा उनके चित्त में एकाग्रता बनाने से भी साधक का चित्त सात्विक, निर्मल एवं शांत होकर सुगमता से एकाग्र हो जाता है।
अथवा एक अर्थ यह भी हो सकता है कि — साधक यदि क्रमशः विषय राग से रहित हो जाय और पूर्ण वैराग्य की स्थिति को प्राप्त कर ले तो भी मन की स्थिति को बाँधने में समर्थ हो जाता है। वीतराग भगवान सनक,सनन्दनादि, भगवान वशिष्ठ, भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास, शुकदेव और शंकराचार्य आदि की आज्ञाचक्र में धारणा करने से, उनके चित्त का आलम्बन करने से ज्ञान-वैराग्य की सिद्धि हो

जाती है। जैसे कामुक व्यक्ति का चिन्तन करने से चित्त कामुक हो जाता है वैसे ही निर्मल साधुपुरुष का चिन्तन करने से चित्त निर्मल हो जाता है। इस प्रकार यह शुभ वासनायोग विरुद्धवासनाओं निवर्त्तक है।

"सत्संगत्वे निस्संगत्वं, निस्संगत्वे निर्मोहत्वं।

निर्मोहत्वे निश्चलतत्त्वं निश्चलतत्त्वे जीवन्मुक्तिः ॥९॥"

सत्संग से निःसंगता (वैराग्य) की प्राप्ति होती है । निःसंगता से मोह ममता (आसक्ति) नष्ट होती है । आसक्ति के नष्ट होते ही अज्ञान मिट जाता है । अज्ञान नष्ट होते ही मन निश्चल हो जाता है । शान्त और स्थिर मन वाला मनुष्य ही जीवन – मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है । शान्त मन से ही आप ध्यान के अधिकारी बनते हैं। और फिर वह इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त कर लेता है। ॥९॥

"विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति।।२.७१।। श्रीमद्भगवद्गीता"

जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।

"विहाय पौरुषं यो हि दैवमेवावलम्बते ।

प्रासादसिंहवत् तस्य मूर्ध्नि तिष्ठन्ति वायसा: ।।५।।"

जो व्यक्ति निश्चय से पुरुषार्थ (उद्यम,परिश्रम) छोड़कर भाग्य का ही सहारा लेते हैं। ऐसे व्यक्ति महल के द्वारा पर बने हुए नकली सिंह (शेर) की तरह होते हैं , उनके सिर पर कौए निर्भीक होकर बैठते हैं। इसलिये संकटों से बचाव का विकल्प आरम्भ में ही सोच लेना चाहिए। घर में आग लग जाने पर कुआ खोदना उचित नहीं है। अब चित्त की एकाग्रता का अन्य पाँचवां उपाय अगले सूत्र में बतलाते हैं।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ १.३८ ॥

स्वप्न-निद्रा-ज्ञान-आलम्बनम् = स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान का आलम्बन करनेवाला; वा = अथवा (चित्त भी मन की स्थिति को बांधने वाला होता है।) अथवा स्वप्न जन्य ज्ञान और निद्रा जन्य ज्ञान को आश्रय करनेवाला चित्त मनकी स्थिति को बाँधनेवाला होता है।

'चित्तं मनसः स्थितिनिबन्धनम्' "चित्त मनकी स्थिति को बाँधनेवाला होता है।" इतना वाक्य मिलाने से सूत्र का अर्थ पूरा होता है। इस सूत्र में वासनायोग का ही अवान्तर भेद बताते हैं, जिस प्रकार स्वप्न में तमोगुण के कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुख होतीं हैं इसी प्रकार ध्यान की अवस्था में तम के स्थान पर सत्वगुण से वृत्तियों को अन्तर्मुख करना चाहिये और जिस प्रकार निद्रा में तमोगुणकी अधिकता से अभावकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ध्यान में सत्वगुण की प्रधानता से एकाग्रता उत्पन्न करनी चाहिये , जिससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो। स्वप्न शब्द से यहाँ सात्विक स्वप्न और निद्रा शब्द से सात्विक निद्रा का अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

"ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च प्रसुप्तं यस्य मायया ।

तस्य विष्णोः प्रसादेन यदि कश्चित् प्रमुच्यते ॥

चराचरं लय इव प्रसुप्तम् इह पश्यताम् ।

किं मृषा व्यवहारेषु न विरक्तं भवेन् मनः ॥"

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी जीव जिसकी माया से प्रसुप्त है , उस विष्णु की कृपा से ही कोई मुक्त होता है। यहाँ इस चराचर को लय की भाँति प्रसुप्त देखनेवाले पुरुष का मन मिथ्या व्यवहार में विरक्त क्यों न हो अर्थात अवश्य हो जाता है।

"तत्सर्वं चित्तवीर्यस्य संकल्पस्य विजृम्भितम् ।

दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ॥ २८ ॥"

यह सब मन की इच्छा या ऊर्जा की अभिव्यक्ति है, और आपको इसे या तो एक लंबे सपने के रुप में जानना चाहिए या मन की लंबी भ्रांति।

"दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन ।

प्रबोधमेष्यसि यदा परमात्मेच्छया स्वया ॥ २९ ॥

द्रक्ष्यसि त्वं तदा सम्यगिदमर्कोदये यथा ।

स्वप्नसंकल्पजालेन यथान्यैव जगत्स्थितिः ॥ ३० ॥" योगवासिष्ठः / प्रकरणम् ६ (निर्वाणप्रकरणस्य पूर्वार्धम्)/सर्गः ०२८"

हे रघुनन्दन ! अपनी ही कल्पना के विशाल राज्य का प्रदर्शन करानेवाली , इस दुनिया को जानो, और जब आप अपने भगवान की कृपा से इस दुनियाँ की सच्चाई को अच्छी तरह से समझ जाएंगे, तो कुछ भी नहीं होगा। सर्वत्र शान्ति प्रसरित हो जायेगी। तब आप पूरी तरह से इस को उतने ही स्पष्ट रुप से देखेंगे जैसे उगते सूरज की रोशनी में, सब चीजें साफ-साफ दिखतीं हैं और तब हम जानते हैं कि यह सब आपके सपने या इच्छा की रचना के जैसा ही दीखेगा।

तृणादि चतुरास्यान्तं भूतग्रामं चतुर्विधम् ।

चराचरं जगत्सर्वं प्रसुप्तं यस्य मायया ॥ १,२३२.६ ॥

तस्य विष्णो प्रिसादेन यदि कश्चित्प्रबुध्यते ।

स निस्तरति संसारं देवानामपि दुस्तरम् ॥ १,२३२.७ ॥ गरुडपुराणम्"

तृणसे लेकर चतुरानन ब्रह्माजी तक, जो चार प्रकारका प्राणिसमुदाय है, वह अथवा समस्त चराचर जगत् जिनकी मायासे सुप्त हो रहा है, उन भगवान् विष्णु की कृपासे यदि कोई जाग उठता है – ज्ञानवान् हो जाता है तो वही देवताओंके लिये भी दुस्तर इस संसार-सागरको पार कर जाता है ।

{एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥}

इस जगत रूपी रात्रि में योगी लोग जागते हैं, जो परमार्थी हैं और प्रपंच (मायिक जगत) से छूटे हुए हैं। जगत में जीव को जागा हुआ तभी जानना चाहिए, जब सम्पूर्ण भोग-विलासों से वैराग्य हो जाए॥

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।२.६९।। श्रीमद्भगवद्गीता"

सम्पूर्ण प्राणियों की जो रात (परमात्मासे विमुखता) है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है, और जिसमें सब प्राणी जागते हैं (भोग और संग्रहमें लगे रहते हैं), वह तत्त्वको जाननेवाले मुनिकी दृष्टिमें रात है।

जैसे कि विज्ञान भैरव तंत्र में भगवान शिव ने ध्यान या आत्म-साक्षात्कार के ११२ विभिन्न तरीके बताए हैं और पाञ्चरात्र तथा यामलादि ग्रन्थों अनगिनत उपाय बताये गये हैं उनमें से छांट कर महर्षि पतञ्जलि ने यहाँ केवल पाँच उपायों का निदर्शन किया है इनमें से कोई भी उपाय अपनाकर एकाग्रता की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। क्योंकि मनुष्यों की रुचि भिन्न-भिन्न होने से जिस प्रक्रिया में जिसकी अधिक रुचि हो उसी का वह ध्यान करे — अगले सूत्र में यह बतलाकर प्रवृत्ति के प्रकरण को समाप्त करते हैं।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ १.३९ ॥

यथा-अभिमत-ध्यानात् = जिसको जो अभिमत हो, उसके ध्यान से (मन की स्थिति बँध जाती है।) वा=अथवा। पहले बताई हुई विधियों में से जिसको जो इष्ट हो (जो भी अच्छी लगे) उसके ध्यान से भी मन स्थिर हो जाता है।

इस सूत्र में ध्यानयोग का निरूपण किया गया है। यथाभिमत से तात्पर्य है कि चाहे बाहर ज्योति,चन्द्रादि और शिव,राम, कृष्णादि किसी मनपसन्द देवता की मूर्तियों में ध्यान करें या अन्दर नाड़ी और चक्रों में ध्यान करें। शरीर के अन्दर कहाँ किसका ध्यान करना इसका विस्तृत विवेचन वराह पुराण में दिया है। बहुत विस्तार हो जाने के भय से यहां नहीं लिखा है।

मनुष्यों की रुचियाँ अलग-अलग होतीं हैं , इसलिये जिसकी जिसमें शास्त्रीय मर्यादानुसार सात्विक श्रद्धा हो , उसमें ध्यान लगाने से चित्त एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार जब चित्त में एकाग्रता की योग्यता प्राप्त हो जाय तब उसको जहाँ चाहें लगा सकते हैं।

" त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।

प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषां।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।। ७।। (शिवमहिम्न स्तोत्र)"

हे परमपिता! आपको पाने के लिए अनगिनत मार्ग हैं – विविध प्राणी सत्य तक पहुंचने के लिए विभिन्न वैदिक पद्धतियों का अनुसरण करते हैं। जैसे कि वेदमार्ग, सांख्यमार्ग, योगमार्ग, पाशुपत, शैवमार्ग, वैष्णव मार्ग, आदि। लोग अपनी रुचि के अनुसार किसी एक मार्ग को पसंद करते है। मगर अन्ततोगत्वा ये सभी मार्ग, जैसे अलग अलग नदियों का पानी बहकर समुद्र में जाकर मिलता है, वैसे ही, हर मार्ग आप तक ही पहुंचता है। सचमुच, किसी भी मार्ग का अनुसरण करने से आपकी प्राप्ति हो सकती है।

"त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः।

त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।।

परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं।

न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत् त्वं न भवसि।। २६।। शिवमहिम्न: स्तोत्रं ||"

आप ही सूर्य, चन्द्र, पवन, अग्नि, जल, आकाश, एवं धरती हैं। आप ही आत्मा भी हैं। हे देव! हमें ऐसा कुछ भी ज्ञात नहीं जो आप न हों। इस प्रकार इस श्लोक में जैसे भगवान शिव की अष्ट मूर्तियों का वर्णन किया गया है , वैसे ही सौन्दर्य लहरी में भगवती शिवा की विश्वरूपता का वर्णन किया है।

"मनस्त्वं व्योमत्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि ।

त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम् ॥

त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा ।

चिदानंदाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे ॥३५॥ सौंदर्य लहरी ||"

मन तू है, आकाश तू है, वायु तू है, अग्नि तू है, जल तू है, पृथ्वी तू है, और तू ही जगत् है, हे माता! संसार में तेरे सिवा कुछ भी नहीं है, पर अपने रूप को ब्रह्माण्ड के रूप में परिणत करने के लिए , आप शिव की पत्नी की भूमिका निभाते हैं, और हमारे सामने शाश्वत चिदानन्द ईश्वरीय सुख के रूप में प्रकट होते हैं।

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।७.४।। श्रीमद्भगवद्गीता"

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार – यह आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृति है।

"मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७.७।। श्रीमद्भगवद्गीता"

ऐसा होनेके कारण मुझ परमेश्वरसे परतर (अतिरिक्त) जगत का कारण अन्य कुछ भी नहीं है अर्थात् मैं ही जगत का एकमात्र कारण हूँ। हे धनंजय क्योंकि ऐसा है इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् और समस्त प्राणी मुझ परमेश्वरमें दीर्घ तन्तुओंमें वस्त्रकी भाँति तथा जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही यह सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओत-प्रोत है। सूत्रमें मणियोंकी भाँति पिरोया हुआ अनुस्यूत अनुगत बिंधा हुआ गूँथा हुआ है।

"या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री

ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।

यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः

प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥अभिज्ञान शाकुन्तलम्"

जिस सृष्टि को स्त्रष्टा ने सबसे पहले बनाया, (अर्थात जल) उसके बाद वह अग्नि जो विधि के साथ दी हुई हवन सामग्री ग्रहण करता है और वह होता (हवन करनेवाला) जिसे यज्ञ करने का काम मिला है, फिर चन्द्र और सूर्य जो दिन और रात का समय निर्धारित करते हैं

तथा वह आकाश जिसका गुण शब्द हैं और जो संसार भर में रमा हुआ है, तदनन्तर वह पृथ्वी जो सब बीजों को उत्पन्न करने वाली बताई जाती है, और वह वायु जिसके कारण सब जीव जी रहे हैं अर्थात् उस आद्यसृष्टि जल, अग्नि, होता, (माने कर्ता,यजमान) सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु इन आठ प्रत्यक्ष रूपों में जो भगवान शिव सबको दिखाई देते हैं, वे शिव आप लोगों का कल्याण करें।

"आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।

वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥ (कपिल तन्त्र)"

अर्थात् आकाश तत्व के अधिष्ठाता विष्णु, अग्नि तत्व की अधिष्ठात्री देवी दुर्गा, वायु तत्व के अधिष्ठाता सूर्य, पृथ्वी तत्व के अधिष्ठाता शिव और जल तत्व के अधिष्ठाता गणेश हैं।

करि मज्जनु पूजहिं नर नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी।।

रमा रमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी।। रामचरितमानस ||

स्नान करके सब नर-नारी गणेशजी, गौरीजी, महादेवजी और सूर्य भगवान की पूजा करते हैं॥ फिर लक्ष्मीपति भगवान विष्णु के चरणों की वंदना करके, दोनों हाथ जोड़कर, आँचल पसारकर विनती करते हैं।

इस प्रकार चित्त को एकाग्र करने के उपाय बतलाकर अगले सूत्र में उनका फल बतलाते हैं।

परमाणु परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ १.४० ॥

परमाणु-परम-महत्त्व-अन्त: = परमाणु (जो सबसे ज्यादा सूक्ष्म है उसे परमाणु कहते हैं) और परम-महत्त्व (सबसे बढ़कर महान) पदार्थों पर्यन्त; अस्य = पूर्वोक्त उपायों से स्थित हुए चित्त का; वशीकारः = वशीकार हो जाता है।

पूर्वोक्त उपायों से स्थिर हुए चित्त का सूक्ष्म पदार्थों में परमाणु पर्यन्त और महान, परम बृहत् पदार्थों में (आकाश) पर्यन्त वशीकार हो जाता है ।

अब सिद्धियोग का वर्णन करते हैं।

"प्राणस्पन्दनिरोधाद्यैरुपायैर्दृढता परा।

सिद्धियोगो भवेदत्र योग: सिद्धिकरः परः॥"

समाधि और सिद्धि का अर्थ है प्राण और मन का स्थिर हो जाना। जब प्राण और मन स्थिर हो जाते हैं तब इन्द्रियाँ भी स्थिर हो जाती हैं और ऊपर बतलाये हुए उपायों से चित्त में एकाग्र होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, तब वह पूर्णतया वश में हो जाता है और छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े विषय में बिना रुकावट के लगाया जा सकता है। फिर अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं रहती। सूक्ष्म विषयों की अवधि परमाणु है और बृहत् विषयों की अवधि आकाश है। जब इन दोनों में चित्त स्थित हो जाता है, तब स्थिरता चित्त के वशीभूत हो जाती है अर्थात इच्छानुसार चित्त को स्थिर किया जा सकता है। इस प्रकार दोनों कोटियों में जाते हुए चित्त का जो रुकावट का न होना है, वह चित्त का परम वशीकार कहलाता है। इस वशीकार से परिपूर्ण हुआ योगीका चित्त पुनः किसी अभ्यास-साध्य-स्थिति-उपाय की अपेक्षा नहीं रखता।

सङ्गति — इस प्रकार इन उपायों द्वारा संस्कृत हुए चित्त की किस स्वरूपवाली, किस विषयवाली और कैसी समापत्ति होती है ? — यह बतलाते हैं। ("समापत्ति" शब्द "समाधि" का पर्याय है) अब अगले सूत्र में लययोग का वर्णन किया जायगा।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः॥१.४१॥

क्षीण-वृत्ते:= जिसकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गयी हैं (ऐसे स्वच्छ चित्त की); अभिजातस्य-मणे: इव = उत्तम जाति की (अति निर्मल) स्फटिक मणि के समान; ग्रहीतृ = अस्मिता; ग्रहण = इन्द्रिय; ग्राह्येषु = स्थूल भूतादि पदार्थ तथा तन्मात्रा तक सूक्ष्म विषयों में, तत्स्थ = एकाग्र स्थित होकर तदञ्जनता = तद्-अञ्जनता तद्-आकारता, उन्हीं के सदृश स्वरूप को प्राप्त हो जाना; {उसी (विषय के) स्वरूप को प्राप्त हो जाना} समापत्तिः = समापत्ति (तदाकार होना) है। तद्-आकारापत्ति = (उसी आकर को धारण कर लेना) ही समापत्ति कहलाती है।

व्याख्या — अभ्यास और वैराग्य से जिसकी समस्त राजस-तामस बाह्य वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे स्फटिक मणि की भाँति निर्मल चित्त का; जो ग्रहीता अर्थात् अस्मिता, ग्रहण अर्थात् इंद्रियां तथा ग्राह्य अर्थात् पंचभूत और चराचर विश्व के विषयों – में एकाग्र स्थित होकर (तन्मय होकर) उसी विषय के स्वरूप को प्राप्त हो जाना सम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् चित्त का विषय के साथ तदाकार (तद्रूप) हो जाना माने लय हो जाना है । इसीको सम्प्रज्ञात लक्षणवाला योग भी कहते हैं।

इस सूत्र में महर्षि ने ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य के भेद से सम्पूर्ण योग का विषय इकठ्ठा करके कह दिया है।

यहाँ ऊपर बताये हुए उपायों से स्वच्छ हुए चित्त की उपमा अति-निर्मल स्फटिक अर्थात विल्लोरी काँच से दी गयी है। जिस प्रकार स्फटिक के सामने जैसी वस्तु लाल,नीली अथवा पीले वर्ण की रखी जाय तो वह वैसा ही प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार जब चित्त की सब प्रकार की राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो जातीं हैं, तब वह सत्व के प्रकाश और सात्विकता के बढ़ने से इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसको जिस वस्तु में लगावें उसके तदाकार हो कर उसको साक्षात् करा देता है, चाहे वह ग्राह्य अर्थात स्थूल अथवा सूक्ष्म तन्मात्रादि विषय हो, चाहे ग्रहण अर्थात इन्द्रियाँ और अहंकार और चाहे ग्रहीतृ अर्थात अस्मिता हो। यह वस्तु का साक्षात् कराना इस प्रकार होता है कि वह उस वस्तु के स्वरुप को धारण कर लेता है। चित्त के इस प्रकार तदाकार (वस्तु-आकार) हो जाने का नाम समापत्ति अर्थात सम्प्रज्ञात-समाधि है।

"सनस्य मूलं ह्रदयं सनस्य सनस्य बीजं सनकादि वन्द्यम्।

सनेन वेद्यं सनके प्रतिष्ठितं सनातनं त्वां शरणं प्रपन्नाः || १ ||

सनेन ब्रह्मा स्वसुतान् ससर्ज विप्रान सनाढ्यान् सनकादि संज्ञान्।

धर्म प्रचाराय सनाढ्य पुत्रान् सनातनोव्यात्सततं सनातनान् || २ ||"

इस समाधि में आप शुक, प्रह्लाद, नारद, नृसिंह, नारायण और शिव आदि किसी से भी एकाकार हो सकते हैं।

अब अगले सूत्र में इसी समापत्ति के चार भेद बताते हैं।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ १.४२ ॥

तत्र = उन (समापत्तियों में से) शब्द-अर्थ-ज्ञान-विकल्पै: = शब्द,अर्थ और ज्ञान — इन तीनों के विकल्पों से (भेदों से) संकीर्णा = {मिश्रिता} मिली हुई; सवितर्का-समापत्तिः = सवितर्क समापत्ति है। तर्क शब्द का प्राचीन अर्थ शब्दमय चिन्ता है। वितर्क = विशेष

तर्क। जिस समाधि प्रज्ञा में वितर्क रहता है, वह सवितर्का समापत्ति है। समापत्ति अर्थात् समाधि अर्थात् वितर्कयुक्त समाधि कहलाती है ।

उन समापत्तियों में से शब्द, अर्थ और ज्ञान — इन तीनों के विकल्पों (भेदों) से मिली हुई (अर्थात् इन तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थों का अभेद रुपसे जिसमें भान होता है) वह सवितर्क समापत्ति होती है अर्थात् सवितर्क समाधि अर्थात् वितर्कयुक्त समाधि कहलाती है ।

शब्द — सबसे पहले शब्द किसको कहते हैं, इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जो कर्णेन्द्रिय से ग्रहण किया जा सके, अथवा जिससे किसी अर्थ का ज्ञान हो जैसे "गौ"।

अर्थ — जाति आदि, जैसे 'गौ' — चार पैर, दो सींग, गलकम्बल (गले में लटकती मांस की ललरी) और पूँछवाला पशु-विशेष।

ज्ञान — इन शब्द और अर्थ दोंनों का प्रकाश करनेवाली बुद्धिवृत्ति जो शब्द 'गौ' और उसके अर्थ 'गौ' को मिलाकर बतलाती है कि जो 'गौ' शब्द है उसीका यह 'गौ' पशु-विशेष अर्थ है।

"शब्दार्थधीविकल्पैश्च सुतरां भिन्नरुपिभिः।

संकीर्णा सा समापत्तिस्सवितर्केति कथ्यते ॥ ७२ ॥योगसूत्रसारः"

शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों भिन्न हैं, परन्तु निरन्तर अभ्यास के कारण मिले हुए प्रतीत होते हैं। जब 'गौ' में चित्त को एकाग्र किया जाय, तब समाधिस्थ चित्त में 'गौ' अर्थ 'गौ' शब्द और 'गौ' ज्ञान के भेदों से वह मिला हुआ भासे अर्थात जब तीनों में तदाकार रहे, तब उस समापत्ति को सवितर्क समापत्ति कहेंगे। इसीको सविकल्प भी कहते हैं; क्योंकि इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान — इन तीनों का विकल्प (भेद) बना रहता है जब शब्द और ज्ञान का विकल्प जाता रहे और केवल 'गौ' अर्थ ही चित्त में भासता रहे, तब वह निर्वितर्क (वितर्करहित) समापत्ति कहलाती है।

सवितर्क से विपरीत लक्षण वाली समाधि को निर्वितर्क समाधि कहते हैं। अब इस निर्वितर्क समापत्ति का लक्षण अगले सूत्र में बतलाते हैं।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरुपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ १.४३ ॥

स्मृति-परिशुद्धौ = स्मृति के शुद्ध हो जानेपर (अर्थात् आगम, अनुमान, ज्ञानके कारणीभूत शब्दसंकेत स्मरण के निवृत्त होनेसे) स्वरुपशून्या इव = स्वरुपसे शून्य जैसी (अर्थात् अपने ग्रहण आकार ज्ञानात्मक रूप से रहित चित्तवृत्ति); अर्थमात्रनिर्भासा = अर्थमात्र-सी भासनेवाली (अर्थात् केवल ग्राह्य-रूप अर्थमात्र को ही प्रकाश करनेवाली); निर्वितर्का = निर्वितर्क समाधि है ।

"स्मृतेर्विपरिशुद्धौ या वस्तुमात्रैव भासते।

निर्वितर्केति नाम्ना सा समापत्तिर्निगद्यते ॥ ७५॥योगसूत्रसारः"

स्मृति के शुद्ध हो जानेपर (अर्थात् आगम, अनुमानके कारणीभूत शब्द-संकेत स्मरण के निवृत्त होनेसे) अर्थमात्र-सी भासनेवाली अपने (ग्रहण आकार ज्ञानात्मक) रुप से रहित (चित्तवृत्ति) निर्वितर्क समापत्ति है ।

न तो सत के अवयव होते हैं और न विज्ञान के अवयव होते हैं इसलिये कहा कि स्मृति के हट जाने के बाद , शब्द और ज्ञान से शून्य केवल अर्थमात्र {ओंकार के अर्थमात्र का ध्यान जिसमें रहता है} (ध्येयमात्र) जिसमें शेष रहता है वह निर्वितर्क समापत्ति है। जिसको "सवितर्क और निर्वितर्क " शब्दों द्वारा कहा जाता है , उसी योग को "सविकल्प और निर्विकल्प" शब्दों द्वारा भी कहा जाता है।

ध्यान जब सूक्ष्म होता चला जाता है तब नाम-रूप छूटते चले जाते हैं और सच्चिदानन्द शेष रह जाता है। जैसे कोई समुद्र में डूब कर समुद्र ही होगया हो, तब उस समय उसके चित्त की स्थिति को निर्वितर्क या निर्विकल्प कहेंगे।

जैसे यदि कोई E=mc2 का मतलब जानता हो तो उसे सर्वत्र (स्थावर-जङ्गम में) सापेक्षता के सिद्धांतानुसार अणु ऊर्जा शक्ति का ही दर्शन होगा और नाम-रूप का व्यतिरेक हो जायगा।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ १.४४ ॥

एतया-एव = इस सवितर्क और निर्वितर्क समाधियों के वर्णन से ही सविचारा-निर्विचारा च = सविचार और निर्विचार समाधि का भी; सूक्ष्म-विषया = सूक्ष्म विषयों में की जानेवाली; व्याख्याता = व्याख्यान की हुई समझनी चाहिये।

इन पूवोक्त सवितर्क और निर्वितर्क समाधियों के निरूपण से ही सूक्ष्म विषयों में की जानेवाली {सूक्ष्म तन्मात्रा और अहंकार तथा इन्द्रियों में की जानेवाली} सविचार और निर्विचार समाधि का भी व्याख्यान कर दिया गया है, ऐसा समझना चाहिये।

"तथैव भूतसूक्ष्मेषु समापत्तिश्च तादृशी।

सविचारेति विख्याता विषयस्सूक्ष्म एव सः ॥ ७७ ॥ योगसूत्रसारः"

जब ध्येय कोई सूक्ष्म विषय हो और चित्त उसके देश , काल और निमित्त के विचार से मिला हुआ तद्रूप होकर उसको साक्षात् करावे, तब वह सविचार समापत्ति कहलाती है।

"शान्तादिधर्मशून्या या या सूक्ष्मविषया तथा।

निर्विचारा समापत्तिस्तुरीया चोत्तमा मता ॥ ७८ ॥ योगसूत्रसारः"

और चित्त जब एकाग्रता के बढ़नेपर देश, काल और निमित्त आदि की स्मृति से शुद्ध होकर {मुक्त होकर} उस सूक्ष्म विषय को केवल धर्मिमात्र स्वरूप से {विशेषण शून्य स्वरूप से} तदाकार होकर प्रकाश करे, तब वह निर्विचार समापत्ति कहलाती है। सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति में स्थूलभूत एकाग्रता के विषय होते हैं जबकि सविचार एवं निर्विचार समापत्ति में सूक्ष्मभूत ध्यान के विषय बनते हैं।

समापत्ति और सम्प्रज्ञात-समाधि पर्यायवाचक शब्द हैं।

भाव यह है कि सविचार समापत्ति में (सूक्ष्म पृथ्वी गन्धतन्मात्र-प्रधान पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न हुई है और गन्ध इसका धर्म है इत्यादि प्रकार से) कार्य-कारण-भाव का विचार विद्यमान रहता है और निर्विचार में केवल सूक्ष्मभूतों का ही भान होता है, पूर्वोक्त विचार नहीं होता। यही इन दोनों में भेद है।

इस प्रकार स्थूल पदार्थ विषयक सवितर्क-निर्वितर्क और सूक्ष्म पदार्थ-विषयक सविचार-निर्विचार रूप भेद से यह समापत्ति चार प्रकार की है।

ध्यान, सवितर्क तथा सविचार समापत्ति और समाधि में क्या भेद है, इसे स्पष्ट करते हैं।

ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटि बनी रहती है।

सवितर्क और सविचार समापत्ति में केवल ध्यानविषयक ही शब्द, अर्थ और ज्ञान से मिला हुआ विकल्प रहता है।

समाधि में केवल ध्येय का स्वरुपमात्र ही रह जाता है।

अतः सवितर्क और सविचार समापत्ति ध्यान के बाद की और समाधि से पहले की अवस्था है।

सूक्ष्म विषय कहाँ तक है, {क्या केवल परमाणुओं तक ही है ? नहीं इससे भी आगे है।} यह बात अगले सूत्र में बतलाते हैं।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ १.४५ ॥

सूक्ष्म-विषयत्वं च = और सूक्ष्म-विषयता; अलिङ्गपर्यवसानम् = किसी में लीन न होनेवाली अथवा लिङ्गरहित मूल-प्रकृति (गुणों की साम्यावस्था) पर्यन्त है। अर्थात् सूक्ष्म विषयता अलिङ्ग प्रकृति पर्यन्त है ।

"तत् सूक्ष्मविषयत्त्वञ्च प्रधानान्तं प्रकथ्यते।

न त्वलिङ्गात् परं किञ्चित् सर्वतत्त्वेषु विद्यते ॥ ७९॥ योगसूत्रसारः"

सूक्ष्म विषयता (अर्थात् जड़ पदार्थों की सूक्ष्मता) जो सविचार एवं निर्विचार समापत्ति में बतलाये हैं उनकी सूक्ष्म विषयता परमाणुओं में समाप्त नहीं हो जाती किन्तु मूल प्रकृति पर्यन्त अर्थात् मूल प्रकृति तक रहती है।

शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध — इन पाँच तन्मात्राओं से प्रथम आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी नामवाले सूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं। उसके बाद सूक्ष्मभूतोंसे आकाशादि स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। पाँचों स्थूलभूतोंसे लेकर पाँचों तन्मात्राओं तक सूक्ष्मभूतों की सूक्ष्मता का तारतम्य चला गया है।

अर्थात् पार्थिव-परमाणु तथा इसका कारणभूत गन्धतन्मात्रा, जल-परमाणु तथा इसका कारणीभूत रसतन्मात्रा, अग्नि-परमाणु तथा इसका कारणीभूत रुपतन्मात्रा, वायु-परमाणु तथा इसका कारणीभूत स्पर्शतन्मात्रा, आकाश-परमाणु तथा इसका कारणीभूत शब्दतन्मात्रा एवं पञ्च तन्मात्राओं का कारणीभूत अहंकार, अहंकार का कारणीभूत लिङ्ग-संज्ञक महत्तत्व और महत्तत्व का कारण अलिङ्ग-संज्ञक प्रकृति — ये सब सूक्ष्म विषयों के अन्तर्गत हैं।

इन सबमें से पूर्व-पूर्व कार्य की अपेक्षा से उत्तर-उत्तर कारणीभूत सूक्ष्म हैं। प्रकृति से परे अन्य किसी सूक्ष्म पदार्थ के न होने से प्रकृति में ही सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है।

यद्यपि 'अव्यक्तात्पुरुषः परः' इस श्रुति से प्रकृति की अपेक्षा पुरुष सूक्ष्म है तथापि पुरुष के अग्राह्य और चेतन होने से प्रकृति में ही सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है।

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥ कठोपनिषद्"

"इन्द्रियों से उच्चतर हैं उनके विषय, उन इन्द्रिय-विषयों से उच्चतर है 'मन', 'मन' से उच्चतर है बुद्धि तथा उससे (बुद्धि से) उच्चतर है 'महान् आत्मा'।

"महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥ कठोपनिषद् "

"उस महान् आत्मा से उच्चतर 'अव्यक्त' है, 'अव्यक्त' से उच्चतर 'पुरुष' है; 'पुरुष' से उच्चतर कुछ भी नहीं : 'वही' सत्ता की पराकाष्ठा है, वही यात्रा का परम लक्ष्य (परा गति) है।

जो तत्व कारण में लीन हो जाता है अथवा कारण का बोधन करता है, वह लिङ्ग कहलाता है। अर्थात् स्थूल-भूत और इन्द्रियाँ विशिष्ट-लिङ्ग हैं, सूक्ष्मभूत तन्मात्राऐं और अहंकार अविशिष्ट-लिङ्ग हैं और महत्तत्व केवल लिङ्गमात्र है। ये महतत्त्व आदि अपने-अपने कारण में लीन होने से और अपने कारण-प्रधान को बोधन करने से लिङ्ग हैं। प्रधान-प्रकृति किसीमें लीन न होने से और किसी कारण को बोधन न करने से अलिङ्ग है।

पुरुष और मूल प्रकृति दो ऐसे तत्त्व हैं जिनका कोई उपादान कारण नहीं है अर्थात ये दो तत्त्व किसी से भी नहीं बने हैं, ये नित्य तत्त्व हैं। इन्हें बनाने वाला कोई भी नहीं है। यह जो कुछ दृश्य जगत (संसार) जिस भी रूप में दिख रहा है या अनुभव हो रहा है इसका मुख्य कारण मूल प्रकृति है। ईश्वर इस जगत रचना में सहायक कारण (निमित्त कारण) है।

"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।९.१०।। श्रीमद्भगवद्गीता"

प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें सम्पूर्ण चराचर जगत् को रचती है। हे कुन्तीनन्दन ! इसी हेतुसे जगत् का विविध प्रकारसे परिवर्तन होता है।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।येन जातानि जीवन्ति।

यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। तैत्तिरीयोपनिषद् ||"

ये समस्त प्राणी जहाँ से उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर ये जिसके द्वारा जीवित रहते हैं तथा तत्पश्चात् ये जिसमें समाविष्ट हो जाते हैं, उसे तुम जानने का प्रयास करो, क्योंकि वह ही है 'ब्रह्म'।

"प्रधानपुंसोरजयोर्यतः क्षोभः प्रवर्तते ।

नित्ययोर्व्यापिनोश्चैव जगदादौ महात्मनोः ।।७९।।

तत्क्षोभकत्वाद् ब्रह्मांडं सृष्टेर्हेतुर्निरञ्जनः ।

अहेतुरपि सर्वात्मा जायते परमेश्वरः ।। ८०।।

भविष्यपुराणम् /पर्व १ (ब्राह्मपर्व)/अध्यायः ६६"

"बुद्ध्यादयो विशेषान्ता अव्यक्तादीश्वरेच्छया।

पुरुषाधिधिष्ठितादेव जज्ञिरे मुनिपुंगवाः ॥६॥ सौरपुराणं – अध्यायः २१"

"तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः ।

मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ॥ ११.२४.५ ॥ श्रीमद्भागवतपुराणम्"

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं — उद्धव जी ! मैंने ही जीवों के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार प्रकृति को क्षुब्ध किया। तब उससे सत्व, रज और तम — ये तीन गुण प्रकट हुए।

"ततः पदं तत्परिमार्गितव्य यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।१५.४।। श्रीमद्भगवद्गीता"

(तदुपरान्त) उस पद का अन्वेषण करना चाहिए जिसको प्राप्त हुए पुरुष पुन: संसार में नहीं लौटते हैं। "मैं उस आदि पुरुष की शरण हूँ, जिससे यह पुरातन प्रवृत्ति प्रसृत हुई है"।

इस प्रकार अनेक श्रुति और स्मृतियों से सिद्ध होता है कि प्रकृति उपादान कारण है और पुरुष निमित्त कारण है। महत्तत्वादि का लय हो जाता है इसलिये वे लिङ्ग कहलाते हैं। "लयना-ल्लिङ्गमुच्यते" और जिसका लय नहीं होता वह {न लिङ्गम् अलिङ्गं प्रधानम् माने प्रकृति है।}

अब अगले सूत्र में अबतक जो चार समापत्तियाँ बताई हैं वे सबीज समाधि हैं; यह बतलाते हैं।

ता एव सबीजः समाधिः ॥ १.४६ ॥

ता – एव = ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही; सबीजः समाधि: = सबीज-समाधि कहलातीं हैं।

ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही सबीज समाधि कहलातीं हैं।

बाह्य अनात्मवस्तु अर्थात् कार्यसहित प्रकृति जो ग्राह्य-ग्रहण और ग्रहीतृरुप है, इसीका नाम बीज तथा आलम्बन (आश्रय) है। इसलिये इसको लेकर होनेवाली समाधि का नाम सबीज, सालम्बन तथा सम्प्रज्ञात समाधि है।

उपर्युक्त चारों समापत्तियाँ सबीज-समाधि कहलाती हैं, क्योंकि सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति तो स्थूल ग्राह्य वस्तु के बीजसहित (आलम्बनसहित = आश्रय सहित) होती है और सविचार तथा निर्विचार सूक्ष्म ग्राह्य वस्तु के बीजसहित (आलम्बनसहित) होती है।

"सबीजोऽयं समाधिस्स्यात् सवितर्कादिभूमिभिः।

बीजस्यान्तो ह्यविद्या स्यात् सम्प्रज्ञातश्च तद्युतः ॥ ८० ॥ योगसूत्रसारः"

पूर्व सूत्रों में भी यह समझाया जा चुका है कि सवितर्का और निर्वतर्का समापत्ति (समाधि) स्थूल विषयों (पृथ्वी, घड़े, वृक्ष, फूल आदि) में होती है तथा सविचारा और निर्विचारा समाधि सूक्ष्म विषयों जैसे तन्मात्राओं, इंद्रियों एवं उनके विषयों में या फिर मन, अहंकार, बुद्धि या अस्मिता में लगाई जाती है।

सङ्गति — अब इसके आगे निर्विचार समापत्ति इन चारों में सबसे बढ़कर है; उसका फल अगले सूत्र में बतलाते हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ १.४७ ॥

निर्विचार-वैशारद्ये — निर्विचार की वैशारद्य = प्रवीणता = निर्मल होने पर; अध्यात्म-प्रसाद: = अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

निर्विचार समाधि की वैशारद्य (प्रवीणता) होने पर अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है। अर्थात् चित्त की स्थिति दृढ़ हो जाती है।

वैशारद्य — "स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्।" शुद्ध स्थिति का प्रवाह वैशारद्य कहलाता है।

अध्यात्म — "आत्मनि बुद्धौ वर्तत इत्यध्यात्म" जो आत्मा अर्थात् बुद्धि में स्थित रहता है वह अध्यात्म है।

प्रसाद — प्रसन्नता, निर्मलता।

'तरति शोकम् आत्मवित्' (छा. उ. ७/१/३)'

आत्मविद् लोग शोक को पार कर जाते हैं। अर्थात् आत्मा को जानने वाला सब दुःखों से पार उतर जाता है ।

"स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित् कुले भवति।

तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥ मुण्डकोपनिषद् तृतीयो मुण्डकः द्वितीयः खण्डः"

वस्तुतः वह जो कि उस 'परम ब्रह्म' को जानता है वह स्वयं 'ब्रह्म' बन जाता है; उसके कुल में 'ब्रह्म' को न जानने वाला या न मानने वाला पैदा नहीं होता। वह शोक से पार हो जाता है, वह पापों से तर जाता है, वह हृद्गुहा की ग्रंथियों से मुक्त होकर अमर हो जाता है।

"आध्यात्मिकः प्रसादस्स्यात्प्रज्ञालोकस्तदा स्फुटः ।

ऋतम्भरा तदा प्रज्ञा सत्यं नित्यं बिभर्ति या ॥ ८२ ॥योगसूत्रसारः"

बुद्धि में जो प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता रहती है, वह अध्यात्म-प्रसाद है। निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में रज-तम रूप मल और मोहरूप आवरण का क्षय होने पर प्रकाशस्वरूप बुद्धि का सत्वगुण की प्रधानता से रजस्-तमस् से अनभिभूत (अतिरस्कृत) स्वच्छ स्थिरता-रुप एकाग्र-प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। इसीका नाम वैशारद्य है। इससे योगी को प्रकृति-पर्यन्त सब पदार्थों का एक ही काल में साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कार का नाम अध्यात्म-प्रसाद है। इसीको स्फुट-प्रज्ञा-लोक तथा प्रज्ञाप्रासाद भी कहते हैं। श्रीव्यासजी महाराज इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार करते हैं —

"प्रज्ञाप्रासादमारुह्य ह्यशोच्यः शोचतो जनान्।

भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ।।"

प्रज्ञारुपी प्रासाद (महल-अटारी) पर चढ़कर शोक रहित प्राज्ञ योगी शोकमें पड़े जनों को ऐसे देखता है, जैसे पर्वत की सबसे ऊंची चोटी पर खड़ा हुआ पुरुष नीचे पृथ्वी के लोगों को (नीचे और छोटा तथा स्पष्ट) देखता है, इसी प्रकार प्रज्ञा की निर्मलता की चोटी पर चढ़कर शोक की पहुंच से ऊंचा बैठा हुआ प्राज्ञपुरुष शोक में डूबे हुए सारे लोगों को नीचे देखता है। (यहाँ निर्विचार के अन्तर्गत ही आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमियाँ भी आ गयी हैं।)

सङ्गति — अध्यात्म प्रसाद से जिस प्रज्ञा (बुद्धि) का योगी को लाभ होता है, उसका सार्थक नाम अगले सूत्र में बतलाते हैं —

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ १.४८ ॥

ऋतम्भरा = सच्चाई को धारण करनेवाली, अविद्या आदि से रहित; तत्र = उस अध्यात्म प्रसाद के लाभ होने पर; प्रज्ञा = बुद्धि अर्थात् ज्ञान (उत्पन्न) होता है।

अध्यात्म प्रसाद के लाभ होने पर जो प्रज्ञा (समाधिजन्य बुद्धि) उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा (सच्चाई को धारण करनेवाली अविद्यादि से रहित बुद्धि) है।

निर्विचार समाधि की विशारदता से जन्य अध्यात्म-प्रसाद होने पर जो समाहित-चित्त योगी की प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा है। यह उसका यथार्थ नाम है; क्योंकि 'ऋत' नाम सत्य का है और 'भरा' माने धारण करनेवाली अर्थात् यह प्रज्ञा सत्य ही

को धारण करनेवाली होती है; इसमें भ्रान्ति, विपर्यय-ज्ञान अर्थात् अविद्यादि का गन्ध भी नहीं होता।

इस प्रज्ञा के होने से ही उत्तम योग का लाभ होता है, जैसा कि श्रीव्यासजी ने कहा है —

"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास रसेन च।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।।"

वेदविहित, श्रवण से, अनुमान (मनन) से और ध्यानाभ्यास में आदर (निदिध्यासन) से इन तीनों प्रकारों से प्रज्ञा का सम्पादन करता हुआ योगी उत्तम योग को प्राप्त करता है।

सत्य और ऋतमें इस प्रकार का भेद समझ लेना चाहिये कि आगम और अनुमान द्वारा जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त है अर्थात् Conceptual fact {वैचारिक तथ्य} वह सत्य है। और साक्षात् करने के पश्चात जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् Perceptual fact {अवधारणात्मक तथ्य} वह ऋत है। अर्थात् ऋतका अर्थ साक्षात् अनुभूत सत्य है। आत्मसाक्षात्काररुपा प्रज्ञा ही ऋतम्भरा प्रज्ञा है।

सङ्गति — अब अगले सूत्र में आगम और अनुमान-जन्य ज्ञानसे ऋतम्भरा -प्रज्ञाजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान की श्रेष्ठता बतलाते हैं।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ १.४९ ॥

श्रुत-अनुमान-प्रज्ञाभ्याम् = आगम और अनुमान की प्रज्ञा से; अन्य-विषया = इस ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय अलग है; विशेष-अर्थत्वात् = विशेष रूप से अर्थ का साक्षात्कार करने से।

आगम और अनुमान की प्रज्ञा से ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय अलग है, विशेष रुप से अर्थ का साक्षात्कार करने से। अतः इसी ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करने का विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

पदार्थ के दो रूप होते हैं — एक सामान्य, दूसरा विशेष। सामान्य वह है जो उस प्रकार के सब पदार्थों में पाया जाता है और विशेष वह है, जो प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना रुप है, जिससे एक ही प्रकारके पदार्थों में भी एक- दूसरे से भेद हो सकता है। आगम-जन्य ज्ञान वस्तु के सामान्य रूप को ही विषय करता है, विशेष रूप को नहीं; क्योंकि विशेष के साथ शब्द का वाच्य- वाचक भाव सम्बन्ध नहीं होता है। शास्त्र ने जिस वस्तु के साथ शब्द का संकेत किया है, उस वस्तु को वह शब्द सामान्यरुप से ही बोधन करता है, न कि विशेष रुप से। गो, वृक्षादि शब्दोंके सुनने से गो, वृक्षादिका सामान्य ज्ञान होता है, व्यक्तिविशेष गो, वृक्षादि का विशेष ज्ञान नहीं होता।

इसी प्रकार अनुमान भी सामान्यरुपसे वस्तुका ज्ञान उत्पन्न कराता है, विशेष रुपसे नहीं; क्योंकि अनुमान में लिङ्गसे लिङ्गीका ज्ञान होता है, जहाँ लिङ्गकी प्राप्ति नहीं वहाँ अनुमान नहीं हो सकता, जैसे जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, जहाँ गति है वहाँ प्राप्ति है; जहाँ गति का अभाव है, वहाँ प्राप्ति का अभाव है।

केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही वस्तुके विशेष रुपको दिखलाने में समर्थ होता है; किंतु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष-ज्ञान भी स्थूल वस्तुओं के ही प्रत्यक्ष रुप को दिखला सकता है, न कि सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थों को। पञ्च- तन्मात्राऐं, अहंकार, महत्तत्व, प्रकृति, पुरुष आदि सूक्ष्म पदार्थों में प्रत्यक्ष की भी पहुंच नहीं है। आगम और अनुमान से इनके सामान्य रुप का ही पता लग सकता है, इनके विशेष रुप को नहीं बतला सकते।

"यतः प्रज्ञा विशेषार्था यतस्सूक्ष्मं बिभर्ति सा।

श्रुतानुमानबोधाभ्यां ततो वैविध्यमश्नुते ॥ ८३ ॥ योगसूत्रसारः"

निर्विचार समाधिकी विशारदता में होनेवाली ऋतम्भराप्रज्ञा से ही इन सूक्ष्म पदार्थों के विशेष रुपका साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं। अतएव यह प्रज्ञा विशेषविषयक होनेसे श्रुत-अनुमान प्रज्ञासे अन्य और उत्कृष्ट है। यही परम प्रत्यक्ष है। यह श्रुत और अनुमान का बीज है, अर्थात् श्रुत और अनुमान इसके आश्रय हैं, न कि यह उनके। वस्तु के यथार्थ स्वरुप को ही आगम बतलाता है और इसीका अनुमान किया जाता है। यहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्रसंख्यान अर्थात् विवेकख्याति के तुल्य समझना चाहिये।

अब इस योगजप्रज्ञाका फल स्थाई होता है यह बात अगले सूत्र में बतलाते हैं।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ १.५० ॥

तत्-जः = उस ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला; संस्कारः = संस्कार; अन्य-संस्कार-प्रतिबन्धी = दूसरे (सब व्युत्थान के) संस्कारों का प्रतिबन्धक (रोकने वाला) होता है।

उस ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य सब (दुःख के हेतु) व्युत्थान के संस्कारों का बाधक (रोकने वाला) होता है।

समाधि से पूर्व चित्त केवल व्युत्थान के संस्कारों से ही भरा रहता है। फिर जब समाधि की अवस्था में उसको जो अनुभव होता है उसके भी संस्कार पड़ते हैं। ये समाधि के संस्कार व्युत्थान के संस्कारों से बलवान् होते हैं। क्योंकि समाधि की प्रज्ञा व्युत्थान की प्रज्ञा से अधिक निर्मल होती है। उसकी निर्मलता में पदार्थ का तत्व अनुभव होता है। जितना तत्व का अनुभव होता है उतने ही उसके संस्कार प्रबल होते हैं। "तत्त्व-पक्षपातो हि धियां स्वभावः" इन संस्कारों की प्रबलता से फिर समाधि-प्रज्ञा होती है इस समाधि-प्रज्ञा से उत्पन्न हुए संस्कार व्युत्थान के संस्कारों और वासनाओं को हटाते हैं। व्युत्थान के संस्कारों के दबने से उनसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ भी दब जाती हैं। उन वृत्तियों के निरोध होनेपर समाधि उत्पन्न होती है। इससे समाधि प्रज्ञा, समाधि-प्रज्ञा से फिर समाधि के संस्कार — इस प्रकार यह चक्र लगातार चलता रहता है। यहाँतक कि निर्विचार-समाधि उपस्थित हो जाती है। फिर निर्विचार-समाधि से ऋतम्भरा-प्रज्ञा का लाभ होता है। उस प्रज्ञा से निरोध संस्कार होता है, निरोध-संस्कार से फिर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्रकर्ष, उस प्रज्ञा से फिर निरोध-संस्कार का प्रकर्ष — इस प्रकार लगातार चक्रसे निरोध के संस्कार पुष्ट हो-होकर व्युत्थानके संस्कारोंको सर्वथा रोक देते हैं। {भूतार्थपक्षपातो हि बुद्धेः स्वभावः} बुद्धि तत्त्व-पक्षपातिनी होती है। हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ग्यान निधाना।। मित्र और शत्रु को पशु-पक्षी भी पहचानते हैं। फिर मनुष्य शरीर तो गुण और ज्ञान का भंडार ही है| इस संसार में मनुष्य तभीतक भटकता है जबतक उसे ऋतम्भरा-प्रज्ञा का स्वाद नहीं मिल जाता।

'निरुपद्रव भूतार्थ स्वभावस्य विपर्ययैः।

न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः।।३,२१३।।'प्रमाणवार्तिकम् || अर्थात्, संशय विपर्यय आदिकों से अनास्कंदित भूतार्थ, यथार्थ वस्तु है विषय जिनका 'भूतं अबाधितं यथार्थभूतं वस्तु विषयो यस्य' ऐसा भूतार्थ स्वभाव निरुपद्रव जो बोध होता है उसका विपर्यय बोधों से बाध नहीं होता। 'यत्न-वत्त्वेऽपि' बड़े-बड़े यत्न करने पर भी उनके द्वारा उनका बाध नहीं हो सकता क्योंकि 'बुद्धेस्तत्पक्षपाततः' बुद्धि तत्त्व-पक्षपातिनी है।

"निरुध्यन्तेऽन्यसंस्काराः प्रज्ञासंस्कारवारिणा ।

तत्संस्कारनिरोधे स्यान्निर्बोजो योग इष्टदः ॥ ८४ ॥ योगसूत्रसारः"

उस (ऋतंभरा-प्रज्ञा) से उत्पन्न होने वाला संस्कार दूसरे संस्कारों को रोकने वाला होता है । इसलिए इस प्रज्ञा का ही अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि प्रज्ञाके संस्कार तत्त्वका संस्पर्श करते हैं। और फिर विवेकख्याति हो जाने पर संस्कारों की परम्परा ही समाप्त हो जाती

है।

सङ्गति — सबीज-समाधि का सबसे ऊंची चोटीतक वर्णन करके अब निर्बीज समाधि को बतलाते हैं।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ १.५१ ॥

तस्य = (पर वैराग्य द्वारा) उस ऋतंभरा-प्रज्ञा-जन्य संस्कार के; अपि = भी; निरोधे = निरोध हो जाने पर; सर्वनिरोधात् = (पुराने और नये) सब संस्कारों के निरोध हो जाने के कारण; निर्बीजःसमाधि: = निर्बीज-समाधि हो जाती है ।

पर वैराग्य द्वारा उस ऋतंभरा-प्रज्ञा-जन्य संस्कार के भी निरोध हो जाने पर पुरातन-नूतन (पुराने और नये) सब संस्कारों के निरोध हो जाने से निर्बीज समाधि होती है ।

पर-वैराग्य द्वारा पुरुषख्याति हो जानेपर जो निखिल-वृत्ति प्रवाह {प्रत्यक्षादि प्रमाण, विकल्प, विपर्यय, निद्रा, स्मृति} तथा संस्कार-प्रवाह {प्रज्ञा संस्कार, निरोध संस्कार} का निरोध है, वह निर्बीज-समाधि है। एक काँटे से जब दूसरे काँटे को निकाल देते हैं तब फिर दोनों को ही फैंक देते हैं।

"दुःखबीजैर्यतश्शून्यस्ततो निर्बोजनामकः ।

समाधिर्मोक्षहेतुर्हि यस्मिन्वै केवलः पुमान् ॥ ८५ ॥ योगसूत्रसारः"

इस असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्बीज समाधि में मिथ्याज्ञान और वासनारूप संस्कारबीजों से रहित क्लेश, कर्मादि दुःख के समस्त बीजों का नाश हो जाने से पुरुष शुद्ध परमात्मस्वरुप में प्रतिष्ठित हुआ केवल स्वरुपमात्रनिष्ठ और शुद्ध तथा मुक्त कहा जाता है। फिर पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रहती।

"मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः ।

ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य विवर्धते ।। १८।।

योगवासिष्ठः/प्रकरणम् ४ (स्थितिप्रकरणम्)/सर्गः ३५"

सांसारिक मामलों में मन का उत्थान, उसके विनाश की ओर जाता है, और उस मन के अवसाद में उसकी आध्यात्मिक उन्नति होती है। इसलिये बुद्धिमान हमेशा अपने दिमाग (अभिमान) को नीचा करते हैं; परन्तु मूर्ख उन्हें ऊंचा करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५.५।। श्रीमद्भगवद्गीता"

सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अतः जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही ठीक देखता है।

"योगस्योद्देशनिर्देशौ तदर्थं वृत्तिलक्षणम् ।

योगोपायाः प्रभेदाश्च पादेऽस्मिन्नुपवर्णिताः ॥ १ ॥"

पातञ्जल योगसूत्र के प्रथम पाद में मुख्यरूप से चार बातें बताई गयी हैं।

(१) योग का उद्देश्य है सत्वान्यथा ख्याति अथवा अपने द्रष्टा स्वरूप में स्थित होना।

(२) योग का लक्षण है चित्त की वृत्तियों का निरोध करना।

(३) वृत्तियों का निरोध करने के लिये वृत्तियों को पहचानना जरूरी है, इसलिये वृत्तियों का लक्षण बताया।

(४) इसके बाद योग प्राप्ति के अनेक उपाय और उनके प्रभेद बताये हैं।

सवितर्कादि भेदवाली सम्प्रज्ञात समाधि में अविद्या रूप बीज रहता है इसलिये उसे `सबीजसमाधि' कहते हैं। उस अविद्या रूप बीज से जो रहित है उसे असम्प्रज्ञात समाधि अथवा `निर्बीजसमाधि' कहते हैं। सबीजसमाधि में जब निर्विचार की विशारदता हो जाती है तब सत्त्वोद्रेक होनेपर उसमें ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कारों से व्युत्थान के संस्कारों का बाध हो जाता है। और फिर (तस्यापि) उस प्रज्ञाजन्य संस्कार का भी निरोध होनेपर निर्बीजसमाधि होती है , और इसके बाद मोक्ष होता है। इसप्रकार क्रम जानना चाहिये।

यहाँ प्रथम समाधि-पाद पूर्ण हुआ।

अथ साधनपादः

अब तक समाधि का निरूपण किया गया, अब साधन का निरूपण करते हैं। योगसूत्र के प्रथमचरण में समाहित चित्तवाले उत्तम अधिकारियों के लिये योगका स्वरूप, उसके भेद और उसका फल सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि को विस्तार के साथ वर्णन किया गया है और योग के मुख्य उपाय अभ्यास तथा वैराग्य-साधन की कई विधियाँ बतलायी हैं। पर विक्षिप्त चित्तवाले मध्यमाधिकारी जिनके चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग-द्वेष आदिसे कलुषित (मलिन) हैं, उनके लिये अभ्यास और वैराग्य का होना कठिन है उनका चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास और वैराग्य को सम्पादन कर सके इस अभिप्राय से चित्त की एकाग्रता के असंदिग्ध उपाय क्रियायोग पूर्वक यम-नियमादि योगके आठ अङ्गों को बतलाने के लिये दूसरे साधनपाद को आरम्भ करते हैं। —

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ २.१ ॥

तपः स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि = तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान; क्रियायोगः = क्रियायोग है।

तप, स्वाध्याय {अध्यात्मशास्त्रों का पठन-पाठन} और ईश्वरप्रणिधान {ईश्वर की शरणागति} ये तीनों क्रियायोग है।

साधन पाद का यह पहला सूत्र है। समाधि पाद में योग के मूलभूत एवं उच्च सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के बाद अब साधनपाद का आरंभ करते हैं। साधन पाद में क्रियायोग एवं अष्टांग योग के माध्यम से समाधिलाभ प्राप्त करने की विधियों एवं उपायों का वर्णन किया गया है।

तपः — "उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।

शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ।। ११.२१।। कूर्मपुराणम्"

चित्त की प्रसन्नता के अविरोधी शास्त्रविहित उपवासादि करना तप है। जो तपस्वी नहीं है उसे योग सिद्ध नहीं होता। तप तीन प्रकार का होता है, शारीरिक वाचिक और मानसिक। जिस प्रकार अश्व-विद्या में कुशल सारथि चञ्चल घोड़ों को साधता है इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ और मन को उचित रीति और अभ्यास से वश में करने को तप कहते हैं, जिससे आप सर्दी-गर्मी, भूँक-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक और मान- अपमान आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वों की अवस्था में बिना विक्षेप के स्वस्थ शरीर और निर्मल अन्तःकरण के साथ योगमार्ग

में प्रवृत्त रह सकें। शरीर में व्याधि तथा पीड़ा, इन्द्रियों में विकार और चित्त में अप्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला तामसी तप योगमार्ग में निन्दित तथा वर्जित है। श्रीव्यासजी महाराज लिखते हैं "अनादि कर्म क्लेश वासना से चित्रित हुआ जो विषयों में प्रवृत्ति करानेवाला अशुद्धिसंज्ञक रजस्-तमस् का प्रसार है, वह बिना तप के अनुष्ठानके नाशको प्राप्त होना असम्भव है। अतः सबसे पहले तपरूप साधनका उपदेश किया है। संक्षेप से कहें तो ब्रह्मचर्य और गुरुसेवा ही तप है।

"तच्च चित्तप्रसादनं बाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यते।"

जो तप चित्तकी प्रसन्नता का हेतु हो तथा शरीर-इन्द्रियादिका बाधाकारक (पीड़ाकारक) न हो। वही सेवनीय है अन्य नहीं, वही सूत्रकारादि महर्षियों को अभिमत है; क्योंकि व्याधि, शरीर की पीड़ा आदि और चित्तकी अप्रसन्नता योगके विघ्न हैं। ऐसा ही बृहदारण्यक उपनिषद में कहा है कि —

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति ।

ब्रह्म जिज्ञासु लोग वेदों के अध्ययन, यज्ञ, दान तथा अनाशक तप से उन ब्रह्म को जानने की इच्छा करें । शरीर को हानि पहुंचानेवाला तप तो योगमार्ग का विघ्न ही है।

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१७.१४।। श्रीमद्भगवद्गीता"

देव, द्विज (ब्राह्मण), गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन, शौच, आर्जव (सरलता), ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शरीर संबंधी तप कहा जाता है।

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१७.१५।। श्रीमद्भगवद्गीता"

जो वाक्य (भाषण) उद्वेग उत्पन्न करने वाला नहीं है, जो प्रिय, हितकारक और सत्य है तथा वेदों का स्वाध्याय अभ्यास वाङ्मय (वाणी का) तप कहलाता है।

"मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१७.१६।। श्रीमद्भगवद्गीता"

मनकी प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मनका निग्रह और भावोंकी शुद्धि — इस तरह यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

"एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।

सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ।। २.८३ ।।मनुस्मृतिः/द्वितीयोध्यायः"

एक-अक्षर (ॐ) सर्वोच्च ब्रह्म है; श्वास-निलंबन (अर्थात् प्राणायाम) सर्वोच्च तपस्या हैं; सावित्री श्लोक अर्थात् गायत्रीमन्त्र से बढ़कर कुछ नहीं है; सत्य मौन से बेहतर है।

स्वाध्याय — "वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः ।

सत्त्वसिद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ।। ११.२२।। कूर्मपुराणम्''

वेद-उपनिषद, शतरुद्रीय आदि का पाठ तथा योग और सांख्यके अध्यात्मसम्बन्धी विवेक-ज्ञान उत्पन्न करनेवाले सत्-शास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन और ओंकार सहित गायत्री आदि मन्त्रों का जाप। ये सब अन्तःकरण की शुद्धि करनेवाले होने के कारण स्वाध्याय के अन्तर्गत आते हैं।

''प्रणवादिपवित्राणां मन्त्राणां जपपूर्वकम्।

यस्य वै यावती शक्तिस्तावत्या तप आचरेत् ॥ ८३ ॥

क्रियाणां फलयुक्तानां सर्वासामपि चार्पणम्।

सर्वोत्तमे परे पुंसि क्रियायोग इतीर्यते ॥ ८४ ॥ योगसूत्रसारः''

''ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।

त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्।। २.८१।। मनुस्मृतिः''

ओंकार से आरंभ होने वाली तीन व्याहृतियों वाली और तीन पाद वाली गायत्री को वेद का मुख जानना चाहिए।

''गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।

महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च संजपेत्।। २१८।। (संवर्तस्मृति)''

'गायत्री से बढ़कर पापकर्मों का शोधक (प्रायश्चित्त) दूसरा कुछ भी नहीं है। प्रणव (ॐकार) सहित तीन महाव्याहृतियों से युक्त गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिये।'

ईश्वर-प्रणिधान का सामान्य अर्थ —

''स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनः कायकर्मभिः ।

सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ।। ११.२९।। कूर्मपुराणम्''

(१) ईश्वर की स्तुति, स्मरण, पूजा आदि भक्ति-विशेष और शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब बाह्य और आभ्यन्तर करणों से होनेवाले सारे कर्मों और उनके फलोंको अर्थात् सारे बाह्य और आभ्यन्तर जीवन को ईश्वरके समर्पण कर देना है। और उसका विशेष अर्थ (२) ॐ का उसके अर्थोंकी भावना सहित मानसिक जाप है। दूसरे अर्थ का सम्बन्ध आभ्यन्तर क्रिया से है। (३) तीसरा है कि सभी कर्मफलों के भोक्ता परमेश्वर ही हैं ऐसा चिन्तन करना।

''नाहं कर्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव कुरुते तथा ।

एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिः तत्त्वदर्शिभिः ॥ ३.१६॥ कूर्मपुराणम्''

''भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।५.२९।। श्रीमद्भगवद्गीता''

(साधक भक्त) मुझे यज्ञ और तपों का भोक्ता और सम्पूर्ण लोकों का महान् ईश्वर तथा भूतमात्र का सुहृद् (मित्र) जानकर शान्ति को प्राप्त होता है।

विष्णु-पुराणमें खाण्डिक्य और केशिध्वज के संवाद में यह विषय इस तरह से वर्णित हुआ है —

"योगयुक् प्रथमं योगी युंजानो ह्यभिधीयते |

विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान् || ३३ ||

पहले योगारम्भ करने के समय योगी युञ्जान कहलाता है, और जिसको ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है, उसे निष्पन्न समाधि योगी कहते हैं।

यद्यंतरायदोषेण दूष्यते चास्य मानसम् |

जन्मांतरैरभ्यसतो मुक्तिः पूर्वस्य जायते || ३४ ||

यदि विघ्नों के कारण उसका मन दूषित हो जाता है तो अगले जन्म पर्यन्त उसी अभ्यास के करते रहने से वह मुक्त हो जाता है।

विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि |

प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात् || ३५ ||

जो योगी विनिष्पन्न समाधि हो जाता है, वह योग रूप अग्नि के सम्पर्क से कर्म समूह के दग्ध हो जाने से, उसी जन्म में शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान् |

सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनो नयन् || ३६ ||

निष्काम योगी को चाहिए कि वह अपने मन को ब्रह्म चिन्तन के योग्य बनाते हुए ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्यभाषण, अस्तेय (चोरी न करना) तथा अपरिग्रह का पालन करे।

स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान् |

कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः || ६.७.३७ ||

संयतचित्त से स्वाध्याय, शौच, संतोष तथा तप का आचरण करे तथा परंब्रह्म में अपने मन को लगाये रखे।

विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि —

"कामतोऽकामतो वापि यत् करोमि शुभाशुभम्।

तत् सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्"

अर्थात् फलेच्छा से या निष्कामता से जो भी शुभाशुभ कर्म का अनुष्ठान मैं कर रहा हूँ, वह सब आप परमेश्वर को ही मैं समर्पण करता हूँ; क्योंकि आप अन्तर्यामी से ही प्रेरित होकर मैं सब कर्म करता हूँ।

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।९.२७।।श्रीमद्भगवद्गीता"

हे कुन्तीपुत्र ! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब कुछ मेरे अर्पण कर दे।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।२.४७।। श्रीमद्भगवद्गीता"

कर्म करने मात्र में तुम्हारा अधिकार है। फल में कभी नहीं। अतः तुम कर्मफल के हेतु वाले मत होना और अकर्म में भी तुम्हारी आसक्ति न हो।

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।६.३।। श्रीमद्भगवद्गीता"

योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मुनि के लिए कर्म करना ही हेतु (साधन) कहा है और योगारूढ़ हो जाने पर उसी पुरुष के लिए शम को (शांति, संकल्पसंन्यास) साधन कहा गया है।

"योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ ११.२०.६ ॥ श्रीमद्भागवत"

अर्थात् अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योग (मार्ग) बतलाये हैं–ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग । इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य कोई कल्याणका मार्ग नहीं है । जो अत्यन्त वैराग्यवान् हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं, जो संसारमें आसक्त हैं, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं और जो न अत्यन्त विरक्त हैं और न आसक्त हैं, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं ।

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वा अनुसृतस्वभावात् ।

करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥ ११.२.३६ ॥ भागवत"

अर्थ — जो भी मेरे शरीर, मन, वचन, इन्द्रिय, बुद्धि और आत्मासे सोच समझकर या अज्ञानतावश (अपनी प्रकृति अनुरुप) हो रहा है, या जो कुछ करता है वह सबकुछ (सर्वस्व) नारायण के श्री चरणोंमें समर्पित कर देवे।

यह क्रियायोग किसलिये है ? यह बतलाते हैं।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २.२ ॥

(क्रियायोग) समाधि-भावनार्थः = समाधि की भावना (समाधि का चित्त में पुनः पुनः निवेश) के लिये; क्लेश-तनू-करण-अर्थ:-च = और क्लेशोंके तनूकरण (दुबले करने) के लिये है।

(स हि क्रियायोगः) 'सो वह उपर्युक्त क्रियायोग' इतना पाठ भाष्यकारोंने सूत्र के आदि में अध्याहार किया है।

यह क्रियायोग समाधि की भावना के लिए और अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करने के लिए है।

समाधि-भावना = 'समाधिरुक्तलक्षणः तस्य भावना चेतसि पुनःपुनर्निवेशनम्' = समाधि जिसका लक्षण पहले बताया जा चुका है "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥१.२॥" उसकी भावना अर्थात् समाधिका चित्तमें बार-बार निवेश (लाना) है। (भोजवृत्ति) क्लेशतनूकरणार्थः = क्लेशा वक्ष्यमाणास्तेषां तनूकरणं स्वकार्यकारणप्रतिबन्धः = अविद्यादि क्लेश जो अगले सूत्र में कहे जायँगे, उनका तनूकरण 'उनके स्वकार्य के कारण होनेमें प्रतिबन्धकता'। — (भोजवृत्ति)

अविद्या आदि क्लेश जिनका आगे वर्णन किया जायगा, जिनके संस्कार बीजरूपसे चित्त-भूमिमें अनादि-कालसे पड़े हुए हैं, उनको शिथिल करने और चित्तको समाधिकी प्राप्ति के योग्य बनानेके हेतु क्रियायोग किया जाता है।

तपसे शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मनकी अशुद्धि दूर होनेपर वे स्वच्छ होकर क्लेशोंके दूर करने और समाधि-प्राप्ति में सहायता देते हैं।

स्वाध्याय से अन्तःकरण शुद्ध होता है और चित्त विक्षेपोंके आवरणसे शुद्ध होकर समाहित होनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है।

ईश्वरप्रणिधानसे समाधि सिद्ध होती है।

"प्रतनूकृतान् क्लेशान् प्रसङ्ख्यानाग्निना दग्ध-बीज-कल्पान् अप्रसव-धर्मिणः करिष्यतीति ।"

जब साधक क्रियायोगअर्थात् तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान का निरन्तर अनुष्ठान करता है तब उसके भीतर विवेकख्याति नाम की अग्नि उत्पन्न होने लगती है जो क्लेशों को दग्धबीज जैसी अवस्था में ले आती है। इस प्रकार क्रियायोग का अनुष्ठान साधक को पञ्च क्लेशों से रहित करता हुआ शुद्ध अंतःकरण प्रदान करता है ।

"समाधिर्भावनारूपः क्लेशानां शक्तिनाशनम्।

क्रियायोगेन सिद्ध्यन्ते प्रसंख्यानाग्निनामके ॥ ८५ ॥ योगसूत्रसारः"

प्रसंख्यान माने विवेकख्याति नाम की अग्नि में क्लेशों के बीज को दग्ध किया जा सकता है।

सङ्गति — जिन क्लेशोंके दूर करनेके लिये क्रियायोग बतलाया गया है, वे क्लेश कौनसे हैं ? यह अगले सूत्र में बतलाते हैं।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ २.३ ॥

अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः क्लेशाः = अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। और ये ही विघ्नकारक हैं और चित्तमें वर्तमान रहते हुए संस्काररूप गुणों के परिणामको दृढ़ करते हैं; इसलिये क्लेश नाम से कहे गये हैं। ये पाँचों विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान ही हैं, क्योंकि इन सबका कारण अविद्या ही है।

"अविद्या अस्मिता रागः द्वेषश्चाभिनिवेशनम्।

पञ्चैते कथिता योगे क्लेशाः प्रत्यूहकारकाः ॥ ८६ ॥ योगसूत्रसारः"

अविद्या माने अज्ञान, अस्मिता माने "मैं हूँ" पनेका भाव, राग माने किसीसे मोहब्बत हो जाना, द्वेष माने किसीसे दुश्मनी हो जाना, और अभिनिवेश माने अपने को मरनेवाला शरीर मानना ये पाँचों पीड़ा उत्पन्न करने वाले हैं। दुःख के इन पांच स्रोतों को क्रियायोग की साधना के माध्यम से क्षीण करना है। अविद्या से काम होता है, कामना से कर्म होता और फिर कर्म से जन्म, आयु और भोग और फिर अविद्या इस तरह यह चक्र चलता रहता है। इसलिये अविद्या का ही उच्छेद करना चाहिये।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष,और अभिनिवेश क्लेशों के ही सांख्य-परिभाषा में क्रमसे तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामान्तर हैं।

"तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः।

अविद्या पञ्चपर्वैषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता।।" (विष्णु पुराण, १/५/५)

तमस् (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) — यह सांख्य और योग में पञ्चपर्वा अविद्या कही गयी है। ये तमस् आदि अवान्तर भेद से बासठ प्रकार के हैं, जैसा कि सांख्यकारिका में बतलाया है —

"भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।

तामित्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्त्रः।। ४८।। सांख्यकारिका"

तमस् के आठ, मोह के भी आठ, महामोह के दस, तामिस्र के अठारह और अंधतामिस्र के भी अठारह प्रकार है।

तमस् (अविद्या) — मूलप्रकृति, महत्तत्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएं— इन आठ अनात्मप्रकृतियों में आत्मभ्रान्तिरुप अविद्या-संज्ञक तम आठ विषयवाला होने से आठ प्रकार का है।

मोह (अस्मिता)—गौण फलरुप अणिमा-महिमा आदि आठ ऐश्वर्यों में जो परम पुरुषार्थरुप ज्ञान है, वह अस्मिता-संज्ञक मोह कहलाता है। यह भी अणिमा आदि आठ भेद से आठ प्रकारका है।

महामोह (राग)—शब्द,स्पर्श,रुप,रस,गन्धसंज्ञक लौकिक और दिव्य विषयों में जो अनुराग है वह रागसंज्ञक महामोह कहा जाता है। यह भी दस विषयवाला होने से दस प्रकार का है।

तामिस्र (द्वेष)—उपर्युक्त आठ ऐश्वर्यों और दस विषयोंके भोगार्थ प्रवृत्त होनेपर किसी प्रतिबन्धक से इन विषयोंके भोगलाभ में विघ्न पड़नेसे जो प्रतिबन्धक- विषयक द्वेष होता है वह तामिस्र कहलाता है। वह तामिस्र आठ ऐश्वर्यों और दिव्य-अदिव्य दस विषयोंके प्रतिबन्धक होने से अठारह प्रकार का है।

अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) — आठ प्रकारके ऐश्वर्य और दस प्रकारके विषय- भोगोंके उपस्थित होनेपर भी जो चित्त में भय रहता है कि यह सब अन्तकाल में नष्ट हो जायँगे, यह अभिनिवेश अन्धतामिस्र कहलाता है। अभिनिवेशरुप अन्धतामिस्र भी उपर्युक्त अठारह के नाश का भयरुप होनेसे अठारह प्रकार का है। ये सब अज्ञानमूलक और दुःखजनक होनेसे अज्ञान,अविद्या,विपर्ययज्ञान, मिथ्याज्ञान, भ्रान्तिज्ञान और क्लेश आदि नामोंसे कहे जाते हैं।

सङ्गति — अविद्या ही सब क्लेशों का मूल कारण है, यह बात अगले सूत्र में बतलाते हैं।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २.४ ॥

अविद्या-क्षेत्रम् = अविद्या ही क्षेत्र है अर्थात् उत्पत्तिकी भूमि है; उत्तरेषाम्= अगले शेष चार अर्थात् अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामवाले क्लेशों की जन्मभूमि है ; प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदाराणाम् = जो प्रसुप्त,तनु,विच्छिन्न और उदार अवस्था में रहते हैं। (इन चार प्रकार की अवस्थाओं वाले होते हैं)

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थावाले अस्मिता आदि क्लेशोंका अविद्या क्षेत्र है। जैसे पृथिवीमें घास, लता, झाड़ी और वृक्षके पौधे उत्पन्न होते हैं वैसे ही अविद्या में अस्मिता,राग,द्वेष और अभिनिवेश उत्पन्न होते हैं ,

जिस प्रकार भूमिमें रहकर ही बीज उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार अविद्या के खेत में रहकर सभी क्लेश बन्धनरूप फल देते हैं। अविद्या ही इन सबका मूलकारण है। ये क्लेश चार अवस्थाओं में रहते हैं।

(१) (प्रसुप्त — जो क्लेश चित्तभूमि में अवस्थित हैं, पर अभी जागे नहीं ; क्योंकि) अपने विषय आदिके अभाव-काल में अपने कार्योंका आरम्भ नहीं कर सकते हैं, वे प्रसुप्त कहलाते हैं। जिस प्रकार बाल्यावस्थामें विषयभोग की वासनाएँ बीजरूपसे दबी रहतीं हैं, जवान होनेपर जाग्रत् होकर अपना फल दिखलातीं हैं।

(२) तनु — तनु वे क्लेश हैं, जो प्रतिपक्षभावना द्वारा अथवा क्रियायोग आदिसे शिथिल कर दिये गये हैं। "प्रतिपक्ष-भावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति।" प्रतिपक्ष भावना का अर्थ है कि जो भी विकार, या कुसंस्कार प्रकट होना चाह रहा है उसके विपरीत अच्छे या शुभ गुणों का चिंतन करना और उस कुसंस्कार या क्लेश के दुष्परिणाम का चिंतन कर उससे दूर हटने का प्रयास करना। इस प्रकार प्रतिपक्ष भावना से क्लेशों को उदार (प्रकट) होने से बचाया जा सकता है । क्योंकि क्लेशोंका प्रतिपक्षी क्रियायोग है, इसीसे क्लेश तनु होते हैं। इस कारण वे विषयके होते हुए भी अपने कार्य के आरम्भ करनेमें समर्थ नहीं होते, शान्त रहते हैं। परन्तु इनकी वासनाएँ सूक्ष्मरुपसे चित्तमें बनी रहतीं हैं। निम्न प्रकार से इनको शिथिल (तनु) किया जाता है — (१) यथार्थ ज्ञान के अभ्यास से अविद्या को, (२) भेद-दर्शन के अभ्यास से अस्मिता को, (३) मध्यस्थ रहने के विचार से राग-द्वेष को, (४) ममता के त्याग से अभिनिवेश नामवाले क्लेशको तनु (शिथिल) किया जाता है तथा धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा अविद्या, अस्मिता आदि सारे क्लेश तनु किये जाते हैं।

(३) विच्छिन्न — विच्छिन्न क्लेशों की वह अवस्था है जिसमें क्लेश किसी बलवान् क्लेश से दबे हुए शक्तिरुपसे रहते हैं और उसके अभाव में वर्तमान हो जाते हैं। जैसे द्वेष-अवस्था में राग छिपा रहता है और राग-अवस्था में द्वेष। क्योंकि ये राग और द्वेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। कभी भी एक काल में नहीं हो सकते।

(४) उदार — उदार (प्रकट) क्लेशोंकी वह अवस्था है, जो अपने सहायक विषयों को पाकर अपने कार्यमें प्रवृत्त हो रहे हैं। जैसे व्युत्थान अवस्था में साधारण मनुष्यों में (प्रकट रुप में) होते हैं। इन सबका मूलकारण अविद्या है। उसीके नाश होने से सर्वक्लेश समूल नाश हो जाते हैं।

दग्धबीज — यह पाँचवीं अवस्था है, यह अवस्था सिद्धयोगियोंको प्राप्त होती है, इसमें क्रियायोग अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि द्वारा तनु किये हुए क्लेश प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ख्यातिरुप अग्निमें दग्धबीज-भावको प्राप्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् पुनः अंकुर उत्पन्न करने और फल देने में असमर्थ हो जाते हैं। यथा —

"बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।

ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः।।१२.२१३.२२।।" (महाभारतम्)

जैसे अग्निमें दग्ध हुए वीज फिर नहीं उगते, वैसे ही विवेकज्ञानरुप अग्नि से दग्ध हुए क्लेश फिर उत्पन्न नहीं हो सकते अतः आत्मा पुनः शरीर ग्रहण नहीं करता'

"अविद्यामाश्रितास्सर्वे क्लेशा बीजामिवाङ्कुराः।

अविद्ययैव वर्धन्ते क्षीयन्ते चापि विद्यया ॥ ८७ ॥ योगसूत्रसारः"

ये पाँचों क्लेश अविद्या से बढ़ते हैं और विद्या से नष्ट हो जाते हैं। जब ज्ञान से (कर्मों के) क्लेश दग्ध हो जाते हैं तब वे आत्मा को पुनः प्राप्त नहीं होते" देह और जीव की एकता का भाव अविद्या है। कर्तृत्व का अभिमान अस्मिता है। सुख की भावना से आसक्त होकर मैत्री का बोध राग है। दुःख की भावना के कारण निवृत्ति का अनुभव करने से शत्रुता का बोध द्वेष है। मैं यह देह हूँ, ऐसा मानकर मृत्यु से भयभीत होना अभिनिवेश है। इन पांचों क्लेशों से जो बाधित नहीं, वह ईश्वर है।

वाचस्पति मिश्रने सूत्रकी व्याख्या के अन्त में यह श्लोक दिया है —

"प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम् ।

विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम् ॥"

'तत्त्वलीनोंके क्लेश प्रसुप्त, योगियोंके तनु और विषयी पुरुषोंके क्लेश विच्छिन्न और उदार (अवस्थावाले) होते हैं।' सम्प्रज्ञात-समाधि में क्लेश तनु और विवेकख्यातिमें दग्धबीज-भाव को प्राप्त होते हैं। इसीलिए ये सारे क्लेश अविद्या शब्द से व्यवहृत होते हैं। सभी क्लेश चित्त को विक्षिप्त करनेवाले हैं, इससे इनके उच्छेद में योगी को पहिले यत्न करना चाहिये।

सङ्गति — अविद्या को सभीक्लेशों का मूलकारण बताकर अब उसका यथार्थ स्वरुप दिखलाते हैं।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ २.५ ॥

अनित्य-अशुचि-दुःख अनित्य-अनात्मसु =अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा (जड़) में (क्रमसे); नित्य-शुचि-सुख-आत्म-ख्याति: = नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव अर्थात् चेतनता का ज्ञान; अविद्या है।

अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्माका ज्ञान अविद्या है। अपुण्य में पुण्य और अनर्थ में अर्थ देखना भी अविद्या है।

जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उसका भान होना यह अविद्या का सामान्य लक्षण है।

जैसे पशुओं के चार चरण होते हैं वैसे ही अविद्या के भी चार चरण हैं, जो निम्न प्रकार से हैं —

(१) अनित्य में नित्य का ज्ञान — यह सम्पूर्ण जगत् और उसकी सम्पत्ति अनित्य है, क्योंकि उत्पत्तिवाला और विनाशी है। इसको नित्य समझना भूल है।

(२) अपवित्र में पवित्रताका ज्ञान — शरीर कफ,रुधिर, मल-मूत्र आदिका स्थान होने से अपवित्र है। इसको पवित्र मानना भूल है माने अविद्या है। अन्याय, चोरी, हिंसा आदिसे कमाया हुआ धन अपवित्र है, उसको पवित्र मानना। अधर्म, पाप, हिंसा आदि से रँगा हुआ अन्तःकरण अपवित्र है, उसको पवित्र समझना भी भूल है माने अविद्या है। व्यासजी कहते हैं कि —

"स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।

कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः।।"

परमबीभत्स, कुत्सित और अपवित्र शरीर में पवित्रता की बुद्धि कैसे की जा सकती है ? (१) स्थानात् — मल-मूत्र से भरा हुआ माता का उदर ही इसकी उत्पत्ति का स्थान है। (२) बीजात् — शुक्र और शोणित ही इसका बीज है। (३) उपष्टम्भात् — {वातपित्तश्लेष्मोपष्टम्भात्।} माता के द्वारा खाया-पिया अन्नादि का रस ही अर्थात् वात,पित्त और कफ ही इसकी उपादान सामग्री है।

(४) निःस्यन्दात् — {प्रस्वेदमूत्रपुरीषादिमलाजस्रनिष्यन्दात्।} नौ द्वारों से तथा रोम-छिद्रों से कुछ न कुछ (क्षरण) हमेशा बहता ही रहता है। (५) निधनात् (मरणात्) —और थोड़े समय के बाद मर जाता है। (६) कायमाधेयशौचत्वात् — रात-दिन इसे शुद्धि की अपेक्षा रहती है, मुर्दे को छूकर भी स्नान करना पड़ता है इसलिये भी शरीर को अशुद्ध कहा गया है।

(३) दुःख में सुखका ज्ञान — संसारके सब विषय दुःखरूप हैं, उनमें सुख समझना भूल है।

(४) अनात्म (प्रकृति के २४ जड़ पदार्थों) में आत्मज्ञान — शरीर, इन्द्रिय और चित्त — ये सब अनात्म (जड़) हैं इनको ही आत्मा समझना। इसतरह चार प्रकारके भेद वाली अविद्या है, यही बन्धन का मूल कारण है।

समाधिपाद के आठवें सूत्र में "विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् अतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥१.८॥" विपर्यय (अविद्या) को वृत्तिरूपसे बताया है और यहाँ अविद्या आदि क्लेश संस्काररूपसे बतलाये गये हैं।

"सद्रूपा न त्वभावोऽसौ मिथ्याबुद्धिस्वरूपिणी।

नितरामप्यसद्द्रव्ये सद्बुद्धिर्जायते तया ॥ ८८ ॥ योगसूत्रसारः"

इस अविद्या के प्रभावसे मायारुपी असत् जगत् में सत्य बुद्धि हो जाती है, जैसे जादूके खेल में देखी हुई चीजों को बच्चे सच्ची समझ लेते हैं। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान से जो विपरीतज्ञान है वही अविद्या है।

"अनात्मन्यात्मविज्ञानम् असतः सत्स्वरुपता।

सुखाभावे तथा सौख्यं माया विद्या-विनाशिनी ॥[ग.पु.]"

"अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मतिः ।

अविद्यातरुसंभूतिबीजमेतद् द्विधा स्थितम् ॥"

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।२.१६।।श्रीमद्भगवद्गीता"

असत् वस्तु का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों का ही तत्त्व, तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों के द्वारा देखा गया है।

"अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति।।२.१७।।श्रीमद्भगवद्गीता"

उस वस्तु को तुम अविनाशी जानों, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इस अव्यय का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में गोकर्ण जी कहते हैं —

"देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।

पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥ ७९ ॥" श्रीमद्भागवतपुराणम्/माहात्म्य (पाद्मे)/अध्यायः ०४

प्रभुभक्ति में निष्ठा रखने वाले हे जीव ! तू इस हाड़, मांस और रुधिर वाले शरीर का अभिमान छोड़, स्त्रीपुत्रादिक की ममता को सदा दूर कर, क्षणभर में विनष्ट होने वाले इस जगत् को सदा देख और वैराग्यराग का रसिक बन।

तथाऽनर्थे अर्ज्जनरक्षणादिना दुःखबहुलतया अपुरुषार्थे धनादौ अर्थप्रत्ययः|| अनर्थ में अर्थ की प्रतीति होना भी अविद्या है। सभी जानते हैं कि धन कमाने में परिश्रम करना पड़ता है और उसके रक्षण में भी बहुत चिन्ता करनी पड़ती है कि कहीं अयोग्य हाथों में न पड़ जाय, इस प्रकार धन भी शाश्वत सुख का कारण नहीं है।

स्वामी श्रीशंकराचार्यजी ने भी कहा है कि —

अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् |

पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः ।।२९।।

यह बात पक्की है इसे आप निश्चितरुप से जानते रहें कि धन खतरे का स्रोत है। उस धनसे असली खुशी मिलेगी इसका कोई ठिकाना नहीं है। जिसके पास धन है, वह पुत्र पर भी संदेह करता है अथवा पुत्रसे भी उसे भय होता है, वह हमेशा आतंक की स्थिति में रहता है। इस स्थिति का कोई अपवाद नहीं है।

“सद्रूपा न त्वभावोऽसौ मिथ्याबुद्धिस्वरुपिणी।

नितरामप्यसद्द्रव्ये सद्बुद्धिर्जायते तया ॥ ८८ ॥
योगसूत्रसारः”

सङ्गति — इस अविद्या के कारण सबसे प्रथम जब चित्त और आत्मा में विवेक का (पृथक्करण का) अभाव हो जाता है तब जड़ चित्तमें आत्माका भाव आरोपित हो जाने से उसमें और आत्मा में अभिन्नता प्रकट होने लगती है; इससे अस्मिता (मैं हूँ) क्लेश उत्पन्न होता है, यह अविद्या का प्रथम कार्य है। जिसका लक्षण अगले सूत्र में बतलाया गया है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ २.६ ॥

दृग्-दर्शन-शक्त्यो: = दृक् शक्ति और दर्शनशक्ति का; एकात्मता-इव = एकरुप जैसा (भान) होना; अस्मिता = अस्मिता नामवाला (क्लेश) है।

दृक् शक्ति और दर्शनशक्ति इन दोनों का एक स्वरुप-जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है।

पुरुष द्रष्टा है, चित्त दिखानेवाला उसका एक करण है। पुरुष चैतन्य है, चित्त जड़ है। पुरुष क्रियारहित है, चित्त प्रसवधर्मी अर्थात् क्रियावाला है। पुरुष केवल है, चित्त त्रिगुणमय है। पुरुष अपरिणामी है, चित्त परिणामशील है। पुरुष स्वामी और चित्त उसकी ‘स्व’ — मिलकीयत है। इस प्रकार ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। पर अविद्या के कारण दोनों में भेद नहीं दीखता है। भोक्ता और भोग्य ये दोनों अत्यन्त विभक्त हैं , परन्तु अत्यंत सामीप्य के कारण जब ये दोनों आपस में मिल जाते हैं तभी भोग सम्भव होता है। यदि अपने द्रष्टा स्वरुप का ज्ञान हो जाय तो कैवल्य ही होता है, फिर कैसा भोग ? अर्थात् फिर भोग सम्भव नहीं। जैसा कि पञ्चशिखाचार्य ने कहा है — बुद्धितः परं पुरुषम् आकार-शील-विद्यादिभिर् विभक्तम् अपश्यन् कुर्यात् तत्रात्म-बुद्धिं मोहेन[पञ्चशिख]इति || पुरुष का आकार माने स्वरुप सदा विशुद्ध है । पुरुष का शील उदासीनता है । पुरुष विद्या-रुप माने चैतन्य है और बुद्धि अविशुद्ध, अनुदासीन और जड़ है उस जड़ बुद्धिमें आत्मबुद्धि कर लेना अविद्या की बेटी अस्मिता है। {इसीको अहंकार भी कहते हैं} (पुरुष) बुद्धि से परे पुरुषको स्वरुप, शील

और अविद्या आदि क्लेशसे अलग न देखता हुआ मोह (अविद्या) से बुद्धि (चित्त) में आत्मबुद्धि कर लेता है। इस प्रकार जब अस्मिता हो जाती है तब —

"असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१६.१४।। श्रीमद्भगवद्गीता"

"यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूंगा", "मैं ईश्वर हूँ और भोगी हूँ", "मैं सिद्ध पुरुष हूँ", "मैं बलवान और सुखी हूँ",।

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।

गुणकर्तत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।। (सांख्य कारिका २०)

इसलिए, [क्योंकि] उस पुरुष के संपर्क से अचेतन बुद्धि (सूक्ष्म शरीर) चेतन जैसा दृश्यमान होने लगता है, और निष्क्रिय [उदासीन] पुरुष गुणों के कर्तृत्व से क्रियाशील जैसा प्रतीत होने लगता है। जैसे लोहेका गोला अग्नि के संयोग से लाल-लाल दिखने लगता है और जला भी देता है। ऐसे ही चेतन के गुणों का बुद्धि में आरोप करके मैं शान्त आकारवाला हूँ , जागरूकता मेरा स्वभाव है तथा मैं विद्यावाला हूँ। यही बुद्धि और चेतन-पुरुष में परस्पर आरोप है और यह जो अस्मिता नामवाला अहंकार है, यही भोग का हेतु है।

"कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।१३.२१।। श्रीमद्भगवद्गीता"

कार्य (शरीर) और करण (इन्द्रियों) के द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें प्रकृति हेतु कही जाती है और सुखदुःखोंके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा जाता है।

"पुरुषस्य तथा बुद्धेरत्यन्तं सुविभक्तयोः ।

मध्ये चैकात्मिका बुद्धिरस्मितेत्यभिधीयते ॥ ८९ ॥ योगसूत्रसारः"

इस प्रकार पुरुष और चित्त में अविद्या के कारण एक-जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है। इसीको हृदय-ग्रन्थि भी कहते हैं। यही असङ्गपुरुष और चित्त का परस्पर अध्यारोप है। इस अध्यारोपसे आत्मामें बन्धन का आरोप होता है।

उपनिषद में भी कहा है कि — "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत् केन कं विजानीयाद्येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति॥१४॥ बृहदारण्यकोपनिषद द्वितीयोऽध्यायःचतुर्थं ब्राह्मणम्" "क्योंकि जब द्वैत होता है, तब ही कोई दूसरे को सूंघता है, कोई दूसरे को देखता है, कोई दूसरे को सुनता है, कोई दूसरे से बोलता है, कोई दूसरे के बारे में सोचता है, कोई दूसरे को जानता है। लेकिन जब सब कुछ आत्म ही बन गया है, तो उसे क्या सूंघना चाहिये और किसके माध्यम से, क्या देखना चाहिये और किसके माध्यम से, क्या सुनना चाहिये और किसके माध्यम से, क्या बोलना चाहिये और किसके माध्यम से, क्या सोचना चाहिये और किसके माध्यम से, क्या जानना चाहिये और किसके माध्यम से जानना चाहिये? जिस से यह सब जाना जाता है – उस मेरे प्रिय, विज्ञाता को कौन किससे कैसे और क्या जाने?"

"यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति ॥ – तैत्तिरीयोपनिषत् २-७-५" न हि तस्माद्विदुषः अन्यद्वस्त्वन्तरमस्ति भिन्नं यतो बिभेति । अविद्यया यदा उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवतीति हि युक्तम् ।

जब हमारी 'अन्तरात्मा' स्वयं के लिए 'ब्रह्म' में स्वल्पमात्र भी भेद करती है, तो वह भयभीत होता है; जो विद्वान् मननशील नहीं है, उसके लिए स्वयं 'ब्रह्म' ही एक भय बन जाता है। जिसके विषय में 'श्रुति' का यह वचन है। *द्वितीयाद्वै भयं भवति॥*(बृहदारण्यक उपनिषद्:१.४.२) . निश्चित रुप से, यह दूसरी इकाई से ही है इसीलिये भय उत्पन्न होता है।

मुण्डक-उपनिषद में इस ग्रन्थिके भेदनका उपाय विवेकख्याति बतलाया है। यथा — "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥९॥ मुण्डकोपनिषद् द्वितीयो मुण्डकःद्वितीयः खण्डः"

उस कार्यकारण स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही मनुष्य के हृदय की सारी ग्रथियाँ खुल जाती हैं, समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, तथा मनुष्य के (प्रारब्धादि) कर्मों का क्षय हो जाता है, जब उस 'परतत्त्व' का दर्शन हो जाता है, जो एक साथ ही अपरा सत्ता एवं 'परम सत्ता' है।

पुरुष से प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्तकी संज्ञा अस्मिता है और पुरुष एवं चित्तमें अभिन्नताकी प्रतीति अस्मिता क्लेश है। पुरुष और चित्तमें भेद-ज्ञान विवेकख्याति है।

सङ्गति — इस अस्मिता क्लेश के कारण मन, इन्द्रयों एवं शरीरमें आत्मभाव अर्थात् ममत्व और अहमत्व पैदा हो जाता है और उनके सुख पहूँचानेवाले विषयोंमें और वस्तुओंमें राग उत्पन्न हो जाता है, जिसका लक्षण अगले सूत्रमें कहते हैं।

सुखानुशयी रागः ॥ २.७ ॥

सुख-अनुशयी = सुख भोगने के पीछे जो चित्तमें उसके भोगने की इच्छा रहती है; रागः = उसका नाम राग है। सुखानुजन्मा रागः ||

सुख भोग के पीछे जो चित्तमें सुख को भोगने की इच्छा रहती है, वह राग नाम का क्लेश है।

शरीर, इन्द्रियों और मनमें आत्माध्यास हो जानेपर जिन वस्तुओं और विषयोंसे सुख प्रतीत होता है, उनमें और उनके प्राप्त करने के साधनों में जो इच्छा-रुप तृष्णा और लोभ पैदा हो जाता है, उसके जो संस्कार चित्त में गहरे जम जाते हैं, उसीका नाम राग-क्लेश है।

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३.३४।। श्रीमद्भगवद्गीता"

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें (प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें) मनुष्यके राग और द्वेष व्यवस्थासे (अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके (पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले) शत्रु हैं।

यदि सभी जीव अपनीअपनी प्रकृतिके अनुरूप ही चेष्टा करते हैं प्रकृतिसे रहित कोई है ही नहीं तब तो पुरुषके प्रयत्नकी आवश्यकता न रहनेसे विधिनिषेध बतलानेवाला शास्त्र निरर्थक होगा इसपर यह कहते हैं इन्द्रिय इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् सभी इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें राग और द्वेष स्थित हैं अर्थात् इष्टमें राग और अनिष्टमें द्वेष ऐसे प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष दोनों अवश्य रहते हैं। वहाँ पुरुषप्रयत्नकी और शास्त्रकी आवश्यकताका विषय इस प्रकार बतलाते हैं शास्त्रानुसार बर्तनेमें (आचरणमें) लगे हुए मनुष्यको चाहिये कि वह पहलेसे ही रागद्वेषके वशमें न हो। अभिप्राय यह कि मनुष्यकी जो प्रकृति है वह रागद्वेषपूर्वक ही अपने कार्यमें मनुष्यको नियुक्त करती है। तब स्वाभाविक ही स्वधर्मका त्याग और परधर्मका अनुष्ठान होता है। परंतु जब यह जीव प्रतिपक्षभावनासे रागद्वेषका संयम कर लेता है तब केवल शास्त्रदृष्टिवाला हो जाता है फिर यह प्रकृतिके वशमें नहीं रहता। इसलिये (कहते हैं कि) मनुष्यको

रागद्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये क्योंकि वे (रागद्वेष) ही इस जीवके परिपन्थी हैं अर्थात् चोरकी भाँति कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले हैं।

सङ्गति — यह राग ही द्वेषका कारण है, क्योंकि चित्त में राग के संस्कार दृढ़ हो जाने पर जिन वस्तुओं से शरीर, इन्द्रियों और मन को दुःख प्रतीत हो अथवा जिनसे सुखके साधनों में विघ्न पड़े, उनसे द्वेष होने लगता है। अतः अब अगले सूत्र में द्वेष का लक्षण कहते हैं।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ २.८ ॥

दुःख-अनुशयी, दुःखानुजन्मा = दुःख के अनुभव के पीछे जो तिरस्कार (घृणा) की वासना चित्तमें रहती है उसको ; द्वेषः = द्वेष कहते हैं।

दुःख के अनुभव के पीछे जो तिरस्कार (घृणा) की वासना चित्तमें रहती है, उसको द्वेष कहते हैं। जिन वस्तुओं अथवा जिन साधनों से दुःख प्रतीत हो, उनसे जो घृणा और क्रोध हो, उसके जो संस्कार चित्तमें पड़े, उसको द्वेष-क्लेश कहते हैं।

“सुखे तत्साधने गर्धो राग इत्याभिधीयते।

दुःखे तत्साधने मन्युर्द्वेष इत्यभिधीयते ॥ ९० ॥ योगसूत्रसारः”

अर्थात् जब कभी भी हम किसी भी सुख को भोगते हैं तो भोगने के बाद हमारे अंतःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) में उस सुख और जिन साधनों से हमें सुख प्राप्त हुआ था उनके प्रति पुनः भोग करने की जो इच्छा है, उस इच्छा विशेष को या लोभ विशेष को राग नाम का क्लेश कहते हैं। तथा दुःख और उसके साधनों के प्रति जो क्रोध होता है उसे द्वेष नामक क्लेश कहते हैं।

“आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।” आशा (अपेक्षा) करना ही परम दुःख है और निराशा (नैरपेक्ष्य) का भाव परम सुख है | भगवान के प्रति राग और भौतिक-प्रपञ्च (जगज्जाल) के प्रति द्वेष अनुचित नहीं है।

सङ्गति — द्वेष-क्लेश ही अर्थात् शरीर, इन्द्रियों आदिको दुःखोंसे बचानेके संस्कार ही अभिनिवेशके कारण हैं, जैसा कि अगले सूत्रसे स्पष्ट होता है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ २.९ ॥

स्वरसवाही = स्वभाव से बहनेवाला (जो कुदरती तौरपर बह रहा है); विदुषः-अपि = विद्वान के लिये भी; तथारूढः = ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खोंके लिये वह); अभिनिवेशः = अभिनिवेश क्लेश है। अभिनिवेश माने मरने का भय अर्थात् जीवन के प्रति ममता है ।

“विदुषोऽपि सदाऽसक्तिर्जीवने वर्तते खलु।

अभिनिवेश इत्येषः क्लेशस्तत्रास्ति कारणम् ॥ ९१ ॥ योगसूत्रसारः”

(जो मरनेका भय हर एक प्राणी में) स्वभावतः बह रहा है और विद्वानोंके लिये भी ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खोंके लिये) वह अभिनिवेश नामवाला क्लेश है।

स्वरसवाही — स्वस्य रसेन संस्कारमात्रेण वहतीति स्वरसवाही। स्वरस माने अपनी वासना द्वारा; वाही माने प्रवृत्त होरहा है अर्थात् मरणभय के संस्कार जो जन्म-जन्मान्तरोंसे प्राणीमात्रके चित्तमें स्वभावसे ही चले आरहे हैं।

विदुषः — यह शब्द यहाँ केवल शब्दोंके जाननेवाले विद्वान् के लिये प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् वह पुरुष जिसने कोरे शास्त्रोंको पढ़ा है और क्रियात्मकरूपसे योगद्धारा अनुभव तथा यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। अभिनिवेश का अर्थ है 'मा न भूवं भूयासमिति, जीव्यासम् इति' = ऐसा न हो कि मैं न होऊं, किन्तु मैं बना रहूँ। 'शरीरविषयादिभिः मम वियोगो मा भूदिति,धनं मे मा नश्यतु, सदैव भूयादिति।' = शरीर और विषयादि (रुप-रसादि) से मेरा वियोग न हो। "अभिनिवेशोमरण-भयम्।" चींटी से लेकर ब्रह्मा तक को मृत्युका भय सताता है। जब कि आत्मा अजर-अमर है, जैसा कि सभी उपनिषदों में तथा गीता के दूसरे अध्याय में भी बतलाया है —

"यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥ १५॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् द्वितीयोऽध्यायः"

जब योगी इस शरीर में स्थित आत्म तत्व के सत्य के द्वारा ब्रह्म तत्व के सत्य को आत्म-प्रकाशित सत्ता के रूप में अनुभव कर लेता है, तब उस सत्ता को अजन्मा, शाश्वत तथा प्रकृति के सभी तत्वों सें मुक्त और शुद्ध जान कर वह सभी बन्धनों से छूट जाता है।

"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।२.१९।। श्रीमद्भगवद्गीता"

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसको मरा समझता है वे दोनों ही नहीं जानते हैं, क्योंकि यह आत्मा न मरता है और न मारा जाता है।

"न जायते म्रियते वा कदाचि न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२.२०।। श्रीमद्भगवद्गीता"

यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है और न यह एक बार होकर फिर अभावरुप होने वाला है। यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता।

"वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२.२१।। श्रीमद्भगवद्गीता"

हे पार्थ ! जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य और अव्ययस्वरुप जानता है, वह कैसे किसको मरवायेगा और कैसे किसको मारेगा?

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२.२२।। श्रीमद्भगवद्गीता"

जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही देही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होता है।

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२.२३।। श्रीमद्भगवद्गीता"

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते और न अग्नि इसे जला सकती है ; जल इसे गीला नहीं कर सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती।

“अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२.२४।। श्रीमद्भगवद्गीता”

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य (काटी नहीं जा सकती), अदाह्य (जलाई नहीं जा सकती), अक्लेद्य (गीली नहीं हो सकती) और अशोष्य (सुखाई नहीं जा सकती) है; यह नित्य, सर्वगत, स्थाणु (स्थिर), अचल और सनातन है।

“अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२.२५।। श्रीमद्भगवद्गीता”

यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का अविषय और यह आत्मा अचिन्त्य अर्थात् मनका अविषय और यह आत्मा अविकारी कहा जाता है; इसलिए इसको इस प्रकार जानकर तुमको शोक करना उचित नहीं है।

“अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे । अन्तप्राप्तिं सुखायाहु दुःखमन्तरमन्तयोः ॥१२-१७३-३५॥ महाभारतम्-शांतिपर्व”

ज्ञानी पुरुष अन्तिम स्थितियों में रमण करते हैं, मध्यवर्ती स्थिति में नहीं। अन्तिम स्थितिकी प्राप्ति सुखस्वरूप बताई जाती है और उन दोनों के मध्यकी स्थिति दुःखरूप कही गयी है। {धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष में से मोक्ष अन्तिम है और सालोक्य,सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामवाली मुक्तियों में से सायुज्य अन्तिम है} यह अभिनिवेश नामवाला क्लेश अत्यंत सूक्ष्म रुप में सदैव कार्यरत है। इसलिए जो निरंतर तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान रुपी साधना त्रय का आश्रय लेकर जीवन में आगे बढ़ते हैं वे धीरे-धीरे मृत्यु के भय से मुक्त होते चले जाते हैं और जब किसी योगी को पूर्ण रुप से यथार्थ का या तत्त्वज्ञान का अनुभव हो जाता है तब वह न तो स्वयं की मृत्यु के भय से ग्रसित होता है और ना ही किसी भी अन्य प्राणी की मृत्यु पर व्यथित होता है।

फिर भी राग-द्वेष के कारण शरीरमें आत्माध्यास हो जाता है और मूर्खसे लेकर विद्वान् तक अपने वास्तविक आत्मस्वरुपको भूलकर भौतिक शरीरकी रक्षामें लगे रहते हैं और उसके नाश से घवराते हैं। इस मृत्युके भयके जो संस्कार चित्तमें पड़ जाते हैं, इन्हीं को अभिनिवेश क्लेश कहते हैं। यह अभिनिवेश क्लेश ही सकाम कर्मोंका कारण है, जिनकी वासनाऐं चित्तभूमिमें बैठकर वर्तमान और अगले जन्मों (आवागमन) को देनेवाली होती है।

सङ्गति — सब क्लेशोंके बीजरूप होनेसे जो पाँचों क्लेश त्यागने योग्य हैं, उन पाँचों क्लेशों और उन क्लेशोंकी प्रसुप्त,तनु, विच्छिन्न और उदार-रूप चार अवस्थाओंका पूर्व सूत्रोंमें निरुपण किया गया है। परन्तु प्रसंख्यान-रूप (विवेक- ख्यातिरुप) अग्नि द्वारा दग्ध-बीज-भावको प्राप्त हुए क्लेशोंकी पाँचवीं अवस्थाका क्यों नहीं वर्णन किया गया ? इस शङ्का के निवारणार्थ अगला सूत्र है —

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ २.१० ॥

ते = वे (पूर्वोक्त पाँच क्लेश); प्रतिप्रसवहेयाः = (असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा) चित्त के अपने कारणमें लीन होनेसे त्यागने अर्थात् निवृत्त करने योग्य हैं; सूक्ष्माः = क्रिया-योगसे सूक्ष्म और प्रसंख्यान (विवेकख्यातिरुप) अग्निसे दग्ध-बीज हुए।

वे पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रिया-योगसे सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्निसे दग्ध-बीज हो गये हैं, असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा चित्तके अपने कारणमें लीन होनेसे निवृत्त करने योग्य हैं।

ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति। (व्यासभाष्य)

वे पाँच क्लेश, जो दग्धबीज के सदृश हैं, योगीके चरिताधिकार चित्तके अपने कारण में लीन होते समय उसी चित्तके साथ लीन हो जाते हैं।

चित्तके प्रलय अर्थात् अपने कारणमें लीन होनेका नाम 'प्रतिप्रसव' और त्यागनेयोग्य होनेका नाम 'हेय' है। ('प्रसव' का अर्थ उत्पत्ति है,उससे विरुद्ध 'प्रतिप्रसव' का अर्थ प्रलय अर्थात् अपने कारणमें लीन होने का है।

ये अविद्या आदि पञ्च क्लेश अत्यंत सूक्ष्म हैं। ये चित्त रुपी जिस प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, उसी में लीन होने योग्य होने से त्याज्य हैं।

क्रियायोग (अथवा सम्प्रज्ञात समाधि) से सूक्ष्म किये हुए क्लेश जब प्रसंख्यान (विवेकख्याति) रूप अग्निसे दग्ध-बीजके समान हो जाते हैं, तब असम्प्रज्ञात- समाधिद्वारा समाप्त अधिकारवाले चित्तके अपनी प्रकृतिमें लीन होनेसे वे क्लेश भी उसके साथ लीन होकर निवृत्त हो जाते हैं। प्रतिप्रसव के अतिरिक्त उन क्लेशोंके निरोधके लिये अन्य किसी यत्नकी आवश्यकता नहीं है।

सङ्गति — क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात समाधि) से तनु किये हुए अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्तिरुप बीजभावके सहित जो तनु क्लेश हैं, वे तनुरुप क्लेश किस विषयक प्रयत्न से दूर होते हैं ? इसको अगले सूत्रमें बतलाते हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ २.११ ॥

ध्यानहेया: = (प्रसंख्यान-संज्ञक) ध्यानसे त्यागने योग्य हैं ; तद्वृत्तयः = (क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ) सुख-दुःख और मोह रुप वाली, जो क्रिया-योगद्वारा तनू कर दी गयी हैं।

"चित्तस्य विलयेनैते हेयाः क्लेशाश्च चित्तजाः।

क्लेशानां वृत्तयः स्थूलाः हेया ध्यानेन योगिना ॥ ९२ ॥ योगसूत्रसारः"

क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ जो क्रिया-योगद्वारा तनू कर दी गयी हैं, प्रसंख्यान (विवेकख्याति) संज्ञक ध्यानसे त्यागने योग्य हैं। (जबतक कि वे सूक्ष्म होकर दग्ध-बीजके सदृश न हो जायँ।

अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्तिरुप बीजभावके सहित जो चित्तमें क्लेश स्थित हैं, वे क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि) से तनु करते हुए प्रसंख्यान (विवेकख्याति) रुप ध्यानसे त्यागने योग्य हैं, जबतक कि वे सूक्ष्म होते-होते दग्ध-बीजके सदृश न हो जायँ। अर्थात् तबतक प्रसंख्यानविषयक प्रयत्न करते रहना चाहिये।

जैसे वस्त्रका स्थूल मल {धूल आदि} प्रक्षालन आदिसे सुगमतासे दूर किया जा सकता है, परन्तु सूक्ष्म-मल {तेल,घी आदि} विशेष यत्नसे (साबुन,क्षार आदि लगाकर, पत्थर पर रखकर लकड़ी आदि से पीटकर,गर्म पानी में उबालकर) दूर करना होता है, ऐसे ही क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ कम दुःख देनेवाली हैं (छोटे शत्रु हैं); किंतु क्लेशोंकी सूक्ष्म वृत्तियाँ अधिक दुःखदायी हैं (महान शत्रु हैं।) अर्थात् उदार क्लेशोंकी वृत्तियाँ स्थूलरुपसे ही वर्तमान रहतीं हैं, उनको क्रिया-योग अर्थात् तप,स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान के द्वारा (अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि) द्वारा तनु करना चाहिये। ये तनु किये हुए क्लेशों की सूक्ष्म-वृत्तियाँ स्थूल-वृत्तयों से अधिक दुःख देनेवाली और महान शत्रु हैं। इसलिये इनकी निवृत्ति करने के लिये विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। इन तनु किये हुए क्लेशोंकी सूक्ष्म-वृत्तियोंको प्रसंख्यान माने सम्यग्दर्शनरुप ध्यान की अग्नि से दग्ध-बीजके सदृश कर देना चाहिये; फिर ये दग्ध-बीज होकर असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तके प्रलय होनेपर उसके साथ स्वयं ही प्रलीन हो जातीं हैं, जैसा कि पूर्व सूत्रमें बतलाया गया है।

सङ्गति — क्लेश क्यों छोड़ने चाहिये ? क्योंकि क्लेश ही सकाम कर्मोंके कारण हैं, जिनकी वासनाऐं मनुष्यको संसारचक्रमें डालतीं हैं। अतः अब जन्म,आयु और भोग के हेतु, क्लेश और कर्माशय के बारे में अगले सूत्रमें बताते हैं।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ २.१२ ॥

क्लेशमूलः = क्लेश जिसकी जड़ है ऐसी; कर्माशयः = कर्मकी वासना; दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः = वर्त्तमान और आनेवाले जन्मोंमें भोगनेयोग्य है।

क्लेश जिसकी जड़ है ऐसी कर्मोंकी वासना वर्त्तमान और अगले जन्मोंमें भोगनेयोग्य है।

"क्लेशे सत्येव वर्तेते धर्माधर्मौ हि जीवने ।

वेदनीयौ यथा दृष्टे तथाऽदृष्टे च जन्मनि ॥ ९३ ॥ "

"सुखदुःखे तयोर्जाते विपाकस्त्रिविधस्तयोः।

क्लेशमूलो विपाकोऽयं जात्यादिर्जीवने सदा ॥ ९४ ॥ योगसूत्रसारः"

सूत्रमें 'कर्माशयः' शब्दसे कर्माशय का स्वरूप, 'क्लेशमूलः' से उसका कारण और 'दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः' से उसका फल बतलाया गया है। जिन महान् योगियोंने क्लेशोंको निर्बीज समाधिद्वारा उखाड़ दिया है, उनके कर्म निष्काम अर्थात् वासनारहित केवल कर्तव्यमात्र रहते हैं, इसलिये उनको इनका फल भोग्य नहीं है। जब चित्तमें क्लेशोंके संस्कार जमे होते हैं, तब उनसे सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं। बिना रजोगुण के कोई क्रिया नहीं हो सकती। इस रजोगुणका जब सत्वगुणके साथ मेल होता है, तब ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्यके कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है और जब तमोगुणके साथ मेल होता है, तब उसके उलटे— अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्यके कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। यही दोनों प्रकारके कर्म शुभ-अशुभ, शुक्ल-कृष्ण, और पाप-पुण्य कहलाते हैं। जब तम तथा सत्व दोनों रजोगुणसे मिले हुए होते हैं, तब दोनों प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है और ये कर्म पुण्य-पापसे मिश्रित कहलाते हैं। इन कर्मोंसे इन्हीं के अनुकूल फल भोगनेके बीज-रूप जो संस्कार चित्तमें पड़ते हैं, उन्हींको वासना कहते हैं। यही मीमांसकोंका अपूर्व और नैयायिकोंका अदृष्ट है, इसीको सूत्रमें कर्माशयके नामसे बतलाया गया है।

"आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयो धर्माधर्मरुपः संस्कारः। स द्विविधः। पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रभवः दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।"

पुण्य कर्माशय मनुष्योंसे ऊंचे देवताओं आदिके सदृश भोग देनेवाले होते हैं। पाप कर्माशय मनुष्यसे नीचे पशु-पक्षी आदिके तुल्य भोग देनेवाले होते हैं। पाप और पुण्यमिश्रित कर्माशय मनुष्योंके समान भोग-फल देनेवाले होते हैं। ऊपर तीन श्रेणियोंमें बतलाये हुए कर्मोंमें केवल शरीर अथवा इन्द्रियाँ कारण नहीं होतीं, वास्तविक कारण उनमें मनोवृत्ति होती है। इस हेतु वह मनोवृत्ति ही वास्तविक कर्म है, जिसकी प्रेरणासे शरीर तथा इन्द्रियोंमें क्रिया होती है। उसीसे वासनाओंके संस्कार पड़ते हैं। ये मनोवृत्तियाँ अनन्त हैं और इनसे उत्पन्न हुए कर्माशय अथवा फल-भोगके संस्कार भी अनन्त हैं। इस प्रकार मनोवृत्तिरुप कर्मोंसे वासनाऐं और वासनाओंसे कर्म उत्पन्न होते रहते हैं। यह क्रम बराबर चलता रहता है जबतक कि उनके प्रतिपक्षी या उनसे बलवान् कर्म उनको दबा न दें। इसीलिए कहा जाता है- भगवान के घर में देर तो हो सकती है लेकिन अंधेर नहीं हो सकती । कुछ कर्माशय वर्तमान जन्ममें, कुछ अगले जन्ममें और कुछ दोनों जन्मोंमें फल देते हैं। जब तक ये कर्म अपना फल नहीं दे लेते तब तक सोते रहते हैं इसीलिये इसको कर्माशय कहा जाता है। इसको विस्तारपूर्वक अगले सूत्रमें बतलाया जायगा।

"रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः ।

कर्माण्यस्य भवेद् दोषः पुण्यापुण्यमिति स्थितिः।।२.२१।।

तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः ।

नित्यः सर्वत्रगो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।।२.२२ ।। ॥ ईश्वरगीता कूर्मपुराणे ॥ कूर्मपुराणम्-उत्तरभागः/द्वितीयोऽध्यायः"

जब महापुरुषों के प्रति उपकार या अपकार किया जाता है तब कर्माशय शीघ्र ही फल दे देता है , जैसे शिलाद मुनि का कुमार नन्दीश्वर देवता बन गया और महाराज नहुष देवता से अजगर योनि में चले गए। {शिवजी के वाहन नन्दीश्वर पुरुषार्थ अर्थात् परिश्रम के प्रतीक हैं।} देवता की आराधना यदि तीव्रसंवेग से की जाय तो इसी जन्म में फल मिल सकता है। विश्वामित्र आदि ने तप के प्रभावसे इसी जन्म में उत्तम जाति और आयु प्राप्त की यह बात प्रसिद्ध ही है। और भी ऐसी बहुतसी कथाएं मिलती हैं जिनमें शीघ्र ही जात्यन्तर हो गया |

जैसे कि — ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर भगवान कार्तिकेय एक बन में रहते थे। उन्होंने यह नियम बना दिया था कि जो भी स्त्री यहाँ आएगी वह लता बन जाएगी। इसलिए जैसे ही उर्वशी ने उस वन में प्रवेश किया, वह लता बन गई।

"त्रिभिर्वर्षैः त्रिभिर्मासैः त्रिभिर्पक्षैः त्रिभिर्दिनैः।

अत्युत्कटैः पापपुण्यैः इहैव फलमश्नुते।।"

उत्कट पापों या पुण्यों का फल इसी जन्म में तीन वर्ष, तीन मास, तीनपक्ष या तीन दिन में उसके कर्ता को भोगना पड़ता है।

"काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।४.१२।। श्रीमद्भगवद्गीता"

कर्मोंकी सिद्धि (फल) चाहनेवाले मनुष्य देवताओंकी उपासना किया करते हैं; क्योंकि इस मनुष्यलोकमें कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि जल्दी मिल जाती है।

"तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति। यतः कर्मणां शुभाशुभानां क्लेशा एव निमित्तम्।"

नारकीय प्राणियों के लिये उनके वर्तमान जन्म के कर्माशयके भोग में परिवर्तन नहीं होता तथा जिन योगियों के अविद्यादि क्लेश क्षीण हो गये हैं उनके भी भविष्य जन्म के कर्माशय ही समाप्त हो जाते हैं अतः भोगकी सम्भावना ही नहीं रहती तो फिर परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं होता। क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मोंका निमित्त अविद्या आदि क्लेश ही होते हैं।

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१८.१७।। श्रीमद्भगवद्गीता"

जिस पुरुष में अहंकार का भाव नहीं है और बुद्धि किसी (गुण दोष) से लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न मारता है और न (पाप से) बँधता है।

सङ्गति — इन कर्माशयोंके अनुसार ही इनका फल, जाति, आयु और भोग होता है; यह बतलाते हैं।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ २.१३ ॥

सति मूले = अविद्या आदि क्लेशोंकी जड़के विद्यमान होते हुए; तद्विपाक: = उसका (कर्माशयका) फल; जाति-आयु-भोगाः = जाति, (जन्म) आयु (चिरकाल तक एक शरीर का सम्बन्ध रहना) और भोग (विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से सुख-दुःख के अनुभव) होते हैं।

अविद्या आदि क्लेशोंकी जड़के होते हुए उस (कर्माशयका) फल जाति, (जन्म) आयु (जीवन काल) और भोग (सुख दुःख) होता है।

"जातिरायुश्च भोगश्च विपाकस्त्रिविधो मतः।

एकदेहभवादेषो नन्वेकभविको मतः ॥ ९५ ॥ योगसूत्रसारः"

मनुष्य जाति, पशु-पक्षियों की जाति, देव जाति तथा कीट पतंगों की जाति ; इन सबको 'जाति' शब्द से समझना चाहिये। बहुत कालतक एक शरीर का सम्बन्ध रहना 'आयु' शब्द का अर्थ है। इन्द्रियों के सम्बन्ध से रुप-रसादि का अनुभव करना 'भोग' शब्द का अर्थ है। कोई भी क्लेश युक्त कर्म भविष्य में इन्हीं तीन रूपों में फल देगा। 'अन्त समय जो मति सो गति' तथा गीता और उपनिषद् में भी ऐसा ही बतलाया गया है। यथा —

"यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।८.६।। श्रीमद् भगवद्गीता"

हे कौन्तेय ! (यह जीव) अन्तकाल में जिस किसी भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह सदैव उस भाव के चिन्तन के फलस्वरुप उसी भाव को ही प्राप्त होता है।

'स साध्वासाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः।

ताप्यतापकरुपेण विभातमखिलं जगत् ॥ ४०॥

प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात् ।

शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च।। ||४१||

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा।

इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः ।। ||४२||

मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते।

मायासंबन्धतश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा ॥ ||४३||

अन्तःकरणसंबन्धात्प्रमातेत्यभिधीयते ।

तथा तद्वृत्तिसंबन्धात्प्रमाणमिति कथ्यते ॥ ||४४||

अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते।

तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते ॥ ||४५||

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं स्वात्मानं भावयेत्सुधीः।

एवं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ||४६||

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः ।

स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते ॥ ||४७|| कठरुद्रोपनिषत्"

वह सत्य-असत्य कर्मों के द्वारा कभी भी संतप्त नहीं होता । विषय भोग तापक हैं और चित्त ताप्य है, चित्त एवं उसके विषयों से यह सम्पूर्ण विश्व विभासित हो रहा है ॥ [पदार्थ विज्ञान ने पदार्थ के स्पन्दनों के अनुभव करने वाले माध्यम (सैन्सर्स) खोजे हैं, भाव स्पन्दनों का अनुभव करने वाला माध्यम (सैन्सर) चित्त है। विषय-भोगों द्वारा स्पंदन उत्पन्न करने तथा चित्त द्वारा उनका अनुभव किए जाने की क्षमताओं का संयोग ही भासित होने वाले विश्वका मूल कारण है, अन्यथा कुछ नहीं है। जैसे पदार्थ द्वारा प्रकाश का परावर्तन तथा आँख द्वारा उसका अनुभव करने की क्षमता के संयोग से हर दृश्य-रुप बनता है।] वेदान्त-शास्त्रों में वर्णन मिलता है कि वह प्रत्येक आत्मा के रुप में है। सात तरह के जिन तत्वों का वर्णन किया गया है, वे ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और फल हैं, इसमें व्यावहारिक दृष्टि से भेद माना गया है। परम परमात्मा तो शुद्ध-चैतन्य स्वरुप हैं. वह माया के द्वारा निर्मित उषाधियों से सदा-सर्वदा मुक्त रहता है। मायारुप होने से वह ईश्वर है एवं अविद्या (अज्ञान) के वश में होने के कारण वह जीव हो जाता है। उसका अन्त:करण से सम्बन्ध होने से वही प्रमाता (ज्ञाता) कहा जाता है। उसके चित्त द्वारा अनुभूति के सम्बन्ध से वह प्रमाण संज्ञा को प्राप्त होता है। वह चैतन्य युक्त ब्रह्म जब तक खोजा जाता है, तब तक प्रमेय है। और वही जब ज्ञात हो जाता है, तब फल संज्ञक हो जाता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष, अपने आपको 'मैं सब उपाधियों से मुक्त हूँ' ऐसा मानकर मुक्तावस्था का सतत चिंतन करे। इस प्रकार जो तत्वतः जानता है, वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करने में सदा ही समर्थ होता है। मैंने वेदान्त के सर्वसिद्धान्तों का सार यथार्थरुप में कहा है। अपने कर्मों से जीव स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त होता है और स्वयं ही अवशिष्ट रुप में बचा रहता है। यह सब आत्मा का ही खेल है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा तत्व नहीं है। यही इस उपनिषद् का रहस्य है॥

ज्ञान ही क्लेशों के क्षय का हेतु है जैसा कि गीताजी में कहा गया है। —

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।४.३७।। श्रीमद्भगवद्गीता"

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरुपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है।

ऐसा ही वेद में भी कहा है। —

"तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य॥ प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्॥ तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानोयोऽकामो निष्काम आप्तकामो आत्मकाम न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति॥ ६ ॥ बृहदारण्यकोपनिषद चतुर्थोऽध्यायःचतुर्थं ब्राह्मणम्"

आसक्ति के कारण, स्थानान्तरित आत्मा अपने कार्य सहित उस परिणाम को प्राप्त करता है जिससे उसका सूक्ष्म शरीर या मन चिपक जाता है। इस जीवन में उसने जो भी कर्म किया है, उसका फल परलोक में समाप्त हो कर वह उस संसार से नये कार्य के लिए इस संसार में लौट आता है।' "इस प्रकार इच्छा करने वाला मनुष्य विचरण करता है। लेकिन जो इच्छा नहीं करता है — जो इच्छा से

मुक्त है, जिसकी इच्छा संतुष्ट है, जिसकी इच्छाका एकमात्र उद्देश्य स्वयं है — उसके अंग नहीं जाते हैं। ब्रह्म होने के कारण वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च॥२॥ बृहदारण्यकोपनिषद चतुर्थोऽध्यायःचतुर्थं ब्राह्मणम्"

"ज्ञान, कर्म और पिछले अनुभव एकसाथ मिलकर स्वयं का अनुसरण करते हैं।

"पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।१३.२२।। श्रीमद्भगवद्गीता"

प्रकृति में स्थित पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है। इन गुणों का संग ही इस पुरुष (जीव) के शुभ और अशुभ योनियों में जन्म लेने का कारण है।

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोत्ययम् |

तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ||४|| महाभारते शान्तिपर्वम् अध्याय १९९

"वीतरागजन्मादर्शनात् । (न्याय-सूत्र -३.१.२५.)" इस न्यायसूत्र से भी सराग व्यक्ति का ही जन्म होता है , यह बात सिद्ध होती है।

"यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।४.१९।। श्रीमद्भगवद्गीता"

जिसके समस्त कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरुप अग्नि के द्वारा भस्म हुये कर्मों वाले पुरुष को ज्ञानीजन पण्डित (बुद्धिमान्) कहते हैं।

"विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।

प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात् || ६.७.३५ || विष्णुपुराणम्"

जो योगी विनिष्पन्न समाधि हो जाता है, वह योग रुप अग्नि के सम्पर्क से कर्म समूह के दग्ध हो जाने से, उसी जन्म में शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥२.२.९॥ मुण्डकोपनिषद्"

हृदय की सारी ग्रथियाँ खुल जाती हैं, समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, तथा मनुष्य के कर्मों का क्षय हो जाता है, जब उस 'परतत्त्व' का दर्शन हो जाता है, जो एक साथ ही अपरा सत्ता एवं 'परम सत्ता' है।

"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।।४.१.१३।। ब्रह्मसूत्र"

उस की प्राप्ति होने पर (ज्ञान होने पर) क्रमश: परवर्ती और पूर्व के पापों का अनासक्ति और विनाश होता है, क्योंकि ऐसा ही छान्दोग्योपनिषद् में घोषित किया गया है। "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति || ३ ||

छान्दोग्योपनिषद् चतुर्थोऽध्यायः चतुर्दशः खण्डः" जैसे कमल के पत्ते से पानी नहीं चिपकता, वैसे ही इसे जानने वाले से कोई बुराई नहीं चिपकती।" इस विषयमें यह कहा गया है कि —

"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये । पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति ।

तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुं । इहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते ॥"

कर्म दो प्रकार के होते हैं। पाप और पुण्य, उनमें पापकर्मराशि को पुण्यकर्मराशि नष्ट कर देती है। इसलिए सत्कर्म करने की इच्छा करो। वह सत्कर्म इसी लोक में आचरित होता है। कवियों (प्राज्ञों) ने तुम्हारे लिये यह प्रतिपादित किया है।

"कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥ मुण्डकोपनिषद् तृतीयो मुण्डकः द्वितीयः खण्डः"

जो कामनाओं की अभिलाषा करता है तथा जिसका मन उन कामनाओं में लीन रहता है, वह उन कामनाओं के द्वारा प्रेरित हो कर वहीं-वहीं जन्म ग्रहण करता है, किन्तु जिसने अपनी कामनाओं को जीत लिया है तथा अपनी आत्मा को प्राप्त कर लिया है, ऐसे 'कृतात्मा' जन की यहीं, इसी लोक में समस्त कामनाएँ विलुप्त हो जाती हैं।

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥१.३.३॥

"शरीर को रथ एवं आत्मा को रथ का स्वामी (रथी) जानो; 'बुद्धि' को सारथी एवं मन को केवल घोड़ों की रास (लगाम) जानो।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु

गोचरान्।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥१.३.४॥ कठोपनिषद्"

"मनीषीगण इन्द्रियों को अश्व तथा इन्द्रियगोचर विषयों को उनके विचरण के मार्ग कहते हैं। तथा 'वह' जो 'आत्मा', मन तथा इन्द्रियों से युक्त है, वह भोक्ता है।

सङ्गति — जाति, आयु और भोगमें पाप और पुण्यके अनुसार सुख-दुःख मिलता है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ २.१४ ॥

ते = वे (जाति, आयु, भोग) ; ह्लाद -परिताप -फलाः = सुख-दुःख फलके देनेवाले होते हैं; पुण्य-अपुण्य-हेतुत्वात् = पुण्य तथा पाप कारण होने से।

वे (जाति,(जन्म) आयु (जीवनकाल) और भोग) हर्ष शोकरुपी (सुख-दुःख रुपी) फलके देनेवाले होते हैं, क्योंकि उनके कारण पुण्य तथा पाप हैं।

"विषयभोगगर्धस्य वृद्धिर्या दृश्यते नृषु।

परिणामो हि सा प्रोक्ता ज्ञेयोऽसौ दुःखदायनी ॥ ९६ ॥ योगसूत्रसारः"

"तापस्तु द्वेष एवासौ भोगस्य परिपन्थिनि।

भोगस्य स्मृतिहेतुस्स्यात् संस्कारो दुःखदायिनी ॥ ९७ ॥ योगसूत्रसारः"

पिछले सूत्रमें बतलाये हुए कर्माशयोंके फल जाति, आयु और भोग भी दो प्रकारके (स्वादवाले) होते हैं। एक सुख देनेवाले (मीठे स्वादवाले), दूसरे दुःख देनेवाले (कड़वे स्वादवाले)

पुण्य अर्थात् अहिंसात्मक — दूसरोंको सुख पहुंचानेवाले कर्मोंसे जाति, आयु और भोगमें सुख मिलता है। पाप अर्थात् हिंसात्मक — दूसरोंको दुःख पहुंचाने वाले कर्मोंसे दुःख मिलता है। जब व्यक्ति स्वार्थ छोड़कर दूसरोंके कल्याणार्थ उनकी यथार्थ भलाई और सुख पहुंचाने की मनोवृत्तिसे कर्मोंको करता है, तब वे कर्ताको सुख पहुंचाने का कारण होते हैं; और जब वे स्वार्थवश दूसरे प्राणियोंको काम,क्रोध,लोभ,मोहादिसे दुःख देनेकी मनोवृत्तिसे किये जाते हैं, तब वे करनेवालेको दुःखका कारण होते हैं। यही कारण है कि सर्वयोनियोंमें सुख- दुःख दोनों देखे जाते हैं। कुछ कुत्ते गलियोंमें मारे-मारे फिरते हैं, कुछ मोटरोंमें बैठते हैं, नाना प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थ खाते हैं और तीन-तीन नौकर उनकी सेवामें रहते हैं। सुख-दुःख पहुंचानेवाले कर्मोंमें भी मनोवृत्तियाँ ही कारण होतीं हैं। एक डाक्टर फोड़े का मवाद निकालने के लिये चाकू चलाता है, इससे डाक्टरके चित्तमें सुख पानेके कर्माशय बनते है, यदि कोई मनुष्य द्वेष से उसी फोड़ेमें चाकू मारता है तो उसके चित्तमें दुःख पानेके कर्माशय बनते हैं। अकर्म में भी कर्म होता है और कर्म में भी अकर्म होता है। जैसा कि श्रीकृष्णने गीतामें बतलाया है —

"कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।४.१७।।"

कर्म का तत्त्व (स्वरुप) जानना चाहिये और विकर्म का (स्वरुप) भी जानना चाहिये ; (बोद्धव्यम्) तथा अकर्म का भी (स्वरुप) जानना चाहिये (क्योंकि) कर्म की गति गहन है। तुझे यह नहीं समझना चाहिये कि केवल देहादिकी चेष्टाका नाम कर्म है और उसे न करके चुपचाप बैठ रहनेका नाम अकर्म है उसमें जाननेकी बात ही क्या है यह तो लोकमें प्रसिद्ध ही है। क्यों (ऐसा नहीं समझना चाहिये) इस पर कहते हैं कर्म का शास्त्रविहित क्रियाका भी (रहस्य) जानना चाहिये तथा विकर्म का शास्त्रवर्जित कर्मका भी (रहस्य) जानना चाहिये और अकर्मका अर्थात् चुपचाप बैठ रहनेका भी (रहस्य) समझना चाहिये। क्योंकि कर्मोंकी अर्थात् कर्म अकर्म और विकर्मकी गति उनका यथार्थ स्वरुप तत्त्व बड़ा गहन है समझनेमें बड़ा ही कठिन है।

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।४.१८।।"

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, योगी है और सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला है।

"यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।४.१९।।"

जिसके सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भ संकल्प और कामनासे रहित हैं तथा जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरुपी अग्निसे जल गये हैं, उसको ज्ञानिजन भी पण्डित (बुद्धिमान्) कहते हैं।

"त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।।४.२०।।"

जो पुरुष, कर्मफलासक्ति को त्यागकर, नित्यतृप्त और सब आश्रयों से रहित है वह कर्म में प्रवृत्त होते हुए भी (वास्तव में) कुछ भी नहीं करता है।

कर्म-सिद्धान्त बहुत गहन है, स्थूल बुद्धिसे समझ में नहीं आ सकता, एकाग्र बुद्धिसे ही समझा जा सकता है। इस कर्म-सिद्धान्त का सार यही है कि कोई भी कर्म किसीको दुःख देनेकी नीयत से न किया जाय — "मा हिंस्यात् सर्व भूतानि" वास्तवमें न कोई किसीको सुख दे सकता है न दुःख। जो मिलना है वह उसे अवश्य मिलेगा। मनुष्य दूसरोंको सुख-दुःख पहुंचानेकी नीयतसे कर्म करके अपने अन्दर सुख-दुःख पानेके कर्माशय एकत्र कर लेता है।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥

लक्ष्मणजी निषादराज से कहते हैं कि हे भाई! कोई किसी को सुख-दुःख का देने वाला नहीं है। सब अपने ही किए हुए कर्मों का फल भोगते हैं॥

न्यायसूत्र में बताया है कि —

"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।।२।।"

अर्थात् — दु:ख, जन्म, प्रवृति(धर्म-अधर्म), दोष (राग,द्वेष और मोह), और मिथ्या ज्ञान-इनमें से उत्तरोतर नाश द्वारा इसके पूर्व का नाश होने से अपवर्ग अर्थात् मोक्ष होता है। अर्थात् मनुष्य के जन्म का मुख्य कारण है उसके पूर्व-संस्कार और शेष संचित कर्म।

अज्ञानता के कारण दोष उत्पन्न होते हैं और दोष के कारण प्रवृति बन जाती है। यह प्रवृति ही है जिसके कारण जन्म होता है और सब दुःखों का कारण जन्म ही है। जब तक अज्ञानता दूर नहीं होगी तबतक यह जन्म-मरण का अनादि चक्र चलता ही रहेगा। कारण के नाशके बिना कार्यका नाश नहीं होता।

"यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य, न तथा सुखाभिलाषः । सांख्यसूत्र-६.६।।" (आत्मनः कृतकृत्यतानिमित्तं).

'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥' छान्दोग्योपनिषद्/ अध्यायः ८||

देहधारी स्वयं सुख और दर्द का शिकार है। जब तक किसी की पहचान शरीर के साथ होती है, तब तक उसके सुख-दुःख का कोई अंत नहीं है, लेकिन जो शरीर से तादात्म्य नहीं रखता, उसे न सुख और न ही दुख स्पर्श करता है।

"आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः ।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१॥ पञ्चदशी, तृप्तिदीप"

आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं , फिर कौन किसको कैसे दुख दे? जब सब कुछ आत्मा ही है ।

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।२.५६।। श्रीमद्भगवद्गीता"

आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकारके दुःखोंके प्राप्त होनेमें जिसका मन उद्विग्न नहीं होता अर्थात् क्षुभित नहीं होता उसे अनुद्विग्नमना कहते हैं। तथा सुखोंकी प्राप्तिमें जिसकी स्पृहा-तृष्णा नष्ट हो गयी है अर्थात् ईंधन डालनेसे जैसे अग्नि बढ़ती है वैसे ही सुखके साथसाथ जिसकी लालसा नहीं बढ़ती वह विगतस्पृह कहलाता है। एवं आसक्ति भय और क्रोध जिसके नष्ट हो गये हैं वह वीतरागभयक्रोध कहलाता है ऐसे गुणोंसे युक्त जब कोई हो जाता है तब वह स्थितधी यानी स्थितप्रज्ञ और मुनि कहलाता है।

सङ्गति — योगीके लिये सुख-दुःख दोनों दुःखरूप ही हैं, यह बात अगले सूत्रमें बतलाते हैं।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥२.१५॥

परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैः = परिणाम, ताप, संस्कारके दुःखोंसे; गुण-वृत्ति-विरोधात् च = और गुणोंकी वृत्तियोंके विरोधसे; दुःखमेव सर्वं विवेकिनः = दुःख ही है सबकुछ अर्थात् सुख भी दुःख ही है विवेकी को।

"त्रिभिर्वा कारणैरेभिर्गुणवैषम्यकारणात्।

भुञ्जतो विषयान् सर्वान् सर्वं दुःखम् विवेकिनः ॥ ९८ ॥ योगसूत्रसारः"

"अपभोगेन चातींत दुःखं साध्वतिवाहितम्।

वर्तमानं तु भोग्यं तद् दुःखं हेयत्ववर्जितम् ॥ ९९ ॥ योगसूत्रसारः"

क्योंकि (विषय-सुखके भोगकालमें भी) परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, और संस्कार-दुःख बना रहता है और गुणोंके स्वभावमें भी विरोध है, इसलिये विवेकी पुरुषके लिये सब कुछ (सुख भी जो विषय-जन्य है) दुःख ही है।

व्याख्या — जिस प्रकार विष मिला हुआ स्वादिष्ट पदार्थ भी बुद्धिमान् के लिये त्याज्य है, इसी प्रकार जिन योगी-जनोंको सम्पूर्ण क्लेश तथा उनके विभाग आदि का विवेकपूर्ण ज्ञान हो गया है, उनको संसारके सभी प्रकार के विषय-सुखोंमें दुःख-ही- दुःख प्रतीत होता है, क्योंकि इन सुखोंमें भी चार प्रकार का दुःख सम्मिलित है, जो नीचे व्याख्या सहित वर्णन किया जाता है —

(१) परिणाम-दुःख — विषय सुखके भोगसे इन्द्रियोंकी तृप्ति नहीं होती है, वल्कि राग-क्लेश उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों भोगका अभ्यास बढ़ता है, त्यों-त्यों तृष्णा बलवती होती है। यथा —

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति |

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते || – मनुस्मृति (२/९४)"

विषय-कामना विषयोंके उपभोग करने से कभी भी शान्त नहीं होती है, परन्तु जिस प्रकार हवनकुण्ड की जलती हुई अग्नि में घी आदि सामग्री की आहुति देने से अग्नि और भी अधिक प्रज्ज्वलित हो जाती है वैसे ही कामवासना भी और अधिक भड़क उठती है |

विषयोंके भोगसे इन्द्रियाँ दुर्बल हो जातीं हैं, अन्त में इन्द्रियों में विषय-भोगकी शक्ति बिलकुल नहीं रहती और तृष्णा सताती है। इस प्रकार विषय-सुख परिणाम में दुःख ही है।

(२) ताप-दुःख — विषय-सुखकी प्राप्तिमें और उसके साधनमें राग-क्लेश उत्पन्न होता है और उनमें जो रुकावटें होतीं हैं, उनसे द्वेष क्लेश उत्पन्न होता है। यह सुखके नाश होनेका दुःख सुखके भोग-कालमें भी सताता रहता है। इसी कारण यह सुख परिणाममें ताप-दुःख है।

(३) संस्कार-दुःख — सुखके भोगके जो संस्कार चित्तपर पड़ते हैं, उनसे राग उत्पन्न होता है, इसके बाद मनुष्य उनके प्राप्त करनेमें यत्न करता है। उनमें रुकावटों से द्वेष होता है। इस प्रकार राग-द्वेषके भी संस्कार पड़ते रहते हैं और उनके वशीभूत होकर जो शुभाशुभ कर्म करता है, उसके भी संस्कार पड़ते हैं। ये संस्कार अवागमनके चक्रमें ड़ालनेवाले होते हैं, इसलिये यह सुख परिणाममें संस्कार- दुःख है।

(४) गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख — सत्व, रजस्, तमस् — ये क्रमसे प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति स्वभाववाले हैं। इनकी क्रमसे सुख, दुःख और मोहरुपी वृत्तियाँ हैं। ये तीनों गुण परिणामी हैं। कभी एक गुण दूसरेको दबाकर प्रधान हो जाता है, कभी दूसरा उसको। जब सत्व रजस् तथा तमस् को दबा लेता है तब सुख-वृत्तिका उदय होता है। जब रजस् सत्व और तमस् को दबा लेता है, तब दुःख और जब तमस् सत्व तथा रजस् को दबा लेता है, तब मोह पैदा हो जाता है। इस तरह इन तीनों गुणोंमें परिणाम रहता है। इस कारण इनकी वृत्तियों में भी परिणामका होना आवश्यक है और सुखके पश्चात् दुःख और मोहका होना स्वाभाविक है। यह गुण-वृत्तियोंके विरोधसे सुखमें दुःखकी प्रतीति है। जिस प्रकार मकड़ीका जाला भी आँखमें पढ़कर अत्यन्त दुःखदायी होता है, इसी प्रकार विवेकी योगियोंका चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है, उनको लेशमात्र भी दुःख और क्लेश खटकता है। इस कारण वे संसारके सुखोंको भी सदैव त्याज्य और दुःख-रूप समझते हैं। क्योंकि ये गुण हमेशा एक-दूसरेसे टकराते रहते हैं।

इसी प्रकार सांख्य-दर्शन अध्याय ६ में बतलाया गया है —

"कुत्रापि कोऽपि सुखीति || ७ ||"

कहीं पर भी कोई भी सम्पूर्ण रूपसे सुखी नहीं दीखता, किन्तु थोड़े समय के लिये सुखी और दुःखी दोनों प्रकार के लोग दीखते हैं।

"तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः || ८ ||"

यदि किसी प्रकार कुछ थोड़ा बहुत सुख प्राप्त भी हुआ तो भी सुख दुःख के निश्चय करने वाले विद्वान् लोग उस सुख को भी दुःख में ही गिनते हैं क्योंकि उसमें भी दुःख मिले हुए होते हैं, जैसे विष का मिला हुआ मिष्ट पदार्थ। इस वास्ते सांसारिक सुख को छोड़कर मोक्ष सुख के वास्ते उपाय करना चाहिए।

नानक दुखिया सब संसार। सो सुखिया जिस नाम आधार।।

"नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवति"

अर्थात् कोई दूसरों को तकलीफ पहुँचाये बिना, दूसरों की हिंसा किये बिना अधिक भोग कर ही नहीं सकता। प्राणियों को कष्ट पहुँचाये बिना कोई भोगी हो नहीं सकता। जो भोगी होगा वह कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी प्रकार से दूसरों को कष्ट पहुँचाता होगा। आप जितना अधिक भोग करेंगे उसमें आपका राग उतना ही अधिक बढ़ेगा और आप भोग करने में भाँति-भाँति के कौशल बढ़ाने में लग जायेंगे। तब आप स्वयं सोचिये कि आपका जीवन कितना हिंसापूर्ण, कितना दुःखदायी और कितना अघायु हो जायेगा?

"पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।

कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।। ३.६८।।मनुस्मृतिः/तृतीयोध्यायः"

चूल्हा,चक्की, झाड़ू, ओखली-मूसल तथा पानी का घड़ा गृहस्थियों के ये पाँच हिंसा के स्थान हैं जिनको प्रयोग में लाते हुए गृहस्थी व्यक्ति हिंसा के पाप से बंध जाता है । उन पापोंसे मुक्त होनेके लिये ब्रह्मयज्ञ- वेद-वेदान्तादि तथा पुराणादि आर्षग्रन्थोंका स्वाध्याय, पितृयज्ञ-श्राद्ध तथा तर्पण, देवयज्ञ-देवताओका पूजन एवं हवन, भूतयज्ञ-बलिवैश्वदेव तथा पञ्चबली, मनुष्ययज्ञ-अतिथि सत्कार- इन पाँचों यज्ञोंको प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।

"विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।१८.३८।। श्रीमद्भगवद्गीता"

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न होता है वह पहले — प्रथम क्षणमें अमृतके सदृश होता है। परंतु परिणाममें विषके समान है। अभिप्राय यह है कि बल, वीर्य, रूप, बुद्धि, मेधा, धन और उत्साहकी हानिका कारण होनेसे तथा अधर्म और उससे उत्पन्न नरकादिका हेतु होनेसे वह परिणाममें — अपने उपभोगका अन्त होनेके पश्चात् विषके सदृश होता है अतः ऐसा सुख राजस माना गया है। सत्वगुण की शान्त अवस्था सुखात्मक है , रजोगुणकी घोर अवस्था दुःखात्मक है और तमोगुण की मूढ अवस्था विषादात्मक है।

"कलत्रपुत्रमित्रार्थगृहक्षेत्रधनादिकैः

क्रियते न तथा भूरि सुखं पुंसां यथाऽसुखम् ॥ [विष्णुपुराण ६.५.५६]"

पत्नी, पुत्र, मित्र, सम्पत्ति, गृह, क्षेत्र तथा धन आदिसे उतना सुख नहीं मिलता है, जितना उन सबों से दुःख मिलता है।

"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।२.६६।। श्रीमद्भगवद्गीता"

(संयमरहित) अयुक्त पुरुष को (आत्म) ज्ञान नहीं होता और अयुक्त को भावना और ध्यान की क्षमता नहीं होती भावना रहित पुरुष को शान्ति नहीं मिलती अशान्त पुरुष को सुख कहाँ ? जिसके मन-इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्यकी व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि नहीं होती और व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि न होनेसे उसमें कर्तव्यपरायणताकी भावना नहीं होती। ऐसी भावना न होनेसे उसको शान्ति नहीं मिलती। फिर शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है?

"ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली अष्टमोऽनुवाकः"

प्रजापति के सौ-सौ आनन्दों के बराबर है 'ब्रह्म' (शाश्वत-परमात्म-तत्त्व) का एक आनन्द। और यह है आनन्द वेदविद् (श्रोत्रिय) का जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं।

प्रश्नोत्तरी 'मणिरत्नमाला' (स्वामी शंकराचार्य कृत) में कहा गया है कि — विषाद्विषं किं विषयाः समस्ता। दुःखी सदा को विषयानुरागी ।

प्रश्न :- विष से भी भारी विष क्या है ? उत्तर:- सारे विषयभोग |

प्रश्न :- सदा दु:खी कौन है ? उत्तर:- जो संसार के भोगों में आसक्त है |

मीराबाई ने कहा — जो मैं ऐसा जानती प्रीत किये दुःख होय। नगर ढिंढोरा पीटती प्रीत ना कीजो कोय।

सङ्गति — जिस प्रकार चिकित्सा-शास्त्र में रोग, रोगका कारण, आरोग्य, आरोग्यका साधन (औषधि) इस प्रकार चार विषय होते हैं, इसी प्रकार यहाँ इस योग-शास्त्रमें (१) दुःख जो "हेय" त्याज्य है, (२) दुःखका कारण द्रष्टृ-दृश्य का संयोग जो "हेय-हेतु" है, (३) दुःखका नाश, इस द्रष्टृ-दृश्य का संयोग का अभाव जो "हान" अर्थात् कैवल्य है और (४) विवेकख्याति कैवल्य का साधन जो "हानोपाय" है जिनका वर्णन आगे किया जायगा। इस प्रकार यह शास्त्र चतुर्व्यूह कहलाता है। तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहं , (१) हेयं, (२)

हेयहेतुः, (३) हानं. (४) हानोपाय इति । दुःखं हेयम् । दुःखहेतुरविद्या । दुःखात्यन्तनिवृत्तिः हानम् । विवेकसाक्षात्कारो हानोपायः । (१. संसार, २. संसारका हेतु, ३.मोक्ष और ४.मोक्षोपाय) "हेय" अर्थात् त्याज्य क्या है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं।

हेयं दुःखमनागतम् ॥ २.१६ ॥

हेयम् = त्याज्य; दुःखम् = दुःख, अनागतम् = आनेवाला है।

भविष्यमें आनेवाले दुःख हेय (त्यागनेयोग्य) हैं।

"अनागतं यतो दुःखं बाधते योगिनं भृशम् ।

अतस्तद्धेयतामेति योगिनस्तत्त्वमिच्छतः ॥ १०० ॥ योगसूत्रसारः"

भूतकालका दुःख भोग देकर व्यतीत हो चुका है, अतः त्यागनेयोग्य नहीं है। वर्तमान दुःख इस क्षण में भोगा जा रहा है, दूसरे क्षण में स्वयं समाप्त हो जायगा, इस कारण त्याज्य नहीं है। जिसका हम अभी अनुभव कर रहे हैं उसका त्याग अशक्य है (क्योंकि वर्तमान जन्म हो ही चुका है) इसलिये अब केवल आनेवाले दुःख ही (आनेवाले जन्म ही) त्यागनेयोग्य हैं। विवेकीजन उसीको हटानेका यत्न करते हैं।

सांख्यसूत्रकार महर्षि कपिल ने भी सांख्यसूत्रका आरम्भ इस सूत्र से किया है – "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः अत्यन्त पुरुषार्थः । सांख्यसूत्र-१.१ । (परमपुरुषार्थस्वरुपं)" अर्थात् तीनों प्रकार के दुःखों से नितान्त छुटकारा ही मुक्ति है।

न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम भी कहते हैं कि —

"बाधनालक्षणं दुःखम् ।। १.१.२१ ।। {दुःखलक्षणम्}" स्वतन्त्रता का न होना और विकल्प का होना दुःख कहलाता है अर्थात् मन को जिस वस्तु की इच्छा हो उसके न मिलने का नाम दुःख है।

"तदत्यन्तविमोक्षः अपवर्गः ।। १.१.२२ ।। {अपवर्गलक्षणम्} न्यायसूत्र" उस (दुःख) के पंजा (चंगुल) से सर्वथा छूट जाने का नाम अपवर्ग अर्थात् मुक्ति है।

"आनन्दं ब्रह्मणो रुपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम् ।" — विज्ञानभिक्षु (योगवार्तिकम्) आनन्द ब्रह्म का स्वरुप है और वह आनन्द मोक्ष में प्रतिष्ठित है।

धीर विद्वान् पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्सी के बन्धनको दृढ़ नहीं मानते। वस्तुतः दृढ़ बन्धन तो वे हैं जिन्हें हम बहुत मूल्य देते हैं — जैसे मणि, कुण्डल, पुत्र तथा स्त्री में इच्छाका होना।

सङ्गति — इस हेय दुःखका (झँझट का,इल्लत का) कारण 'हेयहेतु' क्या है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं। —

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ २.१७ ॥

द्रष्टृ दृश्ययोः संयोग: = द्रष्टा और दृश्यका संयोग; हेयहेतुः = हेय (त्याज्य दुःख) का कारण है।

द्रष्टा और दृश्यका संयोग "हेयहेतु" (दुःखका कारण) है।

व्याख्या — योगदर्शन में दुःख को हेय के नाम से कहा गया है। अब देखना यह है कि इस दुःखका कारण क्या है और उसका निवारण क्या है।

"पुरुषस्य तथा बुद्धेस्संयोगो हेयकारणम्।

निष्क्रियस्सन् हि तद्दृश्यं कारणं भोगमोक्षयोः ॥ १०१ ॥ योगसूत्रसारः"

द्रष्टा चेतन पुरुष है, जो चित्तका स्वामी होकर उसको देखनेवाला है। दृश्य चित्त है जो स्व (मिलकियत) बनकर पुरुषको गुणोंके परिणाम-स्वरुप संसारको दिखाता है। चित्तके द्वारा देखे जानेके कारण यह सारा गुणोंका परिणाम विषय, शरीर और इन्द्रिय आदि भी सब दृश्य ही है।

संयोग — इस पुरुष और चित्तका जो आसक्तिसहित अविवेकपूर्ण भोग्य-भोक्ताभावका (स्व-स्वामिभावका) सम्बन्ध है, {जिसको हम जन्म कहते हैं।} उसके लिये यहाँ संयोग शब्द आया है। यही इस दुःखका (जो पिछले सूत्रमें हेय अर्थात् त्याज्य बतलाया था) "हेतु" अर्थात् कारण है। तात्पर्य यह है कि — दृक् पुरुषः, शुद्ध दृष्टि पुरुष है। दृश्यं बुद्धितत्त्वम्, बुद्धि दृश्य है। (सुख,मोह,दुःखात्मक अखिलदृश्य बुद्धिरुप ही है।) और इन दोनों का अभेदभ्रान्तिरुप संयोग दुःखका हेतु है । अतः इस संयोग को हटा देने पर सभी दुःख हट जाते हैं।

"पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।१३.२२।। श्रीमद्भगवद्गीता"

प्रकृति में स्थित पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है। इन गुणों का संग ही इस पुरुष (जीव) के शुभ और अशुभ योनियों में जन्म लेने का कारण है।

बुध्दि और पुरुषका संयोग दुःखका हेतु है। उस संयोग को विवेकख्याति द्वारा हटा देने पर दुःखका आत्यन्तिक प्रतीकार होता है, उच्छेद होता है। बुद्धि सूक्ष्मशरीर का उपलक्षण है अर्थात् जब निष्क्रिय चेतन पुरुष सूक्ष्मशरीर में अस्मिता का अध्यास कर लेता है तब सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। यह बुद्धिरुप दृश्य चुम्बक के समान है। जैसे चुम्बक लोहकणों को आकर्षित कर लेता है वैसे ही यह बुद्धिरुप दृश्य पुरुषको अपनी सन्निधि मात्रसे आकर्षित कर लेता है। सूक्ष्मशरीर का स्वरुप विवेकचूडामणि में इस प्रकार बताया है —

"वागादि पञ्च श्रवणादि पञ्च प्राणादि पञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।

बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणि पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः || ९६ ||"

वागादि पांच कर्मेन्द्रियाँ , श्रवणादि पांच ज्ञानेन्द्रियाँ,प्राणादि पांच प्राण, आकाशादि पांच भूत , बुद्धि, आदि अन्तः करण-चतुष्ट्य ,अविद्या,तथा काम और कर्म यह पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्मशरीर कहलाता है । इस सूक्ष्मशरीर को जब हम मैं-मेरा मान लेते हैं तब दुःख परम्परा शुरु होती है।

सङ्गति — अब दृश्यका स्वरुप, उसका कार्य तथा प्रयोजन बतलाते हैं।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ २.१८ ॥

प्रकाश-क्रिया-स्थिति-शीलम् = प्रकाश क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है; भूतेन्द्रिय-आत्मकम् = पञ्च भूत और इन्द्रियाँ जिसका स्वरुप हैं; भोग-अपवर्ग-अर्थम् =पुरुष के लिए भोग और मुक्ति ही जिसका प्रयोजन है; दृश्यम् = वह दृश्य है ।

प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रियाँ जिसका स्वरुप हैं, पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग ही जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है।

"सत्त्वं रजस्तमश्चैव ज्ञानव्यापारमोहदाः।

भूतेन्द्रियात्मकं दृश्यं कारणं भोगमोक्षयोः ॥ १०२ ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या — सत्व, रजस् और तमस् — ये तीनों गुण और जो कुछ इनसे बना है वह दृश्य है। प्रकाश सत्त्व गुणका; प्रवृत्ति (क्रिया=चलना) रजोगुणका और स्थिति=रोकना तमोगुणका स्वभाव है। ये तीनों प्रकाश, क्रिया, स्थितिशील-गुण परिणामी और परस्पर संयोग-विभागवाले हैं, तथा विवेक-ख्यातिरहित पुरुषके संग संयुक्त रहते हैं अर्थात् स्व-स्वामी-भाव (भोग्य-भोक्तृभाव) सम्बन्ध रखते हैं और विवेकख्यातिवाले पुरुषसे विभक्त हो जाते हैं।

गुणोंका कार्य — यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है, अर्थात् दस भूत, पाँच स्थूलभूत, पृथ्वी-जल आदि और पाँच सूक्ष्मभूत गन्ध,रस, तन्मात्रा आदि; और चौदह इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ चार सूक्ष्मेन्द्रियाँ, मन,अहङ्कार, बुद्धि+चित्त, (महत्तत्व) आदि सब ग्राह्य-ग्रहण रूपसे इन्हीं तीनों गुणोंके कार्य हैं अर्थात् इन्हींके विभिन्न रुप हैं।

गुणोंका प्रयोजन — यह त्रिगुणात्मक दृश्य अर्थात् भूतेन्द्रिय आदि रुपसे प्रकृतिका परिणाम निष्प्रयोजन नहीं है; किंतु पुरुषके भोग-अपवर्ग रुप प्रयोजन वाला है।

भोग — उसमें द्रष्टा-दृश्यके स्वरुप-विभागसे रहित इष्ट-अनिष्ट, गुण-स्वरुपका अवधारण (अनुभव) भोग कहलाता है।

अपवर्ग — द्रष्टा और दृश्यके स्वरुपसे विभक्त भोक्ताके स्वरुपका अवधारण (साक्षात्कार) अपवर्ग है। इसीको स्वरुपावस्थिति कहते हैं, जो विवेकख्यातिके पश्चात् प्राप्त होती है, जो पुरुषका परम प्रयोजन है। अपवर्ग का एक दूसरा अर्थ भी सन्तों से सुना है जैसे कि पवर्ग जिसमें न हो सो अपवर्ग। पवर्ग माने (प, फ, ब, भ, म) प. माने पाप, फ. माने फल, ब. माने बन्धन, भ. माने भोग, म. माने मृत्यु जिसमें न हो सो अपवर्ग। शास्त्रों में तीन प्रकार से मोक्षलक्षणकी व्याख्या की है।

आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात् ।

कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम् ॥

प्रथम मोक्ष ज्ञानसे होता है, दूसरा मोक्ष रागके क्षयसे होता है और तीसरा मोक्ष दुःखत्रयके छूट जानेसे होता है।

यद्यपि यह भोग-अपवर्गरूप दोनों पुरुषार्थ बुद्धिकृत होने और बुद्धिमें ही बर्तनेसे बुद्धिके ही धर्म हैं तथापि जैसे जय और पराजय योद्धाकृत और योद्धामें वर्तमान होनेपर भी उनके स्वामी राजामें कही जाती है; क्योंकि वह उसका स्वामी और उसके फलका भोक्ता है, इसी प्रकार बन्ध या मोक्ष चित्तमें वर्तमान होते हुए भी पुरुषमें व्यवहारसे कहे जाते हैं; क्योंकि वह बुद्धिका स्वामी और उसके फलका भोक्ता है।

वास्तवमें पुरुषके भोग-अपवर्गरूप प्रयोजनकी समाप्ति न होनेतक चित्तमें ही बन्धन है और विवेकख्यातिकी उत्पत्तिसे पुरुषके उस प्रयोजनकी समाप्तिमें चित्तका ही मोक्ष है।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥५॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् चतुर्थोऽध्यायः"

ऐसी 'एक' अजाता (अजन्मा) है जो श्वेत-कृष्ण एवं लोहितवर्णा है, जो निरन्तर अनेकरूपा प्रजाओं की सृष्टि करती जा रही है और उसका एक अजात (पुरुष) उसके साथ प्रेम में साहचर्य सुखभोग करता है; जब कि दूसरा अजात (पुरुष) उसके समस्त सुखों का भोग करके उसे त्याग देता है।

"सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् || ६.३९ || सांख्य दर्शन"

अर्थ — सत्व, रज, तम, यह प्रकृति के धर्म नहीं हैं किन्तु प्रकृति के रूप हैं। सत्त्वादि रूप ही प्रकृति है।

"लघ्वादिधर्मैरन्योन्यं साधर्म्यं वैधर्म्यं गुणानाम् || १.१२८ || सांख्य दर्शन"

अर्थ — लघुत्वादि धर्मो से सत्वादि गुणों का साधर्म्य और वैधर्म्य है, जैसे लघुत्व के साथ सर्व सत्वव्यक्तियों का (सतोगुण के पदार्थों का) साधर्म्य है, रज और तम का वैधर्म्य है, एवं चंचलत्वादि के साथ रजोव्यक्तियों का (रजोगुण के पदार्थों का) साधर्म्य है, और सत्व तम का वैधर्म्य है, इस ही प्रकार गुरुत्व आदि के साथ तमोव्यक्तियों का (तमोगुण के पदार्थों का) साधर्म्य है, और सत्व, रज से वैधर्म्य है।

यह बात योगवासिष्ठ में भी कही गई है —

"नामरुपविनिर्मुक्तं यस्मिन्संतिष्ठते जगत् ।

तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून् ।। २१।। योगवासिष्ठः / प्रकरणम् ६ (निर्वाणप्रकरणस्य पूर्वार्धम्) / सर्गः १२८"

नाम और रूपसे विनिर्मुक्त यह जगत जिस निराकार सत्ता में ठहरता और लीन हो जाता है, कुछ लोग उसे प्रकृति या पदार्थ कहते हैं, और दूसरों के द्वारा माया या भ्रम, और परमाणु दार्शनिकों द्वारा परमाणु के रूप में भी कहा जाता है ।

सांख्यकारिका में प्रकृति और पुरुष में भेद इस प्रकार बताया गया है —

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥ सांख्यकारिका"

यह "प्रधान" { प्रधीयते निधीयतेऽस्मिन्प्रलयसमये वस्तुजातं जगदिति वा प्रधानम् ।} (प्रकृति) व्यक्त हेतुवाला, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेक, आश्रितलिङ्ग, सावयव, और परतन्त्र है। इसके विपरीत "पुरुष" अव्यक्त, अहेतु, नित्य, व्यापी, अक्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र है।

"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।१४.५।। श्रीमद्भगवद्गीता"

हे महाबाहो ! सत्त्व, रज और तम ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण देही आत्मा को देह के साथ बांध देते हैं।

"प्रधानात् क्षोभ्यमाणाच्च तथा पुंसः पुरातनात् । प्रादुरासीन्महद् बीजं प्रधानपुरुषात्मकम् ।। ४.१६।। कूर्मपुराणम्- पूर्वभागः / चतुर्थोऽध्यायः"

क्षोभ्यमाण प्रधानसे (गुणोंकी विषमावस्थासे) तथा पुरातन पुरुषसे प्रधान-पुरुषात्मक महद्बीज का प्रादुर्भाव हुआ।

"प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।

चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ॥ ३.२६.१७ ॥ श्रीमद्भागवत"

हे मनुपुत्रि ! जिनकी प्रेरणा से गुणों की साम्यावस्था रूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न होती है, वास्तव में वे पुरुष रूप भगवान ही "काल" कहे जाते हैं।

"गुणसाम्यमनुद्रिक्तमन्यूनञ्च महामुने!

प्रोच्यते प्रकृतिर्हेतुः प्रधानं कारणं परम् ।। ६-४-३४ ।। विष्णुपुराणम्"

हे महामुने ! गुणोंकी साम्यावस्था, जो कि गुणोंसे न्यून या अधिक नहीं है, पर-कारण-प्रधान-हेतु या प्रकृति कहलाती है।

"सत्त्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत् ।

प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम् ॥ ११.२५.२० ॥ श्रीमद्भागवत"

सत्त्वगुण से जाग्रदवस्था, रजोगुण से स्वप्नावस्था, और तमोगुण से सुषुप्ति अवस्था होती है, किन्तु तुरीय-साक्षी इन तीनों अवस्थाओं में सतत रहता है।

"कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।१३.२१।। श्रीमद्भगवद्गीता"

कार्य और कारण के उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष सुख-दु:ख के भोक्तृत्व में हेतु कहा जाता है।

"शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणन्तथा ।

उहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः ॥"

जिस प्रकार बन्ध-मोक्ष-रूप चित्तके धर्मोंका पुरुषमें आरोप किया जाता है; इसी प्रकार ग्रहण (स्वरूपमात्रसे पदार्थका ज्ञान), धारण (ज्ञात हुए पदार्थकी स्मृति अर्थात् चिन्तन को धारणा कहा है), ऊह (पदार्थके विशेष धर्मोंका युक्तिसे निर्णय करना), अपोह (युक्तिसे आरोपित धर्मोंको दूर करना), तत्त्वज्ञान (ऊहापोहसे पदार्थका ज्ञान प्राप्त करना),अभिनिवेश (तत्त्वज्ञानपूर्वक त्याग और ग्रहणका निश्चय अर्थात् तदाकारतापत्ति) आदि धर्म भी चित्तमें वर्तमान रहते हुए पुरुषमें अविवेकसे आरोपित किये जाते हैं, क्योंकि वही उसका स्वामी और उसके फलका भोक्ता है। प्रकृतयोगकी भूमिकामात्रसे ही यहाँ चित्तके परिणामोंको गिना है। इनसे दूसरे भी इच्छा, कृति आदि उपलक्षित जानने चाहिये।

सङ्गति — दृश्यका स्वभाव, स्वरूप और प्रयोजन कहकर अगले सूत्रमें उसकी (दृश्यकी) अवस्थाओंका वर्णन करते हैं।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ २.१९ ॥

विशेष-अविशेष-लिङ्गमात्र-अलिङ्गानि = विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग; गुणपर्वाणि = गुणों की अवस्थाएँ (परिणाम) हैं ।

गुणोंकी चार अवस्थाएँ (परिणाम) हैं । विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

व्याख्या — सत्व, रजस् और तमस् — इन तीनों गुणोंकी चार अवस्थाएँ हैं। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

"शब्दादिविषयाकारा तद्रूपनिश्चयात्मिका ॥

बुद्धिवृत्तिर्भवेद् भोगो बद्धवत्तेन पूरुषः ॥ १०३ ॥योगसूत्रसारः"

"भोक्तुस्स्वरूपविज्ञानं मोक्ष इत्येव दर्शनम्।

भोगमोक्षौ न पुंसस्तौ गुणनामेव केवलम् ॥ १०४ ॥ योगसूत्रसारः"

(१) विशेष सोलह हैं। पाँच महाभूत — आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि जो शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गन्ध — इन पाँच तन्मात्राओंके क्रम से कार्य हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रिय — श्रोत्र (कान), त्वक् (त्वचा), चक्षु (आंख), जिह्वा (रसना या जीभ) और घ्राण (नाक) पाँच कर्मेन्द्रिय — वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पांव), पायु (मलेन्द्रिय) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय), ग्यारहवाँ मन जो अहंकारके कार्य हैं। ये सोलह, तीनों गुणोंके विशेष परिणाम हैं। इनको विशेष इस कारणसे कहते हैं कि तीनों गुणोंके सुख, दुःख, मोहादि जो विशेष धर्म हैं, वे सब शान्त, घोर और मूढ़-रुपसे इनमें रहते हैं।

(२) अविशेष छः हैं। पाँच तन्मात्राएँ — शब्द,स्पर्श,रुप,रस और गन्ध जो पाँचों महाभूतोंके क्रमसे कारण हैं ; और एक अहंकार जो एकादश इन्द्रियोंका कारण है। ये छः क्रमसे अहंकार और महत्तत्व के कार्य गुणोंके अविशेष परिणाम हैं। इनमें शान्त, घोर, मूढ़रुप विशेष धर्म नहीं रहते, इसलिये ये अविशेष कहलाते हैं।

"तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते।

न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः॥१.२.४५॥ विष्णुपुराणम्"

तन्मात्राएँ अविशेष हैं। वे इसलिये अविशेष हैं क्योंकि वे शान्त, घोर और मूढ़ नहीं होते।

(३) लिङ्गमात्र — सत्तामात्र महत्तत्व (समष्टि तथा व्यष्टि चित्त) यह विशेष – अविशेष से रहित केवल चिन्हमात्र तीनों गुणोंका प्रथम परिणाम है। लिङ्ग इसलिये कहलाता है, क्योंकि चिन्हमात्र व्यक्त है।

(४) अलिङ्ग — अव्यक्त — मूल प्रकृति अर्थात् गुणोंकी साम्यावस्था। यह अलिङ्ग-अवस्था पुरुषके निष्प्रयोजन है। अलिङ्ग-अवस्थाके आदिमें पुरुषार्थता कारण नहीं है और उस अवस्थाकी भी पुरुषार्थता कारण नहीं होती। यह पुरुषार्थकृत भी नहीं है, इस कारण नित्य कही जाती है। अलिङ्ग इसलिये कहलाती है कि इसका कोई चिन्ह नहीं अर्थात् व्यक्त नहीं है, अव्यक्त है। ये चारों, तीनों गुणोंके परिणामकी अवस्था विशेष हैं। इनमेंसे पहिली तीन अवस्थाएँ गुणोंके विषम परिणामसे होतीं हैं, ये ही पुरुषके प्रयोजनको साधतीं है। चौथी अलिङ्ग-अवस्थामें गुणोंमें साम्य परिणाम होता है, इसकी पुरुषके भोग तथा अपवर्ग किसी प्रयोजनमें प्रवृत्ति नहीं होती, परंतु इसी अवस्थाकी ओर गुणोंके जाननेकी प्रवृत्ति होती है, क्योंकि यह मूल अवस्था है; इसीको प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त तथा माया भी कहते हैं। स्थूलसे सूक्ष्म और सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम ज्ञान दिलानेके लिये यह क्रम दिखलाया है। उत्पत्तिका क्रम इससे उलटा होगा। अर्थात् अलिङ्गसे लिङ्ग, लिङ्गसे छः अविशेष और अविशेषसे सोलह विशेष उत्पन्न होते हैं। इन विशेषोंका कोई तत्वान्तर परिणाम नहीं होता, उनके केवल धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम होते रहते हैं।

"ततोऽभवन् महत्तत्त्वं अव्यक्तात् कालचोदितात् ।

विज्ञानात्माऽऽत्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जन् तमोनुदः ॥ ३.५.२७ ॥ श्रीमद्भागवत"

अर्थ — तब काल की प्रेरणा से उस अव्यक्त माया से महत्तत्त्व प्रकट हुआ। वह मिथ्या अज्ञान का नाशक होने के कारण विज्ञानस्वरुप और अपने में सूक्ष्मरुप से स्थित प्रपञ्च की अभिव्यक्ति करनेवाला था ॥ २७ ॥

"नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका ।

सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी || २८ || सौरपुराणं – अध्यायः ११"

माया न असद् रुपा है, न सद् रुपा है, न उभयरुपा है — वह सत् या असत् से अनिर्वाच्या है, मिथ्यारुपा और सनातनी है (नित्या है) इन आदित्य पुराणादि में माया नामक प्रकृतिको अनिरुप्या कहा है।

"तस्मान्न विज्ञानमृतेस्ति किंचित्क्वचित्कदाचिद्द्विज वस्तुजातम् ।

यच्चान्यथात्वं द्विज याति भूयो न तत्तथा तत्र कुतो हि सत्त्वम्।।४१,४३।। विष्णुपुराणम्/द्वितीयांशः/अध्यायः १२"

हे द्विजसत्तम ! इस हेतुसे विज्ञानके सिवा कुछ भी और कभी भी वस्तुसमूह नहीं है। हे द्विज ! जो वस्तु फिर अन्यथा हो जाती है वह वैसी नहीं होती, उसमें सत्ता कहाँ ? (अर्थात् उसमें सत्ता भी नहीं होती)

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२.२८।। श्रीमद्भगवद्गीता"

हे भारत ! सभी प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे, केवल बीचमें ही प्रकट दीखते हैं। अतः इसमें शोक करनेकी बात ही क्या है? कार्यकरणके संघातरुप ही प्राणियोंको माने तो उनके उद्देश्यसे भी शोक करना उचित नहीं है क्योंकि अव्यक्त यानी न दीखना उपलब्ध न होना ही जिनकी आदि है ऐसे ये कार्यकरणके संघातरुप पुत्र मित्र आदि समस्त भूत अव्यक्तादि हैं अर्थात् जन्मसे पहले ये सब अदृश्य थे। उत्पन्न होकर मरणसे पहलेपहल बीचमें व्यक्त हैं दृश्य हैं। और पुनः अव्यक्तनिधन हैं अदृश्य होना ही जिनका निधन यानी मरण है उनको अव्यक्तनिधन कहते हैं अभिप्राय यह कि मरनेके बाद भी ये सब अदृश्य हो ही जाते हैं। ऐसे ही कहा भी है कि यह भूतसंघात अदर्शनसे आया और पुनः अदृश्य हो गया। न वह तेरा है और न तू उसका है व्यर्थ ही शोक किस लिये सुतरां इनके विषयमें अर्थात् बिना हुए ही दीखने और नष्ट होनेवाले भ्रान्तिरुप भूतोंके विषयमें चिन्ता ही क्या है रोनापीटना भी किस लिये है।

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१.५॥ मनुस्मृतिः"

अर्थ — यह सब जगत् सृष्टि के पहले प्रलयकाल में अन्धकार से आवृत्त (ढका हुआ) था। उस समय न किसी के जानने न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिन्हों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था। क्योंकि उस समय यह सम्पूर्ण प्रपञ्च पूरी तरह से गहरी नींद में विलीन हो गया था।

"जगन्मयी भ्रान्तिरियं न कदाचन विद्यते ।

विद्यते तु कदाचिच्च जलबुद्बुदवत्स्थिता ।। ३३ ।। योगवासिष्ठः/प्रकरणम् ६ (निर्वाणप्रकरणस्य पूर्वार्धम्)/सर्गः ०२२"

यह ब्रह्मांडीय घटना कोई वास्तविकता नहीं है, न ही यह अस्तित्व में भी है; यह केवल एक अस्थायी भ्रम है, यह भ्रान्ति कभी-कभी होती है और कभी-कभी नहीं होती और अगले क्षण गायब होने के लिए पानी के बुलबुले के रुप में प्रकट होती है। संसार भ्रम के समान

है, और कुछ नहीं। जैसे पानी में बुलबुला होता है, वैसे ही संसार को समझना चाहिए।

“सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्

एतत्तु यत्संव्यवहारभूतं तत्रापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते ||२.१२.४५|| विष्णुपुराणम्”

इस तरह तुम्हें मैंने सद्भावका तथा ज्ञानके स्वरूप का उपदेश किया। ज्ञान स्वरूप परमात्मा ही सत्य हैं उनसे भिन्न सारी वस्तुऐं असत्य हैं और लोक में देव, मनुष्य आदि व्यवहार का हेतु तो कर्म ही है। परमात्म-चैतन्य सत्य है, जीव-चैतन्य सत्य नहीं है, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा (बृहदा० ३ । ७ । २३). ‘इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है । यह वेदान्तरहस्य है।

“ततस्तु तप्तरं ब्रह्मं परमात्मा जगन्मयः ।

सर्वगः सर्वभूतेशः सर्वात्मा परमेश्वरः ॥२८॥

प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।

क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥१.२.२९॥ विष्णुपुराणम्”

उसके पश्चात् जब सृष्टिकाल उपस्थित हुआ उस समय, वे जगत्स्वरूप, सर्वव्यापक, सभी भूतों (जीवों) के स्वामी सबों की अन्तरात्मा परमेश्वर (सम्पूर्ण जगत के स्वामी तथा नियामक) परमात्मा परंब्रह्म अपने (सत्यसंकल्प रुप) इच्छा से ही उन दोनों (विकारी प्रकृति तथा अविकारी पुरुष) के भीतर (अन्तर्यामी रुप से) प्रवेश करके उन्हें क्षोभित किये।

“तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम।

अव्यक्ताव्यक्तभावस्था या सा प्रकृतिरव्यया।। १२.३४२.३२।। महाभारतम्”

द्विजज्ञेष्ठ! उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न हुआ। उसीको व्यक्तभावमें स्थित, अविनाशिनी अव्यक्त प्रकृति कहा गया है।

“न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयोः

उभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।

त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे

सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥ १०.८७.३१ ॥ श्रीमद्भागवत”

अर्थ — स्वामिन् ! जीव आपसे उत्पन्न होता है, यह कहनेका ऐसा अर्थ नहीं है कि आप परिणामके द्वारा जीव बनते हैं। सिद्धान्त तो यह है कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अजन्मा हैं। अर्थात् उनका वास्तविक स्वरूप — जो आप हैं — कभी वृत्तियोंके अंदर उतरता नहीं, जन्म नहीं लेता। तब प्राणियोंका जन्म कैसे होता है ? अज्ञानके कारण प्रकृतिको पुरुष और पुरुषको प्रकृति समझ लेनेसे, एकका दूसरेके साथ संयोग हो जानेसे जैसे ‘बुलबुला’ नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, परन्तु उपादान-कारण जल और निमित्त-कारण वायुके संयोगसे उसकी सृष्टि हो जाती है। प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृतिका अध्यास (एकमें दूसरेकी कल्पना) हो जानेके कारण ही जीवोंके विविध नाम और गुण रख लिये जाते हैं। अन्तमें जैसे समुद्रमें नदियाँ और मधुमें समस्त पुष्पोंके रस समा जाते हैं, वैसे ही वे सब-के-सब उपाधिरहित आपमें समा जाते हैं। (इसलिये जीवोंकी भिन्नता और उनका पृथक् अस्तित्व आपके द्वारा नियन्त्रित है। उनकी पृथक् स्वतन्त्रता और सर्वव्यापकता आदि वास्तविक सत्यको न जाननेके कारण ही मानी जाती है।)

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥२.१.३॥ मुण्डकोपनिषद्"

इसी 'परमात्म-तत्त्व' से प्राण, मन तथा समस्त इन्द्रियों का जन्म होता है; तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा सभी को धारण करने वाली पृथ्वी का भी जन्म होता है। जैसा कि गोपालतापिन्युपनिषत् में कहा है —

"स होवाच हि तं पूर्वमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत् । तस्मादव्यक्तमेकाक्षरम् । तस्मादक्षरान्महत् । महतोऽहङ्कारः । तस्मादहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राणि । तेभ्यो भूतानि । तैरावृतमक्षरम् ।"

पहले एक अद्वितीय ब्रह्म ही था । उससे अव्यक्त एकाक्षर {अ} उत्पन्न हुआ उस से प्रकृति प्रकट हुई । उसके बाद उस अक्षर से महतत्व फिर उस महतत्व से अहंकार की उत्पत्ति हुई। उस अहंकार से पांच तन्मात्राएं प्रकट हुई । उन तन्मात्राओं से पांच भूतों कि उत्पत्ति हुई । उनके द्वारा ये अक्षर ढका हुआ है ।

महत्तत्व और अहंकार का लक्षण महाभारतके मोक्षधर्म पर्वमें कहा है —

"हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः ।

महानिति च योगेषु विरिञ्चि इति चाप्युत ॥ १८ ॥

परमेश्वरसे उत्पन्न जो सबके अग्रज भगवान् हिरण्यगर्भ हैं, ये ही बुद्धि कहे गये हैं। योगशास्त्रोंमें ये ही महान् कहे गये हैं। इन्हींको विरिञ्चि तथा अज भी कहते हैं। सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः ।

विचित्ररुपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः ॥ १९ ॥

वृतं नैकात्मकं येन कृत्स्नं त्रैलोक्यमात्मना ।

तथैव बहुरूपत्वाद्विश्वरुप इति स्मृतः ॥ २० ॥

अनेक नाम और रूपोंसे युक्त इन हिरण्यगर्भ ब्रह्माका सांख्यशास्त्रमें भी वर्णन आता है। ये विचित्र रुपधारी, विश्वात्मा और एकाक्षर कहे गये हैं। इस अनेक रुपोंवाली त्रिलोकीकी रचना उन्होंने ही की है और स्वयं ही इसे व्याप्त कर रख्खा है। इस प्रकार बहुत-से रुप धारण करनेके कारण वे विश्वरुप माने गये हैं।

एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना ।

अहंकारं महातेजाः प्रजापतिमहंकृतम् ॥ २१ ॥"

(महाभारतम्-शांतिपर्व-अध्याय -३०२)

ये महातेजस्वी भगवान् हिरण्यगर्भ विकारको प्राप्त हो स्वयं ही अहंकारकी और उसके अभिमानी प्रजापति विराट् की सृष्टि करते हैं।

"तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः करणैः सह ।

क्षेत्रज्ञाः समवर्तन्त गात्रेभ्यः तस्य धीमतः ॥ १,७.१ ॥ विष्णुपुराणम्"

उस धीमान् हिरण्यगर्भ के स्थूल और सूक्ष्म — दोनों शरीरोंसे समुत्पन्न कार्यों और करणों के सहित क्षेत्रज्ञ उत्पन्न होते हैं।
इस प्रकार चार पर्वोंवाले दृश्य का या गुणोंका व्याख्यान पूरा हुआ।

सङ्गति — अब द्रष्टाका स्वरूप दिखाते हैं।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २.२० ॥

द्रष्टा = द्रष्टा; (जो) दृशिमात्र: = देखनेकी शक्तिमात्र चेतनमात्र (ज्ञानस्वरूप आत्मा) है; शुद्ध:-अपि = (यद्यपि वह) शुद्ध अर्थात् निर्मल,निर्विकार होनेपर भी; प्रत्यय-अनुपश्यः = चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार के देखनेवाला है ।

द्रष्टा जो देखनेकी शक्तिमात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला है। प्रत्ययं बुद्धिवृत्तिमनुसृत्य पश्यतीति प्रत्ययानुपश्यः। प्रत्यय माने बुद्धिवृत्ति, उस बुद्धिवृत्तिके अनुसार देखता है, इसलिये उसको "प्रत्ययानुपश्यः" कहा है। अपनेको बुद्धिसे अलग न जाननेके कारण ही शब्दादि विषयोंको देखता है। क्योंकि चेतनके बिना जगत् का भान हो ही नहीं सकता। बुद्धिवृत्ति से जो विशिष्ट है, उसी को ही ज्ञानवृत्ति कहते हैं।

"द्रष्टाऽसौ दृशिमात्रोऽपि शुद्धं प्रत्ययमीश्रते ।

बुद्धिवृत्तिविसंवेदात् परिणामीव भासते ॥ १०५ ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या :- दृषिमात्र, इस शब्दसे यह अभिप्राय है कि देखनेवाली शक्ति विशेषणरहित केवल ज्ञानमात्र है अर्थात् यह देखना या वह देखना उसका धर्म नहीं है, बल्कि यह देखनेकी शक्तिमात्र धर्मी है, उसमें कोई परिणाम नहीं होता। दृक् शक्ति की छाया जब बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होती है तब शब्दादि विषयों का दर्शन होता है। जैसा कि महाभारतमें कहा गया है —

"यथा दीपः प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान्।

ज्ञानात्मानं तथा विद्यात्पुरुषं सर्वजन्तुषु।।१२.२१२.५४।। महाभारतम्-शांतिपर्व"

अर्थ — जैसे दीपक चाहे छोटा हो या बड़ा, प्रकाशरूप ही होता है, वैसे ही सब प्राणियोंके अंदर आत्माको भी ज्ञानरूप जानो।

"ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन।

ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः पूर्णः सदा शिवः ।।" (सौरपुराण)

अर्थ — ज्ञान न तो आत्मा का धर्म है और न किसी भाँति गुण ही है। आत्मा तो नित्य, विभु और शिव (कल्याणकारी) ज्ञानस्वरूप ही है।

"न चिदप्रतिबिम्बाऽस्ति दृश्याभावादृते क्वचित् ।

क्वचिन्नाप्रतिबिम्बेन किलादर्शोऽवतिष्ठते ।।३.७.३०।। योगवासिष्ठः"

चितिशक्ति — दृष्यके अभावके सिवा कहीं भी अप्रतिबिम्बा नहीं होती है, जैसे कि दर्पण दृश्यके अभावके सिवा कभी भी प्रतिबिम्बरहित नहीं होता है। और सुषुप्ति तथा प्रलय आदि में वृत्ति नामक दृश्यके अभावसे ही उस बुद्धिवृत्तिको नहीं देखता, यह भाव

है।

तथा बुद्धिके परार्थ होनेमें श्रुति भी प्रमाण है —

“न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितम्॥५॥ बृहदारण्यकोपनिषद द्वितीयोऽध्यायः चतुर्थं ब्राह्मणम्”

“वास्तव में, सबकी कामनाके लिये सब प्यारे नहीं होते, अपनी कामनाके लिये सब प्यारे होते हैं। सभी के लिए हम सबसे प्यार नहीं करते, अपने लिये सभी को प्यार किया जाता है, लेकिन वास्तव में यह स्वयं के लिए ही प्यार किया जाता है। “वास्तव में, हे मैत्रेयी! यह आत्मा है जिसे महसूस किया जाना चाहिए, इसके बारे में सुना जाना चाहिए , इस पर ध्यान दिया जाना चाहिये। इसके श्रवण, चिन्तन और ध्यान-स्वरुप की अनुभूति से-यह सब ज्ञात है। प्रत्येक देहधारी को अपने-अपने आत्मा के प्रति जैसा स्नेह होता है, ममता के विषयी भूत पुत्र-धन-गृहादि के प्रति वैसा स्नेह नहीं होता। अर्थात, ‘मैं’ और ‘मेरे’- इन दो प्रकार की वस्तुओं में अन्तर है, जितनी प्रीति ‘मैं’ के प्रति होती है, उतनी प्रीति ‘मेरे’-सम्बन्धी वस्तुओं के प्रति नही होती है। देहात्म बुद्धि वाले पुरुषों को अपना देह जितना प्रिय होता है, देह से सम्बन्धित गृह-स्त्री-पुत्रादि उतने प्रिय नहीं होते हैं। कोई भी प्राणी दूसरों की प्रीति के लिए उनसे प्रीति नहीं करता, अपने सुख के लिए ही पति स्त्री को, पत्नी पति को, पिता पुत्र को एवं पुत्र पिता को प्यार करता है। किसी दूसरे की प्रीति के लिए कोई प्रिय नहीं होता, केवल आत्मा की प्रीति (सुख) के लिए ही सब सबके प्रिय हुआ करते हैं।

“यश्चेतनमात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः” (मैत्रायण्युपनिषत्)

जो यह चेतन सत्ता हर भूत-प्राणियों में क्षेत्रज्ञ जीव रुप से स्थिर है और परमात्मा का अंश है।

“ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते ।

ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम् ॥ २,६.५० ॥ विष्णुपुराणम्”

ज्ञान ही परं ब्रह्म है, ज्ञान ही बन्धके लिये है, यह सब ज्ञानात्मक है, ज्ञानसे परे कुछ नहीं है। हालांकि चैतन्य हमेशा विशुद्ध, निरंजन,निर्गुण और साक्षी मात्र ही होता है परन्तु जब यह बुद्धि के साथ एक हो जाता है तब यह धुंधला हो जाता है या फिर प्रतीत होने लगता है और तभी बन्धन का कारण होता है। जो लोग अपनी बुद्धि में अटके होते हैं वो अपने विचारों और मंतव्यों को ही अपना स्वरुप मान बैठते हैं और बड़े परेशान रहते हैं।

सङ्गति — वह पुरुष ही जब बुद्धिके साथ संयुक्त हो जाता तब भोक्ता कहलाता है। बुद्धि ही दृश्य है और इस दृश्यका प्रयोजन पुरुषके लिये है, यह बात अगले सूत्रमें बतलाते हैं।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २.२१ ॥

तद्-अर्थ-एव =उस =(द्रष्टा पुरुष) के लिये ही; दृश्यस्य-आत्मा = दृष्यका स्वरुप है।

उस पुरुष) के लिये ही (यह सारा) दृष्यका स्वरुप है।

व्याख्या :- ऊपर कहे हुए लक्षणानुसार दृश्यका जो स्वरुप है वह पुरुषके प्रयोजनके लिये है; क्योंकि प्रकृति अपने किसी भी प्रयोजनकी अपेक्षा न करके केवल पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये प्रवृत्त होती है। पलँग, घर, कार, भोजन आदि जितने भी साधन हैं

वे किसी भोक्ताके लिये होते हैं, उनके खुदके लिए नहीं, क्योंकि एक तो वे अचेतन होते हैं और दूसरे अनेक चीजें मिलाकर बनाए जाते हैं।

"कार्यकारणरूपं तद्दृश्यं स्वार्थं कदाऽपि न ।

समीहस्तु यथाऽन्येभ्यस्तथा दृश्यं पराय वै ॥ १०६ ॥ योगसूत्रसारः"

इस सूत्रसे सिद्ध होता है कि दृश्यकी सत्ता चैतन्यके अधीन है, वह स्वतः सिद्ध नहीं है। यह प्रकृति रुपी दृश्य केवल बन्धन या दुःखका ही कारण नहीं है इससे मोक्ष भी प्राप्त किया जा सकता है। जो सीढ़ी नीचे ले जा सकती है उसीसे ऊपर भी जाया जा सकता है। प्रसिद्ध ही है कि कांटे से ही काँटा निकाला जाता है और बाद में जिस कांटे से काँटा निकाला था उसे भी फेंक दिया जाता है । मुख्य रुप से प्रकृति का प्रयोजन पुरुष को अपवर्ग (मुक्ति) दिलाना ही है, भोग मुख्य नहीं है । जिस प्रकार यात्रा करते समय हम किसी वाहन का उपयोग गन्तव्य तक पहुँचने के लिए करते हैं उसी प्रकार मुक्ति रुपी गन्तव्य तक पहुँचने हेतु भोग यात्रा के बीच की सुख सविधाएं हैं । इन सुख सुविधाओं का यात्रा को सरलरूपसे सम्पन्न करने के लिए उपयोग मात्र ही श्रेष्ठ दर्शन है । यदि कोई सुख सुविधाओं में ही फंसा रह जायेगा तो मंजिल प्राप्त होने पर भी वह साधन को नहीं छोड़ेगा और पुनः जन्म-जन्मान्तरों के फेर में पड़ता रहेगा ।

"इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिसूक्ष्मपर्यन्तः।

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥५६॥ सांख्यकारिका"

भावार्थ :- इस प्रकार प्रकृतिसे किया हुआ महद् इत्यादि से लेकर विशेष (स्थूल) भूतों तक का सर्ग प्रकृति ने ही रचा है। और वह प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए है। इसलिए अपने लिए प्रतीत होता हुआ (वह कार्य) भी वस्तुतः दूसरों के लिए ही है।

"वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥५७॥ सांख्यकारिका"

जिस तरह अचेतन दूध बछडे की वृद्धि का कारण होता है उसी तरह अचेतन अव्यक्त (प्रकृति) पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।

"नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिण: पुंस: ।

गुणवत्यगुणस्य सत: तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६०॥ सांख्यकारिका"

नाना प्रकारके उपायोंसे यह उपकारिणी गुणवती (सत्व, रजस्, तमस् गुणवाली) प्रकृति उन अनुपकारी गुणरहित (गुणातीत) पुरुषके अर्थ निःस्वार्थ काम करती है (जिस प्रकार परोपकारी सज्जन सबका भला करता है और अपना कोई प्रत्युपकार नहीं चाहता)

प्रकृति का सम्पूर्ण उद्देश्य पुरुष को भुक्ति और मुक्ति दिलाने के लिए हुआ है ।

प्रकृति स्वयं के लिए नहीं अपितु जीवात्मा के लिए उत्पन्न हुई है ।

प्रकृति जड़ पदार्थ है और जड़ पदार्थ स्वयं के लिए उपयोगी न होकर चेतन तत्त्व के काम आते हैं ।

प्रकृति संघात है, और संघात सदैव परार्थ के लिए होता है । अर्थात् जड़ पदार्थों का जो मिला-जुला स्वरुप होता है वह किसी चेतन तत्त्व के भोग सिद्धि या उसके निःश्रेयस के लिए होता है । जैसे मोटर किसी सवार के लिये होती है।

पुरुष अर्थात् जीवात्मा प्रकृति के सहयोग के बिना न तो भोग ही भोग सकता है और न ही भोगों से मुक्ति पा सकता है।

पुरुष का बन्धन वस्तुतः हमें दिखाई देता है, जब कि बन्धन एवं मोक्ष पुरुष का न होकर प्रकृति का होता है (रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृति: (कारिका-६३)। ज्ञान की अवस्था में पुरुष को वस्तुस्थिति का भान होता है और वह प्रेक्षक के समान तटस्थ भाव से दूर खड़ा होकर प्रकृति से स्वयं को अलग समझ लेता है।

सङ्गति — क्या एक पुरुषके प्रयोजनको साधकर यह दृश्य नष्ट हो जाता है ? नहीं; क्योंकि — कृतार्थ आत्मज्ञानी पुरुष के लिए इस संसार का कण कण आनंद से भरा होता है या उसी चैतन्य का भाग होता है परन्तु दूसरे लोगों के लिए यह संसार उनकी दृष्टि के अनुसार मौजूद रहता है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २.२२ ॥

कृतार्थं-प्रति-नष्टम्-अपि = जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके प्रति नष्ट हुआ भी; अनष्टम् = (वह दृश्य) नष्ट नहीं होता; तद्-अन्य-साधारणत्वात् = क्योंकि वह (दृश्य) दूसरोंकी साझेकी वस्तु है।

जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यह दृश्य नष्ट हुआ भी नष्ट नहीं होता है; क्योंकि वह दूसरे पुरुषोंके साथ साझेकी वस्तु है।

“कृतार्थं प्रति नष्टं तन्ननष्टं मूढचक्षुषे।

नशेर्धातोर्न लोपोऽर्थो नाशो भूयाददर्शनम् ॥ १०७ ॥ योगसूत्रसारः”

व्याख्या :- इस सारे दृष्यकी रचना समस्त पुरुषोंके भोग-अपवर्गके लिये है, न कि किसी विशेष पुरुष के लिये। इसीलिये जिसका यह प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यद्यपि इस दृश्यका कार्य समाप्त और नाशके तुल्य हो जाता है, तथापि इसका सर्वथा नाश नहीं हो जाता; क्योंकि एक पुरुषके मुक्त हो जानेसे सब मुक्त नहीं हो जाते। यह दूसरोंके लिये इसी प्रयोजनको साधनेमें लगा रहता है। प्रकृति किसी एक व्यक्ति विशेष के लिए नहीं बनी है वह तो मानव मात्र के भोग और मुक्ति के लिए बनी है। एक यात्री की यात्रा पूरी हो जाने से सभी यात्रियों की यात्रा पूरी नहीं हो जाती इसीलिये ट्रेन चलती रहती है।

पुरुष शब्दका अर्थ यहाँ पर चित्तमें प्रतिबिम्बित चिति-शक्ति (चेतन-तत्त्व) अर्थात् जीवात्मा है। चित्तको बनानेवाले गुणोंका जीवात्माके प्रयोजन भोग और अपवर्गको सम्पादन करनेके पश्चात् अपने कारणमें लीन हो जाना ही जीवात्माकी मुक्ति (कैवल्य) कही जाती है। चित्त पुरुषका दृश्यरूप है। वही वृत्तिरूपसे अन्य सब दृश्योंको पुरुषको बोध करानेका साधन है। एक चित्तके नष्ट होनेसे उसके द्वारा दृश्यमान सारा जगत भी उसके प्रति नष्ट होनेके तुल्य है, किंतु अनन्त जीवोंके चित्त जिन्होंने (जीवोंके) उनके प्रति भोग और अपवर्गका प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है अपने विषय सारे दृश्यमान जगत् सहित वर्तमान रहते हैं। उदाहरण के रूपमें यदि कोई छात्र कक्षा १० की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है तो उसके लिए उस कक्षा का अस्तित्व समाप्त हो जाता है । लेकिन किसी एक के उत्तीर्ण होने से अन्य जो (उत्तीर्ण नहीं हुए हैं) उनके लिए कक्षा १० पूर्ववत् बनी ही रहेगी । वह चाहे तो कक्षा १० में बैठना छोड़ दे लेकिन जब भी पढाई पुनः प्रारम्भ करेगा तो कक्षा १० से ही शुरू होगी । उसके लिए सभी नियम कानून, व्यवस्थाएं पहले की जैसी ही बनी रहेंगी । लेकिन जिसने कक्षा १० उत्तीर्ण कर ली, उसके लिए उस कक्षा के नियम, व्यवस्थाएं आदि सबकुछ निरर्थक हो जाते हैं । इसी प्रकार से प्रकृति भी मुक्त पुरुष के लिए नष्ट हो जाती है लेकिन अन्यों के लिए पहले के जैसी ही बनी रहती है । क्योंकि जीवात्मा असंख्य हैं। एक राजा यदि राज्य के प्रति विरक्त हो जाय तो उसके लिये राज्य नष्टप्राय ही है परन्तु अन्य राजाओं के लिये उसी राज्यमें आसक्ति होनेके कारण राज्य बना ही रहता है। विदेहराज जनक जैसे राजा विरले ही होते हैं। इसी बातको श्रुति अनुग्रहपूर्वक इस मन्त्र द्वारा समझाती है —

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरुपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ ४.५॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् "

(इस ब्रह्माण्ड में) एक अजन्मी, एक अजा = बकरी (प्रकृति) है जो कि लाल, सफेद और काले रंग (रज, सत्त्व और तम) वाली है । वह अपने जैसे रूप में बहुत सी प्रजाओं (वस्तुओं) को सृजती है, जन्म देती है । एक अजन्मा, या अज = बकरा (जीवात्मा), उसका भोग करता हुआ (अनुशेते) लेटता है, उसका सेवन करता है, जबकि दूसरे एक अजन्मे, या बकरे (जीवात्मा), ने पहले ही उस बकरी का भोग करके उसको त्याग दिया है ।

अलर्क को उनकी माता मदालसा ने राजधर्म की शिक्षा दी थी जबकि अन्य पुत्रों को निवृत्तिधर्म की शिक्षा दी गयी थी।

इस विषय में महाराज अलर्क की कहानी बहुत ही शिक्षाप्रद है। महाराज ऋतध्वज और माता मदालसा के पुत्र अलर्क थे अलर्क के बड़े भाई सुबाहु ने काशीनरेश की सहायता से इनपर आक्रमण कर दिया, मदालसा और दत्तात्रेय के परामर्श पर इन्होंने अपना राज्य सुबाहु को दे दिया और स्वयं त्यागी बन गये। मदालसा ने जो गुप्त संदेश एक ताम्रपत्र पर लिखकर एक अंगूठी में भरकर अलर्क को दिया था और कहा था कि बेटा! संकट के समय इसे खोलकर पढ़ लेना, वह संदेश इस प्रकार है —

"सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते ।

स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥३७.२३॥ मार्कण्डेयपुराणम्"

आसक्ति को हर तरह से पूरी तरह से त्याग दिया जाना चाहिए; यदि यह कठिन पाया जाता है, तो 'अचूक इलाज' के रूप में सदाचारियों की संगति की तलाश करें अर्थात् कभी भी किसीसे आसक्ति अथवा लगाव नहीं रखना चाहिये। यदि वह न छूट सके तो वह लगाव संतोंके साथ करना चाहिये। क्योंकि संतोंका संग ही भवरोगका बहुत बड़ा भेषज है, दवा है, औषधि है।

"कामः सर्वात्मना हेयो हातुञ्चेच्छक्यते न सः ।

मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥३७.२४॥ मार्कण्डेयपुराणम्"

कभी भी मनमें किसी प्रकारकी कामना नहीं करनी चाहिये। यदि कामनाका त्याग न हो सके तो उसको मुमुक्षाके प्रति करना चाहिये अर्थात् मोक्षकी कामना करनी चाहिये, क्योंकि वही कामना संसारके रोगोंका भेषज है। फिर भगवान दत्तात्रेय के उपदेश से जब अलर्क को आत्मानुभूति हुई तब उन्होंने कहा —

"यथा घटीकुम्भकमण्डलुस्थं आकाशमेकं बहुधा हि दृष्टम् ।

तथा सुबाहुः स च काशिपोऽहमन्ये च देहेषु शरीरभेदैः॥३७.४२॥ मार्कण्डेयपुराणम्"

जिस प्रकार कलसी, घट और कमण्डलु में एक ही आकाश है और पात्रभेद से अलग-अलग दिखाई देता है उसी प्रकार काशीराज, सुबाहु और अलर्क में एक ही आत्मतत्व है, शरीरके भेद के कारण अलग-अलग दिखाई देते हैं।

आचार्य शंकर ने भी साधनपञ्चक में कहा है कि —

"सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढाऽऽधीयतां

शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु सन्त्यज्यताम्।

सद्विद्वानुपसृप्यतां प्रतिदिनं तत्पादुका सेव्यतां

ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम्॥२॥

सज्जनों का साथ करें, प्रभु में भक्ति को दृढ़ करें, शांति आदि गुणों का सेवन करें, कठोर कर्मों का परित्याग करें, सत्य को जानने वाले विद्वानों की शरण लें, प्रतिदिन उनकी चरण पादुकाओं की पूजा करें, ब्रह्म के एक अक्षर वाले नाम ॐ के अर्थ पर विचार करें, उपनिषदों के महावाक्यों को सुनें ॥२॥

सङ्गति — दृश्यका रुप दिखलाकर अब हेयका हेतु जो दृश्य और द्रष्टाका संयोग है, उसका वर्णन करते हैं।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २.२३ ॥

स्वस्वामिशक्त्योः = स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिसंज्ञक (बुद्धि और पुरुषके); स्वरुप-उपलब्धि हेतुः = स्वरुपकी उपलब्धिका जो कारण है; संयोगः = वह (दृश्य-द्रष्टृका स्व-स्वामिभाव) संयोग है अर्थात् स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरुपकी उपलब्धि (दृश्य-द्रष्टृके स्व-स्वामिभाव) संयोगके वियोगका कारण है।

स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिसंज्ञक स्वरुपकी उपलब्धिका जो कारण है वह (दृश्य-द्रष्टृका स्व-स्वामिभाव) संयोग है। अर्थात् स्वशक्ति और स्वामी-शक्तिके स्वरुपकी उपलब्धि (दृश्य-द्रष्टृके स्व-स्वामिभाव) संयोगके वियोगका कारण है।

“दृश्यस्यास्योपलब्धिर्या सा भोगनामिका मता ।

द्रष्टुस्स्वरुपलब्धिश्च मोक्षस्स्याद्योगदर्शने ॥ १०८ ॥ योगसूत्रसारः”

व्याख्या — चित्त और यह सारा जड़ दृश्य स्व (मिल्कियत) है। चेतन पुरुष इसका स्वामी है। शक्ति शब्दका अर्थ स्वभाव या स्वरुप है, दृश्य ज्ञेय है और द्रष्टा ज्ञाता है। दृश्य और द्रष्टा दोनों नित्य और व्यापक हैं, उनका स्वरुपसे भिन्न कोई संयोग नहीं हो सकता। जो दृश्यमें भोग्यत्व और द्रष्टामें भोक्तृत्व है वह अनादि कालसे है। इस दृश्यके भोग्यत्व और द्रष्टाके भोक्तृत्व-भावको ही संयोग नाम दिया गया है। यह संयोग अनादिकालसे चला आ रहा है। इसीके हटानेके हेतु स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरुपकी उपलब्धि की जाती है। अर्थात् स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरुपकी उपलब्धि दृश्यद्रष्टाके स्व-स्वामिभाव संयोगके वियोगका कारण है। यह दृश्यके स्वरुपकी उपलब्धि अर्थात् दृश्यके स्वरुपका विवेकपूर्ण साक्षात् करना भोग है और द्रष्टाके स्वरुपकी उपलब्धि अर्थात् पुरुष-दर्शन या स्वरुप-स्थिति अपवर्ग है।

“इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥१.३.४॥ कठोपनिषद्”

मनीषीगण इन्द्रियों को अश्व तथा इन्द्रियगोचर विषयों को उनके विचरण के मार्ग कहते हैं। तथा ‘वह’ जो ‘आत्मा’, मन तथा इन्द्रियों से युक्त है, वह भोक्ता है।

“यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।१३.२७।। श्रीमद् भगवद्गीता”

हे भरत श्रेष्ठ ! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर जंगम (चराचर) वस्तु उत्पन्न होती है, उस सबको तुम क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के संयोग से उत्पन्न हुई जानो। अर्थात् प्रकृति और पुरुषके परस्परके सम्बन्धसे ही सम्पूर्ण जगत् की स्थिति है।

"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।

पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृत: सर्ग:।।२१।। सांख्यकारिका"

पुरुष के दर्शन के लिए एवं प्रधान (प्रकृति) के कैवल्य के लिए दोनों (पुरुष एवं प्रकृति) का ही संयोग अंधे ओर लंगड़े के समान (होता है), (यह सम्पूर्ण) सृष्टि उस (संयोग) के द्वारा (ही) बनी हई है।

"त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ १२.३१६.४० ॥ महाभारत"

सभी तरह के धर्म-अधर्म तथा सत्य-असत्य दोनों का ही परित्याग कर देना चाहिए। तदनन्तर जिसके द्वारा इस प्रकार सत्य-असत्य का परित्याग किया जाता है, उसका (उस बुद्धि का) भी त्याग कर देना चाहिए।

"शुद्धोसि बुद्धोसि निरंजनोऽसि संसारमाया परिवर्जितोऽसि ।

संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां मदालसोल्लापमुवाच पुत्रम् ॥ १ ॥"

माँ मदालसा ने लोरी सुनाते हुए कहा कि हे पुत्र ! तू संसार रुपी मायाका द्रष्टा है इसलिए तू इससे अलग है, यह संसार परिवर्तनशील और स्वप्न के समान है इसलिये मोहनिद्रा का त्याग कर क्योंकि तू शुद्ध ,बुद्ध और निरंजन है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें इस संयोगका कारण बताते हैं।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २.२४ ॥

तस्य {जन्माख्यस्य द्रष्टृदृश्यसंयोगस्य} हेतुः = उस जन्म नामवाले द्रष्टा और दृश्य के संयोगका कारण; अविद्या = अविद्या (मिथ्याज्ञान) है।

उस द्रष्टा और दृश्यके संयोग का कारण अनात्मा में आत्मबुद्धिरुप मिथ्या- ज्ञानवासनारुपी अविद्या है ।

"चितेश्चित्तस्य संयोगे त्वविद्या कारणं मतम्।

अविद्या सा यदा नष्टा संयोगोऽपि तथा गतः ॥ १०९ ॥योगसूत्रसारः"

चेतना का चित्तके साथ संयोग का कारण अविद्या अर्थात् मिथ्या-ज्ञान है, जब अविद्या नष्ट हो जाती है तब यह संयोग भी नष्ट हो जाता है। इस संयोगसे आत्मा और चित्तमें विवेक न होने से अभिन्नता प्रतीत होती है; और चित्तकी सुख, दुःख और मोहरुपी वृत्तियोंका पुरुषमें अध्यारोप होता है। इन वृत्तियों को अपना स्वरुप मान लेना अज्ञान है।

"तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।

गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीन: ॥ २० ॥ सांख्यकारिका"

इस कारण उनके संयोगसे (पुरुष और बुद्धिके अविद्याके कारण आसक्ति अथवा अविवेकपूर्ण संयोगसे) अचेतन बुद्धि, चेतन-सी और वैसे ही गुणोंके कर्ता न होने पर भी उदासीन (पुरुष) कर्ता जैसा प्रतीत होता है। यद्यपि पुरुष एवं प्रकृति अत्यन्त भिन्न हैं तथापि पुरुष को इस पार्थक्य का बोध नहीं रहता, इसलिए वह अपने को बंधा हुआ अनुभव करता है।

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।।३.२७।। श्रीमद्भगवद्गीता"

मूर्ख अज्ञानी मनुष्य कर्मोंमें किस प्रकार आसक्त होता है सो कहते हैं सत्त्व रजस् और तमस् इन तीनों गुणोंकी जो साम्यावस्था है उसका नाम प्रधान या प्रकृति है उस प्रकृतिके गुणोंसे अर्थात् कार्य और करणरूप समस्त विकारोंसे लौकिक और शास्त्रीय सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे किये जाते हैं। परंतु अहंकारविमूढात्मा कार्य और करणके संघातरूप शरीरमें आत्मभावकी प्रतीतिका नाम अहंकार है उस अहंकारसे जिसका अन्तःकरण अनेक प्रकारसे मोहित हो चुका है ऐसा देहेन्द्रियके धर्मको अपना धर्म माननेवाला देहाभिमानी पुरुष अविद्यावश प्रकृतिके कर्मोंको अपनेमें मानता हुआ उन-उन कर्मोंका मैं कर्ता हूँ ऐसा मान बैठता है। ज्ञान के साधनों में आचार्योपासन को मुख्य साधन माना गया है अतः यह ज्ञान आचार्यकी संन्निधि में ही प्राप्त किया जा सकता है।

"आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।

स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥"

जो शास्त्र के अर्थों को समझाते हुये उनकी हमारे भीतर स्थापना करता है। एवं स्वयं भी उनका आचरण करता है। वह आचार्य है।

सङ्गति — अब तक हेय (त्याज्य) का स्वरुप बताया, अब अगले सूत्रमें हान (प्राप्तव्य) का स्वरुप बतलाते हैं। अर्थात् अविद्याके कारण संयोगके नाशको जो कैवल्य है उसको बतलाते हैं।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ २.२५ ॥

तदभावात् = उसके (अविद्याके) अभावसे; संयोगाभावः = संयोगका अभाव; हानम् = हान है; (अर्थात् दुःखका अपने कारण सहित नाश) तत्-दृशेः = वह चिति शक्ति (द्रष्टा) का; कैवल्यम् = कैवल्य है।

उसके (अविद्याके) अभावसे संयोगका अभाव 'हान' है। (अर्थात् दुःखका अपने कारण सहित नाश) और वही चिति-शक्तिका कैवल्य है।

"संयोगस्य ह्यभावोऽसौ हानमित्यत्युते बुधैः।

कैवल्ये केवलो जीवो गुण वा केवलास्तथा ॥ ११० ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या — उस अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव हो जाता है, यही हान अर्थात् अज्ञान का परित्याग है और वही द्रष्टा चेतन आत्मा का 'कैवल्य' अर्थात् मोक्ष है। अथवा केवल गुणोंका ही व्यवहार रह जाता है। संयोगका अभाव होनेपर दोनों अलग-अलग होकर अकेले अर्थात् केवल रह जाँयगे। पुरुष और प्रकृति के बीच का संयोग का जब अभाव हो जाता है तो इस स्थिति को ही 'हान' के नाम से कहा गया है । दुःखो से मुक्ति को ही हान कहा है ।

अविद्याके विरोधी यथार्थ ज्ञानसे अविद्याका उच्छेद हो जाता है। अविद्याके अभाव होनेपर उसके कार्य संयोगका भी अभाव होता है वही 'हान' कहलाता है। मूर्त द्रव्यके समान इसका परित्याग नहीं होता, किंतु विवेकख्याति के उदय होनेपर अविवेक निमित्तज संयोग

स्वयं ही निवृत्त होजाता है। यही इस संयोगका ‘हान’ है। यह जो संयोगका नाश है वही स्वरूपसे नित्य केवली (शुद्ध-स्वरुप) पुरुषका कैवल्य कहलाता है।

सङ्गति — अब इस ‘हान’ की प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं। —

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २.२६ ॥

विवेक-ख्याति: = विवेकज्ञान; अविप्लवा = शुद्ध, निर्मल, अडोल अर्थात् संशय और विपर्यय से रहित; हानोपायः = हान का उपाय है।

शुद्ध माने मिथ्या-ज्ञानसे रहित जो विवेकख्याति है वह हान (कैवल्य) का उपाय है।

“हानप्राप्तेरुपायो हि विवेकख्यातिनामकः।

मिथ्याज्ञानविनिर्मुक्ता ख्यातिस्सा मोक्षकारणम् ॥ १११॥ योगसूत्रसारः”

व्याख्या — विवेक माने द्रष्टा और दृश्यका भेद तथा ख्याति माने ज्ञान होता है। इसलिये चित्त और पुरुष इन दोनोंकी भिन्नताका ज्ञान; अथवा ऐसा ज्ञान कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और चित्त मुझसे भिन्न हैं, यह विवेकख्याति है। यह विवेकज्ञान आगम अर्थात् आचार्यके उपदेश और शास्त्रोंके पढ़ने तथा अनुमानसे भी उदय होता है, पर यह परोक्ष ज्ञान है; और अनादि अविद्याके निवृत्त करनेमें असमर्थ होता है। मिथ्याज्ञानजन्य व्युत्थानके संस्कार चित्तमें बने रहते हैं और तामस-राजस वृत्तियाँ उदय होती रहती हैं। इस प्रकार यह विवेकख्याति विप्लव सहित है। विप्लव का अर्थ विच्छेद है अर्थात् जिसमें बीच-बीचमें राजसी-तामसी वृत्तियों का उदय होना बना रहे। इसलिये ऐसा विवेक-ज्ञान हानका (मोक्षका) उपाय नहीं है। यह ज्ञान जब दीर्घकाल निरन्तर सत्कारपूर्वक प्रतिपक्षभावनाके बलसे अर्थात् क्लेशके विरोधी क्रिया-योगके अनुष्ठानबलसे अविद्याके विरोधी तत्त्वज्ञान, अस्मिताके विरोधी भेदज्ञान, राग-द्वेषके विरोधी मध्यस्थता, अभिनिवेश के विरोधी सम्बन्ध ज्ञान निवृत्तिके अनुष्ठानसे जब परिपक्व हो जानेपर समाधिद्वारा साक्षात् कर लिया जाता है तो वह अपरोक्ष ज्ञान होता है। इससे अविद्याके नाश हो जानेपर कर्तृत्व-भोक्तृत्व अभिमानसे रहित और राजस-तामस मलोंसे शून्य चित्त हो जाता है। तब सत्त्वगुणके प्रकाशमें चित्तमें चेतनका जो प्रतिबिम्ब अर्थात् प्रकाश पड़ रहा है और जिसके कारण चित्तमें चेतनता प्रतीत हो रही है, चित्तसे भिन्न उसका साक्षात्कार होता है। यद्यपि यह साक्षात्कार भी चित्तके द्वारा होता है इसलिये चित्तहीकी एक सात्त्विक वृत्ति है तथापि इसके निरन्तर अभ्याससे विवेक-ज्ञानका प्रवाह निर्मल और शुद्ध हो जाता है, क्लेशोंका सर्वथा नाश होता है और मिथ्या-ज्ञान दग्धबीजके तुल्य बन्धनकी उत्पत्ति करनेमें असमर्थ हो जाता है। यही अविप्लव अर्थात् अडोल,अविच्छेद निर्मल हानका (मोक्षका) उपाय है।

दृश्यं नाम भूतेन्द्रियात्मकं, दृश्य माने पञ्चभूत और इन्द्रियोंका संयोग। द्रष्टा नाम चैतन्यम्। द्रष्टा माने चेतन आत्मा। दृश्यसान्निध्यवशात् पुरुषः परिणामीव, दृश्यकी समीपताके कारण चेतन पुरुष परिणामी जैसा भासता है। और पुरुषसान्निध्यवशात् दृश्यं चैतन्यमिव च भासते। पुरुष की समीपताके कारण दृश्य चेतन जैसा भासता है। सान्निध्यमथवा संयोग एव हेयकारणम्। यह सांनिध्य अर्थात् सामीप्यताका संयोग ही हेय का कारण है। यथा सम्यगलङ्कृतानि वस्तूनि तदिरभोगाय तथा च दृश्यं पुरुषदर्शनार्थं प्रवर्तते। जैसे अच्छी तरहसे सजाई हुई वस्तुऐं किसी अन्य पुरुषके भोगके लिये होतीं है वैसे ही सम्पूर्ण दृश्य की नुमायश पुरुषको दिखानेके लिये प्रवृत्त होती है। मुक्तस्य अविद्या अदृष्टा भवति न तु सर्वेषाम्। मुक्त पुरुषके लिये अविद्या अदर्शन को प्राप्त हो जाती है दूसरे लोगोंके लिये नहीं। अविद्याहेतुकसंयोगस्यास्याभावो हानम्। अविद्या कर्तृक संयोगका अभाव ही मोक्ष कहलाता है। तत्प्राप्तिमार्गस्तु विवेक ज्ञानम् । और उसकी प्राप्ति का मार्ग विवेक ज्ञान है।

“क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।१३.३५।। श्रीमद्भगवद्गीता"

इस प्रकार, जो पुरुष ज्ञानचक्षु के द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा प्रकृति के विकारों से मोक्ष को (अव्यक्त नामक अविद्यारूप भूतोंकी प्रकृतिके मोक्षको) यानी उसका अभाव कर देनेको भी जानते हैं, वे परमार्थतत्त्वस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् पुनर्जन्म नहीं पाते।

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।२.४५।। श्रीमद्भगवद्गीता"

वेद त्रैगुण्यविषयक हैं अर्थात् तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारको ही प्रकाशित करनेवाले हैं। गुण अलग हैं और पुरुष अलग है इस प्रकारके विवेक को विवेकख्याति कहते हैं। परंतु हे अर्जुन तू असंसारी हो निष्कामी हो। त्रिगुणातीत हो। तथा निर्द्वन्द्व हो अर्थात् सुख-दुःखके हेतु जो परस्पर विरोधी (युग्म) पदार्थ हैं उनका नाम द्वन्द्व है उनसे रहित हो और नित्य सत्त्वस्थ हो अर्थात् सदा सत्त्वगुणके आश्रित हो। तथा निर्योगक्षेम हो। अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेका नाम योग है और प्राप्त वस्तुके रक्षणका नाम क्षेम है योगक्षेमको प्रधान माननेवालेकी कल्याणमार्गमें प्रवृत्ति होनी अत्यन्त कठिन है अतः तू योगक्षेमको न चाहनेवाला हो। तथा आत्मवान् हो अर्थात् (आत्मविषयोंमें) प्रमादरहित हो।

विवेकख्यातिकी स्थितिको अर्थात् जब विवेक-ख्याति निरन्तर बनी रहे तब उसको अविप्लव विवेक-ख्याति कहेंगे। इसीका नाम धर्ममेघ समाधि है। यही जीवन्मुक्तिकी अवस्था है। हान का उपाय अविप्लव विवेकख्याति बतलाया है। विवेकख्यातिमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है उससे चित्त इतना विशुद्ध हो जाता है कि यह विवेकख्याति भी चित्तकी ही एक वृत्ति प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार इस विवेकख्यातिसे भी जो आसक्तिका हट जाना है उसीका नाम पर-वैराग्य है।

सङ्गति — निर्मल, निश्चल और निर्दोष अविप्लव (कभी भी न हटनेवाली) विवेकख्यातिमें योगीकी किस प्रकारकी प्रज्ञा होती है यह अगले सूत्रमें बतलायेंगे।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २.२७ ॥

तस्य = उसकी (निर्मल विवेकख्यातिवाले योगीकी); सप्तधा = सात प्रकारकी; प्रान्तभूमिः = सबसे ऊंची अवस्थावाली; प्रज्ञा = बुद्धि होती है।

उस निर्मल विवेकख्यातिवाले योगीकी सात प्रकारकी सबसे ऊंची अवस्थावाली प्रज्ञा होती है।

"तद्विदो योगिनः प्रज्ञा सप्तधा जायतेऽमला।

प्रज्ञां सप्तविधां प्राप्य योगी कैवल्यमश्नुते ॥ ११२ ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या — निर्मल विवेकख्याति द्वारा योगीके चित्तके अशुद्धि रूप आवरण और मल नष्ट हो जाने से दूसरे सांसारिक ज्ञानोंके उत्पन्न न होनेपर सात प्रकार की उत्कर्ष अवस्थावाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। उनमेंसे प्रथम चार प्रकारकी प्रज्ञा कार्यसे विमुक्त करनेवाली है। विमुक्ति चित्तके अधिकारकी समाप्तिको कहते हैं। यह चार प्रकारकी प्रज्ञासम्बन्धी विमुक्ति कार्य अर्थात् प्रयत्नसाध्य है, इस कारण वह कार्य-विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती है और अन्तकी तीन चित्तसे विमुक्त करनेवाली है, इस कारण वे चित्त-विमुक्त प्रज्ञा कहलाती हैं। उपर्युक्त चारों प्रज्ञाओंके लाभसे ये तीन प्रज्ञा स्वतः ही प्राप्त हो जातीं हैं।

१. हेयशून्य अवस्था — ज्ञातव्यमखिलं ज्ञातं, न किञ्चिदपि ज्ञातव्यमस्ति- परिज्ञातं हेयं, नास्य पुनः परिज्ञेयम् अस्ति । इत्येका।

जानने योग्य जो कुछ हेय था उस 'हेय' के बारे में सब कुछ जाना जा चुका है अतः अब इससे अतिरिक्त कुछ जानना शेष नहीं रहा अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है वह सब परिणाम, ताप और संस्कार रुपी दुःखों तथा गुणवृत्ति विरोधसे दुःखरूप ही है, इसलिये 'हेय' है — यह मैंने जान लिया। यह पहली बुद्धि बनती है ।

२. हेयहेतु क्षीण अवस्था — हातव्यास्सर्वे हिताः न किञ्चिदपि हातव्यमस्ति- क्षीणा हेयहेतवो, न पुनरेतेषां क्षेतव्यम् अस्ति । इति द्वितीया।

जो दूर करना था अर्थात् द्रष्टा और दृश्यका संयोग जो 'हेय-हेतु' है वह दूर कर दिया, अब कुछ दूर करनेयोग्य शेष नहीं रहा। छोड़ने योग्य जितने भी क्लेश थे, वे सभी पूर्ण रूप से क्षीण हो चुके हैं और इससे अधिक क्लेश क्षीण नहीं किये जा सकते हैं क्योंकि अब ये दग्धबीज हो चुके हैं । यह बुद्धि की दूसरी अवस्था है ।

३. प्राप्यप्राप्त अवस्था — प्राप्तव्यमखिलं प्राप्तं न किञ्चन्मे प्राप्तव्यमस्ति- साक्षात्कृतं निरोध-समाधिना हानम् । इति तृतीया।

निरोध रुपी समाधिके द्वारा जो हान की स्थिति मुझे प्राप्त करनी थी, उसे मैंने प्राप्त कर लिया है अतः जो कुछ पाने योग्य था वह मुझे प्राप्त हो चुका है । इस तरह पानेकी लालसा का अन्त हो जाना ही तीसरे प्रकारकी बुद्धि का स्तर है ।

४. चिकीर्षाशून्य अवस्था — भावितो विवेक-ख्याति-रुपो हानोपायैति । कर्तव्यमखिलं कृतं न किञ्चन्मे कर्तव्यमस्ति- इति चतुर्थी।

हान के उपाय स्वरूप जो विवेकख्याति की स्थिति वह मुझे प्राप्त हो चुकी है, ऐसी दृढ बुद्धि का हो जाना ही बुद्धि का चतुर्थ स्तर है । यह प्रज्ञा पर-वैराग्यकी पराकाष्ठा है अर्थात् बुद्धि व्यापारकी प्रान्त रेखा है।

५. चित्तविमुक्तिप्रज्ञा — चरिताधिकारा बुद्धिः । कृतार्थं बुद्धितत्वम्- इति पञ्चमी।

चित्तने अपना अधिकार भोग और अपवर्ग देनेका काम पूरा कर दिया है, अब उसका कोई अधिकार शेष नहीं रहा है। बुद्धि ने अपनी अंतिम स्थिति को पा लिया है और इसके अतिरिक्त बुद्धि का कोई भी कार्य शेष नहीं रह जाता है इस प्रकार की अनुभूति बुद्धि का पांचवा स्तर है ।

६. गुणलीनता — गुणाः – गिरिशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति । न चैषां प्रविलीनानां पुनः सत्य् उत्पादः, प्रयोजनाभावादिति । गुणाः कृताधिकारा – इति षष्ठी

चित्त में से तीन गुण सदा के लिए अपने कारण में लीन हो गये हैं और अब इनकी पुनः उत्पत्ति संभव नहीं है ऐसा ज्ञान उदित कराने वाली बुद्धि की छठी स्थिति है । जैसे पर्वत की ऊँची चोटीसे से लुढकता हुआ पत्थर सीधे नीचे खाई में जाकर चूर-चूर हो जाता है और पुनः शिखर पर नहीं चढ़ सकता है, उसी प्रकार सत्व आदि तीन गुण वहीं अपने कारणमें लीन हो जाते हैं जहाँ से वे आये थे और फिर कभी ऐसे योगी के चित्त में प्रविष्ट नहीं होते हैं । गुणातीत होने के कारण इस अनुभूति को बुद्धि का छठा स्तर कहते हैं ।

७. आत्मस्थिति — एतस्याम् अवस्थायांगुण-सम्बन्धातीतः स्वरुपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुषैति । गुणातीतोऽहं स्वरुपमात्रावस्थितः सच्चिदेकरसः इति सप्तमी ।

आत्मा त्रिगुणातीत होकर स्वयं के सच्चे स्वरुप, अकम्पित ज्योति-स्वरुप को प्राप्त होकर आत्मस्थ हो जाती है । तब निर्मल और गुणातीत आत्मा केवल अपने शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त स्वरुप में भासित होती है । यह अंतिम और सबसे उत्कृष्ट बुद्धि का सांतवा स्तर है।

इस सात प्रकारकी प्रान्तभूमि प्रज्ञाको अनुभव करता हुआ योगी कुशल (जीवन्मुक्त) कहा जाता है। और चित्तके अपने कारणमें लीन होनेपर भी कुशल (विदेहमुक्त) कहलाता है। ये दोनों ही गुणातीत अर्थात् गुणोंके सम्बन्धसे रहित केवल शुद्ध आत्मस्वरूपसे स्थित होते

हैं। इसलिये यह योगी विदेहमुक्त अवस्थाको जीवन्मुक्त दशामें ही प्रत्यक्ष कर लेता है।

सङ्गति — हानका (मोक्षका) उपाय निर्मल विवेकख्यातिकी प्रज्ञाओंका स्वरूप दिखाकर अब उसकी प्राप्तिके साधन योगके अङ्गोंको बतलाते हैं।

योगाङ्गाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २.२८ ॥

योग-अङ्ग-अनुष्ठानात् = योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे; अशुद्धिक्षये = अशुद्धिके नाश होनेपर; ज्ञानदीप्तिः = ज्ञानका प्रकाश; आविवेक-ख्यातेः = विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है।

योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिके नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है।

"योगिनो लक्ष्यसंसिद्धिस्साधनं हि समाश्रिता।

योगाङ्गानामनुष्ठानं साधनं चित्तनिग्रहे ॥ ११३ ॥ योगसूत्रसारः"

"योगाङ्गानामनुष्ठानादशुद्धिर्नाश्यते ध्रुवम् ।

अशुद्धेश्च क्षये नूनं विवेको राजते महान् ॥ ११४ ॥योगसूत्रसारः"

व्याख्या — योगके आठ अङ्गोंके अनुष्ठानसे क्लेश रूपी अशुद्धि दूर होती है और सम्यक् ज्ञानका प्रकाश बढ़ता है। इन अङ्गोंका अनुष्ठान जितना-जितना बढ़ता जाता है उतनी ही क्लेशकी निवृत्ति और ज्ञानके प्रकाशकी अधिकता होती जाती है। यहाँतक कि यह ज्ञानके प्रकाशकी वृद्धि विवेकख्याति पर्यन्त पहुंच जाती है, योगके अङ्गोंका अनुष्ठान अशुद्धिके वियोगका कारण है और विवेक- ख्यातिकी प्राप्तिका कारण है। जैसे धर्म सुखका कारण होता है।

ये कारण नौ प्रकार के हैं —

"उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।

वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्।।"

कारण नौ प्रकारका माना गया है।

(१) उत्पत्ति-कारण — जैसे बीज वृक्षका या मन विज्ञानका या अविद्या संयोगकी उत्पत्तिका कारण है।

(२) स्थिति-कारण — जैसे आहार शरीरकी स्थितिका या पुरुषार्थ मनकी स्थितिका; क्योंकि मन तबतक बना रहता है जबतक भोग और अपवर्गको सिद्ध नहीं कर देता।

(३) अभिव्यक्ति-कारण — जैसे प्रकाश रूपकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) का कारण है या रूपज्ञान पौरुषेय बोधकी अभिव्यक्तिका कारण है।

(४) विकार-कारण — जैसे अग्निसे पककर चावल बदल (गल) जाते हैं, सो अग्नि उनका विकार-कारण है, या मनका दूसरे विषयमें लग जाना मनके विकारका कारण है।

(५) प्रत्यय-कारण — जैसे धुऐंका देखना अग्निके ज्ञानका कारण है।

(६) प्राप्ति-कारण — जैसे धर्म सुखकी प्राप्तिका कारण है, या योगके अङ्गोंका अनुष्ठान विवेक-ख्यातिकी प्राप्तिका कारण है।

(७) वियोग-कारण — जैसे कुल्हाड़ा लकड़ीके टुकड़ोंके वियोगका कारण है या स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि संयोगके वियोगका कारण है। या योगके अङ्गोंका अनुष्ठान अशुद्धिके वियोगका कारण है।

(८) अन्यत्व-कारण — जैसे सुनार सोनेके कुण्डलको दूसरी वस्तु अर्थात् कड़ा बना देनेका कारण है या जैसे रूपवती स्त्रीका देखना एक ही है, पर वह देखना पतिके सुख, सपत्नियोंके दुःख और बेगाने पुरुषोंके मोह तथा तत्त्वज्ञानीकी उदासीनता का कारण होता है।

(९) धृति-कारण — जैसे शरीर इन्द्रियों (प्राणों) के धारनेका कारण है; और इन्द्रिय (प्राण) शरीरके धारनेके कारण हैं या मनुष्य, पशु, पक्षी, ओषधि, वनस्पति एक-दूसरेके धारनेके कारण हैं। — (व्यासभाष्य)

गीताजी में भी कहा है कि —

"देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।३.११।। श्रीमद्भगवद्गीता"

तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवतागण तुम्हारी उन्नति करें। इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुये परम श्रेय को तुम प्राप्त होगे।

शरीरको नीरोग और दृढ़ रखनेके लिये षट्कर्म और मुद्रा कारण हैं।

(१). धौती (२). बस्ती (३). नेति (४). त्राटकं (५). नौलि (६). कपालभाती —

ये षट्कर्म देहशुद्धि के कारण कहे जाते हैं। तथा महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, शक्तिचालनमुद्रा, मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणीमुद्रा आदि शरीरकी दृढ़ताके लिये उपयोगी हैं। इनका वर्णन आगे किया जायगा।

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां, क्षयात् पापस्य कर्मणः।

यथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि।। १,२३७.७ ॥ गरुडपुराणम्"

पाप कर्मों के क्षीण होने पर पुरुष के अन्दर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जब ज्ञान की उत्पत्ति होती है तब वह स्वच्छ दर्पणमें प्रतिबिम्ब के समान अपने आत्मा में आत्मा को देखता है।

सङ्गति — उस राजयोगके ये आठ अङ्ग हैं, जिनसे अशुद्धिका क्षय होकर ज्ञानका प्रकाश होता है। —

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥२.२९॥

यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि अष्टौ अङ्गानि = आठ योगके अङ्ग हैं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि — (ये) आठ योगके अङ्ग हैं।

व्याख्या — ये आठ योगके अङ्ग विवेकख्यातिके साधन हैं। उनमेंसे धारणा, ध्यान, समाधि — साक्षात् सहायक होनेसे योगके अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं।

"यमाश्च नियमाश्चैव ह्यासनम् श्रद्धया कृतम् ।

प्राणायामश्च तत्त्वेन प्रत्याहारस्तथैव च ॥ ११५ ॥

धारणाध्यानयोगाश्च योगाङ्गानि पृथग्विधाः।

ते न केनाऽप्यवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ११६ ॥ योगसूत्रसारः"

यम-नियम योगके रुकावट हिंसादि वितर्कोंको निर्मूल करके समाधिको सिद्ध करते हैं। अन्य तीन (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) अगले-अगले अङ्गोंमें उपकारक हैं अर्थात् आसनके जीतनेपर प्राणायामकी स्थिरता होती है और प्राणायामकी स्थिरतासे प्रत्याहार सिद्ध होता है।

"अहिंसा सर्वभूतेषु मनोवाक्कायकर्मभिः।

सर्वत्र सर्वदा चैव त्वनुष्ठेया मुमुक्षुभिः ॥ ११७ ॥

योगकी शुरुआत अहिंसासे होती है। मोक्षकी इच्छा रखनेवालेको सर्वत्र और सर्वदा मन,वाणी और कर्मसे अहिंसाका अनुष्ठान करना चाहिये।

तत्सापेक्षं तथा ज्ञेयं सप्तकञ्चोत्तरोत्तरम् ।

योगाङ्गनामनुष्ठानं ततो मुख्यं मुमुक्षुणः ॥ ११८ ॥

योगके सारे अङ्ग इसी अहिंसाके ऊपर आधारित हैं।

निस्सरन्ती वहिश्शक्तिर्योगाङ्गैर्गृह्यते यदा।

तदा संवर्धते सत्यं दैहिकं मानसं बलम् ॥ ११९ ॥ योगसूत्रसारः"

बाहर बहती हुई शक्ति जब योगाङ्गोंके द्वारा निगृहीत करली जाती है तब निश्चयही शारीरिक और मानसिक बलकी वृद्धि होती है। समाधिपादमें बतलाये हुए अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा, वीर्य आदि और इस साधनपादमें बतलाया हुआ क्रियायोग इन्हीं आठों अङ्गोंके अन्तर्गत हो जाते हैं। अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि बिना अभ्यास-वैराग्यके नहीं हो सकते; क्योंकि अभ्यास तो इन आठों अङ्गोंका पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप ही है और बिना वैराग्यके समाधि सिद्ध हो ही नहीं सकती; क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधिमें एकाग्रता अर्थात् एकवृत्ति रहती है, जिसमें राग बना रहता है, पर उस वृत्तिमें राग स्थिर नहीं रह सकता। जबतक उससे इतर अन्य सब प्रकारकी वृत्तियोंमें वैराग्य न हो। सम्प्रज्ञात-समाधिकी पराकाष्ठा विवेकख्याति है। उसमें भी जो वैराग्य है वह पर-वैराग्य कहलाता है; और निर्बीज-समाधिका साक्षात् सहायक होनेसे उसका अन्तरङ्ग साधन है। श्रद्धा, वीर्यके बिना किसी साधनका अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। क्रियायोगके तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान नियममें आ जाते हैं। महाभारतमें भी योगके आठ अङ्ग बतलाये हैं — "तावदेवाष्टगुणिनं योगप्राहुर्मनीषिणः। सूक्ष्ममष्टगुणं प्राहुर्नेतरं नृपसत्तम।। १२.३२१.७ ।। महाभारतम्-शांतिपर्व- अध्याय ३२१" पाठान्तर "वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः।" मनीषिगण वेदोंमें योगको अष्टाङ्ग कहते हैं। इसी का अनुकरण लिंगपुराण में भी हुआ है –

"योगो निरोधो वृत्तेषु चित्तस्य द्विजसत्तमाः।।

साधनान्यष्टधा चास्य कथितानीह सिद्धये।। ८.७ ।। लिङ्गपुराणम् "

श्रेष्ठ आचार्यों ने योग के जिन आठ अंगों का उल्लेख किया है वे मन की प्रसन्नता के द्वारा मुक्ति के कारण होते हैं। विविध संक्लेश संकुल संसार से निवृत्ति के लिए क्रमश: अन्तर्मुख होने का सुगम साधनमार्ग अष्टांग योग है, जिसमें अन्य किसी साधना की अपेक्षा न होने से यमों का सर्वप्रथम स्थान है। इसी प्रकार क्रमानुसार उत्तरोत्तर आसन, प्राणायाम आदि स्वपूर्ववर्ती नियम, आसनजयादि कारण सापेक्ष है। यमों को अपने पूर्व अष्टांग योग में से किसी के भी अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती है। इन यमों के नाम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। इन्हीं अहिंसादिक का अनुष्ठान जब सार्वभौम अर्थात् सबके साथ सब जगह और सब काल में समान भाव से किया जाता है तब ये महाव्रत हो जाते हैं। अब आगे यथा-क्रम इनके अनुष्ठान और स्वरूपको बतलायेंगे।

योग के आठ अङ्ग इस प्रकार हैं —

१. यम =अहिंसा, सत्यं, अस्तेयं, ब्रह्मचर्यं, अपरिग्रहः- एते-यमाः।

ये पाँच यम हैं। सबसे प्रथम अपने व्यावहारिक जीवनको यमोंद्वारा सात्त्विक और दिव्य बनाना होता है।

२. नियम = शौचं, सन्तोषः, तपः, स्वाध्यायः, ईश्वरप्रणधानम्- एते-नियमाः।

ये पाँच नियम हैं। नियमोंका सम्बन्ध केवल अपने व्यक्तिगत शरीर, इन्द्रियों तथा अन्तःकरणके साथ है, इनके पालनसे जीवन निर्मल, सात्त्विक, पवित्र और दिव्य बन जाता है।

३. आसन = पद्मश्वस्तिकादीनि- एते-आसनानि।

पद्मासन,स्वस्तिकासन आदि आसन हैं। आसनका सम्बन्ध शारीरिक क्रियासे है। इसके द्वारा शरीरकी चञ्चलता और अस्थिरता और तमरुप आलस्य और प्रमाद हटकर शरीरमें सात्त्विकता और दिव्यता उत्पन्न होती है।

४. प्राणायाम = श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः- प्राणायामः।

प्राणायामद्वारा प्राणकी गतिको रोककर अथवा धीमा करके शरीरकी आन्तरिक गति (प्राण) को सात्त्विक (दिव्य) बनाया जाता है।

५. प्रत्याहार = इन्द्रियाणां चित्तस्वरुपानुकारः प्रत्याहारः।

प्रत्याहारके द्वारा इन्द्रियोंको आलस्य और प्रमादरुप तमोगुण और बहिर्मुखतारुप रजोगुणसे शून्य करके इनको सात्त्विकरुपमें चित्तके साथ अन्तर्मुख करके दिव्य बनाना होता है।

६. धारणा = चित्तस्य विविधप्रदेशेषु एकदेशे स्थापनं- धारणा।

धारणाद्वारा चित्तके मूढ़ और क्षिप्तरुप तमस् और रजस् को हटाकर उसको सात्त्विकरुपमें वृत्तिमात्रसे किसी एक विषयमें ठहराकर दिव्य बनाना होता है।

७. ध्यान = एकरुपवृत्तिप्रवाहः ध्यानं।

जिस विषयमें चित्तको वृत्तिमात्रसे ठहराया है, उस वृत्तिको अस्थिर करनेवाले रजस् और प्रमाद उत्पन्न करनेवाले तमस् को हटाकर चित्तको उस सात्त्विक (दिव्य) रुपसे लगातार उस एक वृत्तिमें ही ठहराना होता है।

८. समाधि = ध्येयस्यासन्दिग्धसर्वात्मना भानं – समाधिः।

जिस विषयमें चित्तको वृत्तिमात्रसे ध्यानमें अविच्छिन्नताके साथ लगाया है, उस ध्येयाकार वृत्तिको जो रजस् ध्यान और ध्यातृरूप आकारतामें ले जा रहा है और तमस् जो उस ध्यान और ध्यातृरूप आकारताको रोके हुए है, उस लेशमात्र रजस् और तमस् को भी हटाकर समाधिमें चित्तका उस सात्त्विक (दिव्य) रूपमें ध्यातृ और ध्यानसे शून्य-जैसा होकर केवल ध्येयाकाररूपसे भासना होता है।

सङ्गति — यम-नियमके बिना कोई भी अभ्यासी योगका अधिकारी नहीं हो सकता। यह न केवल अभ्यासियोंके लिये ही वरं सब आश्रमवालोंके लिये अत्यावश्यक है। इनमें यमोंका सारे समाजसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इस कारण इनके पालनमें सब मनुष्य परतन्त्र हैं अर्थात् यह सब मनुष्योंका परम कर्त्तव्य है, जैसा कि मनु महाराज लिखते हैं —

"यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।

यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ।। ४.२०४।। मनुस्मृतिः"

अर्थात् बुद्धिमान् को चाहिये कि यमों का लगातार सेवन करें, केवल नियमों का ही नहीं; क्योकि केवल नियमों का सेवन करने वाला यमों का पालन न करता हुआ गिर जाता है।

यमास्तु जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना महव्रतमित्युच्यते।

यमों का जाति-देश-काल और समय से अबाधित होकर सर्वत्र, सर्वदा सभीको सत्कार करना चाहिये क्योंकि इन्हें महाव्रत कहा गया है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ २.३० ॥

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा: = अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; यमाः = यम हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय,(चोरी का अभाव) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह का अभाव) ये पाँच यम हैं।

व्याख्या — (१) अहिंसा — मन, वचन एवं कर्म से तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदिकी मनोवृत्तियोंके साथ किसी प्राणीको शारीरिक, मानसिक पीड़ा अथवा हानि पहुंचाना या पहुंचवाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूपसे उसका कारण बनना हिंसा है, इससे बचना अहिंसा है। किसी भी प्राणी के प्रति वैरभाव नहीं रखना अहिंसा कहलाता है । यह अहिंसा भाव रूप में भी होनी चाहिए और क्रिया में भी दिखनी चाहिए | ऐसा न हो कि भाव तो अहिंसा का रखते हैं लेकिन क्रिया रूप में हिंसा हो रही है अतः भाव और क्रिया रूप से किसी भी प्राणी को (मनुष्य हो या पशु, पक्षी या अन्य कीट पतंग) को शरीर, वाणी अथवा मनसे किसी भी प्रकार से जानबूझकर कष्ट नहीं देना अहिंसा कहलाता है । प्राणोंका शरीरसे वियोग करना सबसे बड़ी हिंसा है। अहिंसा ही सब यम-नियमोंका मूल है, उसीके साधन तथा सिद्धिके लिये अन्य यम और नियम हैं। अतः योगियोंके लिये तो अहिंसाका उच्चतम स्वरुप प्राणिमात्रमें अपनी आत्माको व्यापकरुपमें देखना है। यथा —

"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६॥ ईशोपनिषद्"

जो साधक सभी भूतों या सत्ताओं को अपनी आत्मा में ही देखता है और सभी भूतों या सत्ताओं में परम आत्मा को देखता है, फिर वह इस (सर्वात्मदर्शन या समदर्शन) के कारण ही सर्वत्र एक ही आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात्, किसी से कतराता नहीं, घृणा नहीं करता।

"यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥ ईशोपनिषद्"

जिस समय पूर्ण ज्ञान, विज्ञान से सम्पन्न होने के कारण जिस मनुष्य के अन्दर यह परमोच्च चेतना जाग गयी है कि स्वयम्भू आत्मसत्ता ही, परम आत्मा ही स्वयं सभी भूत, सभी सत्ताएं या सम्भूतियां बना है, उस समय उस मनुष्य में फिर मोह कैसे होगा, शोक कहां से होगा जो सर्वत्र आत्मा की एकता ही देखता है।

(२) सत्य — वस्तुका यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। किसी भी वस्तु, व्यक्ति या स्थान के विषय में हम जो कुछ या जैसा भी जानते, समझते और मानते और सुनते हैं वाणी से उसी में रुप व्यक्त करना ही सत्य कहलाता है । जाने, समझे, अनुभव एवं माने गए विषयों की यथार्थ अभिव्यक्ति को सत्य कहते हैं | अपनी ओर से कुछ भी बढ़ा या घटाकर बोलना असत्य हो जाता है | मनु महाराज ने कहा —

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ ४.१३८॥ मनुस्मृतिः"

अर्थात् सत्य बोलें, मीठा बोलें, कड़वा सत्य न बोलें। अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिये । झूठ प्रिय हो तब भी नहीं बोलना चाहिये यही सनातन धर्म है ।

(३) अस्तेय — अन्यायपूर्वक किसीके धन, अथवा अधिकार आदिका हरण करना स्तेय (चोरी) है। चोरी नहीं करने का भाव अस्तेय कहलाता है । सांसारिक व्यवस्था के अंतर्गत सभी संसाधनों का स्वामित्व किसी न किसी के पास होता ही है अतः बिना स्वामी से पूछे किसी भी वस्तु को न लेना अस्तेय कहलाता है।

(४) ब्रह्मचर्य — ब्रह्मचर्य का अर्थ है कि मैथुन तथा अन्य किसी प्रकारसे भी वीर्यका नाश न करते हुए जितेन्द्रिय रहना अर्थात् अन्य सब इन्द्रियोंके निरोधपूर्वक 'उपस्थेन्द्रिय' के संयमका नाम ब्रह्मचर्य है। पूर्णतया ब्रह्मचर्यका पालन वही कर सकता है जो ब्रह्मचर्यके नाश करनेवाले पदार्थोंके भक्षण तथा कामोद्दीपक दृश्योंके देखने और इस प्रकारकी वार्ताओंके सुनने तथा ऐसे विचारोंको मनमें लानेसे भी बचता रहे।

ब्रह्म – ईश्वर – चर्य – चिन्तन = ईश्वर चिन्तन

ब्रह्म – वेद – चर्य – अध्ययन =वेद अध्ययन

ब्रह्म – ज्ञान – चर्य – उपार्जन = ज्ञानोपार्जन

ब्रह्म – वीर्य – चर्य – रक्षण = वीर्य रक्षण

जो मनुष्य ईश्वर प्राप्ति, विद्या प्राप्ति, ज्ञान प्राप्ति, और वीर्य की रक्षा करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥१९॥ अथर्ववेदः/काण्डं ११/सूक्तम् ०७"

अर्थात् – ब्रह्मचर्य के तपसे देव मृत्यु को (कालको भी) जीत लेते हैं। इन्द्र निश्चयसे ब्रह्मचर्य द्वारा देवताओंमें श्रेष्ठ बना है।

"न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम् |

ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः ||"

ब्रह्मचर्य ही उत्कृष्ट तप है। इससे बढ़कर तपश्चर्या दूसरी नहीं हो सकती | ऊर्ध्वरेता पुरुष इस लोक में मनुष्यरूप में प्रत्यक्ष देवता ही है।

"सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।

यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत्।।९०।। शिवसंहिता"

अर्थात् – जिसने यत्नपूर्वक अपने वीर्य को सिद्ध कर लिया है उसके लिए इस पृथ्वी में कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता है। सिद्धवीर्य पुरुष तो मेरे समान समर्थ हो सकता है । शिवजी ने ऐसा कहा कि – इस ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही मेरी ऐसी महान महिमा हुई है।

"रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जाया: शुक्रसम्भव: ll (सुश्रुत)"

मनुष्य जो कुछ भोजन करता है वह पहिले पेटमें जाकर पचने लगता है फिर उसका रस बनता है। पाँच दिन तक उसका पाचन होकर रक्त बनता है। पाँच दिन बाद रक्त से मांस, उसमें से ५-५ दिन के अंतर से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से अंत में वीर्य बनता है। स्त्री में जो यह धातु बनती है उसे 'रज' कहते हैं। इस प्रकार वीर्य बनने में करीब ३० दिन व ४ घण्टे लग जाते हैं।

"एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।

मरणं बिन्दुंपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।।८८।। हठयोग प्रदीपिका तृतियोपदेशः"

वीर्य की हानि अर्थात् वीर्यपात मृत्यु का प्रतीक है और वीर्य की रक्षा जीवन का । अतः जो साधक वीर्य की रक्षा कर लेता है । वह मृत्यु को भी जीत लेता है । इस प्रकार ब्रह्मचर्य अष्टविध मैथुन की निवृत्ति को कहते हैं ।

"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।

संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।"

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः"

अर्थात् – नारी का स्मरण, स्त्रियों की चर्चा करना, उनके साथ खेलना-कूदना, यौवन और सौन्दर्य से आकृष्ट होकर बार-बार देखना, एकान्त में बातें करना, भोग-विलास की बातें सोचना तथा करना, फिर नारी की प्राप्ति की कामना करना यह सब अब्रह्मचर्य है तथा इनका पूर्णतया त्याग ही ब्रह्मचर्य है।

(५) अपरिग्रह — आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना ही अपरिग्रह है।

सङ्गति — इस प्रकार समान्यरुपसे यमोंका निरुपण करके अगले सूत्रमें उनकी सबसे ऊंची अवस्था बतलाते हैं।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ २.३१ ॥

जाति-देश-काल-समय-अनवच्छिन्नाः = जाति, देश, काल, समय, (संकेत 'नियम-विशेष') की सीमासे रहित; सार्वभौमा: = सब अवस्थाओंमें पालन करने योग्य; महाव्रतम् = महाव्रत हैं।

जाति, देश, काल, और समयकी हदसे रहित सर्वभूमियोंमें, (सभी देशों में) सब अवस्थाओंमें पालन करने योग्य "यम" महाव्रत कहलाते हैं।

व्याख्या — जाति, देश, काल, और समय (संकेत 'नियम-विशेष') की हदसे रहित होनेका यह अभिप्राय है कि इनके द्वारा अहिंसा आदि यम संकुचित न किये जायँ।

जातिद्वारा संकुचित — गौ आदि पशु अथवा ब्राह्मणकी हिंसा नहीं करूंगा।

देशद्वारा संकुचित — हरिद्वार, मथुरा, प्रयाग, काशी, द्वारका आदि तीर्थोंमें हिंसा नहीं करूँगा।

कालसे संकुचित — चतुर्दशी, एकादशी आदि तिथियोंमें हिंसा नहीं करूंगा।

समयद्वारा संकुचित — समयका अर्थ यहाँ काल नहीं है बल्कि विशेष नियम या विशेष संकेत है। जैसे देव अथवा ब्राह्मणके प्रयोजन-सिद्धिके लिये हिंसा करूँगा, अन्य प्रयोजनसे नहीं। इसी प्रकार अन्य यमोंको समझ लेना चाहिये। अर्थात् समयावच्छिन्न सत्य— प्राणहरण आदिके संकटसे अतिरिक्त मिथ्याभाषण नहीं करूँगा। समयावच्छिन्न अस्तेय — दुर्भिक्षके अतिरिक्त चोरी न करूँगा। समयावच्छिन्न ब्रह्मचर्य — ऋतुकालसे अन्य समयमें स्त्रीगमन नहीं करूँगा। समयावच्छिन्न अपरिग्रह — परिवारके परिपालनके लिये ही परिग्रह ग्रहण करूँगा।

जब ये यम इस प्रकारकी संकीर्णतासे रहित सब जातियोंके लिये सर्वत्र सर्वदा सर्वथा पालन किये जाते हैं, तब महाव्रत कहलाते हैं। यम शब्दका अर्थ ही है शासन और व्यवस्था रखनेवाला। इनके पालनसे संसारकी व्यवस्था ठीक रह सकती है।

"सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते।

तेषां भयोत्पादनजातखेदः कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधानः।।१२.२५१.२५।। महाभारतम्-शांतिपर्व"

सभी प्राणी सुखमें आनन्दित होते हैं और सर्व प्राणी दुःखसे अति त्रस्त होते हैं। अतः प्राणियोंको भय उत्पन्न करेने में खेद का अनुभव करता हुआ श्रद्धालु पुरुष भयोत्पादक कर्म न करे।

इन हिंसादि पापोंसे बचनेके लिये लिये सनातनधर्ममें पञ्च महायज्ञोंका विधान किया गया है। —

"ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञञ्च सर्वदा।

नृयज्ञं पितृयज्ञञ्च यथाशक्ति न हापयेत्।। ४.२१ ।।(मनुस्मृति)

ऋषियज्ञ-वेदाध्ययन, देवयज्ञ-होम-हवन, भूतयज्ञ-बलि, नृयज्ञ-अतिथि सत्कार-सेवा और पितृयज्ञ-तर्पण; इनका यथाशक्ति त्याग ने करे।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।।(मनुस्मृति, ३.७०)"

अध्यापन-कार्य (पढ़ना-पढ़ाना) ब्रह्मयज्ञ, पितरों का तर्पण पितृयज्ञ, होमकार्य दैवयज्ञ, बलिप्रदान भूतयज्ञ, एवं अतिथि-सत्कार नृयज्ञ हैं । यथाशक्ति इन पञ्च महायज्ञोंका लोप नहीं करना चाहिये।

"एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।

अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ ४.२२ ॥ मनुस्मृतिः।"

कुछ व्यक्ति, जो यज्ञ से संबंधित अध्यादेशों से परिचित हैं, ऐसे कुछ पुरुष जो इन पाँच महायज्ञों को नियमित रूप से बाह्य यज्ञ न करके इन्द्रियों को ही अग्निरूप मानकर उनमें विषयों का होम करते हैं, इन महान बलिदानों को अपनी ज्ञानेन्द्रियों का संयम करके ज्ञानेन्द्रियों में ही हवन करते हैं।

सबसे बड़ी हिंसा आध्यात्मिक हिंसा है, जैसा कि ईशोपनिषद् में बताया है —

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३॥ ईशोपनिषद्"

जो कोई आत्मघाती लोग हैं (अर्थात् अपने अन्तःकरणको मलिन करनेवाले हैं) वे मरकर उन लोकोंमें (योनियोंमें) जाते हैं जो असुरोंके लोक कहलाते हैं, जो लोक सूर्य से रहित हैं और गाढ़े अन्धकार से आच्छादित हैं। उन लोकों को वे सभी लोग यहां से प्रयाण करने पर पहुंचते हैं जो कोई भी अपनी आत्मा का हनन करते हैं। अर्थात् ज्ञानरहित मूढ़ नीच योनियोंमें जाते हैं।

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥३॥ कैवल्योपनिषद्"

उस (अमृत) की प्राप्ति न कर्म के द्वारा, न सन्तान के द्वारा और न ही धन के द्वारा हो पाती है। (उस) अमृतत्व को सम्यक् रूप से (ब्रह्म को जानने वालों ने) केवल त्याग के द्वारा ही प्राप्त किया है। स्वर्गलोक से भी ऊपर गुहा अर्थात् बुद्धि के गह्वर में प्रतिष्ठित होकर जो ब्रह्मलोक प्रकाश से परिपूर्ण है, ऐसे उस (ब्रह्मलोक) में संयमशील योगीजन ही प्रविष्ट होते हैं ॥

सङ्गति — सर्वसमाजसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मरूप यमोंका वर्णन करके अब वैयक्तिक धर्मरूपी नियमोंको बतलाते हैं।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २.३२ ॥

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर-शरणागति) ये पाँच नियम नियम हैं।

व्याख्या — शौच दो प्रकारका है — बाह्य और आभ्यन्तर।

"बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ।

मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनः शुद्धिरथान्तरम् ।। ११.२८।। कूर्मपुराणम्"

बाह्य — मृत्तिका, जल आदिसे पात्र, वस्त्र, स्थान आदिको पवित्र रखना तथा मृत्तिका, जल आदिसे शरीरके अङ्गोंको शुद्ध रखना, शुद्ध सात्विक नियमित आहारसे शरीरको सात्विक, नीरोग और स्वस्थ रखना। पञ्चगव्यप्राशन करने से भी शुद्धि होती है तथा वस्ती, धौती, नेती आदि तथा ओषधिसे शरीरशोधन करना — ये बाह्य शौच हैं।

आभ्यन्तर — ईर्ष्या, अभिमान, घृणा, असूया आदि मलोंको मैत्री आदिकी भावना से दूर करना, बुरे विचारोंको शुद्ध विचारोंसे हटाना, दुर्व्यवहारको शुद्ध व्यवहारसे हटाना मानसिक शौच है। अविद्या आदि क्लेशोके मलोंको विवेक-ज्ञानद्वारा दूर करना चित्तका शौच है।

संतोष — “यदृच्छालाभतो नित्यामलं पुंसो भवेदिति ।

प्राशस्त्यमृषयः प्राहुः संतोषं सुखलक्षणम् ।। ११.२७।। कूर्मपुराणम्”

यदृच्छालाभ से (अनायास ही जो कुछ मिल जाय उसीमें मस्त रहना) संतुष्ट रहना ही सुखी होने का उपाय है। सामर्थ्यानुसार उचित प्रयत्नके पश्चात् जो फल मिले अथवा जिस अवस्थामें रहना हो, उसमें प्रसन्नचित्त बने रहना और सब प्रकारकी तृष्णा छोड़ देना संतोष है।

“संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।

संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ ४.१२ ॥ मनुस्मृतिः”

भावार्थ — परमसुख चाहनेवाले व्यक्ति को अत्यन्त संतोषी स्वभाव का तथा अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रखनेवाला होना चाहिये, क्योंकि संतोष ही समस्त सुखों का कारक है,और उसका विपर्यय (उल्टा) अर्थात् असंतोष ही अनेक दुःखों का कारक होता है। मनुष्य की आकांक्षाओं का कोई अन्त नहीं होता है। वे क्रमशः लोभ और तृष्णा में परिवर्तित हो जाती हैं। जीवन का सुख आकांक्षाओं को सीमित रखने में ही है जिसके लिये संतोषी होना परमावश्यक है अन्यथा सब कुछ होते हुए भी मनुष्य अतृप्त ही रहता है।

तप — जिस प्रकार अश्वविद्याका कुशल सारथि चञ्चल घोडोंको साधता है, इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मनको उचित रीति और अभ्याससे वशीकार करनेको तप कहते हैं, जिससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सर्व द्वन्द्व-अवस्थाओं में बिना विक्षेपके योगमार्गमें प्रवृत्त रहे। शरीरमें व्याधि तथा पीड़ा, इन्द्रियोंमें विकार और चित्तमें अप्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला तामसी तप योगमार्गमें निन्दित तथा वर्जित है।

स्वाध्याय — वेद, उपनिषद आदि और अध्यात्मसम्बन्धी विवेक-ज्ञान उत्पन्न करनेवाले योग और सांख्यके सत्-शास्त्रोंका नियमपूर्वक अध्ययन और ओंकार सहित गायत्री आदि मन्त्रोंका जप स्वाध्याय है।

ईश्वरप्रणिधान — ईश्वरकी भक्ति-विशेष अर्थात् फलसहित सर्व कर्मोंको उसके समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है। ईश्वरप्रणिधानका फल श्रीवेदव्यासजीने अपने भाष्यमें इस प्रकार बतलाया है —

“शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः। संसारवीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी।।”

जो योगी शय्या तथा आसनपर बैठा हुआ या मार्गमें चलता हुआ या एकान्तमें स्थित हुआ हिंसादि वितर्क-रूप जालको नष्ट किये हुए ईश्वरप्रणिधान करता है, वह संसारके बीज अविद्या आदि क्लेशोंके क्षयका अनुभव करता हुआ अमृतके भोगका भागी होता है अर्थात् जीवनमुक्तके सुखको प्राप्त होता है। सब नियमोंमें ईश्वरप्रणिधान मुख्य है तथा सब नियमोंको ईश्वर-समर्पणरुपसे करना श्रेयस्कर है।

“नाहं कर्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव कुरुते तथा ।

एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिः तत्त्वदर्शिभिः ॥ ३.१६॥ कूर्मपुराणम्”

मैं कुछ नहीं करता, सबकुछ ब्रह्म ही करता है। यही असली ब्रह्मार्पण है।

सङ्गति — जब यम तथा नियमोंके पालनमें विघ्न उपस्थित हों तो उनको अगले सूत्रमें बताये गये प्रकारसे दूर करना चाहिये —

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ २.३३ ॥

वितर्क बाधने = वितर्कोंद्वारा (यम और नियमोंका) बाध होनेपर; प्रतिपक्ष-भावनम् = प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

वितर्कोंद्वारा (विपरीत विचारों द्वारा) यम और नियमोंका बाध होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

व्याख्या — वितर्क माने विरोधी तर्क (विपरीत विचार) अर्थात् यम, नियम आदिके विरोधी जो अधर्म हैं जैसे कि — १. हिंसा, २. असत्य, ३. स्तेय, (चोरी करना) ४. ब्रह्मचर्यका पालन न करना, ५. परिग्रह, (अनावश्यक संग्रह) ६. अशौच, (अपवित्रता) ७. असंतोष, ८. तपका अभाव, ९. स्वाध्यायका त्याग और १०. ईश्वरसे विमुखता। जब किसी दुर्घटनावश (पूर्व संचित बुरे संस्कारों के कारण) ये वितर्क उत्पन्न हों और मनमें इन योगके विधर्मी अधर्मोंके करनेका विचार आये, तब उनके प्रतिपक्षी अर्थात् (विपक्षी विचारोंका) उन वितर्कोंके विरोधी विचारोंका चिन्तन करके उन वितर्करूप अधर्मोंको मनसे हटाना चाहिये। प्रतिपक्ष विचारोंके चिन्तनसे यह अभिप्राय है कि जैसे क्रोध आनेपर शान्तिका चिन्तन करना, हिंसाका विचार उत्पन्न होनेपर दयाके भावका चिन्तन करना इत्यादि।

कहावत है कि “श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि” अच्छे कर्मों में बहुतसे विघ्न आते हैं। तिस पर भी यह तो परम श्रेय है, इसलिये इसमें और भी अधिक विघ्नों की सम्भावना है। उन्हीं विघ्नोंके प्रतीकारके लिये यह सूत्र है।

सङ्गति — अब वितर्कोंके स्वरूप, उनके भेद और उनके फलसहित प्रतिपक्ष- भवनाको बतलाते हैं।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ २.३४ ॥

वितर्का:-हिंसा-आदयः = (यम-नियमके विरोधी) हिंसा आदि वितर्क हैं, कृत-कारित-अनुमोदिता: = वे स्वयं किये हुए, दूसरोंसे कराये हुए और समर्थन किये हुए होते हैं; लोभ-क्रोध-मोह-पूर्वका: = उनका कारण लोभ, क्रोध और मोह होता है; मृदु-मध्य-अधिमात्रा: = वे मृदु, मध्य और तीव्र भेदवाले होते हैं; दुःख-अज्ञान-अनन्तफला: — उनका फल दुःख और अज्ञानका अनन्त (अपरिमित) होना है; इति= ऐसा (विचार करना ही) प्रतिपक्षभावनम् = यह प्रतिपक्षकी भावना करना है।

यम-नियमोंके विरोधी हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं। (वे तीन प्रकारके होते हैं) स्वयं किये हुए, दूसरोंसे कराये हुए और (अनुमोदन) समर्थन किये हुए होते हैं। उनके कारण लोभ, क्रोध और मोह होते हैं। वे मृदु, मध्य और तीव्र मात्रावाले होते हैं। ये सब दुःख और अज्ञानरूपी अपरिमित फलोंको देनेवाले हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षकी भावना करे।

व्याख्या — यम नियमों के विपरीत या उल्टे जितने भी विचार या भावनाएं हैं वे सभी वितर्क कहलाते हैं ।

यहाँ हिंसा वितर्क का उदाहरण देकर बतलाते हैं, इसी प्रकार अन्य सब वितर्कोंको समझ लेना चाहिये।

हिंसा तीन प्रकारकी है — स्वयं की हुई, दूसरोंसे कराई हुई और दूसरोंके किये जानेपर अनुमोदन या समर्थन की हुई। कारणोंके अनुसार भी इसके तीन भेद हैं। लोभसे की हुई, जैसे मांस, चमड़े आदिके लिये। क्रोधसे की हुई अर्थात् किसी प्रकारकी हानि पहुंचनेपर द्वेषवश की हुई। मोहवश की हुई, जैसे स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये पशुओंकी बलि करना। इस प्रकार ३×३=९ प्रकारकी हिंसा हुई। यह नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्राके भेदसे ९×३=२७ प्रकारकी हुई। इसी प्रकार मृदु, मध्य और अधिमात्राके प्रत्येकका मृदु, मध्य और अधिमात्राका भेद होनेसे तीन-तीन भेदवाली २७×३=८१ प्रकारकी हुई। इसी प्रकार असत्य, स्तेय आदि वितर्कोंके बहुतसे भेद होकर अनन्त, अपरिमित अज्ञान और दुःख इनका फल होता है।

जब इस प्रकार वितर्क उपस्थित हों तब उनको इनके प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी विचारोंसे हटाना चाहिये कि ये हिंसा आदि वितर्क महापाप हैं, रजोगुण और तमोगुणको उत्पन्न करके मोह तथा दुःखमें ड़ालनेवाले हैं। यदि इनमें फँसा तो दुःख और अज्ञानका अन्त न होगा अर्थात् ये सब अपरिमित दुःख और अज्ञानरूपी फलोंको देनेवाले हैं। इस कारण इनसे सर्वदा बचना चाहिये। यह प्रतिपक्ष भावना है। इस प्रकार यम-नियमोंके विघ्नोंको हटाता हुआ योगमार्गपर चल सकता है।

“इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥ मुण्डकोपनिषद् प्रथमो मुण्डकः द्वितीयः खण्डः”

मोहग्रस्त ये लोग जो यज्ञयागादि कर्मों तथा कूपादि खनन के कार्यों को ही सर्वश्रेष्ठ (वरिष्ठ) सत्कर्म समझते हैं तथा अन्य किसी श्रेय को नहीं जानते, वे स्वर्ग-पृष्ठ में सुकृत-लोक की अनुभूति करके इस लोक में अथवा इससे भी हीनतर लोक में प्रवेश करते हैं।

“ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।९.२१।। श्रीमद् भगवद्गीता”

वे उस विशाल — विस्तृत स्वर्गलोकको भोग चुकनेपर (उसकी प्राप्तिके कारणरूप) पुण्योंका क्षय हो जानेपर इस मृत्युलोकमें लौट आते हैं। उपर्युक्त प्रकारसे केवल वैदिक कर्मोंका आश्रय लेनेवाले कामकामी अर्थात् विषयवासनायुक्त मनुष्य बारंबार आवागमनको ही प्राप्त होते रहते हैं अर्थात् जाते हैं और लौट आते हैं इस प्रकार बराबर आवागमनको ही प्राप्त होते हैं, कहीं भी स्वतन्त्रता लाभ नहीं करते।

“अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१६.१८।।श्रीमद्भगवद्गीता”

अहंकार — हम-हम या मैं-मैं करनेका नाम अहंकार है जिसके द्वारा अपनेमें आरोपित किये हुए विद्यमान और अविद्यमान गुणोंसे अपनेको युक्त मानकर मनुष्य हम हैं या मैं हूँ ऐसा मानता है उसे अहंकार कहते हैं। यह अविद्या नामका बड़ा कठिन दोष समस्त दोषोंका और समस्त अनर्थमय प्रवृत्तियोंका मूल कारण है। कामना और आसक्तिसे युक्त दूसरेका पराभव करनेके लिये होनेवाला बल दर्प जिसके उत्पन्न होनेपर मनुष्य धर्मको अतिक्रमण कर जाता है अन्तःकरणके आश्रित उस दोषविशेषका नाम दर्प है। तथा स्त्री आदिके विषयमें होनेवाला काम और किसी प्रकारका अनिष्ट होनेसे होनेवाला क्रोध इन सब,दोषोंको तथा अन्यान्य महान् दोषोंको भी अवलम्बन करनेवाले होते हैं। इसके सिवा वे अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित उनकी बुद्धि और कर्मके साक्षी मुझ ईश्वरसे द्वेष करनेवाले होते हैं — मेरी आज्ञाको उल्लङ्घन करके चलना ही मुझसे द्वेष करना है, वे वैसा करनेवाले हैं और सन्मार्गमें स्थित पुरुषोंके गुणोंको सहन न करके उनकी निन्दा करनेवाले होते हैं।

“तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१६.१९।। श्रीमद्भगवद्गीता”

सन्मार्गके प्रतिपक्षी और मेरे तथा साधुपुरुषोंके साथ द्वेष करनेवाले उन सब अशुभकर्मकारी क्रूर नराधमोंको मैं बारंबार संसारमें — नरकप्राप्तिके मार्गमें जो प्रायः क्रूर कर्म करनेवाली व्याघ्रसिंह आदि आसुरी योनियाँ हैं उनमें ही सदा गिराता हूँ क्योंकि वे पापादि दोषोंसे युक्त हैं।

“मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ (मनुस्मृति = ५-५५)"

विद्वजन मांस का यह लक्षण कहते हैं कि जिसके मांस को मैं इस जन्म में खाता हूँ वह आगामी जन्म में मेरे मांस का भक्षण करेगा।

इस प्रकार वितर्कोंमें अनिष्ट-फलका चिन्तन करता हुआ उनसे मनको हटावे।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें इन वितर्कोंके प्रतिपक्षोंसे निर्मल हो जानेके पश्चात् योगीको यम तथा नियमोंमें जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसका वर्णन करते हैं।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ २.३५ ॥

अहिंसा-प्रतिष्ठायाम् =अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर; तत्-सन्निधौ = उस (अहिंसक योगी) के निकट; वैर -त्यागः = (सर्व-प्राणिनां भवति) सब प्राणियोंका वैर भाव छूट जाता है।

अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस (अहिंसक योगी) के निकट सब प्राणियोंका वैरभाव छूट जाता है।

व्याख्या — "सर्व-प्राणिनां भवति" सूत्रके अन्तमें यह वाक्यशेष है।

"तेषां सम्यगनुष्ठानात् सिद्ध्यन्ते भिन्नशक्तयः।

अहिंसायाः प्रतिष्ठायां निर्वैरेण अवस्थितिः ॥ १२० ॥ योगसूत्रसारः"

जब योगीकी अहिंसा पालनमें दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब उसके अहिंसक-प्रभावसे उसके निकटवर्ती सब हिंसक प्राणियोंकी भी अहिंसक वृत्ति हो जाती है।

जिस प्रकार सभी क्लेशों के मूल में अविद्या है उसी प्रकार सभी यमों के मूल में अहिंसा है । अहिंसानिष्ठ योगीके निरन्तर ऐसी भावना और यत्न करनेसे कि उसके निकट किसी प्रकारकी हिंसा न होने पावे, उसके अन्तःकरणसे अहिंसाकी सात्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल वेगसे बहने लगती है कि उसके निकटवर्ती तामसी हिंसक अन्तःकरण भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसकवृत्तिको त्याग देते हैं। जैसे जैसे साधक अहिंसा के भाव से भरने लग जाता है वैसे-वैसे ही वह अन्य यमों और नियमों के पालन के लिए तत्पर रहने लग जाता है । इसलिए अहिंसा को सभी यमों के मूल में बताया गया है । अहिंसाकी स्थिरता होनेपर सहज विरोधी जैसे कि सर्प और नकुल, मूषक और मार्जार, अश्व और महिष भी वैरभाव छोड़कर निर्मत्सरतया व्यवहार करने लगते हैं। अर्थात् हिंसक भी हिंसा छोड़ देते हैं।

सङ्गति — अब सत्यके अभ्याससे क्या होता है यह बताते हैं।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २.३६ ॥

सत्य-प्रतिष्ठायाम् = सत्यमें दृढ़ स्थिति हो जानेपर; क्रियाफल-आश्रयत्वम् = क्रिया फलका आश्रय बनती है।

सत्यमें दृढ़ स्थिति हो जानेपर क्रिया फलका आश्रय बनती है।

व्याख्या — जिस योगीकी सत्यमें दृढ़ स्थिति हो गयी है, उसकी वाणीसे कभी असत्य नहीं निकलेगा; क्योंकि वह यथार्थ ज्ञानका रखनेवाला हो जाता है। उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। उसकी वाणीद्वारा जो क्रिया होती है, उसमें फलका आश्रय होता है अर्थात्

जैसे किसीको यज्ञादिक क्रियाके करनेमें उसका फल होता है, इसी प्रकार योगीके केवल वचनसे ही वह फल मिल जाता है। यदि वह किसीसे कहे कि तू धर्मात्मा अथवा सुखी हो जा तो वह ऐसा ही हो जाता है।

सत्यनिष्ठ योगीके निरन्तर ऐसी भावना और धारणा रखनेसे कि उसके मुखसे न केवल भूत और वर्तमानके सम्बन्धमें किंतु भविष्यमें होनेवाली घटनाओंके सम्बन्धमें भी कोई असत्य वचन न निकलने पावे, सत्यकी प्रबलतासे उसका अन्तःकरण इतना स्वच्छ और निर्मल हो जाता है कि उसकी वाणीसे वही बात निकलती है जो क्रियारुपमें होनेवाली होती है। इस योगीकी वाणी भगवानकी वाणी हो जाती है।

"सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

यथार्थकथनाचारः सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः ।। ११.१६।। कूर्मपुराणम्"

इसी विषयमें महाभारतके शान्तिपर्व के अध्याय २७१ में कुण्डधार मेघकी कथा है। धन और काम-भोगों की अपेक्षा धर्म और तपस्या का उत्कर्ष सूचित करने वाली ब्राह्मण और कुण्डधार मेघ की कथा —

राजा युधिष्ठिर ने पूछा – भरतनन्दन पितामह! वेद तो धर्म, अर्थ और काम – तीनों की ही प्रशंसा करते हैं; अत: आप मुझे यह बताइये कि इन तीनों में से किसकी प्राप्ति मेरे लिये सबसे बढकर है। भीष्म जी ने कहा- राजन् ! इस विषय में मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा, जिसके अनुसार कुण्डधार नामक मेघ ने पूर्वकाल में प्रसन्न होकर अपने एक भक्त का उपकार किया था। किसी समय एक निर्धन ब्राह्मण ने सकाम भाव से धर्म करने का विचार किया। वह यज्ञ करने के लिये सदा ही धन की इच्छा रखता था, अत: बड़ी कठोर तपस्या करने लगा। यही निश्चय करके उसने भक्ति पूर्वक देवताओं की पूजा-अर्चना आरम्भ की। परंतु देवताओं की पूजा करके भी वह धन न पा सका। तब वह इस चिन्ता में पड़ा कि वह कौन-सा देवता है, जो मुझ पर शीघ्र प्रसन्न हो जाय और मनुष्यों ने आराधना करके जिस जड़ न बना दिया हो। तदनन्तर उस ब्राह्मण ने शान्त मन से देवताओं के अनुचर कुण्डधार नामक मेघ को पास ही खड़ा देखा। उस महाबाहु मेघ को देखते ही ब्राह्मण के मन में उसके प्रति भक्ति उत्पन्न हो गयी और वह सोचने लगा कि यह अवश्य मेरा कल्याण करेगा; क्योंकि इसका यह शरीर वैसे ही लक्षणों से सम्पन्न है। यह देवता का संनिकटवर्ती है और दूसरे मनुष्यों ने इसे घेर नहीं रखा है। इसलिये यह मुझे शीघ्र ही प्रचुर धन देगा। तब ब्राह्मण ने धूप, गन्ध, छोटे-बड़े माल्य तथा भाँति-भाँति के पूजोपहार अर्पित करके कुण्डधार मेघ का पूजन किया। इससे वह मेघ थोडें ही समय में संतुष्ट हो गया और उसने ब्राह्मण के उपकार में नियमपूर्वक प्रवृति सूचित करने वाली यह बात कही – 'ब्रह्मन्! ब्रह्म हत्यारे, शराबी, चोर और व्रतभंग करने वाले मनुष्य के लिये साधुपुरुषों ने प्रायश्चित का विधान किया है, किंतु कृतघ्न के लिये कोई प्रायश्चित नहीं है। तब महामनस्वी मणिभद्र ने देवताओं के कहने से पृथ्वी पर पड़े हुए उस मेघ से पूछा, 'कुण्डधार! तुम क्या चाहते हो ? कुण्डधार बोला – यह ब्राह्मण मेरा भक्त है। यदि देवता लोग मुझ पर प्रसन्न हों तो मैं इसके ऊपर उनका ऐसा अनुग्रह चाहता हूँ, जिससे इसे भविष्य में कुछ सुख मिल सके। तब मणिभद्र ने देवताओं की ही आज्ञा से महातेजस्वी कुण्डधार के प्रति पुन: यह बात कही। मणिभद्र बोले – कुण्डधार! उठो, उठो; तुम्हारा कल्याण हो, तुम कृतकृत्य और सुखी हो जाओ। यदि यह ब्राह्मण धन चाहता तो इसे धन दे दिया जाय। तुम्हारा सखा यह ब्राह्मण जितना धन चाहता हो, देवताओं की आज्ञा से मैं उतना ही अथवा असंख्य धन इसे दे रहा हूँ। युधिष्ठिर! परंतु कुण्डधार ने यह सोचकर कि मानव-जीवन चंचल एवं अस्थिर है, उस ब्राह्मण के तपोबल को और भी अधिक बढाने का विचार किया।

"धर्मेऽस्य रमतां बुद्धिर्धर्मं चैवोपजीवतु।

धर्मप्रधानो भवतु ममैषोऽनुग्रहो मतः।। १२.२७७.२६।। महाभारत शान्तिपर्व"

धर्म में श्रद्धा रखते हुए दीर्घकाल तक उग्र तपस्या में लगे हुए उस ब्राह्मण को दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी। उस समय उसे यह अनुभव हुआ कि यदि मैं संतुष्ट होकर इस जगत में किसी को प्रचुर धन दे दूँ तो मेरा दिया हुआ वचन मिथ्या नहीं होगा। यह विचार आते ही उसका मुख प्रसन्नता से खिल उठा और उसने बड़े उत्साह के साथ पुन: तपस्या आरम्भ की। पुन: सिद्धि प्राप्त होने पर उसने देखा कि वह मन में जो-जो संकल्प करता है, वह अत्यन्त महान् होने पर भी सामने प्रस्तुत हो जाता है। यह देखकर ब्राह्मण ने पुन: यों विचार किया- 'यदि मैं संतुष्ट होकर जिस किसी को भी राज्य दे दूँ तो वह शीघ्र ही राजा हो जायगा। मेरी यह बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती'।

(कुण्डधार ने कहा -) 'विप्रवर! मैं तो पहले से ही क्षमा कर चुका हूँ' ऐसा कहकर उस मेघ ने उस श्रेष्ठ ब्राह्मण को अपनी दोनों भुजाओं द्वारा हृदय से लगा लिया और वह फिर वहीं अन्तर्धान हो गया। तदनन्तर कुण्डधार के कृपाप्रसाद से तपस्याद्वारा सिद्धि पाकर वह ब्राह्मण सम्पूर्ण लोकों में विचरने लगा । आकाश मार्ग से चलना, संकल्प मात्र से ही अभीष्ट वस्तु का प्राप्त हो जाना तथा धर्म, शक्ति और योग के द्वारा जो परमगति प्राप्ति होती है, वह सब कुछ उस ब्राह्मण को प्राप्त हो गयी। देवता, ब्राह्मण, साधु-संत, यक्ष, मनुष्य और चारण-ये सब-के-सब इस जगत में धर्मात्माओं का ही पूजन करते हैं, धनियों और भोगियों का नहीं। राजन् ! तुम्हारे ऊपर भी देवता बहुत प्रसन्न है, जिससे तुम्हारी बुद्धि धर्म में लगी हुई है। धन में तो सुख का कोई लेश मात्र ही रहता है। परमसुख तो धर्म में ही है।

तथा जैसे विश्वामित्रने कहा कि तुम्हें स्वर्गको प्राप्त हो तो उनके कहते ही त्रिशङ्कु स्वर्गको प्राप्त होगया।

"समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।प्रश्नोपनिषद् (६.१)"

जो असत्य बोलता है वह समूल नष्ट हो जाता है।

सङ्गति — अब जो लोग अस्तेयका (अचौर्यका) अभ्यास करते हैं, उसका फल बताते हैं।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ २.३७ ॥

अस्तेय-प्रतिष्ठायाम् = अस्तेय अर्थात् चोरी के अभाव में दृढ़ स्थिति हो जाने पर; सर्व-रत्न-उप-स्थानम् = सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है।

अस्तेय अर्थात् चोरी के अभाव में दृढ़ स्थिति हो जाने पर न चाहते हुए भी सब दिव्य रत्नोंकी प्राप्ति होती है।

"सत्यस्यैव प्रतिष्ठायां ह्यमोघा जायते स वाक्।

उपस्थानं च रत्नानामस्तेयादेव सिद्ध्यति ॥ १२१ ॥ योगसूत्रसारः"

अस्पृहा होनेपर सभी रत्नोंका उपस्थान माने सान्निध्य होता है।

व्याख्या — जिसने रागको पूर्णतया त्याग दिया है, वह सब प्रकारकी सम्पत्तिका स्वामी है। उसको किसी चीजकी कमी नहीं रहती। इसमें एक आख्यायिका है —

किसी निर्धन पुरुषने बड़ी आराधनाके पश्चात् धन-सम्पत्तिकी देवीके दर्शन किये। उस देवीके पैरोंकी एड़ी और मस्तिष्कको घिसा हुआ देखकर उसको आश्चर्य हुआ। अपने भक्तकी आग्रहपूर्वक विनयपर उसको बतलाना पड़ा कि जो मुझसे राग रखते हैं और धर्म-अधर्मका विवेक त्यागकर मेरे पीछे मारे-मारे फिरते हैं, उनको ठुकराते हुए पैरकी एड़ी घिस गयी है और जिन्होंने ईश्वर-प्रणिधानका आसरा लेकर मुझमें राग छोड़ दिया है तथा मुझसे दूर भागते हैं, उनको रिझाने और अपनी ओर प्रवृत्त करनेके लिये उनकी चौखटपर रगड़ते-रगड़ते मस्तिष्क घिस गया है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें ब्रह्मचर्यके अभ्यासका फल बताते हैं।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ २.३८ ॥

ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायाम् = ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति होनेपर; वीर्यलाभः = वीर्यका (सामर्थ्यका) लाभ होता है।

ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति होनेपर वीर्यका (सामर्थ्यका) लाभ होता है।

व्याख्या — वीर्यही सब शक्तियोंका मूल कारण है। उसके पूर्णतया रोकनेसे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। तथा योगमार्गमें बिना रुकावट पूरी उन्नति हो सकती है। वह विनय करनेवाले जिज्ञासुओंको ज्ञान प्रदान करनेमें समर्थ हो जाता है।

"तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषा सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥३॥ छान्दोग्योपनिषद् अष्टमोऽध्यायः चतुर्थः खण्डः"

जो ब्रह्मचर्य द्वारा इस ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं, वे ब्रह्मलोक के स्वामी बन जाते हैं। वे अपनी इच्छानुसार सभी लोकों में भ्रमण कर सकते हैं। उनके लिए सारे लोकों में आवागमन की स्वतन्त्रता है। ब्रह्मचर्य द्वारा स्वयं ही ज्ञान, क्रिया शक्ति रुप सामर्थ्यवान् हो जाता है और दूसरोंको देने में भी समर्थ होता है।

अब अगले सूत्रमें अपरिग्रहके अभ्यासका फल बताते हैं।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ २.३९ ॥

अपरिग्रह-स्थैर्ये-जन्मकथन्ता-सम्बोधः = अपरिग्रह की स्थिरता में जन्मके कैसेपनका साक्षात् होता है, अर्थात् पूर्वजन्म कैसे हुए थे ? इस बात का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है ।

अपरिग्रह की स्थिरता में जन्मके कैसेपनका साक्षात् होता है।

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठ्यां योगी समार्थ्यमश्नुते ।

परिग्रहे परित्यक्ते जानाति जन्मनः स्थितिम् ॥ १२२ ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या — सूत्रके अन्तमें 'अस्य भवति' शेष है। केवल भोगके साधनोंका परिग्रह ही परिग्रह नहीं है अपितु अपने शरीरका परिग्रह भी परिग्रह ही है, क्योंकि शरीर भी भोगसाधन ही है। उस शरीरके होते हुए रागानुबन्ध और बहिर्मुखता में प्रवृत्ति होनेके कारण तात्त्विकज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं हो पाता। जब शरीरादि के परिग्रहसे भी निरपेक्ष हो जाता है और तटस्थ (मध्यस्थ) साक्षीभावका आलम्बन लेता है तब माध्यस्थ्य भाव होने कारण रागादि का त्याग होने से सम्यग्ज्ञान होना सम्भव होता है। और तभी पूर्वापरजन्मका संम्यक् बोध भी सम्भव है। योगीके लिये सबसे बड़ा परिग्रह अविद्या, रागादि क्लेश और शरीरमें अहंत्व और ममत्व है। इनके त्यागनेसे उसका चित्त शुद्ध, निर्मल होकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है। इससे उसको भूत और भविष्य जन्मका ज्ञान हो जाता है कि इससे पूर्व जन्म क्या था, कैसा था, कहाँ था ? यह जन्म किस प्रकार हुआ, आगे कैसा होगा। इस प्रकार इसकी तीनों काल में आत्मस्वरुपकी जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है। इसलिये अपरिग्रह भी आवश्यक है।

"मांसास्थिरक्तनिकरे स्वशरीरकेऽस्मिन्स्वत्वं त्यजाशु ममतां वनिता सुतादौ

पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं ज्ञानी विरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः || ८५||

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्संसेव्य साधुपुरुषान्जहि कामतृष्णाम्

अन्यस्य दोषगुण चिंतनमाशु मुक्त्वा विष्णोः कथारसमथो नितरां पिब त्वम् || ८६|| पद्मपुराणम्/खण्डः ६ (उत्तरखण्डः)/अध्यायः १९६"

शरीर हड्डी मांस और रक्त का पिंड है , इससे आसक्ति हटाकर परमात्मा में आसक्त हो | स्त्रीपुत्रादिक की ममता को सदा दूर कर, क्षणभर में विनष्ट होने वाले इस जगत् को सदा देख और वैराग्यराग का रसिक बन। भगवत् भजन ही सबसे बड़ा धर्म है | दूसरों के गुण दोष का चिन्तन छोड़कर भगवत् सेवा एवं भगवत् कथाओं का रसपान कर |

सङ्गति — इस प्रकार अबतक यमोंकी सिद्धियाँ बताईं, अब नियमोंकी सिद्धियाँ कहते हैं —

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ २.४० ॥

शौचात्= शौचसे; स्वाङ्ग-जुगुप्सा = अपने अंगोंसे घृणा होती है; परैः-असंसर्गः = दूसरोंसे संसर्गका अभाव होता है।

शौचसे अपने अंगोंसे घृणा और दूसरोंसे संसर्गका अभाव होता है।

इस सूत्रके द्वारा बाह्य शौच में स्थिरता होनेपर जो सिद्धि मिलती उसके बारे में बताते हैं। इससे अपने शरीरमें जुगुप्सा, कुत्सा या अशुचित्व अथवा दोष-दर्शन करनेसे शौचमें दृढ़ता होती है। जैसे यमों में अहिंसा सबसे पहले आती है उसी प्रकार नियमों में शौच सबसे पहले बताया गया है । शौचके निरन्तर अभ्याससे योगीका हृदय शुद्ध हो जाता है, उसको मल-मूत्रादि अपवित्र वस्तुओंके भण्डार इस शरीरकी अशुद्धियाँ दीखने लगती हैं। इससे इस शरीरमें राग और ममत्व छूट जाता है। इसी हेतुसे उसका संसर्ग दूसरोंसे भी नहीं रहता। वह इस शरीरसे परे सबसे अलग रहते हुए केवली होनेका यत्न करता है। यह शरीर शुद्धिका फल है।

महाभारतमें युधिष्ठिरके प्रति भगवान कहते हैं —

ब्रह्मचर्यं तपः क्षान्तिर्मधुमांसस्य वर्जनम्।

मर्यादायां स्थितिश्चैव शमः शौचस्य लक्षणम्।।१४.१०८.३।। महाभारतम्-आश्वमेधिकपर्व-अध्याय- १०८

अर्थात्- ब्रह्मचर्य, तपः, क्षान्ति माने क्षमा या सहनशीलता तथा मधु और मांसका त्याग एवं अपने कुल और वर्णाश्रमकी मर्यादामें स्थिति तथा शम ये सब शौचका लक्षण है।

मनःशौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत।

शरीरशौचं वाक्-शौचं शौचं पञ्च विधः स्मृतम्।।१४.११६.९।। महाभारतम्-आश्वमेधिकपर्व-अध्याय- ११६

धर्म के लक्षणों में पांचवाँ लक्षण शौच (शुचिता) अर्थात् पवित्रता है-

१. मनकी पवित्रता,२. कार्यकी पवित्रता, ३. कुलकी पवित्रता, ४. शरीरकी पवित्रता और ५. वाणीकी पवित्रता, अर्थात् जो इन पाँचों दृष्टियों से जो पवित्र है, उसीको वास्तविकता में पवित्र माना जा सकता है। उपरोक्त पाँच शुद्धियों में –

पञ्चस्वेतेषु शौचेषु हृदि शौचं विशिष्यते।

हृदयस्य तु शौचेन स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ।।१४.११६१०।। महाभारतम्-आश्वमेधिकपर्व-अध्याय- ११६

मन की पवित्रता सर्वश्रेष्ठ भी है और आवश्यक भी क्योंकि- महाभारतके अनुसार मन की पवित्रता से ही मनुष्य स्वर्ग जैसा जीवन प्राप्त करता है।

मनुजी ने धनकी पवित्रताको सर्वोपरि माना है –

सर्वेषामेव शौचानां अर्थशौचं परं स्मृतम्।

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः।।।५.१०६।।

अर्थात् सभी पवित्रताओं में धनकी पवित्रता सर्वश्रेष्ठ है। छल-कपट से कमाये धनसे प्राप्त अन्न भी दूषित हो जाता है; ऐसे व्यक्तियों का स्वभाव भी उग्र एवं निष्ठुर हो जाता है। अतः उनका मन और आत्मा मलिन हो जाते हैं। तभी कहा गया है जैसा अन्न वैसा मन। अतः मनुजीके अनुसार जो धनके मामले में पवित्र है, वही पवित्र है। जो केवल मिट्टी व जल से पवित्र है वह पवित्र नहीं है।

पवित्रता व शुद्धिके संबंध में चाणक्य कहते हैं –

वाचः शौचं च मनसः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

सर्वभूते दयाशौचं एतच्छौचं पराऽर्थिनाम्।।७.२०।।चाणक्यनीतिः

वाणीकी पवित्रता, मनकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, प्राणिमात्र पर दया, मोक्ष प्राप्त करनेवालेके लक्षण होते हैं।

सङ्गति — अब शौचका ही फलान्तर आभ्यन्तर शौचका फल बताते हैं —

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ २.४१ ॥

सत्त्वशुद्धि= चित्तकी शुद्धि; सौमनस्य= मनकी स्वच्छता; ऐकाग्र्य= एकाग्रता; इन्द्रियजय= इन्द्रियोंका जीतना; आत्मदर्शन-योग्यत्वानि च= और आत्मदर्शनकी योग्यता।

इसके सिवा इस मैत्री,करुणा आदि भावनारूपा आभ्यन्तर शौच से अन्तःकरण की शुद्धि (चित्तकी शुद्धि), मनकी स्वच्छता, (मन का प्रफुल्ल भाव) एकाग्रता, इन्द्रियोंका जीतना और आत्मदर्शनकी योग्यता आभ्यन्तर शौचकी सिद्धिसे प्राप्त होती है।

व्याख्या — सूत्रके अन्तमें 'भवन्ति' यह वाक्यशेष है। नियमों में प्रथम नियम (शौच) अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है । आभ्यन्तर शौचकी दृढ़ स्थिति होनेपर तमस् तथा रजस् के आवरण धुल जानेसे चित्त निर्मल हो जाता है। मनके स्वच्छ होनेसे उसकी एकाग्रता बढ़ती है। मनकी एकाग्रतासे इन्द्रयोंका वशीकार होता है। अर्थात् बहिर्मुखसे अन्तर्मुख हो जातीं हैं।

"पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैषदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥ कठोपनिषद् अध्याय २"

स्वयंभू' ने देह के द्वारों को (इन्द्रियोंके) छेदोंको बाहरकी ओर छेदा है— बहिर्मुखी बनाया है, इसीलिए मनुष्य बाहर की ओर देखता है, 'अन्तरात्मा' को नहीं : यत्र-तत्र विरला ही कोई ज्ञानी पुरुष (धीर पुरुष) होता है जो अमृतत्व की इच्छा करते हुए अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करके 'अन्तरात्मा' को देखता है। इस प्रकार इन्द्रियोंके वशीभूत हो जानेसे चित्तमें विवेकख्यातिरुपी आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

अब जो लोग संतोष का अभ्यास करते हैं, उनको क्या फल मिलता है, यह बतलाते हैं।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ २.४२ ॥

संतोषात्= संतोषसे; अनुत्तम-सुख-लाभः= अनुत्तम सुख (परमसुख) प्राप्त होता है।

संतोषसे अनुत्तम सुख (परमसुख) प्राप्त होता है।

"शौचात् स्वाङ्गे, जुगुप्सा स्यादसंसर्गस्तथा परैः।

सन्तोषात् सुखसंप्राप्तिर्यस्या नास्त्येव तोलनम् ॥ १२३ ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या— तृष्णाका क्षय ही संतोष है। अनुत्तम सुख— उत्तम-से-उत्तम सुख अर्थात् जिससे बढ़कर कोई और सुख न हो। संतोषमें जब पूरी स्थिरता हो जाती है, तब तृष्णाका नितान्त नाश हो जाता है। तृष्णारहित होनेपर जो प्रसन्नता तथा सुख प्राप्त होता है, उसके एक अंशके समान भी बाह्य सुख नहीं हो सकता। तृष्णा रुपी प्रतिबन्ध के हटते ही चित्तका स्वाभाविक सुख प्रकट हो जाता है। उस सुख में विषयों की अपेक्षा नहीं होती, वह निर्विषय सुख ही आत्मसुख कहलाता है। जैसे जब हम सो जाते हैं तब कोई दुःख नहीं रहता।

व्यासजीका कथन है —

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।।१२.२८२.६।।

महाभारतम्-शांतिपर्व- अध्याय २८२"

संसारमें जो भी कामोपभोगका सुख है तथा जो स्वर्गीय महान् दिव्य सुख है, ये दोनों ही तृष्णानाशसे होनेवाले सुखके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं।

"या दुस्त्यजा दुर्म्मतिभिर्या न जीर्य्यति जीर्य्यतः ।

तां तृष्णां सन्त्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्य्यते ।। ४-१०-१२ ।। विष्णुपुराणम्"

जब पुरु ने अपने पिता ययाति को अपना यौवन अर्पण किया था तब ययाति ने पुरु को कहा था कि — अज्ञानियोंके लिए जिसको त्यागना कठिन है और जो व्यक्तिके जरा जीर्ण होनेपर भी जीर्ण नहीं होती है; बुद्धिमान व्यक्तिको उस तृष्णाका परित्याग कर देना चाहिये, ऐसा करके वह सुखसे परिपूर्ण हो जाता है।

चाह गयी चिंता मिटी मनुवा बेपरवाह ।

जिसको कछू न चाहिये सोई शाहंशाह ॥

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।

बिना संतोष के काम-वासना नष्ट नहीं होती, विभिन्न वासनाओं के रहते सुख कदापि प्राप्त नहीं हो सकता;

गोधन, गजधन, वाजिधन और रतनधन खान।

जब आवत संतोष-धन, सब धन धूरि समान ॥६॥

कबीरदासजी कहते हैं कि मनुष्य के पास भले ही गौ रुपी धन हो, गज (हाथी) रुपी धन हो, वाजि (घोड़ा) रुपी धन हो और रत्न रुपी धन का भंडार हो, वह कभी संतुष्ट नहीं हो सकता। जब उसके पास सन्तोष रुपी धन आ जाता है, तो बाकी सभी धन उसके लिए धूल या मिट्टी के बराबर है। अर्थात् सन्तोष ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

"तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।१२.१९।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जिसको निन्दा और स्तुति दोनों ही तुल्य है, जो मौनी है, जो किसी अल्प वस्तु से भी सन्तुष्ट है, जो अनिकेत है, वह स्थिर बुद्धि का भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

गुरु नानकदेवजी ने कहा है – बिन संतोष नहीं कोई राजे। सकल मनोरथ बृथे सब काजे ||

वेद कहते हैं कि —

"युवा स्यात्साधुयुवाऽध्यायकः। आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दाः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एकः आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतम् आजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥ स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसङ्क्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसङ्क्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसङ्क्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसङ्क्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामति। तदप्येष श्लोको भवति॥१॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली अष्टमोऽनुवाकः"

देखो यह आनन्द की मीमांसा है जिसका तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णन किया गया है। कोई नवयुवक हो, जो अपने यौवन के उत्तम रुप तथा माधुर्य से भरा हुआ हो, जो श्रेष्ठ अध्येता (विद्यार्थी) हो, उसका शिष्ट आचरण हो, दृढभावों वाला हृदय हो तथा बलिष्ठ शरीर हो तथा यह सम्पूर्ण विस्तृत वसुन्धरा उसके आनन्द भोग के लिए वित्तपूर्णा (धन-धान्यपूर्णा) हो। यह है एक मनुष्य के आनन्द का परिमाण। अब ऐसे सौ-सौ मानुष-आनन्द उन मनुष्यों के लिए एक आनन्द है जो स्वर्ग में गन्धर्व बन चुके हैं। यह है आनन्द वेदविद् (श्रोत्रिय) का, जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं। ऐसे सौ-सौ मनुष्यगन्धर्व आनन्द के परिमाण से बना है स्वर्ग में रहने वाले गन्धर्वरूपी देवों का एक आनन्द (देवगन्धर्व आनन्द)। और, यह है आनन्द वेदविद् (श्रोत्रिय) का, जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं। और ऐसे सौ-सौ देवगन्धर्व आनन्दों को मिलाने से बनता है उन 'पितरों' का एक आनन्द जिनका स्वर्ग लोक ही चिरलोक है। और यह है आनन्द वेदविद् (श्रोत्रिय) का, जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं। और चिरलोकवासी पितरों के इस परिमाण वाले आनन्द के सौ-सौ आनन्दों के बराबर है उन देवों का एक आनन्द जो स्वर्ग में देवरुप में जन्म लेते हैं। और यह है आनन्द उस वेदविद् (श्रोत्रिय) का, जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं। स्वर्गलोक में हीं आरम्भ से जन्में देवों के आनन्द का सौ-सौ गुने के बराबर है उन कर्मदेवों का एक आनन्द, जो अपने सत्कर्मों के बल से प्रयाण करके स्वर्ग में 'देव' बन गये हैं। और यह है

आनन्द उस वेदविद् (श्रोत्रिय) का जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं। कर्मदेवों के ऐसे सौ-सौ आनन्दों के बराबर है उन देवों का एक आनन्द जो महान् देव हैं तथा जो नित्य-चिरन्तन देव हैं। और यह है आनन्द उस वेदविद् (श्रोत्रिय) का जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं। और देवों के इस दिव्य आनन्द के सो-सौ गुने के बराबर है स्वर्गपति इन्द्र का एक आनन्द। और यह है आनन्द उस वेदविद् (श्रोत्रिय) का जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं। इन्द्र के इस आनन्द जैसे सौ-सौ आनन्दों के बराबर है स्वर्ग में देवों के गुरु बृहस्पति का एक आनन्द। और यह है आनन्द उस वेदविद् (श्रोत्रिय) का जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं। बृहस्पति के सौ-सौ आनन्दों के बराबर है 'शक्तिशाली परमपिता' प्रजापति का एक आनन्द। और यह है आनन्द उस वेदविद् (श्रोत्रिय) का जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं। प्रजापति के सौ-सौ आनन्दों के बराबर है 'ब्रह्म' (शाश्वत-परमात्म-तत्त्व) का एक आनन्द। और यह है आनन्द उस वेदविद् (श्रोत्रिय) का जिसकी आत्मा को काम का प्रहार छूता तक नहीं।

'परमात्मतत्त्व' जो यहीं और अभी एक मनुष्य में है तथा 'परमात्मतत्त्व' जो वहाँ सूर्य में है, यह एक ही है, इससे अन्य कोई नहीं है। जो यह जानता है, वह इस लोक से जब प्रयाण करता है तब इस 'अन्नमय आत्मा' में संक्रमण करता है, वह 'प्राणमय आत्मा' में संक्रमण करता है; वह 'मनोमय आत्मा' में संक्रमण करता है; वह 'विज्ञानमय आत्मा' में संक्रमण करता है; वह 'आनन्दमय आत्मा' में संक्रमण करता है। इसके विषय में भी यह श्लोक (श्रुति-वचन) है।

ईश्वर पूर्णकाम है और श्रोत्रिय भी आत्म-ज्ञान हो जाने के कारण तथा काम-क्षय हो जाने के कारण, क्योंकि काम अन्तःकरणका धर्म है द्रष्टा आत्मा का नहीं इसलिये जीव और ईश्वर दोनों ही स्वभावसे वितृष्ण होने के कारण तुल्य गुण वाले होने से दोनों को ही समान सुख होता है यह आशय है।

"यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।४.२२।। श्रीमद् भगवद्गीता"

यदृच्छया (अपने आप) फल की इच्छा के बिना जो कुछ प्राप्त हो उसमें ही सन्तुष्ट रहने वाला, द्वन्द्वों से अतीत तथा मत्सर से रहित, और जो ईर्ष्यासे रहित है तथा सिद्धि व असिद्धि में समभाव वाला है, वह पुरुष कर्म करते हुए भी उससे नहीं बँधता।

अब तप से साध्य सिद्धियों का फल बताते हैं —

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ॥ २.४३ ॥

काय-इन्द्रिय-सिद्धि: = शरीर की और इन्द्रियोंकी सिद्धि ; अशुद्धि-क्षयात् = अशुद्धि का क्षय होने से ; तपस: = तपसे होती है।

तपसे अशुद्धिके क्षय होने से शरीर और इन्द्रियोंकी शुद्धि होती है।

व्याख्या — पाप और तमोगुण ही अशुद्धि है। पापकी निवृत्ति में मुख्य हेतु तप ही होता है। चान्द्रायणादि तप करने से जैसे सोने को तपाने से उसके भीतर का मल जलकर नष्ट हो जाता है और सोना निखर जाता है, उसी प्रकार शरीर और इन्द्रियां भी तप की अग्नि से तपकर निखर जाते हैं । तब सूक्ष्म-दर्शन, व्यवहित-दर्शन और विप्रकृष्ट-दर्शन करनेमें समर्थ होता है।

"तपो नाशयतेऽशुद्धिं श्रद्धया सम्यगाहितम्।

कायेन्द्रिमजयं योगी तस्मादाप्नोति हेलया ॥ १२४ ॥ योगसूत्रसारः"

तपकी स्थिरता होनेपर, पापकी अशुद्धि दूर होनेपर, तमोगुणका आवरण दूर होनेपर जिस प्रकार लोहेको बार-बार आगपर तपाने और अहिरनपर कूटनेसे उसके मल दूर हो जाते हैं और उसको इच्छानुसार काममें ला सकते हैं, इसी प्रकार तपके निरन्तर अनुष्ठानसे

अशुद्धियोंके मलोंके दूर होनेपर शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और लघु हो जाता है, उसमें अणिमा आदि सिद्धियाँ आ जातीं हैं और इन्द्रियाँ दिव्य-दर्शन, दिव्य-श्रवण, दूर-श्रवण आदि सिद्धियोंको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जातीं हैं।

अब अगले सूत्रमें स्वाध्याय का फल बतलाते हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ २.४४ ॥

स्वाध्यायात् = स्वाध्यायसे ; इष्ट-देवता-सम्प्रयोग: = इष्ट-देवताका साक्षात् होता है।

स्वाध्यायसे इष्टदेवताका साक्षात् होता है।

व्याख्या — स्वाध्यायशीलको देवता, ऋषियों और सिद्धोंके दर्शन होते हैं और वे इसके योगकार्योंमें सहायक होते हैं। (व्यासभाष्य)

इष्ट-मन्त्रके जपरूप स्वाध्यायके सिद्ध होनेपर योगीको इष्टदेवताका योग होता है अर्थात् वह देवता प्रत्यक्ष होता है। (भोजवृत्ति)

“तदीक्षणाय स्वाध्यायश्चक्षुर्योगस्तथा परम् |

न मांस चक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतस्स शक्यते ||३||विष्णुपुराणम्/षष्टांशः/अध्यायः ६”

इन मांसमय चक्षुओंसे परमात्माका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। परमात्मा के दर्शन के साधनभूत चक्षु स्वाध्याय और योग हैं।

“स्वाध्यायादिष्टदेवानां साक्षात्कारश्च सिद्ध्यति।

देवता ऋषयो दिव्या वर्तन्ते योगिकर्मणि ॥ १२५ ॥ योगसूत्रसारः”

ब्रहमस्वरुप परमात्मा को मांसमय चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता; उन्हें देखने के लिए स्वाध्याय और योग ये ही दो नेत्र हैं । ‘स्व’ का अध्ययन करना अर्थात् अपने को ही पढ़ना , केवल किताब पढने को ही स्वाध्याय नहीं कहा गया है।   स्वामी श्री अखण्डानन्दसरस्वतीजी कहा है कि यदि हम ब्राह्मण हैं तो जिस शाखा में हमारा जन्म हुआ है, उस शाखा के वेद का अध्ययन तो अवश्य करना चाहिए। उसी को बोलते हैं स्वाध्याय। योगियों ने स्वाध्याय शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया है। वे कहते हैं कि आप जिस देवता का दर्शन करना चाहते हो उस देवता के मंत्र का जप कीजिए- ‘स्वाध्यायात् इष्टदेवता सम्प्रयोगः।’ आप द्वादशाक्षर मन्त्र ‘ॐ नमो भगवते वासुदेवाय’ का जप कीजिए और लीजिये भगवान् का दर्शन। षडक्षर राम मन्त्र (रां रामाय नम:) का जप कीजिए और लीजिये भगवान् रामका दर्शन। षडक्षर कृष्ण मन्त्र (क्लीं कृष्णाय नमः) का जप कीजिए और लीजिये भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन। इष्टदेवका सम्प्रयोग करनेके लिए स्वाध्याय माने जपकी जरुरत पड़ती है। श्रीकबीरजी ने कहा है – ”कबिरा पढ़िबा दूर करि पोथी देउ बहाय। बावन आखर सोध कर ररै ममै चित लाय।।” कबीर जी के अनुसार ”ररै ममै चित” लाना ही अर्थात् रकार और मकार में चित्त स्थिर करना ही अर्थात् राम में चित्त लगाना ही अर्थात् योग करना ही सच्चा पढ़ना है ! उपनिषद में कहा गया है – स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए ”स्वाध्यायान्मा प्रमद:।” वेदोंके स्वाध्याय में अवहेलना (आलस्य) मत करो। तैतितरीय उपनिपद ११.१||

उपासनामें उपास्यके गुणोंको धारण करना, उसमें अवस्थित होना अर्थात् उसके तदाकार होना होता है। उपास्य के जिन इष्ट गुणों अथवा आकार- विशेषकी भावनाके साथ किसी विशेष मन्त्र अथवा बिना मन्त्रके धारणा की जाती है तब ध्यानकी परिपक्व-अवस्थामें रजस् और तमस् से शून्य हुआ चित्त सात्विक प्रकाश में उस विशेष इष्ट आकारमें परिणत हो जाता है।

“स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।

स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥२॥ विष्णुपुराणम्/षष्टांशः/अध्यायः ६"

योग और स्वाध्याय इन दो साधनों का आश्रय लेते हुए धीरे धीरे परमात्मा प्रकाशित हो जाता है । जब योग करके थक जाएँ तो स्वाध्याय करें और जब स्वाध्याय करते करते थक जाएँ तब योग कर लें । इस प्रकार योग और स्वाध्याय दोनों का बारी-बारी से अभ्यास करने से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है।

अब अगले सूत्रमें ईश्वरप्रणिधान का फल बतलाते हैं।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ २.४५ ॥

समाधि-सिद्धिः = समाधिकी सिद्धि; ईश्वरप्रणिधानात् = ईश्वरप्रणिधान से होती है।

समाधिकी सिद्धि ईश्वर-प्रणिधान से होती है।

ईश्वर की भक्तिविशेष करने और सम्पूर्ण कर्मों तथा उनके फलोंको ईश्वर को समर्पित करने से विघ्न दूर हो जाते हैं और शीघ्र ही समाधि सिद्ध हो जाती है। इस समाधिप्रज्ञासे योगी देशान्तर, देहान्तर, और कालान्तर में होनेवाले अभिमत पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि "जब ईश्वर-प्रणिधानसे ही समाधिका लाभ हो जाता है, तब योगके अन्य सात अङ्गोंके अनुष्ठानसे क्या प्रयोजन है" क्योंकि इन सातों योगाङ्गोंके बिना ईश्वर-प्रणिधानका लाभ कठिन है। इसलिये यह ईश्वर-प्रणिधानके भी उपयोगी साधन हैं। ईश्वर-प्रणिधानरहित सातों अङ्गोंके अनुष्ठानसे नाना प्रकारके विघ्न उपस्थित होनेसे दीर्घकालमें समाधिका लाभ प्राप्त होता है। ईश्वर-प्रणिधानसहित योगाङ्गोंके अनुष्ठानसे निर्विघ्नताके साथ शीघ्रही समाधिसिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसलिये योगाभिलाषीजनोंको ईश्वर-प्रणिधान सहित योगके अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

सङ्गति — यम-नियमको सिद्धियोंसहित बतलाकर अब क्रमशः सकल रोगादिनिवृत्तिद्वारा हठयोग के उपायभूत आसनका लक्षण कहते हैं —

स्थिरसुखम् आसनम् ॥ २.४६ ॥

स्थिरसुखम् = जो स्थिर और सुखदायी हो; आसनम् = वह आसन है।

जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है।

" स्थिरं सुखकरं यत्तत् गृह्यतां सम्यगासनम्।

प्रयत्नोपरमाच्चिते, स्थिरे चित्तस्य धारणात् ॥ १२६ ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या — जिस रीतिसे स्थिरतापूर्वक बिना हिले-डुले और सुखके साथ बिना किसी प्रकारके कष्टके दीर्घकालतक बैठ सकें, वह आसन है। जो शरीरको स्वस्थ, हलका और योग-साधनके योग्य बनानेमें सहायक होते हैं; पर यहाँ उन आसनोंसे अभिप्राय है, जिनमें सुखपूर्वक निश्चलताके साथ अधिक-से-अधिक समयतक ध्यान लगाकर बैठा जा सके। जो अभ्यासी जिनमें सुगमतया अधिक देरतक बैठ सके, वह उसको ग्रहण करे।

पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सिद्धासन, गोमुखासन, वज्रासन

अधोमुख वृक्षासन,

आकर्ण धनुरासन,

पर्वतासन,

अनन्तासन,

आंजनेयासन,

उत्तान शिशुनासन,

अर्ध चन्द्रासन,

अष्टांग नमस्कार,

अग्निस्तंभासन,

अष्ट वक्रासन,

बद्धकोणासन,

बकासन,

बालासन,

आनंद बालासन,

भैरवासन,

भारद्वाज आसन,

शशांकासन,

भेकासन,

भुजंग आसन,

अश्व संचालनासन,

भुजपीडासन,

मार्जरी आसन,

चतुरंग दण्डासन,

दण्डासन,

धनुरासन,

दुर्वासासन,

गर्भासन,

गरुडासन,

गोमुखासन,

गोरक्षासन,

हलासन,

हनुमान आसन,

जानुशिरासन,

जठर परिवर्तनासन,

कपोतासन / कबूतर मुद्रा,

कर्णापीड़ासन,

कौंडिण्य आसन,

क्रौंचासन,

कुक्कुटासन,

कूर्मासन / कछुआ मुद्रा,

लोलासन,

मकरासन,

मंडूकासन / मेंढक मुद्रा,

मरीच्यासन,

मत्स्यासन / मछली मुद्रा,

मत्स्येन्द्रासन,

मयूरासन

मुक्तासन,

नटराज आसन,

नौकासन,

पद्मासन/कमल मुद्रा,

परिघासन,

पार्श्वकोणासन,

पार्श्वोत्तनासन,

पाशासन,

पश्चिमोत्तानासन,

पिंच मयूरासन,

प्रसारित पादोत्तानासन,

राज कपोतासन,

शलभासन,

सालंब सर्वांगासन,

समकोण आसन,

शवासन,

सेतुबंध सर्वांग आसन,

सिद्धासन,

सिंहासन / सिंह मुद्रा,

शीर्षासन,

सुखासन,

सुप्त पादांगुष्ठासन,

स्वस्तिक आसन,

ताड़ आसन,

टिट्टिभासन,

त्रिकोणासन,

त्रिविक्रमासन,

तुलासन / झुलासन,

उपविषा कोणासन,

चक्रासन,

उर्ध्व मुख श्वानासन,

उष्ट्रासन,

उत्कटासन,

उत्थान आसन,

उत्थित हस्त पादांगुष्ठासन

वज्रासन

वसिष्ठासन

विपरीत दंडासन

विपरीत-करणी मुद्रा

विपरीत वीरभद्रासन

वीरभद्रासन

पवन मुक्तासन

वीरासन

अर्ध मत्स्येन्द्रासन

वृक्षासन

बिच्छू मुद्रा

अद्धासन

योगनिद्रासन

अर्ध पिंच मयूरासन

व्याघ्रासन

हस्त पादासन

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें आसनकी स्थिरताकी सिद्धिका उपाय बताते हैं।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ २.४७ ॥

प्रयत्न-शैथिल्य = प्रयत्नकी शिथिलता; आनन्त्यसमापत्तिभ्याम् = आनन्त्य में समापत्ति द्वारा (आसन सिद्ध होता है)

(आसन) प्रयत्नकी शिथिलता और आनन्त्य में समापत्ति द्वारा सिद्ध होता है।

व्याख्या — सूत्रके अन्तमें 'भवति' वाक्य शेष है। प्रयत्न-शैथिल्य = शरीरकी स्वाभाविक चेष्टाका नाम प्रयत्न है, उस स्वाभाविक चेष्टासे अङ्गमेजयत्व (शरीर-कम्पन) के रोकनेके निमित्त उपरत होना प्रयत्नकी शिथिलता है। इस प्रयत्नकी शिथिलतासे आसन सिद्ध

होता है। अथवा आनन्त्य-समापत्ति = आकाशादिमें रहनेवाली अनन्ततामें चित्तकी व्यवधानरहित समापत्ति अर्थात् तद्रूपताको प्राप्त हो जानेसे आसनसिद्धि होती है अर्थात् शरीरको प्रयत्नशून्य और मनको व्यापकविषयी वृत्तिवाला करके आसनपर बैठना चाहिये।

इस प्रकार शरीर और मनको क्रियारहित करनेसे शरीरका अध्यास छूट जाता है और उससे भूला-जैसा होकर बहुत समयतक स्थिरताके साथ सुखपूर्वक बैठ सकता है। आनन्त्यसमापत्तिसे यह अभिप्राय है कि चित्त वृत्तिरूपसे प्रतिक्षण अनेक परिच्छिन्न पदार्थोंकी ओर घूमता रहता है। उनकी परिच्छिन्नतामें वह अस्थिर रहता है। अपरिच्छिन्न आकाशादिमें जो अनन्तता है, उसमें चित्तको तदाकार करनेसे चित्त निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है।

अथवा अनन्त शेषनागका नाम बताया है, जो अपने सहस्र फणोंपर पृथ्वी- मण्डलको बिना हिले-डुले धारण किये हुए हैं, उनकी धारणा करनेसे तथा देहाभिमानके अभावसे आसनमें दुःखका स्फुरण नहीं होता और आसन सुख पूर्वक सिद्ध होता है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें उस आसनजयसे होनेवाली सिद्धिका फल बताते हैं —

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ २.४८ ॥

ततः= उससे; द्वन्द्व-अनभिघातः = द्वन्द्वकी चोट नहीं लगती।

आसनकी सिद्धिसे द्वन्द्वोंकी चोट नहीं लगती।

व्याख्या — आसन के सिद्ध हो जाने पर योगीको सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, आदि द्वन्द्व नहीं सताते अर्थात् कष्ट उत्पन्न नहीं करते हैं।

“न हि शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनज्ञोऽभिभूयते।

जित्वा तत्प्रथमं वायोर्निग्रहे यत्नवान् भवेत् ॥ १२७ ॥ योगसूत्रसारः”

आसन को जीतकर प्राणायाम का प्रयत्न करना चाहिये।

“एवं भद्रासनादीनां समास्थाय गुणैर्युतः।

यमाख्यैर्नियमाख्यैश्च युंजीत नियतो यतिः || ६.७.३९|| विष्णुपुराणम्”

योगीको चाहिये कि वह भद्रासन आदि आसनों में से किसी एक आसन को अपना कर नियमतः यम, नियमादि का पालन करता रहे।

“शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।६.११।। श्रीमद् भगवद्गीता”

शुद्ध स्थानमें अर्थात् जो स्वभावसे अथवा झाड़ने-बुहारने आदि संस्कारोंसे साफ किया हुआ पवित्र और एकान्त स्थान हो उसमें अपने आसनको जो न अति ऊँचा हो और न अति नीचा हो और जिसपर क्रमसे वस्त्र मृगचर्म और कुशा बिछाये गये हों अविचलभावसे स्थापन करके। यहाँ पाठक्रमसे उन वस्त्रादिका क्रम उलटा समझना चाहिये अर्थात् पहले कुशा उसपर मृगचर्म और फिर उसपर वस्त्र बिछावे। ऐसे अपने आसनको स्थिरस्थापन करना चाहिये।

सङ्गति — आसन सिद्धिके अनन्तर प्राणायामको बताते हैं।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ २.४९ ॥

तस्मिन् सति = उस आसनके स्थिर हो जानेपर; श्वास-प्रश्वासयो: = श्वास और प्रश्वासकी; गतिविच्छेद: = गतिको रोकना; प्राणायाम: = प्राणायाम है।

आसनके स्थिर होनेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिको रोकना प्राणायाम है।

"बाह्यस्य ग्रहणं वायोर्नासा पूरकमुच्यते ।

विरेचनं ततस्तस्य विधिवद्रेचकाभिधम् ॥ १२८ ॥ योगसूत्रसारः"

"तयोस्तु गतिविच्छेदः प्राणायामः प्रकीर्तितः।

पूरकः रेचकः कुम्भ इत्येषः कथितस्त्रिधा ॥ १२९ ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या — श्वास — बाहरकी वायुका नासिकाद्वारा अंदर प्रवेश करना श्वास कहलाता है।

प्रश्वास — कोष्ठ-स्थित वायुका नासिकाद्वारा बाहर निकलना प्रश्वास कहलाता है। श्वास-प्रश्वासकी गतियोंका प्रवाह रेचक, पूरक और कुम्भकद्वारा बाह्याभ्यन्तर दोनों स्थानोंमें रोकना प्राणायाम कहलाता है। रेचक प्राणायामकी बहिर्गति होनेके कारण उसमें श्वासकी स्वाभाविक गतिका तो अभाव होता ही है पर कोष्ठकी वायुका बहिर्विरेचन करके बाहर ही धारण करनेसे प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिका भी अभाव जाता है। इसी प्रकार पूरक प्राणायाममें प्रश्वासकी गतिका तो अभाव होता ही है, पर बाह्य वायुको पान करके शरीरके अंदर धारण करनेसे श्वासकी स्वाभाविक गतिका भी अभाव हो जाता है और कुम्भक प्राणायाममें रेचन-पूरण प्रयत्नके बिना केवल विधारक प्रयत्नसे प्राणवायुको एकदम जहाँ-के-तहाँ रोक देनेसे श्वास-प्रश्वास दोनोंकी गतिका अभाव हो जाता है।

आसन की सिद्धि हो जाने पर प्राणवायु को अन्दर लेने (पूरक) व प्राणवायु को बाहर छोड़ने की (रेचक) की सहज गति को अपने सामर्थ्य के अनुसार रोक देना या स्थिर कर देना ही प्राणायाम कहलाता है ।

"एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।

सावित्र्यास्तु परं नान्यन्मौनात्सत्यं विशिष्यते ।। ५५.१७ ।। विष्णुस्मृतिः"

एक-अक्षर ॐ सर्वोच्च ब्रह्म है; श्वास-निलंबन सर्वोच्च तपस्या हैं; सावित्री (गायत्री मन्त्र) से बढ़कर कुछ नहीं है; सच मौन से बेहतर है।

प्राणायाम को सबसे बड़ा तप इसलिये कहा गया है क्योंकि इसमें सबसे ज्यादा पुरुषार्थ करना पड़ता है, खूब मेहनत लगती है।

'प्राणायाम से बढ़कर दूसरा तप नहीं है, इससे सारे मल धुल जाते हैं और ज्ञानरूप दीपशिखा प्रदीप्त हो जाती है।' प्राणायाम से रोग नष्ट होते हैं और शरीर में ओज, बल, स्फूर्ति बढ़ती है।

प्रो. राममूर्ति अपने शारीरिक बल के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। मोटर की गति रोक देना, लोहे की भारी साँकल तोड़ डालना, छाती पर से हाथी पसार करवाना इत्यादि अनेकों करतब वे दिखाते थे। वे कहते थेः'ब्रह्मचर्य-पालन और नित्य प्राणायाम करके मैंने यह बल प्राप्त किया है।

"प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यत इति।॥१॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली तृतीयोऽनुवाकः"

'प्राण' के साम्राज्य में ही देवगण निवास करते एवं निश्वास लेते हैं, इसी प्रकार जो मानव हैं तथा जो पशु है वे भी; क्योंकि 'प्राण' ही समस्त भूत-पदार्थों (सृष्ट पदार्थों) का जीवन है, इसीलिए उसे "सर्वायुष" अर्थात् 'सबका जीवन-तत्त्व' कहा जाता है। वस्तुतः जो 'ब्रह्म' की 'प्राण' के रूप में उपासना करते हैं वे 'जीवन' पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लेते हैं; क्योंकि 'प्राण' ही समस्त भूत-पदार्थों का जीवन है, इसीलिए उसे 'सर्वायुष "अर्थात् 'सबका जीवनतत्त्व' कहा जाता है।

" चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३९ ॥ गोरक्षशतकम्"

प्राणों के चलायमान होने पर चित्त भी चलायमान हो जाता है और प्राणों के निश्चल होने पर मन भी स्वत: निश्चल हो जाता है और योगी स्थाणु हो जाता है। अतः योगी को श्वासों का नियंत्रण करना चाहिये।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।

मरणं तस्य निष्क्रान्तिः ततो वायुं निरोधयेत् ॥

जब तक शरीर में वायु है तब तक जीवन है। वायु का निष्क्रमण (निकलना) ही मरण है। अतः वायु का निरोध करना चाहिये।

"प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेच-पूरक-कुम्भकैः।

सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः॥ हठ योग प्रदीपिका -२.७१॥"

प्राणायामके तीन मुख्य अंग होते हैं जिनसे प्राणायाम पूर्ण होता है। रेचक, (श्वास को बाहर निकालना) पूरक (श्वास को अन्दर भरना) व कुम्भक (श्वास को अन्दर या बाहर कहीं भी रोक कर रखना) । इसमें कुम्भक के दो प्रकार होते हैं – एक सहित कुम्भक व दूसरा केवल कुम्भक । जब प्राणायाम को रेचक व पूरक के साथ किया जाता है तब वह सहित कुम्भक कहलाता है।

"यावत् केवल-सिद्धिः स्यात् सहितं तावद् अभ्यसेत्।

रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद् वायु-धारणम्॥२.७२॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवल-कुम्भकः।

कुम्भके केवले सिद्धे रेच-पूरक-वर्जिते ॥२.७३॥

न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते। (हठ योग प्रदीपिका)"

जब तक साधक को केवल कुम्भक में सिद्धि नहीं मिल जाती तब तक उसे सहित कुम्भक का अभ्यास करते रहना चाहिए। रेचक व पूरक के बिना अपने आप प्राणवायु को सुखपूर्वक शरीर के अन्दर धारण करने (रोकना) को ही केवल कुम्भक प्राणायाम कहते हैं । बिना रेचक व पूरक के केवल कुम्भक प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर योगी साधक के लिए इन तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ अर्थात् अप्राप्य नहीं रहता ।अर्थात् तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे वह प्राप्त न कर सकता हो ।

जब ठीक आसनसे बैठ जाय, तब ऊपर बतलाई हुई रीतिसे प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायामके इन तीनों भेदोंका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले सूत्रमें है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें सुखपूर्वक प्राणायामकी प्राप्तिके लिये उसका भेद करके प्राणायामका विशेष स्वरूप बताते हैं।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ २.५० ॥

बाह्य-आभ्यन्तर-स्तम्भवृत्ति:= बाह्य-वृत्ति, प्राणवायु को बाहर निकालकर कर बाहर ही रोकना, आभ्यन्तर-वृत्ति— प्राणवायु को भीतर भरकर भीतर ही रोकना और स्तम्भवृत्ति अर्थात् प्राणवायु जहाँ है उसे वहीं पर रोकना (तीनों प्रकारका प्राणायाम); देश काल संख्याभि: परिदृष्ट:= देश, काल और संख्यासे देखा हुआ; दीर्घ-सूक्ष्म:= लम्बा और हलका होता है।

(यह प्राणायाम) बाह्य-वृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भवृत्ति (तीन प्रकारका होता है) इन्हींको रेचक,पूरक और कुम्भक कहते हैं। देश, काल और संख्यासे देखा हुआ (स्थान, समय व गणना के द्वारा ठीक प्रकार से नापा हुआ) लम्बा और हलका होता है।

व्याख्या — बाह्य-वृत्ति (प्रश्वास) — श्वासको बाहर निकालकर उसकी स्वाभाविक गतिका अभाव करना रेचक प्राणायाम है।

आभ्यन्तर-वृत्ति (श्वास) — श्वास अंदर खींचकर उसकी स्वाभाविक गतिका अभाव करना पूरक प्राणायाम है।

स्तम्भवृत्ति — श्वास-प्रश्वास दोनों गतियोंके अभावसे प्राणको एकदम जहाँ-का-तहाँ रोक देना कुम्भक प्राणायाम है। जैसे घड़ेमें जल स्थिर हो जाता है वैसे ही निश्चलतया प्राणोंका अवस्थापन जलसे भरे हुए घड़ेके समान हो जाना कुम्भक नामक प्राणायाम कहलाता है। अथवा जिस प्रकार तप्त लोहादिपर ड़ाला हुआ जल एक साथ संकुचित होकर सूख जाता है, उसी प्रकार कुम्भक प्राणायाममें श्वास-प्रश्वास दोनोंकी गतिका एकसाथ अभाव हो जाता है।

इन तीनोंमें प्रत्येक प्राणायाम तीन-तीन प्रकारका होता है —

“प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः |

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः || (योगियाज्ञवलक्य ६.२)”

प्राण और अपान वायुके मिलानेको प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम कहनेसे रेचक, पूरक और कुम्भककी क्रिया समझी जाती है।

(१) देश-परिदृष्ट — देशसे देखा हुआ अर्थात् देशसे नापा हुआ। जैसे (१) रेचकमें नासिकातक प्राणका निकालना, (२) पूरकमें मूलाधारतक श्वासका ले जाना, (३) कुम्भकमें नाभिचक्र आदिमें एकदम रोक देना।

(२) काल-परिदृष्ट — समयसे देखा हुआ अर्थात् समयोपलक्षित=समयकी विशेष मात्राओंमें श्वासका निकालना, अंदर ले जाना और रोकना। जैसे दो सेकण्डमें रेचक,एक सेकन्डमें पूरक और चार सेकन्डमें कुम्भक।

(३) संख्या-परिदृष्ट — संख्यासे उपलक्षित। जैसे इतनी संख्यामें पहला, इतनी संख्यामें दूसरा और इतनी संख्यामें तीसरा प्राणायाम। इस प्रकार अभ्यास किया हुआ प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात् लम्बा और हलका होता है।

“वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचकपूरककुम्भकाः ।

स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥ ३॥ (योगियाज्ञवलक्य ६.३)”

यह रेचक,पूरक और कुम्भकात्मक प्राणायाम प्रणव स्वरुप है। भाव यह है कि ज्यों-ज्यों योगीका अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों रेचक, पूरक, कुम्भक— यह तीनों प्रकारका प्राणायाम देश, काल और संख्याके परिमाणसे दीर्घ (लम्बा), सूक्ष्म (पतला, हलका) होता चला जाता है। अर्थात् पहले-पहल रेचक प्राणायाम में बाहर फेंकते समय जितनी दूरतक प्राण जाता है धीरे-धीरे अभ्याससे उसका

परिमाण बढ़ता चला जाता है। इसकी जाँच इस प्रकार की जाती है कि रेचक प्राणायामके समय पहले-पहल नासिकाके सामने पतली-सी रुई रखनेसे जितनी दूर वह श्वासके स्पर्शसे हिलती है, कुछ दिनोंके अभ्यासके पश्चात् उससे अधिक दूरीपर हिलने लगती है। इस प्रकार जब बारह अंगुलपर्यन्त रेचक स्थिर हो जाय, तब उसको दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिये।

जिस प्रकार रेचक प्राणायाममें श्वासकी लम्बाई बाहर बढ़ती जाती है, इसी प्रकार पूरक प्राणायाममें अंदर बढ़ती जाती है। अंदर श्वास खींचनेमें श्वासका स्पर्श चींटी-जैसा प्रतीत होता है। यह स्पर्श अभ्यासके क्रमसे नीचेकी ओर नाभि तथा पादतल और ऊपरकी ओर मस्तिष्कतक पहुंच जाता है। नाभिपर्यन्त पूरक स्थिर हो जानेपर उसको भी दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिये। इस तरह केवल रेचक, पूरककी परीक्षा की जाती है, कुम्भकमें न बाहर कुछ हिलता है, न अंदर स्पर्श होता है। यह देश द्वारा परीक्षा हुई।

कालद्वारा परीक्षा

इसी प्रकार तीनों प्रकारका प्राणायाम अभ्यासद्वारा कालके परिमाणमें भी बढ़ता जाता है। आरम्भ में जितने कालतक प्राणायाम होता है, धीरे-धीरे उससे अधिक कालतक बढ़ता जाता है। हाथको जानुके ऊपरसे चारों ओर फिराकर एक चुटकी बजा देनेमें जितना काल लगता है, उसका नाम मात्रा है। दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त किया हुआ प्राणायाम जब छत्तीस मात्राओंपर्यन्त श्वास-प्रश्वासकी गतिके अभावमें होने लगे तब उसको दीर्घ-सूक्ष्म जानना चाहिये।

संख्याद्वारा परीक्षा

“निमेषोन्मेषणे मात्रा कालो लघ्वक्षरस्तथा ।

प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृतो द्वादशमात्रिकः ।। ३९.१५।। मार्कण्डेयपुराणम्”

“मात्राद्वादशको मन्दश्चतुर्विंशतिमात्रकः ।

मध्यमः प्राणसंरोधः षट्त्रिंशान्मात्रिकोत्तमः ।। ११.३२।। कूर्मपुराणम्”

इसी प्रकार संख्याके परिमाणसे प्राणायाम बढ़ता जाता है। प्राणायामके बलसे कई स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासका एक-एक श्वास बनता जाता है। जब बारह श्वास-प्रश्वासका एक श्वास बनने लगे, तब जानना चाहिये कि दीर्घ-सूक्ष्म हुआ। यह प्रथम उद्घात (चोट) मृदु दीर्घ-सूक्ष्म, चौबीस श्वास-प्रश्वासका एक श्वास, द्वितीय उद्घात मध्य दीर्घ-सूक्ष्म और छत्तीस श्वास-प्रश्वासका एक श्वास, तृतीय उद्घात तीव्र दीर्घ-सूक्ष्म कहलाता है। उद्घातका अर्थ नाभिमूलसे प्रेरणा की हुई वायुका सिरमें टक्कर खाना है। यह प्राणायाममें देश, काल और संख्याका परिमाण है। इस प्रकार प्राणायाम अभ्याससे लम्बा (घड़ी, पहर, दिन, पक्ष आदि पर्यन्त) और सूक्ष्म बड़ी निपुणतासे जानने योग्य होता चला जाता है।

“सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भकाः ॥४६॥ घेरण्डसंहिता/पञ्चमोध्यायः”

सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और केवली भेदसे कुम्भक आठ प्रकारका है।

“सहितो द्विविधः प्रोक्तः सगर्भश्चनिगर्भकः।

सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः ॥४७॥ घेरण्डसंहिता/पञ्चमोध्यायः”

सहित-कुम्भक सगर्भ और निर्गर्भ भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। उसका आचरण करे। सगर्भ बीजमन्त्रके उच्चारणके साथ किया जाता है और निर्गर्भ बीजमन्त्रको छोड़कर किया जाता है।

"अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥४.२९॥ श्रीमद् भगवद्गीता"

तथा (कोई) अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करते हैं अर्थात् पूरक नामक प्राणायाम किया करते हैं। वैसे ही अन्य कोई प्राणमें अपानका हवन करते हैं अर्थात् रेचक नामक प्राणायाम किया करते हैं। मुख और नासिकाके द्वारा वायुका बाहर निकलना प्राणकी गति है और उसके विपरीत (पेटमें) नीचेकी और जाना अपानकी गति है। उन प्राण और अपान दोनोंकी गतियोंको रोककर कोई अन्य लोग प्राणायामपरायण होते हैं अर्थात् प्राणायाममें तत्पर हुए वे केवल कुम्भक नामक प्राणायाम किया करते हैं।

"परस्परेणाभिभवं प्राणापानौ यथानिलौ।

कुरुतस्सद्विधानेन तृतीयस्संयमात्तयोः॥ ६.७.४१॥ विष्णुपुराणम्"

जब योगी सद्गुरुके उपदेशसे प्राणायाम करते समय प्राण तथा अपान वायुओंका परस्परमें एक-दूसरे से निरोध करता है, उस समय पूरक एवं रेचक नामक दो प्राणायामोंका संयम होता है। और जब दोनों का एक साथ संयोग करता है उस समय तीसरा कुम्भक प्राणायाम हो जाता है।

"यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चेतो निराश्रयम् ।।

यावद्दृष्टिर्भुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ।।७४।।"

जब तक शरीर में सांस रोक दी जाती है तब तक मन स्वच्छ, शान्त और अबाधित रहता है और जब तक ध्यान दोनों भौहों के बीच लगा है तब तक मृत्यु से कोई भय नहीं है।

"षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।।

सव्यापसव्यमार्गेण प्रयाणात्प्राण उच्यते ।। ४.४१.८२ ।। स्कन्दपुराणम्/खण्डः ४ (काशीखण्डः)/अध्यायः ०४१"

प्राणियोंकी दक्षिण नाडीका नाम पिङ्गला है, इसके सूर्य देवता हैं । वाम नाडीका नाम इडा है, इसके चन्द्र देवता हैं। इन दोनों के बीचमें सुषुम्ना नाडी है इसके देवता ब्रह्म हैं।

सङ्गति — तीन प्राणयामोंको बताकर अब चौथे प्राणायामका (केवल कुम्भक का) लक्षण बताते हैं।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ २.५१ ॥

बाह्य-आभ्यन्तर-विषय-आक्षेपी= श्वास को बाहर रोकने व अन्दर रोकने के विषय को फेंकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला; चतुर्थः= चौथा प्राणायाम है।

बाहर और अन्दरके विषय को फेंकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला चौथा प्राणायाम है।

"दीर्घसूक्ष्मस्सुविख्यातश्चतुर्थः केवलो मतः ।

श्वासप्रश्वास शून्यो हि प्राणो तद्भाति केवले ॥ १३० ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या — अब चौथे केवल-कुम्भक-प्राणायाम के बारेमें बताते हैं। जब प्राणवायुको जहाँ-का-तहाँ एकदम बिना रेचक-पूरकके केवल विधारण प्रयत्नसे रोककर श्वास-प्रश्वासकी गतिका अभाव किया जाय, तब वह केवल कुम्भक कहलाता है। ध्रुवने यही चौथा केवल-कुम्भक नामवाला प्राणायाम किया था, ऐसी कथा विष्णुपुराण एवं श्रीमद्भागवत में है। तथा इसी प्राणायामको च्यवन, विश्वामित्र, अगस्त्य, संवर्त्त, दुर्वासा, जडभरत,दत्तात्रेय प्रभृति योगिवर्योंने सिद्ध किया था।

"रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥ ६.३०॥ (योगियाज्ञवलक्य)"

रेचक और पूरकको छोड़कर जो सुखपूर्वक वायुको धारण किया जाता है, उसीको केवल-कुम्भक प्राणायाम कहते हैं।

"केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरणवर्जिते ।

न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ६.३३॥ (योगयाज्ञवलक्य)"

जो इस प्रकार रेचक और पूरकसे रहित केवल-कुम्भक प्राणायाम को सिद्ध कर लेता है, उसे तीनों लोकोंमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः ।

कंपनं मध्यमं विद्यादुत्थानं चोत्तमं विदुः ॥ १४॥

प्राणायाम का साधन करते समय जब पसीना आने लगे तो प्रथमावस्था समझनी चाहिये और जब शरीरमें कम्पन या रोमाञ्च होने लगे तो मध्यमावस्था और जब शरीर आसनसे ऊपर उठने लगे तो उत्तमावस्था जाननी चाहिये।

प्राणायामेन चित्तं तु शुद्धं भवति सुव्रत ।

चित्ते शुद्धे शुचिः साक्षात्प्रत्यग्ज्योतिर्व्यवस्थितः ॥ ६.१६॥ जाबालदर्शनोपनिषत्

प्राणायाम करनेसे चित्त शुद्ध हो जाता है और चित्त शुद्ध होनेसे अन्तर्ज्योतिका दर्शन होता है।

जपध्यानयुतो गर्भो विपरीतस्त्वगर्भकः ॥

अगर्भाद्गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः॥१,२३५.२३ ॥ गरुडपुराणम्

जप और ध्यानसे युक्त प्राणायाम सगर्भ कहलाता है और जप-ध्यानसे रहित अगर्भ कहलाता है। अगर्भ प्राणायामकी अपेक्षा सगर्भ प्राणायाम सौगुना अधिक फलदायी होता है।

"वाक्सिद्धिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च।

दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रवेशनम्।।५४ ।। शिवसंहिता/तृतीयः पटलः"

वाक्सिद्धि, कामचारित्व, दूरदृष्टि, दूरश्रवण, सूक्ष्मदृष्टि, परकाया-प्रवेश तथा आकाशगमन आदि सिद्धियाँ केवल-कुम्भक के अभ्यासीको सुलभ हो जातीं हैं।

"दुःखदोषक्षुधानिद्राजरामृत्युविवर्जनम्।

सृष्टिसंहारकर्तृत्वमीश्वरेण समानता॥

परचित्तप्रवेशेन ज्ञानशक्तिप्रदातृता।

सर्वज्ञता सर्वशक्तिः सर्वभूताद्यबाध्यता ॥" (वशिष्ठ संहिता)

जब तीन घण्टे तक का केवल-कुम्भक का अभ्यास हो जाय तब वह योगी दुःख, दोष, क्षुधा, निद्रा, जरा, मृत्यु से रहित होकर सृष्टि और संहार करनेमें ईश्वरकी समानता करता है और परचित्त में प्रवेश करके ज्ञानशक्ति को जाग्रत कर सकता है तथा सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वभूतों से अबाध्यता को प्राप्त करता है। इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जो वह न कर सके।

योगसूत्रके तीसरे पादमें जो संयमका फल बताया जायगा, वह फल इस केवल-कुम्भकके सिद्ध हो जानेसे मिल जाता है।

सङ्गति — अब इस चौथे प्राणायामका फल बताते हैं।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ २.५२ ॥

तत: = उस प्राणायाम के अभ्यास से; क्षीयते = नाश हो जाता है; प्रकाशावरणम् = प्रकाशका आवरण (विवेक-ज्ञान पर पड़ा पर्दा)

उससे प्रकाशका आवरण (विवेक-ज्ञान का पर्दा) क्षीण हो जाता है।

" प्राणायामात्प्रकाशस्य प्रावारः क्षीयते ध्रुवम् ।

धारणार्थं तदा योग्यं शुद्धं संजायते मनः ॥ १३१ ॥योगसूत्रसारः"

व्याख्या — {ततः तस्मात् प्राणायामात्} उस प्राणायामसे जो विवेक ज्ञानरूपी प्रकाश तम तथा रजोगुणके कारण अविद्यादि क्लेशोंके मलोंसे ढ़का हुआ है। प्राणायामके अभ्याससे जब यह आवरण क्षीण हो जाता है, अर्थात् दुर्बल हो जाता है क्योंकि पापका सम्पूर्ण नाश तो तपसे ही होता है, तप माने पापनाश करनेकी क्रिया, और तब वह {विवेक-ज्ञानरूपी} प्रकाश प्रकट होने लगता है।

पञ्चशिखाचार्य ने कहा है —

"तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य।।"

'प्राणायामसे बढ़कर कोई तप नहीं है, उससे {अविद्यादि क्लेशरुप} मल धुल जाते हैं।' इसी प्रकार मनु भगवान का श्लोक है —

"दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।। ६.७१ ।। मनुस्मृतिः"

जैसे अग्नि में धौंकने,तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत हो जाते हैं ।

"प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।

प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ ६.७२ ॥ मनुस्मृतिः"

वह साधक प्राणायामअर्थात् 'श्वास-निलंबन' के माध्यम से वात, पित्तादि शारीरिक दोषोंको जलाकर भस्म करता है; और धारणाओंसे 'एकाग्रता' के माध्यम से, मानसिक सभी पाप नष्ट कर सकता है; तथा प्रत्याहार के माध्यम से सभी विषय-संसर्गजन्य अनुलग्नक दोषोंका शमन करता है और ध्यान 'चिंतन' के माध्यम से अनीश्वरअर्थात् ईश्वरसे ऊपर जो परमात्मा है उसके जो गुण नहीं हैं जैसे कि क्रोध, लोभ और असूयादि उनका नाश करता है और तत्त्वज्ञान को प्राप्त करता है। प्राणायामका सम्बन्ध काल से है, शास्त्रों में कहा है कि प्राणायामसे कालपर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।

"लोकानामन्तकृत्कालः कालोन्यः कलनात्मकः।

स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्तश्चामूर्त उच्यते॥१.१०॥ सूर्यसिद्धान्त"

समय दो प्रकार का होता है -एक सारे संसार को नष्ट करने वाला और दूसरा जिससे गणना की जाती है दिन महीना वर्ष आदि !

"कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।

संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ।।१.१.२७३।। महाभारतम् "

काल (निरंतर अतीत हो रहा समय) ही समस्त जीवों की सृष्टि करता है और वही उनका संहार करता है । इस प्रकार उनके संहार के कारणभूत काल को वही (महाकाल, परमात्मा का शामक रुप) शान्त करता है । इस प्रकार सृष्टि-संहार का चक्र चलता रहता है ।

"कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।

कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ।।१.१.२७५।। महाभारतम्"

इस कथन के अनुसार जब जीव सो रहा है तब (भी) काल जगा रहता है, यानी वह सदैव की भांति कार्यशील बना रहता है । काल की गति या प्रभाव का अतिक्रमण संभव नहीं है । तात्पर्य है कि उसके नियमों के अनुसार जो घटित होना है उसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता है । सभी प्राणियों में वह बिना अवरोध के अपना कार्य निरंतर करता रहता है । इस प्रकार जीवधारियों के जीवनचक्र का वह नियंता है । इसी तरह समय के अनेकों स्वाद हैं मिर्चे का छोटा फल कडुआ नहीं होता ,गन्ने का छोटा पौधा मीठा नहीं होता किंतु समय का संग पाकर ही मिर्चा कडुआ और गन्ना मीठा हो जाता है । ऐसा ही अन्य पुष्पों फलों के विषय में भी समझना चाहिए। कुल मिलाकर, कर्म मनुष्यके अधिकार में है, परंतु कर्मफल नहीं ।

प्राणायामकी योगाङ्गता विष्णुपुराणमें कही गयी है —

"प्राणाख्यमनिलं वश्यमभ्यासात्कुरुते तु यत्।

प्राणायामस्स विज्ञेयस्सबीजोऽबीज एव च ।।६.७.४०।।

अभ्यासके द्वारा प्राण नामक वायुको जो अपने अधीन कर लेता है उसे ही प्राणायाम कहते हैं। उसके दो भेद होते हैं, सबीज और अबीज ।।४०।।

परस्परेणाभिभवं प्राणापानौ यथानिलौ।

कुरुतस्सद्विधानेन तृतीयस्संयमात्तयोः ।।६.७.४१।। विष्णुपुराणम्"

जब योगी सद्गुरुके उपदेशसे प्राणायाम करते समय प्राण तथा अपान वायुओंका परस्परमें एक-दूसरे से निरोध करता है, उस समय पूरक एवं रेचक नामक दो प्राणायामोंका संयम होता है। और जब दोनों का एक साथ संयोग करता है उस समय तीसरा कुम्भक प्राणायाम हो जाता है। ।।४१।।

यह प्राणायाम ही समाधिका मुख्य उपाय है। प्राणायामके विना मन आदि इन्द्रियों का जय असम्भव है, आवरणकी आत्यन्तिकनिवृत्ति भी असम्भव है, ध्यान आदिकी उत्पत्ति भी असम्भव है। प्राणायाम में स्थिरता होनेसे विवेकज्ञानके आवरक (अदृष्टरुप) कर्म क्षीण हो जाते हैं। स्कन्दपुराण में कहा है कि —

समस्तेन्द्रियवृत्तिश्च प्राणो वायुः प्रकीर्तितः।

तज्जयादिन्द्रियाण्येव निर्जितानि भवन्ति हि॥

क्योंकि इन्द्रियोंको शक्ति प्राणसे ही मिलती है अतः प्राणको जीत लेनेपर इन्द्रियों पर भी विजय हो जाती है।

सङ्गति — अब समाधिके अनुकूल प्राणायामका दूसरा फल बतलाते हैं।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ २.५३ ॥

धारणासु= धारणाओंमें; च= और; योग्यता-मनसः= मनकी योग्यता होती है।

और धारणाओंमें मनकी योग्यता होती है।

व्याख्या — प्राणायामसे मन स्थिर हो जाता है। प्रथम पादमें कहे हुए सूत्रके द्वारा जैसे कि 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य [यो.सू. १.३४]' में बतलाया है और उसमें धारणाकी (जिसका वर्णन अगले पादमें किया जायगा) योग्यता प्राप्त हो जाती है। मन को कहीं भी एकाग्र करने की योग्यता – काबलियत या सामर्थ्य बढ़ जाता है। प्राणायाम के द्वारा निर्मल किया हुआ मन जहाँ लगाओगे वहीं लग जायगा फिर विक्षेप या चञ्चलताका नाम लेना भी भूल जायगा। प्राणायाम के निरंतर अनुष्ठान से जो मनके ऊपर विशेष नियन्त्रण आ जाता है उससे मन को कहीं भी एकाग्र करने का सामर्थ्य बढ़ जाता है। योगी जब चाहे मन को देह या देहके बाहर किसी भी स्थान में एकाग्र कर लेता है। प्रत्याहार, धारणा और ध्यान की उच्चतम स्थिति पाने के लिए चित्तका एकाग्र होना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि योग या तो एकाग्र अवस्था में घटित हो सकता है या फिर निरुद्ध अवस्था में। इसलिए आसन की सिद्धि के बाद प्राणायाम में विशेष गति होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि मन एवं इन्द्रियों में नियंत्रण होगा तो ही प्रत्याहार सम्भव है और जब प्रत्याहार घटित होगा तभी किसी स्थान विशेष में धारणा लग पायेगी और योगी का ध्यान लग पायेगा । योग में सबकुछ परस्पर सम्बंधित है। मनका सारा व्यापार प्राणके अधीन है, प्राणकी स्थिरतासे ही मनकी स्थिरता होती है। अत एव योगवासिष्ठादि में मन और प्राणको परस्पर क्षोभक कहा गया है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें प्रत्याहारका लक्षण बताते हैं —

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरुपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥२.५४॥

स्वविषय = अपने विषयोंके साथ; असम्प्रयोगे = सम्बन्ध न होनेपर; चित्तस्यस्वरूप-अनुकारः इव = चित्तके स्वरुपका अनुकरण अर्थात् नकल-जैसा करना; इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियोंका; प्रत्याहार: = प्रत्याहार कहलाता है।

इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न होनेपर चित्तके स्वरुपका अनुकरण अर्थात् नकल-जैसा करना प्रत्याहार कहलाता है।

व्याख्या — प्रत्याहारका अर्थ है पीछे हटना, उलटा होना, विषयोंसे विमुख होना। (प्रतीप-आहार, उलटा-आहार ही प्रत्याहार है) जैसे गाय वनमें चरने न जाकर अपने घर लौट आई हो। इसमें इन्द्रियाँ अपने बहिर्मुख विषयसे पीछे हटकर अन्तर्मुख होतीं हैं। इस कारण इसको प्रत्याहार कहा गया है। जिस प्रकार मधु बनानेवाली मख्खियाँ रानी मख्खीके उड़नेपर उड़ने लगतीं हैं और बैठनेपर बैठ जातीं हैं, इसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्तके अधीन होकर काम करतीं हैं। जब चित्तका बाहरके विषयोंसे उपराग होता है, तभी उनको ग्रहण करतीं हैं। यम,नियम, प्राणायामादिके प्रभावसे चित्त जब बाहरके विषयोंसे विरक्त होकर समाहित होने लगता है,तब इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुख होकर उस-जैसा अनुकरण करने लगतीं हैं और चित्तके निरुद्ध होनेपर स्वयं भी निरुद्ध हो जातीं हैं। यही उनका प्रत्याहार है। इस अवस्थामें चित तो बाह्य विषयोंसे विमुख होकर आत्मतत्त्वके अभिमुख होता है, पर इन्द्रियाँ केवल बाह्य विषयोंसे विमुख होतीं हैं। चित्तके सदृश आत्मतत्त्वके अभिमुख नहीं होतीं। इसलिये 'अनुकार इव' अर्थात् नकल-जैसा कहा गया है। इस प्रकार चित्तके निरुद्ध होनेपर इन्द्रियोंके जीतनेके लिये अन्य किसी उपायकी अपेक्षा नहीं रहती। जब चित्त किसी भी मोहनीय, रञ्जनीय, कोपनीय आदि शब्दादि विषयों से नहीं जुड़ता तो उसके न जुड़ने से चक्षु आदि इन्द्रियां भी चित्तके स्वरूपका अनुकरण करतीं हैं।

जो अजितेन्द्रिय होता है उसकी तो चक्षु आदि इन्द्रियाँ बाहरसे विषयों को न भी देखें तो भी रुपादि में मन से ही दौड़ती रहतीं हैं उस समय तो चित्त ही इन्द्रियों का अनुकरण करता है —

"इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।

तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ।। २.९९ ।। मनुस्मृतिः"

एक भी इन्द्रिय के असंयम से प्रज्ञाकी हानि होती है – सब इन्द्रियों में यदि एक भी इन्द्रिय अपने विषय में आसक्त रहने लगती है तो उसी के कारण इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे नष्ट होने लगती है जैसे चमड़े के वर्तन – मशक में छिद्र होने से सारा पानी बहकर नष्ट हो जाता है ।

"शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।

कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः ॥ ६.७.४३॥ विष्णुपुराणम्"

प्रत्याहार का अभ्यास करनेवाले योगीको चाहिए कि वह शब्दादि विषयों में आसक्त चित्त तथा इन्द्रयों का निग्रह करके उन्हें चित्तानुकारी बनाये।॥४३॥

"पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैषदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥२.१.१॥ कठोपनिषद्"

'स्वयंभू' ने (इन्द्रियोंके) छेदोंको बाहरकी ओर छेदा है अर्थात् देह के द्वारों को बहिर्मुखी बनाया है, इसीलिए मनुष्य बाहर की ओर देखता है, अपने अंदर नहीं देखता, 'अन्तरात्मा' को नहीं यत्र-तत्र विरला ही कोई ज्ञानी पुरुष (धीर पुरुष) होता है जो अमृतत्व की इच्छा करते हुए अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करके (अन्तर्मुख होकर प्रत्याहार द्वारा) 'अन्तरात्मा' को देखता है।

{इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन्निति प्रत्याहारः}

"इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवर्त्य मनसा मुनिः।

दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात्परं ततः।।१२.३११.१०।।

संचोदनाभिर्मतिमानात्मानं चोदयेदथ।

तिष्ठन्तमजरं तं तु यत्तदुक्तं मनीषिभिः।।१२.३११.११।। महाभारतम्-शांतिपर्व”

बुद्धिमान् योगीको चाहिये कि पवित्र होकर मनके द्वारा श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको शब्द आदि विषयोंसे हटावे एवं बाईस प्रकारकी प्रेरणाओं द्वारा उस जरारहित जीवात्माको, जिसे मनीषी पुरुषोंने आत्मस्वरूप बताया है, चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप प्रकृतिसे परे परम पुरुष परमात्माकी ओर प्रेरित करे || १०-११ ||

बाईस प्रकारकी प्रेरणायें — जैसे घड़ेमें जल भरा जाता है, उसी प्रकार पादांगुष्ठसे लेकर मूर्धातक सम्पूर्ण शरीरमें नासिकाके छिद्रों द्वारा वायुको खींचकर भर ले। फिर ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धासे) वायुको हटाकर ललाटमें स्थापित करे। यह प्राणवायुके प्रत्याहारका पहला स्थान है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर हटाते और रोकते हुए क्रमशः भ्रूमध्य, नेत्र, नासिकामूल, जिह्वामूल, कण्ठकूप, हृदयमध्य, नाभिमध्य, मेढ्र (उपस्थका मूलभाग), उदर, गुदा, ऊरुमूल, ऊरुमध्य, जानु, चितिमूल, जङ्घामध्य, गुल्फ(एड़ी), और पादाङ्गुष्ठ — इन स्थानोंमें वायुको ले जाकर स्थापित करे। इन अठारह स्थानोंमें किये हुए प्रत्याहारोंको अठारह प्रकारकी प्रेरणा समझना चाहिये। इनके सिवा ध्यान, धारणा, समाधि तथा 'सत्त्वपुरुषान्यता ख्याति' (बुद्धि और पुरुष इन दोनोंकी भिन्नताका बोध) — ये चार प्रेरणायें और हैं। ये ही सब मिलकर बाईस प्रकारकी प्रेरणाऐं कही गयी हैं।

यही बात प्रकारान्तर से शाण्डिल्योपनिषद में कही गयी है यथा—

अथ प्रत्याहारः। स पञ्चविधः।

(१) विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः।

(२) यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः।

(३) नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः ।

(४) सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः।

(५) अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः ॥१॥ शाण्डिल्योपनिषद्

अब प्रत्याहार का वर्णन करते हैं। वह पाँच प्रकार का है। विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर लेने (इन्द्रियाँ बाह्य भोगोंमें रस लेनेकी अभ्यस्त होती हैं, उन्हें बाह्य उपकरण में से हटाकर अन्तःकरण को रसानुभूति से जोड़ लेने) को प्रत्याहार कहा जाता है। जो-जो दिखाई देता है, वह सब आत्मा है, ऐसा समझना चाहिए, (आँख, नाक, कान आदि विभिन्न अवयवों की अनुभूति वास्तव में आत्मा के ही कारण है। इसका बोध होना) यही प्रत्याहार है। नित्य किये गये कर्मों के फल का परित्याग (कर्म के फलमें रस लेने की अपेक्षा कर्म करने में ही रस एवं सार्थकता की अनुभूति होने पर फल की कामना न रहना) ही प्रत्याहार है। समस्त प्रकार की विषय-वासनाओं से रहित होना (अन्त:स्थिति उच्च रसों की अनुभूति के आधार पर विषयों के रस की कामना न रहना), यह प्रत्याहार है। अट्ठारह मर्म-स्थलों (आगे कहे गये) में क्रमश: धारणा करना (उन स्थानों पर स्थित चेतन दिव्य प्रवाहों के साथ चित्त का तादात्म्य स्थापित करके दिव्यानुभूति प्राप्त करना), यही प्रत्याहार है॥

पादाङ्गुष्ठगुल्फजङ्घाजानूरुपायुमेढ्रनाभिहृदयकण्ठकूपतालुनासाक्षिभ्रूमध्यललाटमूर्धि स्थानानि । तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत् ॥२॥ शाण्डिल्योपनिषद्

पैर का अंगूठा, गुल्फ (टखने),जंघा (पिंडली), जानु (घुटने), ऊरु (जाँघ), गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, गले का छिद्र, तालु, नासिका, आँख, भौंहों के बीच का भाग, ललाट एवं सिर-इन सभी स्थलों में उतार-चढ़ाव के क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए ॥

प्रत्याहार कालमें इन्द्रियाँ चित्ताकार हो जातीं है और व्यवहार कालमें चित्त विषयाकार हो जाता है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें प्रत्याहारका फल बतलाते हैं —

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ २.५५ ॥

ततः = उससे (प्रत्याहारसे); परमा = सबसे उत्तम-उत्कृष्ट; वश्यता = वशीकरण होता है; इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियोंका।

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियोंका उत्कृष्ट वशीकार होता है।

व्याख्या — सूत्रमें प्रत्याहारसे इन्द्रियोंकी परमवश्यता बतलायी है। यह परमवश्यता किस अपरम-वश्यताकी अपेक्षासे है, इसको व्यासभाष्यमें इस प्रकार बतलाया है —

(१) कोई कहते हैं कि शब्द आदि विषयोंमें आसक्त न होना अर्थात् विषयोंके अधीन न होकर उनको अपने अधीन रखना इन्द्रियवश्यता अर्थात् इन्द्रियजय है।

(२) दूसरे कहते हैं कि वेद-शास्त्रसे अविरुद्ध विषयोंका सेवन और उनसे विरुद्ध विषयोंका परित्याग इन्द्रियजय है।

(३) तीसरे कहते हैं कि विषयोंमें न फँसकर अपनी इच्छासे विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्प्रयोग होना इन्द्रियजय है।

(४) चौथे कहते हैं कि राग-द्वेषके अभावपूर्वक सुख-दुःखसे शून्य शब्दादि विषयका ज्ञान होना इन्द्रियजय है।

इन सब उपर्युक्त इन्द्रियजयके लक्षणोंमें विषयोंका सम्बन्ध बना ही रहता है। जिससे गिरनेकी आशङ्का दूर नहीं हो सकती। इसलिये यह इन्द्रियोंकी परमवश्यता नहीं वरं अपरमवश्यता है।

भगवान् जैगीषव्यका मत है कि चित्तकी एकाग्रताके कारण इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति न होना इन्द्रियजय है। उस एकाग्रतासे चित्तके निरुद्ध होनेपर इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध हो जाता है और अन्य किसी इन्द्रिय-जयके उपायमें प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये यही इन्द्रियोंकी परमवश्यता है, जो सूत्रकार को अभिमत है।

इस प्रत्याहारके अभावके कारण ही इन्द्रिय-वश्यता के अभावमें सौभरि आदि योगी योगभ्रष्ट हो गये थे।

अत एव गीतामें भगवान् ने कहा —

"यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।२.६०।। श्रीमद् भगवद्गीता"

हे कुन्तीनन्दन! (रसबुद्धि रहनेसे) यत्न करते हुए विद्वान् मनुष्यकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मनको बलपूर्वक हर लेती हैं।

"तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।२.६१।। श्रीमद् भगवद्गीता"

उन सब इन्द्रियोंको रोककर यानी वशमें करके और युक्त समाहितचित्त हो मेरे परायण होकर बैठना चाहिये। अर्थात् सबका अन्तरात्मारूप मैं वासुदेव ही जिसका सबसे पर हूँ वह मत्पर है अर्थात् मैं उस परमात्मासे भिन्न नहीं हूँ। इस प्रकार मुझसे अपनेको अभिन्न माननेवाला होकर बैठना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार बैठनेवाले जिस यतिकी इन्द्रियाँ अभ्यासबलसे (उसके) वशमें है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

"वश्यता परमा तेन जायतेति चलात्मनाम्।

इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः ॥४४॥ ६.७.४४॥ विष्णुपुराणम्"

प्रत्याहार के द्वारा चञ्चल इन्द्रियाँ अत्यन्त वशवर्ती हो जातीं हैं। इन्द्रियों के वशवर्ती नहीं होनेपर तो योगी उन बहिर्मुख सबों के द्वारा योगका साधक नहीं हो सकता है।

क्रिया-योगं जगौ क्लेशान् विपाकान् कर्मणाम् इह।

तद् दुःखत्वं तथा व्यूहान् पादे योगस्य पञ्चकम् ॥

इस साधनपादमें अविद्यादि क्लेशोंको कम करनेके लिये पहले क्रियायोग बताया उसके बाद क्लेशोंके नाम, स्वरुप, कारण और फलोंको कहकर कर्मोंके भी भेद, कारण, स्वरुप और फलको कहकर विपाकके कारण और स्वरुपको कहा। फिर क्लेशोंके त्याज्य होनेसे, क्लेशोंको बिना जाने त्याग न कर सकनेसे, क्लेश-ज्ञानको शास्त्राधीन होनेसे, इस योगशास्त्रमें हेय, हेय-हेतु, हान, हान-उपायके बोधनद्वारा चतुर्व्यूहको अपने-अपने कारणसहित कहकर मुक्तिके साधन विवेकज्ञानके कारण जो अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भावसे स्थित यम-नियमादि हैं। उनके फलसहित स्वरुपको कहकर आसनसे लेकर प्रत्याहारतक जो परस्पर उपकार्योपकारक-भावसे स्थित हैं, उनका नाम लेकर प्रत्येकका लक्षण और कारणपूर्वक फल कहा है।

इस प्रकार यह योग यम-नियमोंके बीजभावको प्राप्त हुआ, आसन, प्राणायाम आदिसे अङ्कुरित हुआ और प्रत्याहरसे पुष्पवाला होकर धारणा, ध्यान और समाधिसे फलित होगा।

इस प्रकार साधनपादकी व्याख्या समाप्त हुई।

सङ्गति — अबतक योगका बहिरङ्ग साधन {यम-नियमादि} पञ्चाङ्ग कहा अब छठा अङ्ग 'धारणा' कही जायगी।

अथ विभूतिपादः

पहले पादमें योगका स्वरुप उत्तमाधिकारियोंके लिये, दूसरेमें उसके साधन मध्यमाधिकारीके लिये वर्णन करके अब तीसरेमें उसका फल विभूतियाँ, अश्रद्धालुको श्रद्धापूर्वक उसमें प्रवृत्त करनेके लिये दिखाते हैं। साधनपादमें योगके पाँच बहिरङ्ग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार बतलाये थे। इस पादमें उसके अन्तरङ्ग धारणा, ध्यान और समाधिका निरुपण करते हैं। इन तीनोंको मिलाकर 'संयम' कहा जाता है। इनका विनियोग इस पादमें बतायी हुई विभूतियोंके साथ है, इसी कारण इसको विभूतिपाद कहते हैं।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ३.१ ॥

देश = देशविशेषमें; बन्ध: = बाँधना; चितस्य = चित्तका (वृत्तिमात्रसे); धारणा = धारणा कहलाता है।

चित्तका (वृत्तिमात्रसे) किसी स्थानविशेषमें बाँधना धारणा कहलाता है।

"नाभिचक्रादिदेशेषु बन्धश्चित्तस्य धारणा।

ध्यानं वृत्तिप्रवाहस्स्यात् समानश्च निरन्तरः ॥ १३२ ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या — चित्त बाहरके विषयोंको इन्द्रियोंद्वारा वृत्तिमात्रसे ग्रहण करता है। ध्यानावस्थामें जब प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जातीं हैं, तब भी वह अपने ध्येय-विषयको वृत्तिमात्रसे ही ग्रहण करता है। वह वृत्ति ध्येयके विषयके तदाकार होकर स्थिररूपसे भासने लगती है। अर्थात् स्थिररूपसे उसके स्वरूपको प्रकाशित करने लगती है।

देश — जिस स्थानपर वृत्तिको ठहराया जाय, वह नाभि, हृदय-कमल, नासिकाका अग्रभाग, भ्रुकुटी, ब्रह्मरन्ध्र आदि आध्यात्मिक देशरूप विषय हो अथवा चन्द्र, ध्रुव आदि कोई बाह्य देशरूप विषय हो, इसीको ध्येय कहते हैं। अर्थात् जिसमें ध्यान लगाया जाय।

बन्ध — अन्य विषयोंसे हटाकर चित्तको एक ही ध्येय विषयपर वृत्तिमात्रसे ठहराना या केन्द्रित करना।

इस प्रकार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि द्वारा जब चित्त स्थिर हो जाय, तब उसको अन्य विषयोंसे हटाते हुए एक ध्येय विषयमें वृत्तिमात्रसे बाँधना अर्थात् ठहराना धारणा कहलाता है।

शिखाग्रे द्वादशाङ्गुल्ये कल्पयित्वाऽथ पङ्कजम् ।

धर्मकन्दसमुद्भूतं ज्ञाननालं सुशोभनम् ।। ११.५५।। कूर्मपुराणम्

हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके ।

एवमादिषु देशेषु धारणा चित्तबन्धनम् ।। ११.३९।। कूर्मपुराणम्

देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिसंततिः ।

वृत्त्यन्तरैरसंसृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः ।। ११.४०।। कूर्मपुराणम्

एकाकारः समाधिः स्याद् देशालम्बनवर्जितः ।

प्रत्ययो ह्यर्थमात्रेण योगसाधनमुत्तमम् ।। ११.४१।। कूर्मपुराणम्

प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालःकृतो भवेत् ।

यस्तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत् ॥ १,२३५.२८ ॥ गरुडपुराणम्

"प्राणायामेन पवने प्रत्याहारेण चेन्द्रिये।

वशीकृते ततः कुर्यात्स्थितं चेतश्शुभाश्रये।। ६.७.४५।। विष्णुपुराणम्"

प्राणायाम के द्वारा प्राणवायुके तथा प्रत्याहारके द्वारा इन्द्रियोंके वशीकृत हो जानेपर स्थिर चित्तको शुभाश्रय परमात्मामें लगाना चाहिए।

मूर्त्तं भगवतो रूपं सर्वापाश्रयनिस्पृहम्।

एषा वै धारण प्रोक्ता यच्चित्तं तत्र धार्यते ।। ६.७.७८।।

श्रीभगवान् का मूर्त रुप योगीके चित्तको सभी आश्रयोंसे निःस्पृह बना देता है। श्रीभगवान् के उस मूर्त रुपमें चित्तको लगाने को ही धारणा कहते हैं। || ७८ ||

यच्च मूर्त्तं हरे रुपं यादृक् चिंत्यं नराधिप।

तच्छ्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते ।। ६.७.७९।।

हे राजन् चूँकि आधारके बिना कोई भी धारणा नहीं हो सकती है, अतएव भगवान् का जो मूर्त रुप है तथा उसका जैसे चिन्तन करना चाहिये उसे मैं तुम्हें बतला रहा हूँ सुनो || ७९ ||

प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रोपमेक्षणम्।

सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् ।। ६.७.८०।।

भगवान् विष्णुका वह मूर्त रुप, प्रसन्न मुख वाला है। उनके नेत्र कमलदल के समान अत्यन्त मनोहर हैं, उनके कपोल सुन्दर हैं। विस्तृत ललाट फलक चमकता रहता है। || ८० ||

समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम्।

कम्बुग्रीवं सुवीस्तीर्णश्रीवत्सांकितवक्षसम्।। ६.७.८१।।

उनके दोनों कान एक समान हैं और उन कानों में वे सुन्दर कुण्डल को धारण किये हुए हैं। शङ्ख के समान उनकी मनोहर ग्रीवा है। उनका विस्तृत वक्षःस्थल श्रीवत्स चिन्ह से विभूषित है। || ८१ ||

वलित्रिभङ्गिना मग्ननाभिना ह्युदरेण च।

प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम्।। ६.७.८२।।

उनका उदर त्रिवलि के सौन्दर्य तथा गहरी नाभि से युक्त है। इस प्रकारके भगवान् विष्णुकी लम्बी भुजाएँ आठ अथवा चार हैं। || ८२ ||

समस्थितोरुजंघं च सुस्थितांघ्रिवरांबुजम्।

चिंतयेद्ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम्।। ६.७.८३।।

उनकी जंघाऐं तथा ऊरु एक समान हैं। उनके चरण कमल के समान अत्यन्त मनोहर हैं। इस तरह से ब्रह्मस्वरुप पीताम्बरधारी भगवान् विष्णुका ध्यान करना चाहिये। || ८३ ||

किरीटहारकेयूरकटकादिविभूषितम् ।। ६.७.८४।।

शार्ङ्गशंखगदाखड्गचक्राक्षवलयान्वितम्।

वरदाभयहस्तं च मुद्रिकारत्नभूषितम् ।। ६.७.८५।।

वे किरीट, हार, केयूर, कटक (कङ्कण) आदि अलङ्कारो से अलङ्कृत हैं। शार्ङ्ग (धनुष) (पाञ्चजन्य) शङ्ख, (कौमोदकी) गदा, (नन्दक) खड्ग (सुदर्शन) चक्र तथा अक्षमाला से सुशोभित रहने वाले उनके हस्त कमल वरद- मुद्रा से युक्त हैं। वे श्रेष्ठ मुद्रिकाओं को धारण किये हैं। || ८४-८५ ||

चिंतयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम्।

तावद्यावद्दृढीभूता तत्रैव नृप धारणा ।। ६.७.८६।।

योगी अपने चित्तको समाहित करके, तन्मय होकर इस प्रकारसे श्रीभगवान् के रुपका चिन्तन (ध्यान) करे। इस प्रकारसे चिन्तन तबतक करना चाहिये जबतक कि धारणा सुदृढ़ न हो जाय। || ८६ ||

व्रजतस्तिष्ठतोन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः।

नापयाति यदा चित्तात्सिद्धां मन्येत तां तदा ।। ६.७.८७।। विष्णुपुराणम्

जब चलते समय, ठहरते समय अथवा अपनी इच्छाके अनुसार किसी भी काम को करते समय यह धारणा हमेशा बनी रहे तब समझना चाहिए कि धारणा सुदृढ़ हो गयी। || ८७ ||

“केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।

चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥ [भागवतम् २.२.८]”

कोई-कोई साधक अपने शरीर के भीतर हृदयाकाश में विराजमान भगवान् के प्रादेशमात्र (वित्ताभरके) चतुर्भुज स्वरुप की धारणा करते हैं। वे ऐसा ध्यान करते हैं कि भगवान् की चार भुजाओं में शंख,चक्र,गदा और पद्म धारण किया हुआ है।

श्रीमद्भागवतमहापुराणके तृतीय स्कन्धके-अट्ठाईसवें अध्यायमें गोपालके ध्यानका बहुत सुन्दर वर्णन है |

“सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वज सरोरुह लाञ्छनाढ्यम् ।

उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल ज्योत्स्नाभिराहतमहद् हृदयान्धकारम् ॥३.२८.२१॥

अन्तर्यामी रुप में स्थित हुए उनके स्वरुपका विशुद्ध भावयुक्त चित्तसे चिन्तन करे। इस प्रकार योगी जब यह अच्छी तरह देख ले कि भगवद् विग्रह में चित्त की स्थिति हो गयी,तब वह उनके समस्त अंगोंमें लगे हुए चित्तको विशेष रुप से एक-एक अंग में लगावे | पहले भगवान के चरण कमलों का ध्यान करना चाहिये। वे वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के मङ्गलमय चिन्हों से युक्त हैं तथा अपने उभरे हुए लाल-लाल शोभामय नख चन्द्र-मण्डलकी चन्द्रिकासे ध्यान करनेवालों के हृदयके अज्ञानरुप घोर अन्धकारको दूर कर देते हैं ॥२१॥

यच्छौचनिःसृतसरित् प्रवरोदकेन । तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।

ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥ ३.२८.२२ ॥

इन्हीं चरणों की धोवन से नदियों में श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी प्रकट हुई थीं, जिनके पवित्र जल को मस्तक पर धारण करने के कारण स्वयं मङ्गल रुप श्री महादेव जी और भी अधिक मङ्गलमय हो गये। ये अपना ध्यान करने वालों के पाप रुप पर्वतों पर छोड़े हुए इन्द्रके वज्रके समान हैं। भगवान के इन चरणकमलों का चिरकाल तक चिंतन करे ॥ २२ ॥

"प्राङ्नाभ्यां हृदये चात्र तृतीये च तथोरसि॥३९.४४॥

कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्धसु ।

किञ्चित्तस्मात् परस्मिंश्च धारणा परमा स्मृता ॥३९.४५॥

दशैता धारणा प्राप्य प्राप्नोत्यक्षरसाम्यताम् ।

नाध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः॥३९.४६॥ मार्कण्डेयपुराणम्"

अन्तर्देश में पहले नाभि, हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ, मुख, नासिकाग्र, नेत्र, भ्रूमध्य, मूर्धा और फिर इससे ऊपर द्वादशान्त में इस प्रकार दस धारणाऐं कही गयी हैं। इन दस धारणाओं के करने से अक्षर ब्रह्मकी साम्यता प्राप्त होती है और उस योगीको भूंख, थकान और चित्तकी व्याकुलता नहीं सताती।

यह धारणा पञ्चभूतोंके भेदसे पाँच प्रकारकी होती है। (१) स्तम्भिनी, (२) प्लाविनी, (३) दहनी, (४) भ्रामणी, (५) शमनी।

(१)— उसमें पैरोंसे लेकर जानुपर्यन्त देशमें पीले रङ्ग की लकार (लं) बीजमन्त्र से युक्त हिरण्मय चतुर्वक्त्र ब्रह्माजी देवता वाली चतुष्कोण पृथिवी में एकाग्रता करनेसे स्तम्भिनी नामवाली धारणा सिद्ध होती है। इसीको पार्थिवी धारणा कहते हैं। इस तरह से पाँच घटी (२ घंटे) तक ध्यान करने से योगी पृथ्वी तत्त्व को जीत लेता है। ऐसे योगी की पृथ्वी के संयोग (विकार या आघात) से मृत्यु नहीं होती।

(२)— जानुसे लेकर पायुपर्यन्त देशमें अर्द्धेन्दुनिभ वकार (वं) बीजमन्त्र से युक्त विष्णु जी के सहित कुन्दपुष्पके समान आभा वाले जलमें एकाग्रता करनेसे प्लाविनी नामवाली धारणा सिद्ध होती है। इसीको वारुणी धारणा कहते हैं। अच्युतदेव श्री नारायण का पाँच घटी (२ घंटे) तक ध्यान करना चाहिए। इससे सभी पापों से छुटकारा मिल जाता है। इसके पश्चात् उस योगी को जल से किसी भी तरह का डर नहीं रहता और न ही जलसे उसकी मृत्यु हो सकती है।

(३)— पायुसे (गुदासे) लेकर हृदयपर्यन्त देशमें इन्द्रगोपपुष्प के समान अथवा इन्द्रनीलमणि के समान त्रिकोण रकार (रं) बीजमन्त्र से युक्त रुद्रदेवता वाली, त्र्यक्ष (तीन नेत्रों) से युक्त वर प्रदान करनेवाले, तरुण आदित्यके सदृश प्रकाशमान तथा समस्त अङ्गोंमें भस्म धारण किये हुए भगवान् रुद्रका प्रसन्न मन से सदा ध्यान करना चाहिए। वन्हिमें एकाग्रता करनेसे दहनी नामवाली धारणा सिद्ध होती है। इसीको तैजसी धारणा कहते हैं। अग्नि तत्त्व से ही ज्ञानेन्द्रियां बनी हैं। पाँच घटी (२ घंटे) तक इस तरह से चिन्तन करने से वह (योगी) अग्नि से नहीं जलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रखर जलती हुई अग्नि में भी संयोगवश प्रविष्ट कराया जाए, तो भी वह नहीं जलता॥

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।४.३७।। श्रीमद् भगवद्गीता"

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरुपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है।

(४) — हृदयसे लेकर भ्रूमध्यपर्यन्त देशमें अञ्जनसन्निभ वृत्ताकार यकार (यं) बीजमन्त्र से युक्त वायुमें एकाग्रता करनेसे भ्रामणी नामवाली धारणा सिद्ध होती है। इसीको वायवी धारणा कहते हैं। अनाहत चक्र–वायु तत्त्व प्रधान है।

आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तितम्।

वायुः षट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम्॥९५॥ योगतत्त्वोपनिषत्

हृदय क्षेत्र से भृकुटियों तक का स्थान वायु का क्षेत्र कहा गया है, यह षट्कोण के आकार वाला, कृष्ण वर्ण से युक्त भास्वर 'य' अक्षर वाला होता है।

मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम्।

धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम्॥९६॥ योगतत्त्वोपनिषत्

मरुत्स्थान पर यकार होता है। यहाँ 'य' अक्षर केसहित विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर का सतत चिन्तन करना चाहिए। हृदय भाव,संवेदनाओं के विस्तार का स्थान है।

धारयेत्पञ्चघटिका वायुवद्व्योमगो भवेत्।

मरणं न तु वायोश्च भयं भवति योगिनः॥९७॥ योगतत्त्वोपनिषत्

इस तरह पाँच घटी अर्थात् दो घंटे तक उन विश्वतोमुख भगवान् का ध्यान करने से योगी वायु के सदृश आकाश में गमन करनेवाला हो जाता है। उस महान् योगी को वायु से किसी भी तरह का भय नहीं व्याप्त होता तथा वह वायु से मृत्यु को भी नहीं प्राप्त होता। जब तक हृदय क्षेत्र में प्राणवायु का आवागमन जारी है 'मृत्यु' नहीं होती।

(५) — भ्रूमध्यसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त देशमें हकार (हं) बीजमन्त्र से युक्त विशुद्धवारिसदृश सदाशिव देवता वाली आकाशमें एकाग्रता करनेसे शमनी नामवाली धारणा सिद्ध होती है। इसीको नाभसी धारणा कहते हैं।

आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते।

व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम्॥९८॥ योगतत्त्वोपनिषत्

भृकुटी के मध्य भाग से लेकर मूर्धा के अन्त तक का आकाश तत्त्व का क्षेत्र कहा गया है। यह व्योम वृत्तके आकारवाला, धूम्र वर्ण से युक्त तथा 'ह' कार (अक्षर) से प्रकाशित है।

आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शङ्करम्।

बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम्॥९९॥ योगतत्त्वोपनिषत्

इस आकाश तत्त्वमें वायुका आरोपण करके 'ह' कार के ऊपर भगवान् शंकर (का ध्यान करे), जो बिन्दु रुप महादेव हैं। वही व्योमाकारमें सदाशिव रुप हैं।

शुद्धस्फटिकसङ्काशं धृतबालेन्दुमौलिनम्।

पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम्॥१००॥ योगतत्त्वोपनिषत्

वे भगवान् शिव परम पवित्र स्फटिक के सदृश निर्मल हैं, बालरुप चन्द्रमा को मस्तक में धारण किये हुए हैं, पाँच मुखों से युक्त, सौम्य, दश भुजा एवं तीन नेत्रों से युक्त हैं।

सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम्।

उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम्॥१०१॥ योगतत्त्वोपनिषत्

वे भगवान् शिव सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों को धारण किये हुए, विभिन्न प्रकार के आभूषणों से विभूषित, पार्वतीजी से सुशोभित अर्धाङ्ग वाले, वर प्रदान करने वाले तथा सभी कारणों के भी कारण रुप हैं।

आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्ध्रुवम्।

यत्रकुत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते॥१०२॥ योगतत्त्वोपनिषत्

उन भगवान् शिव का ध्यान आकाश तत्त्व में करने से निश्चित ही आकाश मार्ग में गमन की शक्ति मिल जाती है। इस ध्यान से साधक कहीं भी रहे, वह अत्यन्त सुख की प्राप्ति करता है।

एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः।

ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते॥१०३॥ योगतत्त्वोपनिषत्

इस प्रकार विशेष लक्षणों से संयुक्त योगी को पाँच तरह की धारणा करनी चाहिए। इस धारणा से उस योगी का शरीर अत्यन्त दृढ़ हो जाता है तथा उसे मृत्यु का भय भी व्याप्त नहीं होता।

आकाशधारणां कुर्वन्मृत्युं जयति तत्त्वतः ।

यत्र तत्र स्थितो वापिसुखमत्यन्तमश्नुते ॥ १०८॥ दत्तात्रेययोगशास्त्रम्

अथवा नाभि से नीचे और गुदासे ऊपर पाँच घड़ी माने दो घण्टे तक धारणा करे। अथवा जिस योगी का चित्त वायु के सहित 'सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है, उसे पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तथा आकाश इन ५ महाभूत रुपी देवों की ५ प्रकार की 'धारणा' सिद्ध हो जाती है और मृत्यु पर जय प्राप्त होती है।

यह धारणा भगवत्कृपासे ही होती है।

सङ्गति — धारणाके बारेमें बताकर अब क्रमानुगत ध्यानके बारेमें बताते हैं।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ३.२ ॥

तत्र = उसमें; {जहाँ पर अर्थात् जिस स्थान पर धारणा का अभ्यास किया गया है, उसी स्थान पर} प्रत्यय = वृत्तिका; {ज्ञान या चित्त की वृत्ति की} एकतानता = एक-सा बना रहना; {एक समान ज्ञान अर्थात् एकरूपता बनी रहना ही} ध्यानम् = ध्यान है ।

उसमें वृत्तिका एक-सा (घटोऽयं घटोऽयम् आदि) बना रहना ध्यान है।

व्याख्या — तत्र = उस प्रदेश अर्थात् ध्येय विषयमें जिसमें चित्तको वृत्तिमात्रसे ठहराया है।

प्रत्यय = ध्येयकी आलोचना करनेवाली वृत्ति अर्थात् वह वृत्ति जो धारणामें ध्येयके तदाकार होकर उसके स्वरुपसे भासती है।

एकतानता = एक-सा बना रहना अर्थात् उस ध्येय आलम्बनवाली वृत्तिका समान प्रवाहसे लगातार उदय होते रहना और किसी अन्य वृत्तिका बीचमें न आना।

धारणामें चित्त जिस वृत्तिमात्रसे ध्येयमें लगता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाहसे लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई वृत्ति बीचमें न आये, तब उसको ध्यान कहते हैं।

जहाँ जिस स्थान पर भी धारणा का अभ्यास किया गया है, वहाँ पर उस ज्ञान या चित्त की वृत्ति की एकरुपता या उसका एक समान बने रहना ही ध्यान कहलाता है। इस प्रकार जब वह धारणा रुपी ज्ञान का अखण्ड (कभी भी न टूटने वाला) तैलधारावत् प्रवाह बना रहता है । तभी वह धारणा की स्थिति ध्यान में बदलती है। यह ध्यान सगुण और निर्गुण के भेदसे दो प्रकारका होता है। अतः पहले सगुण ध्यानके बारेमें बताते हैं —

तत्रादौ श्रीगणेश ध्यानम्

श्वेताङ्गं श्वेतवस्त्रं सितकुसुमगणैः पूजितं श्वेतगन्धैः

क्षीराब्धौ रत्नदीपैः सुरनरतिलकं रत्नसिंहासनस्थम्।

दोर्भिः पाशाङ्कुशाब्जाभयवरदधतं चन्द्रमौलिं त्रिनेत्रं

ध्यायेच्छान्त्यर्थमीशं गणपतिममलं श्रीसमेतं प्रसन्नम्।।

क्षीर समुद्रमें रत्नमय सिंहासन पर विराजमान, देवताओं और मनुष्यों में जो सर्वश्रेष्ठ हैं तथा जो अपने श्वेतअङ्गों पर श्वेतवस्त्र धारण करनेवाले हैं, जिनकी पूजा श्वेत पुष्पोंसे और श्वेतचन्दन से की गयी है। जिनके हाथों में पाश, अङ्कुश, अभय और वरमुद्रा सुशोभित है ऐसे चन्द्रमौलि, त्रिनेत्रधारी,प्रसन्न-चित्त, निर्मल, लक्ष्मीसहित गणेशजी का मैं शान्ति-प्राप्ति के लिये ध्यान करता हूँ।

श्रीदेवी-ध्यानम्

चाञ्चल्यारुणलोचनाञ्चितकृपां चन्द्रार्धचूडामणिं

चारुस्मेरमुखां चराचरजगत्संरक्षणीं तत्पदाम् ।

चञ्चच्चम्पकनासिकाग्रविलसन्मुक्तामणीरञ्जितां

श्रीशैलस्थलवासिनीं भगवतीं श्रीमातरं भावये ॥

जिनके चञ्चल और अरुण नेत्रोंसे करुणा प्रकट हो रही है, अर्धचन्द्रमा जिनके मस्तक का आभूषण हैं, जिनका मुख सुन्दर मुस्कानसे सुशोभित है, जो चराचर जगत् की रक्षिका हैं, जो तत्पद का लक्ष्यार्थ हैं या सत्पुरुष जिनके विश्रामस्थान हैं, शोभायमान चम्पापुष्पके समान जिनके सुन्दर नासिकाग्र में मुक्तामणि सुशोभित हो रही है, श्रीशैलपर निवास करनेवाली उन भगवती श्रीमाताका मैं ध्यान करता हूँ।

श्रीशिव-ध्यानम्

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं,

रत्नाकल्पोज्ज्वलांगं परशुमृग वराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।

पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं

विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रम्।।

चांदी के पर्वत के समान जिनकी श्वेत कान्ति है, जो ललाट पर सुन्दर अर्धचन्द्र को आभूषण रुप में धारण करते हैं, रत्नमय अलंकारों से जिनका शरीर उज्जवल है, जिनके हाथों में परशु तथा मृग, वर और अभय मुद्राएं हैं, पद्म के आसन पर विराजमान हैं, देवतागण जिनके चारों ओर खड़े होकर स्तुति करते हैं, जो बाघ की खाल पहनते हैं, जो विश्व के आदि, जगत् की उत्पत्ति के बीज और समस्त भयों को हरने वाले हैं, जिनके पांच मुख और तीन नेत्र हैं, उन महेश्वर का प्रतिदिन ध्यान करें।

श्रीसूर्य-ध्यानम्

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।

केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपर्धृतशंखचक्रः ।।

सवितृमण्डल के भीतर रहने वाले, पद्मासन में बैठे हुए, केयूर, मकर कुण्डल किरीटधारी तथा हार पहने हुए, शंख-चक्रधारी, स्वर्ण के सदृश देदीप्यमान शरीर वाले भगवान सूर्य-नारायण का सदा ध्यान करना चाहिए। (सूर्य प्रत्यक्ष देव हैं, इन का पूजन व ध्यान हमारे शरीर में ऊर्जा और आत्मविश्वास को बढ़ाता है)

श्रीविष्णु-ध्यानम्

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं

विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्ण शुभाङ्गम् ।

लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम्

वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनागकी शैया पर शयन किए हुए हैं (विराजमान हैं), जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और जो संपूर्ण जगत के आधार हैं, संपूर्ण विश्व जिनकी रचना है, जो आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नीलमेघ के समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुंदर जिनके संपूर्ण अंग हैं, जो अति मनभावन एवं सुंदर है- ऐसे लक्ष्मी के कान्त (लक्ष्मीपति), कमलनेत्र (जिनके नयन कमल के समान सुंदर हैं) जो योगियों द्वारा ध्यान करके प्राप्त किए जाते हैं, (योगी जिनको प्राप्त करने के लिया हमेशा ध्यानमग्न रहते हैं) ऐसे भगवान श्रीविष्णु को मैं प्रणाम करता हूँ (ऐसे परब्रह्म स्वरुप श्रीविष्णु को मेरा नमन है) जो जन्म-मरण रूप भय का नाश करने वाले हैं, जो सभी भयों का नाश करने वाले हैं, जो संपूर्ण लोकों के स्वामी हैं, सभी चराचर जगत के ईश्वर हैं।

अब निर्गुण ध्यानके बारेमें बताते हैं —

एकं ज्योतिर्मयं शुद्धं सर्वगं व्योमवद् दृढम्।

अव्यक्तमचलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ५॥

जो एक है (अद्वितीय है), ज्योतिर्मय है, शुद्ध है, सर्वव्यापी है, आकाशके समान स्थिर है, अव्यक्त है, अचल है, नित्य है, (शाश्वत है) आदि,मध्य और अन्त से रहित है।

स्थूलं सूक्ष्ममनाकारमसंस्पृश्यमचाक्षुषम् ।

न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनौपमम् ॥ ६॥

जो स्थूल, सूक्ष्म आकार से रहित है, जिसे छुआ नहीं जा सकता, जिसे देखा नहीं जा सकता, जिसे चखा नहीं जा सकता, जिसे सूँघा नहीं जा सकता, जो प्रमाण का विषय नहीं है तथा जिसकी किसीसे उपमा नहीं दी जा सकती।

आनन्दमजरं नित्यं सदसत्सर्वकारणम् ।

सर्वाधारं जगद्रूपममूर्तमजमव्ययम् ॥ ७॥

जो आनन्द स्वरुप है, जो कभी बूढ़ा नहीं होता, जो सदातन है, जो सत्, असत् सबका कारण है। जो सबका आधार है। जो विश्वरुप है (पुरुष एवेदं सर्वं) जो अजन्मा और अविनाशी है।

अदृश्यं दृश्यमध्यस्थं वृत्तिस्थं सर्वतोमुखम्।

सर्वदृक् सर्वतः पादं सर्वस्पृक् सर्वतः शिरः ॥ ८॥

जो अदृश्य है, जो दृश्यका अन्तर्यामी है, जो वृत्तिका साक्षी है, जो सब तरफ देखता है, सबको देखता है, जिसके पाँव सब जगह पहुंच जाते हैं, जो सबको छूता है तथा जो सबको जानता है। (सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्)

ब्रह्म ब्रह्ममयोऽहं स्यामिति यद्वेदनं भवेत्॥

तदेतन्निर्गुणं ध्यानमिति ब्रह्मविदो विदुः ॥ ९॥ श्रीयोगयाज्ञवल्क्य

सब कुछ ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म हूँ और ब्रह्म ही होऊंगा इस प्रकारका जो ज्ञान होता है यही तत्त्व-ज्ञान है, यही निर्गुण-ध्यान है ऐसा ब्रह्मज्ञानियों ने जाना।

इस विषयमें पुराण भी कहता है कि —

"तद्रूपप्रत्यया चैका संततिश्चान्यनिःस्पृहा।

तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ।।६.७.९१।। विष्णुपुराणम्"

जिसमें केवल परमात्माके रूपकी ही प्रतीति होती है, जो यमनियमादि षडङ्गों से निष्पन्न होती है, ऐसी निरन्तर स्मृति-धारा के द्वारा परमात्माके अमूर्त रुप का चिन्तन करे।

गरुडपुराण में भी कहा है कि —

तस्यैव ब्रह्मणा प्रोक्तं ध्यानं द्वादश धारणाः ।

तुष्येत नियतो युक्तः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ १,२३५.२८ ॥

बारह प्राणायाममें जो समय लगता है, उतने समय तक जो मानव ब्रह्म में मन एकाग्र किये रहता है, उसे द्वादश धारणात्मक ध्यान सिद्ध होगा। नित्य ब्रह्म से युक्त रहने का जो सन्तोष है, वही समाधि है।

ध्यायन्न चलते यस्य मनोभिध्यायतो भृशम्।

प्राप्यावधिकृतं कालं यावत्सा धारणा स्मृता ॥ १,२३५.२९ ॥

ध्यान में जिसका मन अचञ्चल रहता है तथा वांछित प्राप्त होने तक जो ध्यान से नहीं हटता, वही धारणा है।

ध्येये सक्तं मनो यस्य ध्येयमेवानुपश्यति।

नान्यं पदार्थं जानाति ध्यानमेतत्प्रकीर्तितम् ॥ १,२३५.३० ॥

ध्येय पदार्थ में जिसका मन लगा है, जो सदा ध्येय को ही देखता है, उसके सिवाय अन्य का बोध जिसे नहीं होता, वही ध्यान है।

ध्येये मनो निश्चलतां याति ध्येयं विचिन्तयन्।

यत्तद्ध्यानं परं प्रोक्तं मुनिभिर्ध्यानचिन्तकैः ॥ १,२३५.३१ ॥

ध्येय वस्तुका चिन्तन करते हुये मन उस ध्येय में ही अचल होता है इसे ही ध्यानपरायण मुनियों ने परमध्यान कहा है।

ध्येयमेव हि सर्वत्र ध्याता तन्मयतां गतः।

पश्यति द्वैतरहितं समाधिः सोऽभिधीयते॥ १,२३५.३२ ॥ गरुडपुराणम्

जब ध्यान करते हुये सर्वत्र एकमात्र वस्तु ही इष्ट होती है और जब जगत् तन्मय लगने लगे तथा कोई द्वैत का बोध न हो, तब वही समाधि है। जब इन्द्रियाँ विषयोंसे विरत हों, मन संकल्प-विकल्प से हट गया हो और ब्रह्म में लीन हो, वही है समाधि।

"नाश्वमेधेन तत्पुण्यं न च वै राजसूयतः ।।

यत्पुण्यमेकध्यानेन लभेद्योगी स्थिरासनः ।। ४.४१.२२ ।। स्कन्दपुराणम्

जो पुण्य अश्वमेध और राजसूय यज्ञ से भी नहीं मिलता वही पुण्य स्थिरासन योगीको केवल ध्यानमात्रसे मिल जाता है।

महापातकयुक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।

भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावन एव सः।।

भले ही कोई जघन्य अपराधों का दोषी हो, अगर वह अच्युत पर अपना ध्यान केंद्रित करता है, तो वह एक पवित्र व्यक्ति बन जाता है, यहाँ तक कि शुद्ध पुरुषों की सभा को भी शुद्ध कर देता है। (पङ्क्तिपावनपावनः)

सङ्गति— अब योगके चरम अङ्ग {समाधि} का निरूपण करते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३.३ ॥

तदेव = वही ध्यान; अर्थमात्रनिर्भासम् = अर्थमात्रसे भासनेवाला; स्वरुपशून्यम् इव = स्वरुपसे शून्य-जैसा; समाधिः = समाधि कहलाता है।

वह ध्यानही समाधि कहलाता है, जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्रसे भासता है और उसका (ध्यानका) स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है।

"ध्येयाकारविनिर्भासं ध्यानं समाधिसंज्ञकम्।

न रुपम् वस्तुतश्शून्यं समाधौ प्रत्ययात्मके ॥ १३३ ॥ योगसूत्रसारः"

जब योगी स्वयं के स्वरुप को भूलकर केवल ध्येय (जिसका ध्यान कर रहा है) में ही लीन हो जाता है, तब योगस्थ साधक की वह अवस्था-विशेष समाधि कहलाती है।

व्याख्या — पूर्वोक्त ध्येय विषयक ध्यान ही अभ्यासके बलसे जब अपने ध्यानाकार रुपसे रहित-जैसा होकर केवल ध्येय स्वरुप-मात्रसे अवस्थित होकर प्रकाशित होने लगे तब वह समाधि कहलाता है। ध्यानावस्थामें जो ध्येय आलम्बनवाली वृत्ति समान प्रवाहसे उदय होती रहती है, वह ध्यातृ, ध्यान और ध्येय तीनोंसे मिश्रित रहती है, अर्थात् वह तीनोंमें तदाकार होती हुई ध्येयके स्वरुपसे भासनेवाली होती है। इसी कारण उसमें ध्यातृ और ध्यान दोनों बने रहते हैं। इन दोनोंके बने रहनेसे ध्येयाकार वृत्ति अपने ध्येय विषयको सम्पूर्णतासे नहीं प्रकाशित करती। जितना ध्यान बढ़ता जाता है उतनी ही उस वृत्तिमें ध्येय-स्वरुपाकारता बढ़ती जाती है और ध्यातृ तथा ध्यान उसके प्रकाशन करनेमें अपने स्वरुपसे शून्य-जैसे होते जाते हैं। जब ध्यान इतना प्रबल हो जाय कि ध्यातृ और ध्यान अपने स्वरुपसे सर्वथा शून्य-जैसे होकर ध्येय-स्वरुपमात्रसे भासने लगें और ध्येयका स्वरुप ध्याता और ध्यानसे अभिन्न होकर ध्येयाकार वृत्तिमें सम्पूर्णतासे भासने लगे तो ध्यानकी इस अवस्थाको समाधि कहते हैं।

'अर्थमात्रनिर्भासम्' में 'मात्र' शब्दसे यह बात बतलायी है कि ध्यानमें ध्येयका भान होता है, ध्येय-मात्रका नहीं। किंतु समाधिमें ध्यान ध्येयमात्रसे भासता है और इस शङ्काके मिटानेके लिये कि ध्यानके अधीन ही ध्येयका भान होता है, समाधिमें यदि ध्यान स्वरुपसे शून्य हो जाता है तो ध्येयका भान किस प्रकार हो सकता है, (स्वरुपशून्यम् इव) 'इव' पद दिया है अर्थात् समाधिकी अवस्थामें ध्यानका सर्वथा अभाव नहीं होता, किंतु ध्येयसे अभिन्नरुप होकर भासनेके कारण स्वरुपसे शून्य-जैसा हो जाता है, न कि वास्तवमें स्वरुपशून्य हो जाता है। श्रीभोज महाराज समाधिका अर्थ इस प्रकार करते हैं —

'सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।'

'जिसमें मन विक्षेपोंको हटाकर यथार्थतासे धारण किया जाता है अर्थात् एकाग्र किया जाता है, वह समाधि है।'

योगके अन्तिम तीन अङ्गों — धारणा, ध्यान और समाधिमें समाधि अङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके अङ्ग हैं। जब किसी विषयमें चित्तको ठहराया जाता है तब चित्तकी वह विषयाकारवृत्ति त्रिपुटीसहित होती है। तीन आकारोंके समाहार अर्थात् इकठ्ठे होनेका नाम त्रिपुटी है। वह त्रिपुटी ध्याता,ध्यान और ध्येयरुप है। ध्यातृ = ध्यान करनेवाला आत्मासे प्रकाशित चित्त है। चित्तकी वह वृत्ति जिसके द्वारा विषयका ध्यान होता है, ध्यान है और ध्यानका विषय ध्येय है। किसी विषयमें चित्तको ठहराते समय उस विषयाकार वृत्तिमें त्रिपुटीका इस प्रकार अलग-अलग भान होता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। यह ध्यान है, इस विषयका ध्यान हो रहा है।

धारणा — जबतक त्रिपुटीसे भान होनेवाली इस विषयाकारवृत्तिका समान प्रवाहसे बहना आरम्भ न हो; किंतु व्यवधानसहित विच्छिन्न हो अर्थात् इस वृत्तिके बीच-बीच अन्य वृत्तियाँ भी आती रहें तबतक वह धारणा कहलायेगी।

ध्यान — जब यह त्रिपुटीसे भान होनेवाली विषयाकारवृत्ति व्यवधानरहित हो जाय अर्थात् अन्य विजातीय वृत्तियाँ बीच-बीचमें न आवें, किंतु सदृश वृत्तियोंका प्रवाह बना रहे तबतक वह ध्यान कहलाता है।

समाधि — जब इस ध्यान अर्थात् व्यवधानरहित त्रिपुटीसे भासनेवाली विषयाकारवृत्तिमें त्रिपुटीका भान जाता रहे और ध्याता तथा ध्यान भी विषयाकार होकर अपने स्वरुपसे शून्य-जैसे भासने लगें अर्थात् जब यह भान न रहे कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, यह ध्यानकी अवस्था है, किंतु केवल ध्येय विषयके स्वरुपका ही भान होता रहे तब यह समाधि कहलाती है।

प्रथम-पाद में इसी त्रिपुटीको सवितर्क और निर्वितर्क समापत्तिमें ध्येयविषयक शब्द, अर्थ और ज्ञानसे बतलाया गया है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥१.४२॥

शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त सवितर्क समापत्ति कहलाती है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥१.४३॥

स्मृतिसे परिशुद्ध होनेपर स्वरूपसे शून्य-जैसे केवल अर्थमात्र (ध्येयमात्र) से भासनेवाली निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है।

इसलिये सवितर्क समापत्तिको ध्यानकी ही एक अवस्था और निर्वितर्क समापत्तिको समाधिकी अवस्था समझनी चाहिये।

यह सम्प्रज्ञात योग अथवा सबीज समाधि है, क्योंकि यद्यपि इसमें त्रिपुटीका अभाव हो जाता है तथापि संसारका बीज विषयके ध्येयाकार वृत्तिरूपसे विद्यमान रहता है। जब इस ध्येयाकार वृत्तिका भी अभाव हो जाय, तब सब वृत्तियोंके निरोध हो जानेपर असम्प्रज्ञात योग अथवा निर्बीज समाधि होती है।

"तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।

मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिस्सोऽभिधीयते।।६.७.९२।। विष्णुपुराणम्"

अर्थ :- उसका ही कल्पनारहित तथा मनसे जो ध्यान-निष्पाद्य है, उस रुपका जो ग्रहण है, उसे ही समाधि कहते हैं।

विष्णुपुराण में ही केशिध्वज जी खाण्डिक्य को अष्टाङ्ग योगका उपदेश करनेके बाद उपसंहार करते हुए कहते है कि —

"क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तस्य तेन तत्।

निष्पाद्य मुक्तिकार्यं वै कृतकृत्यं निवर्त्तते ।।६.७.९४।। विष्णुपुराणम्"

अर्थ :- जीवात्मा करणी (करणवान्) है और विज्ञान रुपी करण (परमात्माकी प्राप्तिका साधकतम) है। उस विज्ञान रुप साधकतम के द्वारा जीव के मुक्ति रुपी कार्यको निष्पन्न करके जीवात्मा कृतकृत्य हो जाता है।

ध्यानं द्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि योजयेत्।

तिष्ठेत्तल्लयतो युक्तः समाधिः सोऽभिधीयते ।।

जैसे स्वच्छ स्फटिक मणि के सामने जिस भी कलर का फूल रख दो उसीके रङ्ग की दिखने लगती है अपने स्वरूपसे नहीं, बैसे ही चित्त ध्येयाकार दिखने लगता है।

सङ्गति — पूर्वोक्त धारणादि तीनों योगाङ्गोंका एक शब्दसे व्यवहार करनेके लिये अपने शास्त्रमें पारिभाषिकी संज्ञा करनेको यह अगला सूत्र है। अर्थात् जब धारणा, ध्यान और समाधिको कहना हो तो तीन शब्द न कहकर एक ही शब्दसे कह सकेंगे।

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ३.४ ॥

शब्दार्थ — त्रयम् = तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि) का; एकत्र = एक विषयमें होना; संयम: = संयम कहलाता है।

तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि) का एक विषयमें होना संयम कहलाता है।

"बन्धध्यानसमाधीनां संज्ञा योगे तु संयमः।

संयमस्यैव संसिद्ध्या प्रज्ञादीपः प्रकाशते ॥ १३४ ॥ योगसूत्रसारः"

अर्थ — देशबन्धात्मक धारणा, एकतानतात्मक ध्यान और समाधि ये तीनों जब एक जगह मिल जाते हैं तब इस त्रिवेणी संगम का नाम संयम होता है। इस संयमकी सिद्धि होनेपर प्रज्ञादीप प्रकाशित हो उठता है।

व्याख्या — यह परिभाषा सूत्र है। समाधि अङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके अङ्ग हैं। धारणा और ध्यान समाधिकी ही प्रथम अवस्था है। विभूति आदिमें इन तीनोंकी ही आवश्यकता होती है। इसीलिये योग-शास्त्रकी परिभाषामें इन तीनोंके समुदायको संयम कहा जाता है। जब धारणा, ध्यान और समाधि एक ही विषयमें करनी हो तब उसकी संयम संज्ञा होती है अर्थात् उसको संयम शब्दसे कहते हैं।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें संयमके अभ्यासका फल बतलाते हैं।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ३.५ ॥

शब्दार्थ — तज्जयात् = उस संयमके सिद्ध होनेसे; प्रज्ञा = समाधि-प्रज्ञाका; आलोक: = प्रकाश होता है।

उस (संयम) के जयसे समाधि-प्रज्ञाका प्रकाश होता है।

"एकैकस्यास्तथा भूमेर्जयात् स्यान्नान्यगामिता ।

मनसः सिद्ध्यते नूनं तेन प्रज्ञा प्रदीप्यते ॥ १३५ ॥ योगसूत्रसारः"

अर्थ — धारणा, ध्यान और समाधिको क्रमसे जय करते हुए वृत्ति एकाग्र हो जाती है। जब उस वृत्तिका इधर-उधर भटकना बन्द हो जाता है तब सिद्धि देनेवाला प्रज्ञाका प्रकाश प्रदीप्त होता है।

व्याख्या — तज्जय =संयमजय — अभ्यासके बलसे संयमका दृढ़ = परिपक्व हो जाना संयम-जय है।

प्रज्ञालोक = अन्य विजातीय प्रत्ययोंके अभावपूर्वक केवल ध्येय-विषयक शुद्ध सात्विक प्रवाहरुपसे बुद्धिका स्थिर होना प्रज्ञालोक है। ज्ञेयको सम्यक्प्रकारसे (ठीक-ठीक) दिखानेवाली बुद्धिको प्रज्ञा कहते है।

जब संयम अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधिको एक विषयपर ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे लगानेका अभ्यास परिपक्व हो जाय, तब समाधि-प्रज्ञा उत्पन्न होती है, जिससे ध्येयका ज्ञान यथार्थरूपसे होने लगता है और नाना प्रकारकी विभूतियाँ सिद्ध होने लगतीं हैं। अन्तमें विवेकख्यातिका साक्षात् होने लगता है। संयमसे होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन आगे विस्तारसे बतायेंगे।

स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा।

बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकी मता॥

जो सत्य भूतकालमें तो था परन्तु वर्तमानमें वह यदि नियततया सत्यत्वेन अवभात न होता हो तो उसे स्मृतिका विषय माना जाता है। इसी तरह जो वस्तु वर्तमानमें सत्यतया अवभात न होनेपर भी भविष्यमें सत्यतया आत्मप्राकट्यकी ओर इंगित कर रही हो तो उसे मतिविषयीभूत प्रतिपादित किया जा सकता है। सत्यका जो वर्तमान कालिक आयाम है वह बुद्धिगोचर होता माना गया है परन्तु सत्यका जो त्रैकालिक आयाम होता है उसे तो प्रज्ञागोचर ही माना गया है।

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः॥

जब मन लौकिक सीमाओं के बिना सभी तथ्यों की थाह ले सकता है – अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य को शामिल करते हुए, तब इसे प्रज्ञा कहा जाता है। प्रज्ञा ही प्रतिभा (रचनात्मक कल्पना) के रूपमें में बदल जाती है, प्रतिभा उस प्रज्ञा का नाम है जो नित्य नवीन रसानुकूल विचार उत्पन्न करती है। वह हर बार चीजों की नए सिरे से कल्पना कर सकती है। रचनात्मक कल्पना से संपन्न व्यक्ति कवि होता है।

बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्|

युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया||११.२५|| चरकसंहिता-सूत्रस्थानम्

जो बुद्धि बहुत कारणों के योग से उत्पन्न भावों को देखती है तथा जिसके द्वारा तीनों वर्गों–धर्म, अर्थ, काम–की सिद्धि होती है तथा जिससे तीनों कालों–वर्तमान, भूत, भविष्यका ज्ञान होता है, वह युक्ति है।

सङ्गति — योग-युक्तिकी बात करके अब उस संयमका उपयोग कहाँ और कैसे करना है, यह बतलाते हैं —

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ३.६॥

तस्य = उस संयमका; भूमिषु = भूमियोंमें; विनियोगः = विनियोग करना चाहिये।

उस संयमका भूमियोंमें विनियोग करना चाहिये।

व्याख्या — भूमिसे अभिप्राय चित्तभूमिसे है और विनियोगका अर्थ लगाना है अर्थात् उस संयमका स्थूल-सूक्ष्म आलम्बन भेदसे रहती हुई चित्तकी वृत्तियोंमें विनियोग करना चाहिये। चित्तकी स्थूल वृत्तिवाली भूमि जो नीची भूमि है प्रथम उसको विजय करना चाहिये, फिर उससे ऊंची सूक्ष्म वृत्तिवाली भूमिमें संयम करना चाहिये। नीची भूमियोंके जीते बिना ऊपरकी भूमियोंमें संयम करनेवाला विवेक-ज्ञानरूपी फलको नहीं प्राप्त होता। जैसे धनुर्धारी लोग पहले स्थूल लक्ष्यका वेधन करके फिर सूक्ष्मका वेधन करते हैं, वैसे ही योगीको चाहिये कि क्रमसे पहले वितर्क-अनुगत, फिर विचार-अनुगत, फिर आनन्द-अनुगत और फिर अस्मिता-अनुगत अथवा पहले ग्राह्य फिर ग्रहण फिर ग्रहीतृ इत्यादि प्रकारसे पहली-पहली भूमिको जीतकर ऊंची भूमियोंमें संयम करे, इस प्रकार विवेकज्ञानरुपी फल प्राप्त होता है। यदि ईश्वरके अनुग्रहसे योगीका चित्त पूर्व ही उत्तर भूमियोंमें लगने योग्य हो गया हो तो पूर्व भूमियोंमें लगानेकी आवश्यकता नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि संयम का विशेष अभ्यास या प्रयोग योग की अलग-अलग भूमियों या अवस्थाओं में करना चाहिए । पहले स्थूल भूमियों पर अभ्यास करके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भूमियों पर संयम करना चाहिये।

‘चित्त किस योग्यताका है’ इसका ज्ञान योगीको स्वयं योगद्वारा हो जाता है। जैसा कि कहा है —

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते ।

योऽप्रमत्तस् तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥

पहिले योगसे बाद का योग समझ में आता है और पहिले योगसे बाद का योग (उत्तर योग) प्रवृत्त होता है। इसलिये प्रमादसे रहित जो यत्नशील अभ्यासी है, वह पहिले योगसे उत्तर-योगमें चिरपर्यन्त रमण करता है। योग (शास्त्र जो मन को संतुलित करता हैं) केवल योग

द्वारा (उसके अनुशासन का अभ्यास करके) ज्ञात होता हैं। इसके प्रायोगिक अभ्यास से ही योग का विकास होता हैं। योग के लंबे अभ्यास से जो साधक सदैव सतर्क बन जाता हैं, वह नि:संशय सदैव आनंदी रहता हैं।

इस संयमसे आत्मोन्नति भी हो सकती है और अधःपतन भी हो सकता है, क्योंकि सारी बातें प्रयोगपर ही निर्भर होतीं हैं। इसलिये संयमका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये

"यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।१७.४।। श्रीमद् भगवद्गीता"

सात्त्विक मनुष्य देवताओंका पूजन करते हैं, राजस मनुष्य यक्षों और राक्षसोंका और दूसरे जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेतों और भूतगणोंका पूजन करते हैं।

"अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।

दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।१७.५।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जो लोग शास्त्रविधि से रहित घोर तप करते हैं तथा दम्भ, अहंकार, काम और राग से भी युक्त होते हैं।

"कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।

मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।१७.६।। श्रीमद् भगवद्गीता"

वे अविवेकी मनुष्य- शरीरमें स्थित इन्द्रियादि करणोंके रुपमें परिणत भूतसमुदायको और शरीरके भीतर अन्तरात्मारुपसे स्थित- उनके कर्म और बुद्धिके साक्षी- मुझ ईश्वरको भी- कृश (तंग) करते हुए — मेरी आज्ञाको न मानना ही मुझे कृश करना है। इस प्रकार मुझे कृश करते हुए (घोर तप करते हैं) उनको तू आसुरी निश्चयवाले जान। जिनका असुरोंकासा निश्चय हो वे आसुरी निश्चयवाले कहलाते हैं। उनका सङ्ग त्याग करनेके लिये तू उनको जान – यह उपदेश है।

"यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।९.२५।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जिनका नियम और भक्ति देवोंके लिये ही है वे देवउपासकगण देवोंको प्राप्त होते हैं। श्राद्ध आदि क्रियाके परायण हुए पितृभक्त अग्निष्वात्तादि पितरोंको पाते हैं। और भूतों का यजन करने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं तथा मेरा पूजन करनेवाले वैष्णव भक्त अवश्यमेव मुझे ही पाते हैं। अभिप्राय यह है कि समान परिश्रम होनेपर भी वे (अन्यदेवोपासक) अज्ञानके कारण केवल मुझ परमेश्वरको ही नहीं भजते इसीसे वे अल्प फलके भागी होते हैं।

इसलिये —

तत्सवितुर्वरेण्यं। भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्। (ऋग्वेद ३,६२,१०)

वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

यो देवः सवितास्माकं धियो धर्मादिगोचरः।

प्रेरयेत् तस्य यद् भर्गः तं वरेण्यमुपास्महे।।

'जो सविता देव हमारी बुद्धि को धर्म में प्रेरित करता है उसके श्रेष्ठ भर्ग (तेज) की हम उपासना करते हैं।

(१) ब्रह्मगायत्री — (ॐ भूर्भुवः स्वः) ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥१॥

(२) क्षात्र गायत्री — ॐ देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय ।

दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस् पतिर् वाचं नः स्वदतु ॥११.७॥ शुक्लयजुर्वेदः/अध्यायः ११

(३) वैश्य गायत्री — विश्वा रुपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।

वि नाकम् अख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणम् उषसो वि राजति ॥ १२.३ ॥ शुक्लयजुर्वेदः/अध्यायः १२

वैदिक गायत्री-मन्त्र जपने का अधिकार जिसे नहीं है वे नीचे लिखे मन्त्र का जप करें!

(४) शूद्र गायत्री — ह्रीं यो देवः सवितास्माकं मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः॥ प्रचोदयति तद्भर्गः वरेण्यं समुपास्महे ॥४॥

"यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१४॥ शुक्लयजुर्वेदः/अध्यायः ३२"

जिस मेधा की उपासना देवगण और पितृवृन्द करते हैं, हे अग्नि आज मुझे उस मेधा से मेधावी (मेधावान्) बनावें। धारणावती धी- को, धारणावती बुद्धि को, मेधा कहते हैं।

'ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा'॥७॥ दक्षिणामूर्ति उपनिषद्

अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे ।

अहिमूषिकवद् देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः ॥ २० ॥

निश्चय ही किस महान प्रयोजन वश मौका पड़ने पर शत्रु से भी मित्रता कर लेनी चाहिये । प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर सर्प तथा चूहे के समान व्यवहार किया जा सकता है।

अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतां अविलम्बितम् ।

यस्य पीतस्य वै जन्तुः मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत् ॥ ८.६.२१ ॥ श्रीमद्भागवतपुराणम्

तुम लोग शीघ्र ही अमृत निकालने का प्रयत्न करो, जिसे पीकर मरने वाला प्राणी भी अमर हो जाता है।

भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोः म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा

कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।

तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा

लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणाम् वृद्धौ क्षये कारणम्॥ ९१ ॥ नीति शतकं

भावार्थ – एक संपेरे द्वारा पकडा गया सर्प बांस की एक टोकरी में

बन्द भूख से पीडित थका हुआ पडा था। तभी रात में एक चूहा उस टोकरी

में एक छेद कर स्वयं उस सर्प के मुंह में चला गया। चूहे के मांस को खा

कर और तृप्त हो कर सर्प भी तुरन्त उसी रास्ते से टोकरी से बाहर आ

गया जिस से चूहा अन्दर गया था। लोगो देखो तो ! किस प्रकार भाग्य

ही मनुष्यों में वृद्धि और क्षय का कारण होता है।

{तुलसीदास जी ने इसी बात को इस दोहे में बडे ही सुन्दर रूप से प्रस्तुत

किया है :- "तुलसी जसि भवितव्यता तैसी मिलइ सहाइ। आपु न

आवइ ताहि पहिं ताहि तहां लै जाइ।}

सङ्गति — शङ्का — योगके आठ अङ्गोंमेंसे केवल पहले पाँच अङ्गोंका साधनपादमें वर्णन किया गया। धारणा, ध्यान और समाधिका क्यों नहीं किया गया ?

उत्तर — पहले पाँच अङ्ग समाधिके साक्षात् साधन नहीं बहिरङ्ग-साधन हैं। धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग हैं। इसलिये इनका विभूतिपादमें लक्षण किया। इसीको अगले सूत्रमें बतलाते हैं।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ३.७॥

त्रयं अन्तरङ्गंम् = ये तीनों अन्तरङ्ग हैं; पूर्वेभ्य: = पहलोंसे

पहलोंकी अपेक्षासे तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) अन्तरङ्ग हैं।

व्याख्या — पहले पादमें बताये हुए यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारकी अपेक्षासे ये तीनों धारणा, ध्यान और समाधि सम्प्रज्ञात-समाधिके अन्तरङ्ग हैं अर्थात् साधनीय सम्प्रज्ञात-समाधिका जो विषय है वही धारणादिका विषय है, इसलिये समान विषय होनेसे ये धारणादि तीनों सम्प्रज्ञात-समाधिके अन्तरङ्ग हैं और यम-नियमादि पाँचो यद्यपि चित्तको निर्मल बनाकर योगके उपयोगी बनाते हैं तथापि समान विषय न होनेसे बहिरङ्ग हैं, इसलिये इन पाँचों को साधनपादमें और धारणादि तीनोंको विभूतिपादमें वर्णन किया। क्योंकि ये सम्प्रज्ञात समाधि के निकटतम साधन हैं।

पहले स्थूल ध्यानोंका निरूपण कर चुके हैं अतः अब विष्णुपुराणके अनुसार सूक्ष्म ध्यानका वर्णन करते हैं —

ततः शंखगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितं बुधः।

चिंतयेद्भगवद्रूपं प्रशांतं साक्षसूत्रकम् ।।६.७. ८८।। विष्णुपुराणम्

उसके बाद योगी को श्रीभगवान् के शङ्ख, चक्र, गदा तथा शार्ङ्ग आदि से रहित स्फटिक मणि की माला तथा यज्ञोपवीतसे सुशोभित तथा शान्त रुपका ध्यान करना चाहिये।

सा यदा धारणा तद्वदवस्थानवती ततः।

किरीटकेयूरमुखैर्भूषणै रहितं स्मरेत् ।।६.७.८९।। विष्णुपुराणम्

जब यह धारणा भी सुदृढ़ हो जाय तो उसके बाद श्रीभगवान् के किरीट तथा केयूर आदि आभूषणों से रहित रूपका स्मरण करना चाहिये।

तदेकावयवं देवं चेतसा हि पुनर्बुधः।

कुर्यात्ततोऽवयविनि प्रणिधानपरो भवेत् ।। ६.७.९० ।। विष्णुपुराणम्

उसके पश्चात् ध्याताको चाहिए कि वह श्रीभगवान् का एक अवयवसे विशिष्ट रूपका अपने हृदयमें ध्यान करे, फिर उस अवयवको भी छोड़कर केवल अवयवी का ही ध्यान करने में लग जाय।

तत्रैकचित्ततायोगो मुक्तिदो नात्र संशयः ।

जितेन्द्रियात्मकरणो ज्ञानदृप्तो हि यो भवेत् ॥१,२३५.४६॥ गरुडपुराणम्

उसीमें एकचित्तता से स्थिर होनेवाला योग मुक्ति देता है, इसमें कोई संशय नहीं है। जो इन्द्रियों आदि पर विजय पाकर ज्ञानकी प्रभासे दीप्त है —

स मुक्तः कथ्यते योगी परमात्मन्यवस्थितः ।

आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः ॥ १,२३५.४७ ॥ गरुडपुराणम्

वह परमात्मामें स्थित योगी मुक्त है। आसन, स्थान, विधियाँ आदि योगके साक्षात् साधक नहीं हैं। अपितु परम्परया साधक हैं।

विलम्बजनकाः सर्वे विस्तराः परिकीर्तिताः ।

शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात् ॥ १,२३५.४८ ॥ गरुडपुराणम्

ये सारे विस्तार तो विलम्ब करनेवाले तथा योगसिद्धिके विघ्न हैं। अनेक योगविघ्नोंका वर्णन मिलता है। शिशुपालने तो केवल स्मरण तथा अभ्यासके प्रभावसे सिद्धि पायी थी।

योगाभ्यासं प्रकुर्वन्तः पस्यन्त्यात्मानमात्मना ।

सर्वभूतेषु कारुण्यं विद्वेषं विषयेषु च ॥ १,२३५.४९ ॥ गरुडपुराणम्

योगाभ्यासमें साधक स्वयंही स्वयंको देखता है। जिससे हृदयमें सभी भूत- समूहोंके प्रति करुणा तथा विषयोंसे विद्वेष उत्पन्न होता है।

गुप्तशिश्नोदरादिश्च कुर्वन्योगी विमुच्यते ।

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थांस्तु न जानाति नरो यदा ॥ १,२३५.५० ॥ गरुडपुराणम्

तथा जो शिश्न-उदर के विषयोंके प्रति तत्पर नहीं है, वही योगी मुक्त होगा। जब योगी इन्द्रियोंसे इन्द्रियोंके विषयका अनुभव नहीं करता —

काष्ठवद्ब्रह्मसंलीनो योगी मुक्तस्तदा भवेत्।गरुडपुराणम्

तब जैसे अग्नि काष्ठ में ही लीन रहता है, वैसे ही वह ब्रह्म में लयभाव को प्राप्त करता है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।१२.८।। श्रीमद् भगवद्गीता

तुम अपने मन और बुद्धि को मुझमें ही स्थिर करो, तदुपरान्त तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।१२.९।। श्रीमद् भगवद्गीता

हे धनंजय ! यदि तुम अपने मन को मुझमें (विश्वरुप में) स्थिर करने में समर्थ नहीं हो, तो अभ्यासयोग के द्वारा तुम मुझे प्राप्त करने की इच्छा (अर्थात् प्रयत्न) करो। {चित्तको सब ओरसे खींचकर बारंबार एक अवलम्बनमें लगानेका नाम अभ्यास है}

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।।१२.१०।। श्रीमद् भगवद्गीता

(यदि तू) अभ्यासमें भी असमर्थ है तो मेरे लिये कर्म करनेमें तत्पर हो — मदर्थकर्मका नाम मत्कर्म है- उसमें तत्पर हो अर्थात् मेरे लिये कर्म करनेको ही प्रधान समझनेवाला हो। अभ्यासके बिना केवल मेरे लिये कर्म करता हुआ भी तू अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानयोगकी प्राप्तिद्वारा परमसिद्धि प्राप्त कर लेगा।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥ ईशोपनिषद्

जो तत्व को इस रुप में जानता है कि वह एक साथ विद्या और अविद्या दोनों है, {ज्ञान और कर्म दोनों है} वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमरता का आस्वादन करता है।

न केवलेन योगेन दृश्यते पुरुषः परः ।

ज्ञानं तु केवलं सम्यगपवर्गफलप्रदम् ॥ ३९.४५ ॥ कूर्मपुराणम्

केवल कर्मयोग तो अन्तःकरणकी शुद्धिका साधनमात्र है, उससे तत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता परन्तु ज्ञानयोग मोक्षका साक्षात कारण है।

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।

तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ।। ७ ।। योगवासिष्ठः

जैसे पक्षियों की हवा में उड़ान उनके दोनों पंखों से होती है, उसी तरह ज्ञान और कर्म दोनों के साधन के माध्यम से उच्चतम मुक्ति की स्थिति प्राप्त होती है।

इत्यादि वाक्यों से योग-शब्दोक्त, कर्म-निरपेक्ष ज्ञानयोगसे भी मोक्षकी सिद्ध हो सकती है। कर्मको ज्ञानका अङ्ग कहा गया है जैसे कि जड-भरत, दत्तात्रेय, संवर्त आदिका चित्त संयम के योग्य हो गया था क्योंकि इन लोगोंने पूर्वजन्ममें कर्मयोगका अनुष्ठान कर लिया था अतः वर्तमान जन्म में कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं हुई, केवल ज्ञानयोगसे ही सिद्धि मिल गयी।

परवैराग्यद्वारा उस संयमका समाधिनिष्पादक होने से दूसरी समाधियों की अपेक्षा उनको भी बहिरङ्ग कहा गया है।

सङ्गति — ये धारणादि तीनों भी निर्बीज-समाधिकी अपेक्षासे बहिरङ्ग हैं, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं —

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ३.८ ॥

तत् अपि = वह (धारणा, ध्यान, समाधि) भी; बहिरङ्गम् = बाहरका अङ्ग है, निर्बीजस्य = असम्प्रज्ञात-समाधिका।

वह (धारणा, ध्यान, समाधि) भी असम्प्रज्ञात-समाधिका बाहरका अङ्ग है।

वह धारणा, ध्यान व समाधि भी निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि प्राप्त करने के लिए बाहरी साधन है।

"अन्तरङ्गं त्रयं चेदं समाधेस्साधनात् परम्।

निर्बीजस्यापि योगस्य बहिरङ्गं त्रयंस्मृतम् ॥ १३६ ॥ योगसूत्रसारः"

योगसन्दर्भे संयमो नाम धारणा, ध्यानं समाधिश्च त्रयम्। एकस्मिन् वस्तुनि प्रत्ययान्तर रहितं चित्तं समानप्रत्ययप्रवाहवत् सदर्थमात्रनिर्भासं यदा भवति तदा संयमः ज्ञेयः। एतादृशी मनसश्शक्तिरेकाग्रतारूपा सम्पादनीया। यमादिपञ्चभ्यः धारणाध्यानसमाधयोऽन्तरङ्गम्। साक्षात् स्वरूपोपकारकं त्रयम्। निर्बोजस्य समाधेस्तु साक्षादहेतुत्त्वात् बहिरङ्गम्।

व्याख्या — ये धारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रज्ञात-समाधिके अर्थात् सबीज-समाधिके अन्तरङ्ग हैं, पर असम्प्रज्ञात (निर्बीज-समाधि) के ये भी बहिरङ्ग साधन हैं। अर्थात् जिस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार परम्परासे उपकारक होते हुए भी समान विषय न होनेसे सम्प्रज्ञात-समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं, उसी प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि परम्परासे उपकारक होते हुए भी समान विषय न होनेसे असम्प्रज्ञात-समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं। उसका साक्षात् साधन पर-वैराग्य है। अर्थात् जो साधन साध्यके समान विषयवाला होता है अथवा जिस साधनके दृढ़ होनेके अनन्तर साध्यकी सिद्धि अवश्य ही हो, वह अन्तरङ्ग होता है। धारणा, ध्यानादि सालम्बन (किसीको आलम्बन=सहारा=ध्येय बनाकर) ध्येयरुप समान विषयवाले होते हैं और उनके दृढ़ होनेपर सम्प्रज्ञात-योग सिद्ध होता है, इसलिये वे सम्प्रज्ञात-समाधिके अन्तरङ्ग हैं। किंतु असम्प्रज्ञात-समाधि निरालम्बन (बिना आलम्बन=सहारा=ध्येयके) निर्विषय होती है और धारणादि संयमके दृढ़ होनेपर असम्प्रज्ञात-योग अवश्य ही सिद्ध हो जाय, ऐसा भी कोई निश्चित नियम नहीं है। इसलिये निर्बीज समाधिके प्रति धारणादि तीनों बहिरङ्ग हैं। इसका अन्तरङ्ग साधन विवेकख्याति और पर-वैराग्य है और जिसके दृढ़ होनेपर असम्प्रज्ञात-समाधि अवश्य ही सिद्ध होती है।

मैंने बचपनमें अम्माँसे एक कहानी सुनी थी —

एक अन्धी बुढ़िया ने भगवानकी बहुत पूजा,आराधना की और आराधना करते समय सोच रही थी कि भगवान से यह मांगूँगी-वह मांगूँगी आदि-आदि। तब भगवान ने सोचा कि यह बुढ़िया तो मुझे बहुत परेशान करने वाली है, तो भगवान प्रकट हुए और बोले कि माँ ! मैं आपकी तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ, लेकिन आप एक ही वरदान माँग सकती हैं। तो बूढ़ी माँ बोली कि ठीक है आप एक ही वरदान दे दीजिये। मैं चाहती हूँ कि मैं मेरे प्रपौत्रको सोनेकी चौकी पर बिठाकर चाँदी की चम्मचसे अपने हाथसे खीर खिलाऊं और उसे खीर खाते हुए देखकर मैं खूब उछलूँ, कूदूँ, नाचूँ और गाऊं बस यही एक इच्छा है। भगवान को तथास्तु कहना पड़ा। चालाक बुढ़िया ने अपने एक ही वरदान में अपनी आँखें, जबानी, पुत्र, पुत्रबधू, नाती, परनाती, धन-सम्पत्ति आदि बहुत कुछ माँग लिया। धन्य है बुढ़िया की बुद्धि !! लेकिन उसने सबकुछ नश्वर ही माँगा। ये तो कोई बुद्धिमत्ता नहीं हुई !!

निर्बीज (निरालम्बन) {शून्यभावना} जिसका अपर पर्याय है उस असम्प्रज्ञात-समाधिका उदाहरण —

"योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते ।

आस्तीर्य शेषमभजत्कल्पान्ते भगवान् प्रभुः ॥ ८१.४९ ॥ मार्कण्डेयपुराणम्"

कल्पके अन्तमें जब सम्पूर्ण जगत् एकार्णव में निमग्न हो रहा था और सबके प्रभु भगवान् विष्णु शेषनाग की शय्या बिछाकर योगनिद्रा का आश्रय ले सो रहे थे।

सङ्गति — अब अब अगले सूत्रमें योगसिद्धियोंका व्याख्यान करने की इच्छासे संयमके विषयकी परिशुद्धि करनेके लिये क्रमसे होनेवाले तीन परिणामोंकी चर्चा करते हैं।

अब यहाँ शङ्का होती है कि त्रिगुणकी वृत्ति चलायमान है अर्थात् वह एक क्षण भी बिना परिणाम नहीं रहती। चित्त त्रिगुणात्मक है, निर्बीज समाधिमें जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, तब उसका परिणाम कैसा होता है ? इसी शङ्काकी निवृत्तिमें अगले चार सूत्र हैं। परिणामोंका वर्णन तेरहवें सूत्रमें है। पर जबतक परिणामोंको ठीक-ठीक न जाँच लिया जाय तो उनके समझनेमें कठिनाई आयेगी। इस कारण उनका संक्षेपसे वर्णन करते हैं। —

परिणाम तीन प्रकारके होते हैं — धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणाम। ये तीन परिणाम तीनों गुणोंसे उत्पन्न हुए सब द्रव्यों में पाये जाते हैं। जिसमें ये परिणाम होते हैं उसको धर्मी कहते हैं और ये परिणाम धर्म कहलाते हैं। निरपेक्ष धर्मी केवल कारणरूप प्रकृति है। अन्य सब उसके विकार महत्तत्वसे लेकर पाँचों स्थूलभूतपर्यन्त सापेक्ष धर्मी हैं। इन धर्मियोंमें जिस प्रकार ये तीनों परिणाम होते हैं उनको उदाहरण देकर समझाते हैं।

(१) धर्मपरिणाम — जैसे मिट्टीके गोले बनाकर कुम्भकार नाना प्रकारके बर्तन बनाता है, यहाँ मिट्टी द्रव्य धर्मी है, उसमें नाना प्रकारके बर्तनके आकार जो क्रमके बदलनेसे हो गये हैं, धर्म हैं। मिट्टी धर्मी ज्यों-की-त्यों बनी रहती है, उसमें कोई परिणाम नहीं होता। और ये जो बर्तनके आकार हैं जो भिन्न प्रकारके क्रमके बदलनेसे बने हैं, उसके धर्म हैं। इनमेंसे एक धर्मका दबना, दूसरे धर्मका प्रकट होना मिट्टी धर्मीका धर्म-परिणाम कहलाता है।

(२) लक्षणपरिणाम — ऊपर बतलाये हुए धर्मपरिणाममें बर्तन मिट्टीका एक नया आकार है। यह आकार उसमें छिपा हुआ था, अब प्रकट हो गया। ये बर्तनके आकार मिट्टीकेही धर्म हैं, जो उसमें छिपे रहते हैं। उस छिपे हुए धर्म (आकार) का प्रकट होना अर्थात् भविष्यसे वर्तमानमें आना लक्षण-परिणाम है। लक्षण-परिणाम कालभेदसे होता है। बर्तनका आकार प्रकट होनेसे पहिले धर्मी मिट्टीमें छिपा हुआ था जबतक प्रकट नहीं हुआ था, तबतक वह अनागत (भविष्य) लक्षणवाला था; जब प्रकट हो गया, तब वर्तमान लक्षणवाला हो गया और जब टूटकर मिट्टीमें मिलगया, तब भूत लक्षणवाला हो गया। बर्तन तीनों कालमें मिट्टीमें वर्तमान है। भूत,

भविष्यमें छिपे रुपसे, वर्तमानमें प्रकट रुपसे। इस प्रकार कालभेदसे धर्मीमें तीन लक्षण-परिणाम होते हैं। — अनागत (भविष्य) लक्षण-परिणाम, वर्तमान लक्षण-परिणाम और अतीत (भूत) लक्षण-परिणाम।

(३) अवस्थापरिणाम — ऊपर बतला आये हैं कि बर्तनका प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। यह बर्तन ज्यों-ज्यों पुराना होता जाता है त्यों-त्यों जीर्ण होता चला जाता है, यहाँतक कि एक समय इतना जीर्ण हो जाता है कि हाथ लगानेसे टूटने लगता है। यह जीर्ण होनेकी अवस्था प्रतिक्षण होती रहती है। इस कारण उसको अवस्थापरिणाम कहते हैं।

इन परिणामोंमे धर्म और लक्षण-परिणाम वस्तुके उत्पत्ति-समयमें होता है और अवस्थापरिणाम उसके अन्त होनेतक होता रहता है। योगदर्शनमें धर्म, धर्मी शब्द कार्य-कारण अर्थमें लाये गये हैं।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ३.९॥

शब्दार्थ — व्युत्थान-निरोध-संस्कारयो: = व्युत्थानके और निरोधके संस्कारोका; अभिभव-प्रादुर्भावौ = दबना और प्रकट होना; निरोधक्षण-चित्त = यह जो निरोधकालमें होनेवाले चित्तका (दोनों संस्कारोंमें); अन्वयः = अनुगत अर्थात् सम्बन्ध होना है; निरोधपरिणाम: = वह निरोध परिणाम कहा जाता है।

व्युत्थानके संस्कारका दबना और निरोधके संस्कारका प्रकट होना, यह जो निरोधकालमें होनेवाले चित्तका दोनों संस्कारोंमें अनुगत होना है, यह निरोध परिणाम कहा जाता है।

"परिणामस्त्रिधा प्रोक्तश्चित्तस्यास्थिरवर्तिनः ।

निरोधश्च समाधिश्च तथाचैकाग्रतामिधः ॥ १३७ ॥ योगसूत्रसारः"

"व्युत्थानाभिभवास्सम्यक् निरोधस्य समुद्भवः।

संस्कारस्य गतिश्चित्रा निरोध इति कथ्यते ॥ १३८ ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या — व्युत्थान माने क्षिप्त,मूढ़, विक्षिप्त — इन तीन पूर्वोक्त भूमियोंको व्युत्थान कहते हैं। यह एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) की अपेक्षासे व्युत्थान है। निरोध (असम्प्रज्ञात-समाधि) की अपेक्षासे एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) भी व्युत्थानरूप ही है। इसलिये व्युत्थान शब्द का अर्थ यहाँ एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) जानना चाहिये।

निरोध — इस सूत्रमें निरोध शब्द तीन बार प्रयुक्त हुआ है। व्याकरणकी रीतिसे यदि नि-पूर्वक रुध् धातुके आगे करण में 'घञ्' 'प्रत्यय' मानें तो निरोध शब्दका अर्थ पर-वैराग्य होता है तथा पर-वैराग्यका संस्कार निरोध शब्दका अर्थ होता है; और यदि भावमें प्रत्यय मानें तो निरोध शब्दका अर्थ रुकना है। इसलिये सूत्रमें 'पहिले निरोध शब्दका अर्थ पर-वैराग्य है,' 'दूसरे निरोध शब्दका अर्थ किसी वृत्तिका उदय न होना अर्थात् सब वृत्तियोंका रुक जाना' और 'तीसरे निरोध पदका अर्थ पर-वैराग्यका संस्कार' जानना चाहिये।

अभिभव — अभिभव माने छिपना=कार्य करनेकी सामर्थ्यसे रहित निर्बल रुपसे रहना। वर्त्तमानावस्थासे भूतावस्थामें जाना।

प्रादुर्भाव — अनागतावस्थासे वर्तमान कालमें प्रकटरुपसे आना।

निरोधक्षणचित्तान्वय — निरोधकालमें होनेवाले धर्मी चित्तका अपने धर्म व्युत्थान (एकाग्रता अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कारोंमें अनुगत होना।

योगकी सिद्धियोंकी व्याख्या करनेकी इच्छासे सूत्रकार संयमके विषयका शोधन करनेके लिये क्रमसे तीन परिणामोंको कहते हैं। इस सूत्रमें निरोध-परिणामका वर्णन है।

निरोध-परिणाम — चित्त त्रिगुणात्मक होनेसे परिणामी है (बदलनेके स्वभाव वाला है) उसमें प्रतिक्षण वृत्तिरुप हो रहा है। निर्बीज समाधिमें व्युत्थानकी सारी वृत्तियाँ रुक जातीं हैं और एकाग्रता-वृत्ति भी नहीं रहती। तब उन निरोधक्षणवाले चित्तमें कैसा परिणाम उस समय होता है ? उसको इस प्रकार समझते हैं —

चित्त धर्मी है, व्युत्थान तथा एकाग्रताके संस्कार उसके धर्म हैं। ये संस्कार वृत्तिरुप नहीं हैं। जैसा कि भाष्यकार व्यासजी ने कहा है —

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः।

व्युत्थानके संस्कार चित्तके धर्म हैं, प्रत्ययात्मक अर्थात् वृत्तिरुप नहीं हैं। इसलिये वृत्तियोंके निरोध होनेपर भी इनका निरोध नहीं हो सकता।

इसलिये वृत्तियोंके रुकनेपर ये संस्कार नहीं रुकते, धर्मी-चित्तमें बने रहते हैं। इसी प्रकार निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार भी चित्तके धर्म हैं। इन दोनों संस्काररुपी धर्मोंमेंसे एक धर्मका दबना, दूसरेका प्रकट होना चित्तरुपी धर्मीका धर्म-परिणाम है। निरोधक्षण (निर्बीज-समाधिकालवाले) चित्तके अंदर उस समय यह परिणाम होता है कि व्युत्थान (एकाग्रता) के संस्कार अभिभूत होते हैं (दबते हैं) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार प्रादुर्भूत होते हैं (प्रकट होते हैं) ।

व्युत्थानके संस्कार जो पहिले वर्तमानरुपमें थे, अब भूतकालमें हो गये। यह उनका भूत लक्षण-परिणाम है और निरोधके संस्कार जो पहिले अनागतरुपमें थे, अब वर्तमानरुपमें हो गये। यह उनका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। निरोध समयका धर्मी-चित्त अपने धर्म इन दोनों व्युत्थान (एकाग्रता) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कारोंके बदलनेमें (अभिभव-प्रादुर्भाव होनेमें) अनुगत रहता है। इस प्रकार एक चित्तके एकाग्रता और पर वैराग्यके संस्कारोंका बदलना निरोध-परिणाम है। उस समय संस्कार शेषवाला चित्त होता है, जैसा कि प्रथमपाद के सूत्र (१. १८) में बतलाया गया है कि असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तके संस्कार शेष रहते हैं।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें उस निरोध-संस्कारका फल कहते हैं।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ ३.१० ॥

तस्य = उस (चित्त) का; प्रशान्तवाहिता = प्रशान्त बहना; संस्कारात् = निरोध संस्कारसे (होता है)।

निरोध-संस्कारसे चित्तकी शान्त-प्रवाहवाली गति होती है।

व्याख्या — प्रशान्तवाहिता = निरोध-संस्कारके अभ्याससे जब निरोध-संस्कार प्रबल होता है, तब व्युत्थानके संस्कार सर्वथा दब जाते हैं और व्युत्थान-संस्कार रुप मलसे रहित जो निर्मल निरोध-संस्कारोंकी परम्परा प्रवृत्ति होती है, यही चित्तका प्रशान्त या एकरस बहना, चित्तकी प्रशान्तवाहिता स्थिति है।

निरोध संस्कारों के प्रभाव से योगी के चित्त की स्थिति पूर्णतः शान्त हो जाती है । अर्थात् उस अवस्था में सारे विक्षेपोंके समाप्त हो जाने के कारण योगी का चित्त शान्त एवं सहज गति के साथ प्रवाहमान रहता है।

भाष्यकार इस सूत्रका आशय यह बतलाते हैं कि निरोध-संस्कारोंके अभ्यासको दृढ़ करनेकी आवश्यकता है, जिससे चित्तकी प्रशान्तवाहिता स्थिति हो जाय; क्योंकि निरोधके संस्कार मन्द होते ही व्युत्थानके संस्कार उनको फिर से दबा लेते हैं। यहाँ यह बात भी

समझ लेनी चाहिये कि निरोध-समाधिके भङ्ग होने तक, जो चित्तमें उन्हीं संस्कारोंके दृढ़ और दुर्बल होते हुए प्रशान्त प्रवाहका बहना है, वह उसका अवस्था-परिणाम है।

सङ्गति — निरोध का परिणाम बताकर अब चित्तमें समाधि माने (सम्प्रज्ञात) का परिणाम बताते हैं।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ३.११ ॥

सर्वार्थता-एकाग्रतयो: = सर्वार्थता और एकाग्रताका; क्षय-उदयौ = क्षय और उदय होना; चित्तस्य समाधिपरिणाम: = चित्तका समाधि-अवस्थामें परिणाम है।

चित्त (धर्मी) के सर्वार्थता और एकाग्रतारूप धर्मोंका (क्रमसे) नाश होना और प्रकट होना चित्तका समाधि-अवस्थामें परिणाम है।

"समाधिपरिणामस्स्यात् द्वयोर्मानसधर्मयोः।

सर्वार्थताक्षयस्सम्यगेकाग्रत्वोदयस्तथा ॥ १३९ ॥ योगसूत्रसारः"

चित्त की योग से अतिरिक्त जो तीन भूमियाँ है, क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त उनका नाश और एकाग्र भूमि का निरन्तर बढ़ते हुए निरुद्ध अवस्था का उदय होना, चित्त के लिए समाधि का परिणाम है।

व्याख्या — सर्वार्थता= सब विषयोंकी ओर जाना। यह शब्द चित्तकी विक्षेप अवस्थाके लिये यहाँ आया है। विक्षेप अवस्थामें सत्त्वगुण प्रधान होता है पर रजोगुण बना रहता है और अपने कार्य करता रहता है। इस कारण चित्त सारे विषयोंकी ओर जाता है। यह अवस्था समाधिके आरम्भ-कालमें होती है।

एकाग्रता — समाधिकी अवस्था जिसमें चित्त सब विषयोंको त्यागकर एक विषयपर टिकता है अर्थात् एक ही आलम्बन (सहारा) होनेपर सजातीय प्रवाहमें परिणत होना चित्तकी एकाग्रता कहलाती है।

विक्षिप्तता और एकाग्रता दोनों चित्तके धर्म हैं, चित्त-धर्मी दोनोंमें अनुगत है। जब विक्षिप्तताका धर्म दबता है और एकाग्रताका धर्म प्रकट होता है, तब इस प्रकार दोनों धर्मोंमें अनुगत-धर्मी चित्तमें समाधि-परिणाम अर्थात् सम्प्रज्ञात- समाधि-कालमें होनेवाला चित्तका परिणाम है। चित्तका यह एकाग्रताका आकार धारण करना चित्तमें धर्म-परिणाम है। एकाग्रता जो चित्तकी सर्वार्थता (विक्षिप्तता) में अनागत रुपसे छिपी हुई थी अब वर्तमान रुपमें आ गयी। यह एकाग्रतारूप चित्त-धर्मीका वर्तमान लक्षण-परिणाम है।

समाधि-परिणाम और निरोध-परिणाममें भेद

निरोध-परिणामसे समाधि-परिणाममें यह भेद है कि निरोध-परिणाममें व्युत्थान- (एकाग्रता) के संस्कारोंका अभिभव और निरोध-संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है और समाधि-परिणाममें संस्कारजनक जो व्युत्थान अर्थात् सर्वार्थतारूप चित्तका विक्षेप है उसका क्षय और एकाग्रतारूप धर्मका उदय होता है अर्थात् प्रथम सम्प्रज्ञातमें व्युत्थानका क्षय और एकाग्रताका उदय किया जाता है फिर असम्प्रज्ञातमें निरोध-संस्कारोंके प्रादुर्भावसे व्युत्थान (एकाग्रता) के संस्कारोंका भी तिरोभाव (दबना) होता है। अभ्यास करते-करते विक्षेपोंके समाप्त हो जानेपर एकाग्रता जब स्थिर हो जाती है तब उसे समाधि कहते हैं।

सङ्गति — अब उत्तरकालीन तीसरा एकाग्रता-परिणाम बतलाते हैं। समाधि-अवस्थामें जब विक्षिप्तता बिलकुल दब जाती है, तब चित्तकी समाहित अवस्थामें एकाग्रता-परिणाम का निरूपण करते हैं। —

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ ३.१२ ॥

ततः पुनः= तब फिर; शान्त-उदितौ= शान्त और उदय हुई; तुल्यप्रत्ययौ= समान वृत्तियाँ; चितस्य-एकाग्रतापरिणाम: = चित्तका एकाग्र परिणाम है।

तब फिर समान वृत्तियोंका शान्त और उदय होना चित्तका एकाग्रता-परिणाम है।

"शान्तोदितौ पुनर्धर्मौ समानप्रत्ययौ यदा ।

ज्ञेय एकाग्रतारूपः परिणामश्चित्तधर्मिणः ॥ १४० ॥ योगसूत्रसारः"

क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयं व्युत्थानम्। तत्र क्षिप्तं रजोगुणोद्रेकादस्थिरं, मूढं तमोगुमोद्रेकवत्, विक्षिप्तं सत्त्वोद्रेकाद्रजोविशिष्टं दुःखसाधनं परिहृत्य सुखसाधनेष्वेव शब्दादिषु प्रवृत्तं चित्तम्। व्युत्थानसंस्कारभिभवो नाम क्षिप्तादित्रयस्य दाहः। निरोधसंस्कारसमुद्भवो नाम प्रकटतया वर्तमानाध्वनि समवस्थितिः। निरोधकालीनः परिणामश्चितं स्थिरं करोतीति सम्पादनीयो भवति। अयं निरोधपरिणामः। चित्तस्य सर्वर्थताया क्षयः, एकाग्रतायाः उदयश्च समाधिपरिणाम। तत्र द्वावतीतोत्पद्यमानौ सदृशप्रत्ययौ 'एकाग्रतपरिणामो' भवति। सजातीयप्रत्यस्यैकैकस्य नाशे सति प्रत्ययान्तरं सजातीयं चोत्पद्यते।

व्याख्या — समाहित चित्तकी वृत्तिविशेष ही एक प्रत्यय कहलाती है। यह अतीत (भूत) मार्गमें प्रविष्ट हुई शान्त और वर्तमान मार्गमें बर्तती हुई उदित कहलाती है।

यह दोनों ही चित्तके समाहित होनेके कारण, तुल्य अर्थात् एक विषयको ही आलम्बन करनेसे सदृश-प्रत्यय हैं। इन दोनोंमें समाहित चित्तका अन्वयी (अनुगत) भावसे रहना एकाग्रता-परिणाम कहलाता है। अर्थात् समाधि-परिणामके अभ्यासबलसे जब चित्तका विक्षेप बिलकुल दब जाता है, तब वह समाहित हो जाता है। इस अवस्थामें भी चित्त बराबर बदलता रहता है; किंतु जिस प्रकार विक्षेपमें एक वस्तुको छोड़कर दूसरीको पकड़ता था, इस प्रकार समाहित अवस्थामें नहीं होता। इसमें जिस वस्तुको पकड़ता है उसीमें लगा रहता है। चित्तके बदलनेके कारण वृत्तियाँ बदलती तो हैं पर जैसी वृत्ति दबती है वैसी ही उदय होती रहती है, जबतक समाधि भङ्ग न हो जाय। यह धर्मी चित्तका एकाग्रता-परिणाम है।

समाधिके भङ्ग होनेतक एकाग्रता प्रबल होती रहती है, उसके पश्चात् दुर्बल होती जाती है। यह उसकी अवस्थाका बदलना अवस्था-परिणाम है।

चित्त के समाधि परिणाम के बाद एक वस्तु या ध्येय विषयक पूर्व ज्ञान शान्त होकर पुनः उसीके समान ज्ञान का उदय होना चित्त का एकाग्रता परिणाम कहलाता है । इसमें ध्येय का ज्ञान बीच-बीच में खंडित होने पर भी अखंडित सा अनुभवमें आता है।

सावधानी — सम्प्रज्ञात-समाधिकी प्राप्तिसे ही योगी अपने-आपको कृतकृत्य न मान बैठे, किंतु व्युत्थानके विक्षेपकी निवृत्तिके लिये असम्प्रज्ञात-समाधिका अनुष्ठान करना चाहिये।

सङ्गति — अब वैराग्यकी अग्नि की वृद्धि के लिये जैसे चित्त परिणामी है (बदलता रहता है) वैसे ही वस्तु मात्र बदलती रहती है, यह समझाने के लिये प्रसङ्गसे चित्तके सदृश ही अन्यत्र भी भूत और इन्द्रियोंके परिणाम बताते हैं।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ ३.१३ ॥

एतेन = इससे ही (चित्तके परिणामसे ही); भूत-इन्द्रियेषु = भूत और इन्द्रियोंमें; धर्म-लक्षण-अवस्था-परिणामाः-व्याख्याताः = धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम, अवस्था-परिणाम व्याख्यान किये हुए जानने चाहिये।

चित्तके परिणामसे ही भूतों और इन्द्रियोंमें धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम व्याख्या किये गये जानने चाहिये।

"व्याख्यातास्तु अनेनैव धर्मा भूतेन्द्रियेषु च।

एकधर्मपरित्यागे प्राप्तिर्धर्मान्तरस्य च।

प्रथमः परिणामस्स्यात् धर्मिणो स्थूलरूपिणः ॥ १४१ ॥ योगसूत्रसारः"

व्याख्या — जिस प्रकार चित्तके धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम होते हैं, इसी प्रकार पाँचों भूतों और इन्द्रियोंमें समझना चाहिये। यद्यपि पूर्वके चार सूत्रोंमें धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामका नाम नहीं लिया गया है, तथापि उनमें चित्तके ये परिणाम दिखलाये गये हैं।

चित्तमें धर्म-परिणाम — नवें सूत्रमें निरोध-परिणाममें धर्म-परिणाम बतला आये हैं। धर्मी चित्तके दो धर्म हैं एक तो व्युत्थान-संस्कार और दूसरा निरोध- संस्कार, इन दोनों में से व्युत्थान-संस्कारका दबना और निरोध-संस्कारका प्रकट होना धर्मी-चित्तका धर्म-परिणाम है, इसी प्रकार ग्यारहवें सूत्रमें समाधि-परिणाम में धर्मी-चित्तके सर्वार्थता धर्मके दबने और एकाग्रता धर्मके प्रकट होनेमें धर्मी- चित्तका धर्म-परिणाम है।

भूतोंमें धर्म-परिणाम — पृथ्वीका उदाहरण — मृत्तिकारूप धर्मीका पिण्डरूप धर्मको छोड़कर घटरूप धर्मको स्वीकार करना उसका धर्म-परिणाम है।

इन्द्रियोंमें धर्म-परिणाम — नेत्रेन्द्रियका उदाहरण — धर्मी नेत्रका अपने धर्म नील, पीत, रूपादि विषयोंमेंसे एक रूपको छोड़कर दूसरे रूपका आलोचन या ज्ञान होना धर्म-परिणाम है।

लक्षण-परिणाम — काल-परिणामको लक्षण-परिणाम कहते हैं। वह तीन भेदवाला है, अनागत (भविष्य), उदित (वर्तमान), अतीत (भूत)। प्रत्येक धर्म इन तीन लक्षणोंसे युक्त होता है।

अवस्था-परिणाम — एक धर्मके अनागत लक्षणसे वर्तमान लक्षणमें प्रकट होनेतक उसकी अवस्थाको दृढ़ करनेमें और इसी प्रकार वर्तमान लक्षणसे अतीत लक्षणमें जानेतक उसकी अवस्थाको दुर्बल करनेमें जो प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है, वह अवस्था-परिणाम है। धर्मीका विकार ही धर्म नामसे कहा जाता है। जैसे सुवर्णका कोई आभूषण तोड़कर अन्य प्रकारका आभूषण बनानेसे भूषणका आकार अन्यथा होता है, सुवर्णका स्वरूप नहीं बदलता, ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इसी प्रकार चित्त आदि धर्मियोंका स्वरूप नहीं बदलता, उनके निरोध आदि धर्मोंके भाव बदलते रहते हैं।

यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि सांख्य तथा योगमें धर्मी माने उपादान कारण और धर्म माने उसका विकार या कार्य है, वैशेषिकवालोंके गुणके अर्थमें नहीं है।

"एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।

घोरेऽस्मिन् भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ १.५० ॥ मनुस्मृतिः"

इस प्रकार जीवन की स्थितियों का वर्णन किया गया है, जो ब्रह्मा से शुरू होती हैं और उन्हींके जीवनकाल के पूर्ण होनेपर समाप्त होती हैं, जो सृजित प्राणियों के जन्म और मृत्यु के इस भयानक और लगातार उतार-चढ़ाव वाले चक्र में होती रहतीं हैं।

"मानुष्ये कदलीस्तम्भे निस्सारे सारमार्गणम् ।

यः करोति स सम्मूढो जलबुद्बुद्सन्निभे ॥याज्ञवल्क्यस्मृतिः" ।। ३.८ ।।

मानव जीवन में एक उद्देश्य या अर्थ की खोज नहीं करनी चाहिए जो केले के पौधे के तने की तरह सूखा (शक्ति या जीवनशून्य तथा सार से रहित) हो और पानी के बुलबुले के रूप में क्षणिक हो।

"नासद्-रूपा न सद्-रूपा माया नैवोभयात्मिका ।

सद्-असद्भ्याम् अनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥ {सौरपुराण ११.२८}"

आदित्यपुराण में कहा है कि — यह अलिंग या प्रकृति हमेशां के लिए एकसमान तरीके से रहती नहीं है, परन्तु सर्गकाल प्राप्त होने से वह अन्यरूप में परिणाम पाती है। इसलिए पहले के धर्म को छोडती है तथा अन्यधर्म का ग्रहण करती है। ऐसा होने से वह प्रकृति सत् नहीं कही जाती। क्योंकि जो वस्तु तीनों काल में एकसमान रूप से विद्यमान रहे वही सत् है। वैसे ही यह प्रकृति शशशृंग की तरह असत् भी नहीं है। इसलिए असत् कहा जाये वैसा भी नहीं है। ऐसा होने से यह प्रकति (और उसके कार्यरूप संपर्ण जगत) को सत्-असत् से अनिर्वचनीय कहा जाता है।

"यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ – छान्दोग्योपनिषत् ६-१-४"

"हे सौम्य ! हे मेरे प्रिय, जैसे, मिट्टी के एक ढेले से वह सब जाना जाता है जो मिट्टी का बना होता है, संशोधन, विश्लेषण, रूपान्तरण, विकार केवल एक नाम होता है, जो वाणी से उत्पन्न होता है, जबकि सच्चाई यह है कि सब मिट्टी है; "जैसे, मेरे प्रिय, एक के द्वारा सोने की डलीसे, जो भी सोने का बना हुआ है, वह सब जाना जाता है, संशोधन तो नाम मात्र है, जो वाणी से उत्पन्न होता है, जबकि सत्य यह है कि सब सोना है; "और जैसे, मेरे प्रिय, एक जोड़ी कील-कैंची से वह सब जाना जाता है जो लोहे का बना होता है, संशोधन केवल एक नाम होता है, जो वाणी से उत्पन्न होता है, जबकि सच्चाई यह है कि सब कुछ लोहा है ।"

उपनिषद ने जिसे विकार कहा है उसीको योगशास्त्रमें परिणाम कहते हैं। सत्वादि गुणोंकी वृत्तियाँ हमेशां ही परिणामिनी होतीं हैं अर्थात् एक क्षण भी बदले बिना नहीं रहतीं।

"यस्य यत्कारणं प्रोक्तं तस्य साक्षान्महेश्वरः ।

अधिष्ठानतया स्थित्वा सदैवोपकरोति हि ॥ २.१२॥ पाराशरोपपुराणम्"

अधिष्ठानरूपसे परमात्मा कारण है। "जैसे कि तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार इसी 'आत्मतत्त्व' से आकाश उत्पन्न हुआ; तथा आकाश से वायु; वायु से अग्नि; तथा अग्नि से जलों की उत्पत्ति हुई; जलों से पृथ्वी की, पृथ्वी से औषधियों की, एवं औषधियों से अन्न और अन्न से मनुष्य की उत्पत्ति हुई। वास्तव में यह मनुष्य, यह मानव सत्ता अन्न के रस से, उसके तत्त्व से ही निर्मित है।"

"यस्य यत्कारणं प्रोक्तं तस्य माया जडात्मिका।

परिणामितया विप्र सदैवोपकरोति हि ॥ २.१३॥ पाराशरोपपुराणम्"

और तन्मात्राओं की परम्परा से प्रकृति कारण है। पुण्य-पाप, और वासना की दृष्टि से काल कारण है।

सङ्गति — अब यह धर्मी कौन है ? ऊपर बतलाये हुए तीनों परिणाम जिसके धर्म हैं, उस धर्मीका स्वरूप निरूपण करते हैं।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ ३.१४ ॥

शान्त = अतीत। उदित = वर्तमान। अव्यपदेश्य = भविष्यत्। धर्मानुपाती = धर्ममें रहनेवाला। धर्मी = धर्मी है।

(उन परिणामोंके) अतीत, वर्तमान और भविष्यत् धर्मोंमें अनुगत (धर्मोंमें रहनेवाला) धर्मी कहलाता है।

"धर्माणाञ्चाप्यतीतादिकालभेदेन भिन्नता।

लक्षणाख्यो द्वितीयस्स्यात् परिणामो हि तत्त्वतः ॥ १४२ ॥ योगसूत्रसारः"

किसी भी पदार्थ के अतीत, वर्तमान व भविष्यत् धर्मों में (परिणामों में, परिवतनोंमें, बदलाहटोंमें) जो एक तत्त्व सदा विद्यमान रहता है वह (मूल उपादान) धर्मी कहलाता है।

व्याख्या — इस सूत्रसे पहिलेके सूत्रमें उदाहरण देकर बतला चुके हैं कि मिट्टी-द्रव्य धर्मी है और मिट्टीके गोले, बर्तन और बर्तनके टुकड़े आदि भिन्न-भिन्न आकार जो हो चुके हैं और जो होंगे, वे उसके धर्म हैं। अर्थात् धर्म धर्मीके विशेष रूप आकार हैं, और धर्मी सामान्यरूप द्रव्य है जो सारे आकारोंमें अनुगत है। द्रव्यके दो रूप हैं एक सामान्य और दूसरा विशेष। विशेष धर्म है और सामान्य धर्मी है। विशेष भी अपने अगले विशेष के प्रति धर्मी बन जाता है।

शान्त — इसमें शान्त वे धर्म हैं जो अपना-अपना व्यापार करके अतीत (भूत) मार्ग (काल) में चले गये। जैसे बर्तन (घट) टूटकर मिट्टीमें मिलनेपर वर्तमान धर्मसे अतीत धर्ममें चला गया।

उदित — उदित वे धर्म हैं जो अनागत मार्ग (काल) को त्यागकर वर्तमान मार्ग (काल) में अपना व्यापार कर रहे हैं। जैसे (घट) बर्तन के आकार, मिट्टीके धर्म, जो उसमें छिपे हुए थे, अब उसको छोड़कर वर्तमान धर्ममें आ गये।

अव्यपदेश्य — जो अनागत या भविष्यत् में शक्तिरुपसे रह रहे हैं और जिनका निर्देश नहीं किया जा सकता है अर्थात् जो शक्तिरुपसे स्थित हुए व्यवहारमें न लाये जा सकें और बतलानेमें न आ सकें। जैसे घट (बर्तन) के आकार मिट्टी धर्मीमें प्रकट होनेसे पहले छिपे रहते हैं, जो वर्णनमें नहीं आ सकते।

इस उपादान कारणरुप धर्मीमें उसके कार्य अव्यपदेश्य (अनागत) धर्म शक्तिमात्र अव्यक्त रुपसे छिपे रहते हैं। उनको अव्यपदेश्य (अनागत) से उदित (वर्त्तमान) धर्ममें व्यक्तरुपसे प्रकट करने और फिर उदित धर्मसे शान्त (अतीत) धर्ममें अव्यक्तरुपसे छिपानेमें चेतन पुरुष (ईश्वर तथा जीव) देश, काल और संयोग विशेषादि निमित्त कारण होते हैं। अपने-अपने निमित्तोंके मिलनेसे धर्मीके धर्म प्रकट होते हैं। जैसे बच्चा जवान हो जाता है और जवान बूढ़ा हो जाता है।

"जगच्छक्तिस्तथा विष्णोः प्रधानपुरुषात्मकम् ।

यथा च पादपो मूल-स्कन्धशाखादिसंयुतः ॥ २३.३२॥ ब्रह्मपुराण

जगत को उत्पन्न करनेवाली भगवान विष्णुकी शक्ति प्रधानपुरुषात्मक है। (जड़ चेतनात्मक है।) जिस प्रकार आदि बीज से ही मूल (जड़) स्कन्ध (तना) और शाखा आदि के सहित वृक्ष उत्पन्न होता है। बीज के अन्तर में ही इतना सब कुछ होने के बावजूद भी साथ ही में अन्य बीज को उत्पन्न करनेकी शक्ति भी साथ में लिए हुए वह बीज होता है।

आद्यबीजात्प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः ।

प्रभवन्ति ततस्तेभ्यो भवन्त्यन्ये परे द्रुमाः ॥ २३.३३॥ ब्रह्मपुराण

जो उस आद्यबीज से अन्यबीज उत्पन्न होते हैं, और फिर उनसे अन्य वृक्ष उत्पन्न होते रहते हैं।

तेऽपि तल्लक्षणद्रव्य-कारणानुगता द्विजाः ।

एवमव्याकृतात्पूर्वं जायन्ते महदादयः ॥ २३.३४॥

सम्भवन्ति सुरास्तेभ्यस्तेभ्यश्चाखिलजन्तवः। (ब्रह्मपुराण)

वे भी उसी बीज के लक्षण, द्रव्य और कारणों से युक्त होते हैं। इसी प्रकार अव्यक्त से महदादि भूतोंकी उत्पत्ति होती है। और उस महत् से सुर तथा सुरोंसे अखिल प्राणी उत्पन्न होते हैं।

विशेषान्तास्ततस्तेभ्यः सम्भवन्त्यसुरादयः ।

तेभ्यश्च पुत्रास्तेषां च पुत्राणामपरे सुताः ॥ २.७.३४ ॥ विष्णुपुराणम्

फिर उन सबों से असुर आदि उत्पन्न होते हैं। फिर उन सबों से उनके पुत्र और उन पुत्रों के भी पुत्र उत्पन्न होते हैं।

बीजाद्वृक्षप्ररोहेण यथा नापचयस्तरोः ।

भूतानां भूतसर्गेण नैवास्त्यपचयस्तथा ॥ २.७.३५ ॥ विष्णुपुराणम्

जैसे वृक्ष से बीज उत्पन्न हुआ और उस बीज के वपन से अन्य वृक्ष की उत्पत्ति होनेपर उस बीज के पिता को कोई क्षति नही होती। जब कि वह बीज उस वृक्ष का आत्मस्वरूप होता है। उसी प्रकार जीवों से जीवों की सृष्टि द्वारा उनका कोई ह्रास नहीं होता। उस वृक्षरूप परमात्मा के आत्मरुप समस्त भूत हैं, उन भूतों से नाना प्रकार के सर्गरूप नाना प्रकार की आत्माओंकी सृष्टि होती है तो भी उस परम आत्मा में कोई क्षति या विकार नही होता।

यदि सर्वत्र सर्वजातीय वस्तुओंके जननकी शक्ति न मानी जाय तब एक ही ब्रह्मा या कश्यप से अखिल देव, दानव, नर, पशु, पक्षी आदि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं — अगस्त्यके जठर (जाठराग्नि) से समुद्रका शोषण कैसे हो सकता है ? ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और पार्वतीके शरीर आदिमें विश्वका दर्शन कैसे हो सकता है ! योगियोंके अपने शरीर और मनसे अनन्त विभूति कैसे उत्पन्न हो सकती है ? बहुत कहनेसे क्या लाभ —

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

ये तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।

जिसके द्वारा तुम भूतमात्र को अपने आत्मस्वरुप में तथा मुझमें भी देखोगे।

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।६.२९।। श्रीमद् भगवद्गीता"

अब योगका फल जो कि समस्त संसारका विच्छेद करा देनेवाला ब्रह्मके साथ एकताका देखना है वह दिखलाया जाता है समाहित अन्तःकरणसे युक्त और सब जगह समदृष्टिवाला योगी जिसका ब्रह्म और आत्माकी एकताको विषय करनेवाला ज्ञान ब्रह्मासे लेकर

स्थावरपर्यन्त समस्त विभक्त प्राणियोंमें भेदभावसे रहित सम हो चुका है ऐसा पुरुष अपने आत्माको सब भूतोंमें स्थित (देखता है) और आत्मामें सब भूतोंको देखता है। अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंको आत्मामें एकताको प्राप्त हुए देखता है। अर्थात् सब जगह अपने स्वरूपको देखनेवाला और ध्यानयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला योगी अपने स्वरूपको सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने स्वरूपमें देखता है।

इत्यादि वाक्योंसे सर्व प्राणियोंके शरीरोंमें सर्वजातीय वस्तुकी सत्ताका वचन शक्तिरूपताके बिना आसानीसे ठीक-ठीक उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्जुन आदि ने शक्तिरूपसे अवस्थित भावी भीष्मवध आदिको ही कलात्मक कृष्णके शरीरमें दिव्य चक्षुसे देखा था, जैसे कि योगी भूत और भविष्यको देखता है।

इससे 'तदात्मानमेवावेत् । अहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत्सर्वमभवत् ।' 'स इदं सर्वं भवति' ॥ बृहदारण्यक उपनिषद् १,४.१०॥ यह स्वयं को केवल "मैं ब्रह्म हूँ" के रुप में जानता था। इसलिए यह सब हो गया। और देवताओं में से जिसे भी यह ज्ञान प्राप्त हुआ, वह भी वह ब्रह्म हो गया। द्रष्टाओं (ऋषियों) के साथ भी ऐसा ही है, पुरुषों के साथ भी ऐसा ही है। द्रष्टा वामदेव ने इस आत्म को उस रुप में महसूस किया, यह जान लिया: "मैं मनु और सूर्य था।" और आज तक, जो कोई भी स्वयं को "मैं ब्रह्म हूँ" के रुप में जानता है, वह यह सारा ब्रह्मांड बन जाता है। देवता भी उसे ऐसा बनने से नहीं रोक सकते, {आत्मा ह्येषा स भवति} क्योंकि वह उनका स्व (आत्मा ही) हो गया है।

"अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः॥"

अब, अगर कोई आदमी दूसरे देवता की पूजा करता है, यह सोचकर: "वह एक है और मैं दूसरा हूं," वह नहीं जानता। वह देवताओं के लिए पशु के समान है। जैसे पशु मनुष्य की सेवा करते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य देवताओं की सेवा करता है। यदि एक पशु भी ले लिया जाए, तो वह स्वामी को पीड़ा देता है; कितनी अधिक पीड़ा होगी जब बहुतसे पशुओंको को ले जाया जाता है! इसलिए देवताओं को यह अच्छा नहीं लगता कि पुरुषों को यह ब्रह्म जानना चाहिए। इत्यादि श्रुति से ब्रह्मवित् की सर्वभावरूपा श्रुत्युक्त सिद्धि भी उपपन्न हो जाती है।

लौकिक लोगोंने भी कहा है — विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया

"रघुवंशम्" ८. ४६

ईश्वर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष बन जाता है।

देश, काल और आकृतिके भेदसे परिणाम में भिन्नता होती है। जैसे काश्मीरमें ही केशर पैदा होती है और वर्षाऋतु में ही चावल पैदा होते हैं, किसी मृगी से मनुष्यका जन्म नहीं होता अपितु मनुष्यसे ही मनुष्यका आकार प्रकट होता है। अन्यथा जल,भूमि, रूप उपादानकारण तो सर्वशक्तिरूप होनेसे सबकुछ सर्वदा सबमें उत्पन्न होने लग जाता। इसी प्रकार अपुण्यवान् सुख नहीं भोगता क्योंकि उसमें पुण्यके निमित्त का अभाव है। जो सबमें अनुगत है वह सामान्यविशेषात्मा है और वही धर्मी कहलाता है, सामान्य धर्मिरूप है और विशेष उसके धर्म होते हैं। यदि धर्मी ही न होता तो अन्य कृत विज्ञानका अन्य ही भोक्ता होता और स्मरणका तथा प्रत्यभिज्ञा का भी उच्छेद हो जाता। परिणामी होनेसे गुणोंके धर्म हमेशा बदलते रहते हैं उनमें कभी भी स्थिरता नहीं होती। परमार्थ में तो (सचमुच में तो) अलिङ्गप्रधान ही धर्मी है , यही बात अगले सूत्रके भाष्यसे भी ध्वनित होती है।

नित्य वर्तमान होनेसे धर्मी धर्मोंसे अन्य है, यह भाव है। क्योंकि सारे धर्म धर्मीमें वर्तमान रहते हैं परन्तु अव्यक्तावस्था में होते हैं।

सङ्गति — एक ही धर्मीके अनेक परिणाम (धर्म) किस प्रकार हो सकते हैं ? इस शङ्का के निवारणार्थ अगला सूत्र है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ ३.१५ ॥

क्रम-अन्यत्वम् = क्रमका भेद; परिणाम-अन्यत्वे = परिणामके भेदमें; हेतु: = हेतु है।

क्रमोंका भेद परिणामके भेदमें हेतु है।

"गवादेर्बाल्यकौमारं यौवनं वार्धकं तथा ।

अवस्थाख्यस्तृतीयस्स्यात् परिणामस्स चान्तिमः ॥ १४३ ॥ योगसूत्रसारः"

एकस्य धर्मिणः पूर्वधर्म निवृत्तौ धर्मान्तरप्राप्तिर्धर्मपरिणामः। यथा मृदः पिण्डभावत्यागेन घटभावः। वर्तमानावस्थाया अतीतावस्थाप्राप्तिरूपः कालभेदेन भेदसम्पादको लक्षणपरिणामः। प्राचीनत्वार्वाचीनत्वादिभेदरुपः अवस्थापपरिणामः।

एक परिणाम का किसी अन्य परिणाम के पश्चात् होना "क्रम" है। क्रम का भिन्न होना परिणाम के भिन्न भिन्न होने में कारण है।

व्याख्या — एक क्रमसे एक परिणाम होता है। एक धर्ममें अनेक प्रकारके क्रम होते हैं। जितने प्रकारके क्रम होते हैं उतने ही उनके परिणाम होते हैं। पिछले उदाहरणके अनुसार मिट्टीके चूर्णसे पिण्ड, पिण्डसे बर्तन बनना, बर्तन टूटकर कपाल होना, कपालसे ठीकरे होना, ठीकरेसे चूर्ण। यह सब क्रम है। इन्हीं क्रमोंके भेदसे इनके परिणाम-भेद होते हैं। जो जिस धर्मके पीछे होता है वह उसका क्रम है। जैसे पिण्ड नष्ट होकर बर्तनका उत्पन्न होना। इस प्रकारके क्रमसे धर्म-परिणाम होता है। इसी प्रकार लक्षण-परिणाम भी क्रमसे होता है, जैसे बर्तनके अनागत भावका वर्तमान मार्ग (भाव) में आना एक क्रम है। इससे वर्तमान लक्षण-परिणाम होता है। पिण्डके वर्तमान भावसे अतीत भावमें जाना भी एक क्रम है। इससे अतीत लक्षण-परिणाम होता है। अतीतका वर्तमानमें कोई क्रम नहीं होता। जैसा कि पूर्व सूत्रमें बतला चुके हैं, इसी प्रकार बर्तनके पकनेसे लेकर चूर्ण होनेतक भी जो क्रम प्रतिक्षण होता रहता है उससे अवस्था-परिणाम होता रहता है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि धर्म और लक्षण-परिणाम तो कभी-कभी होते हैं पर अवस्था-परिणाम प्रतिक्षण सूक्ष्मरूपसे होता रहता है और स्थूल भावको प्राप्त होकर प्रकट होता है। इसी परिणामके कारण जो चावल आदि सुरक्षित बुखारियोंमें रखे गये हैं, बहुत वर्षोंके पश्चात् ऐसी दशा में हो जाते हैं कि हाथ लगानेसे चूर्ण हो जाते हैं। ऐसी दशा उनकी अकस्मात् नहीं हुई, किंतु क्षण-क्षणमें क्रम-क्रमसे होती रही है। इसलिए अवस्था-परिणामोंके क्रम यद्यपि प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आते तथापि अनुमानसे जाने जाते हैं।

जिस प्रकार बाह्य पदार्थोंके अनेक धर्म-परिणाम हैं, इसी प्रकार चित्तमें भी अनेक प्रकारके धर्म-परिणाम हैं। चित्तके धर्म दो प्रकारके हैं — एक परिदृष्ट अर्थात् अपरोक्ष (प्रत्यक्षरुप), दूसरा अपरिदृष्ट अर्थात् परोक्ष (अप्रत्यक्षरूप) । प्रमाणादि (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, राग, द्वेषादि) चित्तकी वृत्तियाँ प्रत्यक्षरुप हैं; और निरोधादि चित्तके धर्म परोक्ष (अप्रत्यक्ष) रूप हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्षसे नहीं जाने जाते, शास्त्र अथवा अनुमानद्वारा ही उनका ज्ञान होता है। वे अपरिदृष्ट सात हैं, जैसा श्रीभगवान् व्यासजीने निम्न श्लोकमें बतलाया है —

निरोध-धर्म-संस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।

चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥

निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति, चित्तके दर्शनवर्जित (परोक्ष) धर्म हैं अर्थात् अप्रत्यक्षरूप हैं।

(१) निरोध— असम्प्रज्ञात-समाधिकी अवस्थामें सब वृत्तियोंका निरोध, 'संस्कारशेष' आगमगम्य है अर्थात् केवल योगशास्त्रसे जाना जाता है, और अनुमानगम्य है; क्योंकि सर्व वृत्तियोंके अभावसे अनुमान किया जाता है।

(२) धर्म— चित्तके धर्म पुण्य-पाप केवल सुखदर्शन और दुःखदर्शन आदिसे अनुमेय और आगमगम्य हैं।

(३) संस्कार— अर्थात् वासना, चित्तका संस्काररूप धर्म स्मृतिद्वारा अनुमान किये जानेके कारण अनुमेय है।

(४) परिणाम — चित्तका क्षण-क्षणमें होनेवाला परिणाम अतिसूक्ष्म होनेके कारण अनुमेय है।

(५) जीवन— चित्तका जीवनरुप धर्म श्वास-प्रश्वासद्वारा अनुमेय है।

(६) चेष्टा — चित्तकी चेष्टा (क्रिया) इन्द्रियों तथा शरीरके अङ्गोंकी चेष्टासे अनुमेय है। क्योंकि इनकी चेष्टा, बिना चित्तके संयोगके नहीं हो सकती और संयोग बिना चित्तकी चेष्टाके नहीं हो सकता।

(७) शक्ति— चित्तमें जो ध्यानादि का सामर्थ्य है, वह शक्ति है। चित्तमें जो कार्योंकी सूक्ष्मावस्थारुप शक्ति है वह भी स्थूलकार्यके ज्ञानसे अनुमेय है अर्थात् स्थूल राग-द्वेषादिको देखकर सूक्ष्म राग-द्वेषादि का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त सातों चित्तके धर्म अप्रत्यक्षरुप हैं।

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।

घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ।। १.५० ।। मनुस्मृतिः"

घोरेऽस्मिन्हन्त संसारे नित्यं सततघातिनि।

संसार नित्य परिवर्तनशील है अतः इसकी सच्चाई में आस्था नहीं करनी चाहिये।

इस प्रकार जीवन की स्थितियों का वर्णन किया गया है, जो ब्रह्मा से प्रारम्भ होती हैं और उन्हींके जीवनकाल के पूर्ण होनेपर समाप्त होती हैं, जो सृजित प्राणियों के जन्म और मृत्यु के इस भयानक और लगातार उतार-चढ़ाव वाले चक्र में होती रहतीं हैं।

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।

कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते || ११.२२.४३|| श्रीमद्भागवतपुराणम्

मेरे प्यारे उद्धव! भौतिक शरीर लगातार समय के बल से निर्माण और विनाश के दौर से गुजर रहे हैं, उस कालकी तीव्रता अगोचर है। लेकिन समय की सूक्ष्म प्रकृति के कारण इसे कोई नहीं देखता।

"नित्यं नैमित्तिकञ्चैव प्राकृतात्यन्तिकौ तथा ।
चतुर्धायं पुराणेऽस्मिन् प्रोच्यते प्रतिसञ्चरः ॥ कूर्मपुराणं"

प्रलय चार प्रकार की होती है। पहला नित्यप्रलय है। यह विनाश पृथ्वी पर उत्पन्न सभी चेतन और निर्जीव वस्तुओं के लिए सुषुप्ति के रुपमें प्रतिदिन हो रहा है, इसमें स्वप्न और जादूके खेल दृष्टान्त हैं। दूसरा है नैमित्तिकप्रलय एक कल्प के अंत में या ब्रह्माजीके एक दिन या एक हजार चतुर्युग के समाप्त होने पर होता है। एक हजार चतुर्युग (चार युग) के अंत में जब ब्रह्माजी सो जाते हैं तब महान जलप्रलय होता है, तीसरा है प्राकृतप्रलय, यह प्रलय जब ब्रह्माजी की आयु पूरी हो जाती है तब ब्रह्मप्रलय होता है। चौथा है

आत्यन्तिक प्रलय, यह परमात्मा के साथ जब आत्मा का मिलन होता है तब आत्यन्तिक प्रलय होता है। इसीको पुराणोंमें (प्रतिसञ्चरः) प्रतिसर्ग कहा गया है।

बृहदारण्यकोपनिषद में भी कहा कि —

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति।॥२.५.१९॥

भगवान (इन्द्र), अपनी माया के माध्यम से, कई गुना प्रकट होते हैं, क्योंकि उनके लिए दस घोड़े हैं, नहीं-नहीं, सैकड़ों हैं। इन्द्रदेव विभिन्न शक्तियों द्वारा अनेक रूप बनाकर यजमान के पास प्रकट होते हैं। इन्द्रदेव के रथ में उनकी अनेक शक्तियों के सहस्त्रों घोड़े जुते हैं। अर्थात् ईश्वर अनेकों रूपों में अवतरित होते हैं तथा उनके साथ उनकी सहस्त्रों शक्तियां भी विद्यमान होती हैं। जैसे कि विश्वात्मा श्रीकृष्णने सुदाम नामके ब्राह्मणका एक मुठ्ठी चिवड़ा खाकर सारे ब्रह्माण्डको तृप्त कर दिया।

बहुरूप इवाभाति मायया बहुरुपया।
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते।।२.९.२।। श्रीमद्भागवतपुराणम्

भगवान की बाह्य शक्ति द्वारा अर्पण किए गए अनेक रूपों में मायामय जीव प्रकट होता है। भौतिक प्रकृति के गुणों का आनंद लेते हुए, कैदमें बन्द जीव “मैं” और “मेरा” के संदर्भ में सोचते हुए गलत धारणायें बनाता रहता है।

प्रोच्यते प्रकृतिर्हेतुः प्रधानं कारणं परम्।

इत्येषा प्रकृतिः सर्वा व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।। २३३.३४ ।। ब्रह्मपुराणम्

प्रकृति ही प्रधान भी कहलाती है, क्योंकि यही सम्पूर्ण जगत् का प्रधान कारण है। यही व्यक्त तथा अव्यक्त स्वरूपिणी सम्पूर्ण प्रकृति है। व्यक्त स्वरुप प्रकृति अव्यक्त स्वरुपमें लीन हो जाती है।

प्रतिक्षणभङ्गुरायमान प्रपञ्चको बुद्धिमान लोग स्वप्न के समान ही समझते हैं, जैसा कि माण्डुक्य कारिका में कहा गया है —

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।

तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।। २-३१।।माण्डुक्य-कारिका

जिस प्रकार एक बुद्धिमान व्यक्ति एक जादूगर द्वारा बनाए गए शहर को देखता है और महसूस करता है कि यह असत्य है, वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति को सब कुछ सत्य के रूप में और बुद्धिमान व्यक्ति को असत्य के रूप में दिखाई देता है। इसी तरह वेदांत विशेषज्ञ भी जानते हैं कि ये सभी दृश्य असत्य हैं। साररूप तो उसका उपादान-कारण ही होता है।

यदि आप जाग्रत को स्वप्न तुल्य कहते हैं तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि स्वाप्निक पदार्थोंसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती, स्वप्नके लड्डू से भूँख नहीं मिटती। और वैसे ही जागरित अवस्थाके भोजनादि से स्वप्नमें तृप्ति नहीं होती। इसलिए उसी गौड़पाद – कारिका में कहा है कि

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।

तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ २-७ ॥माण्डुक्य-कारिका

जाग्रत अवस्था में सभी दृश्यों को प्राप्त करके स्वप्न अवस्था में उद्देश्य विपरीत दिशा में जाता है। इसलिये इन दोनों में अंतर है। यह दृष्टिकोण ऐसा है, जिसकी उत्पत्ति और लय की एक प्राकृतिक अवस्था है, को असत्य माना जाना चाहिए।

यही इनका मिथ्यात्व है कि भोगकालमें इनकी अस्थिरता है और ज्ञानोत्तर- कालमें इनकी असत्ता है। इसी अभिप्रायसे इन तीनोंको (धर्मक्रम, लक्षणक्रम और अवस्थाक्रम को) स्वप्न, मायामात्र, इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंमें स्वप्न-माया आदि कहकर प्रतिपादन किया है न कि आत्यन्तिक तुच्छत्व जनाने के लिये। ऐसी ही सूत्रकारकी गूढाभिसन्धि है।

सङ्गति — अब यहाँसे पादकी समाप्ति तक संयमका विषय और संयमकी विभूतियाँ दिखलायेंगे। उनमेंसे पहले तीनों परिणामोंमें संयम और उसकी सिद्धि बतलाते हैं।

परिणामत्रयसंयमाद् अतीतानागतज्ञानम् ॥ ३.१६॥

परिणाम-त्रय-संयमात् = तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे; अतीत-अनागत-ज्ञानम् = भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है।

तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है।

“त्रयो वै धर्मिणो धर्माः धर्मो धर्मिषु योग्यता।

व्यापारश्रितधर्मस्य त्रैविध्यं सूत्रकृन्मतम् ॥ १४४ ॥ योगसूत्रसारः”

तीनों परिणामों में तबतक संयम करना चाहिये जबतक समाधिप्रज्ञा का आलोक (प्रकाश) न हो जाय। उस संयम से वह विषय जैसा है, वैसा ही प्रत्यक्ष होने लगता है। सूक्ष्म, व्यवहित, अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट (दूर की चीज) अथवा जिसको भी उद्देश्य करके जानने की इच्छा से सूक्ष्मादि में संयम किया जायगा, वह विषय प्रकाशित होगा।

“अतीता वर्तमानश्च धर्माश्चानागतस्तथा ।

वर्तते तेषु सर्वेषु तद्भिन्नो धर्मवान् सदा ॥ १४५ ॥ योगसूत्रसारः”

क्योंकि चित्त शुद्धसत्त्व अर्थात् प्रकाशरुप है, उसमें सभी विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य है। यदि अविद्या आदि सभी विक्षेपों को हटा दिया जावे तो जब उन-उन उपायोंसे उन-उन विक्षेपों को हटा दिया जाता है तब चित्त एक निर्मल शीशे की भाँति स्वच्छ हो जाता है और एकाग्रताके बलसे जो कुछभी अनुत्पन्न है या अतीत हो चुका है वह सबकुछ साफ-साफ दिखने लगता है।

“क्रमो यो यस्य धर्मस्य समनन्तकतावहः ।

परिणामे क्रमो नित्यं नानात्वस्यास्ति कारणम् ॥ १४६ ॥

प्रकाश में (ज्ञान में) प्रतिबन्धीभूत माने रुकावट ड़ालने वाले रजोगुण एवं तमोगुण हैं। संयम के द्वारा जब इनको निवृत्त कर दिया जाता है, तब भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान हो जाता है।

परिणामत्रये योगी संयमाज्ज्ञानवान् भवेत्।

अतीतानागतस्यापि सर्वस्यैव हि वस्तुतः ॥ १४७ ॥ योगसूत्रसारः”

किसी भी पदार्थ के तीनों परिणाम (धर्म, लक्षण व अवस्था) में संयम अर्थात् (धारणा-ध्यान-समाधि) अथवा विक्षेपों को हटाकर जब निरोध, एकाग्रता और समाधिका एकसाथ प्रयोग किया जाता है तब उससे उस पदार्थ के भूत एवं भविष्यकाल की स्थितियों का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या — पिछले सूत्रमें बतलाया गया है कि क्रमोंसे परिणाम होते हैं इसलिये तीनों कालोंमें होनेवाले संसारके समस्त पदार्थ धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामके अन्तर्गत रहते हैं। इसलिये जब योगी किसी वस्तुके इन तीनों परिणामोंको लक्ष्यमें रखकर संयम करता है तो उसका इन तीनों परिणामोंके साक्षात् होनेसे उस वस्तुके सब क्रमोंका अर्थात् जिस-जिस अवस्थामें होकर वह वस्तु इस रुपमें पहुंची है और आगे जिस-जिस अवस्थामें पहुंचेगी, सब ज्ञान हो जाता है।

संयम यह एक पारिभाषिक शब्द है, ऐसा पहले बता चुके हैं। (त्रयमेकत्र संयमः॥ ३.४॥) तीनों (धारणा, ध्यान व समाधि) का एकत्र – एक ही विषय में सम्मिलित रूप से लगे रहने की स्थिति, संयम: – संयम कहलाती है। यहाँ पर धारणा, ध्यान व समाधि इन तीनों के मिश्रित (मिले हुए) रूप को संयम कहा है। आगे के सूत्रों में संयम शब्द का बार-बार प्रयोग किया जाएगा।

अब तक ज्ञानके साधन योगाङ्गों का विस्तारसे व्याख्यान किया गया। योग-कालीनावस्था तथा चित्तके परिणाम-रूप योग-निष्पत्ति आदि अवधारणाओं को दिखाया, अब इसके आगे योगके जिज्ञासुओंको विषयोंके साक्षात्कारके लिये यम-नियमादि साधनसे जो लोग सम्पन्न हैं, ऐसे योगियोंके लिये संयमके विषयमें बतलाते हैं। दोनों जगह पर (दृश्य और द्रष्टा में) संयम करनेसे जैसे-जैसे सिद्धि होती है, वह सब खोल-खोलकर पाद-समाप्ति-पर्यन्त बताया जायगा। यहाँ जिज्ञासुओंको विश्वास उत्पन्न कराने के लिये उन-उन विभूतियोंकी कामना रखने वालों के लिये उन-उन संयमोंका वर्णन किया गया है परन्तु मुमुक्षुओंके लिये तो पर-वैराग्यकी प्राप्तिके लिये केवल सत्त्व-पुरुषान्यता मात्रमें (अन्तःकरण और शुद्ध चैतन्य अलग-अलग हैं, केवल इसीमें) संयम करना चाहिये। ये विभूतियाँ संयम-सिद्धिकी सूचिका हैं ऐसा भी जानना चाहिये।

संगति — अब संयमसे साध्य दूसरी विभूति बतलाते हैं।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ ३.१७ ॥

शब्द-अर्थ-प्रत्ययानाम् = शब्द, अर्थ और ज्ञानके; इतर-इतर-अध्यासात् = परस्परके अध्याससे; सङ्करः = अभेद भासना होता है; तत्-प्रविभाग-संयमात् = उनके विभागमें संयम करनेसे; सर्वभूत = सब प्राणियोंके; रुत-ज्ञानम् = शब्दका (ध्वनि का) ज्ञान होता है।

शब्द, अर्थ और ज्ञानके परस्परके अध्याससे अभेद भासना होता है। उनके विभागमें संयम करनेसे सब प्राणियोंके शब्दका ज्ञान होता है।

"शब्दार्थप्रत्ययानां हि संकरोऽध्यासमूलकः ।

सर्वभूतरुतं ज्ञानं तद्विभागस्य संयमात् ॥ १४८ ॥ योगसूत्रसारः"

शब्द और उसके अर्थ तथा उसके ज्ञान का परस्पर या आपस में जुड़े होनेसे (संकरीकरण) होनेसे, उनका एक दूसरे के साथ संमिश्रण होनेसे, अध्यास अर्थात् आरोपको अर्थात् अन्यमें अन्य बुद्धि करनेको अध्यास कहते हैं। अर्थात् वो एक दूसरे के साथ मिलकर एक जैसे मालुम पड़ने लगते हैं। तब उनके अर्थात् शब्द, अर्थ व ज्ञानके अलग-अलग विभाग में संयम करनेसे अर्थात् (धारणा-ध्यान-समाधि) करने से सभी प्राणियों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है। इन शब्दोंका अर्थ और ज्ञानके साथ संकेतरूप (इस शब्दका यह अर्थ है ऐसा) अध्यास है। पर वस्तुतः शब्द, अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान) तीनों भिन्न हैं। जब उनके भेदमें योगी चित्तकी एकाग्रता करता है, तब उनका प्रत्यक्ष कर वानर, कौवे और सर्प आदिकी बोलीको जान लेता है कि इस अर्थको लेकर ये बोल रहे हैं। योगियोंमें विचित्र शक्ति होती

है। धारणा-ध्यान और समाधिकी बड़ी महिमा है। साधारण लोगोंको जो शब्द, अर्थ और ज्ञानका भेद प्रतीत होता है वह समाधिजन्य नहीं है, इससे वे नहीं जान सकते।

शब्द, अर्थ एवं ज्ञान का परस्पर जुड़ाव होने से वे एक दूसरे के साथ मिले हुए जैसे प्रतीत होते हैं तब उनके विभाग (अलग-अलग) में संयम करने से सभी प्राणियों के शब्दोंका (ध्वनियों का) अर्थ-ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या — शब्द-वाचक, जिसको जिह्वासे उच्चारण करते हैं और कानोंसे सुनते हैं जैसे 'गौ' शब्द जो वक्ताके वागिन्द्रिय में रहता है।

अर्थ — वाच्य, जो शब्दसे जाना जाता है, जैसे दूध देनेवाला, घास खानेवाला पशुविशेष 'गौ' । जो गोशाला या गोचर आदिमें रहता है।

प्रत्यय-ज्ञान अर्थात् विषयाकार चित्तकी वृत्ति जो शब्द-गौ और अर्थ-गौ दोनों को मिलाकर इनका ज्ञान करानेवाली है। जो श्रोताके मनमें रहता है।

ये तीनों अलग-अलग अपनी सत्ता रखते हैं और परस्पर भिन्न हैं। अर्थात् गौ शब्द वक्ताके वागिन्द्रियमें रहता है, गौ अर्थ गोशालामें या गोचरमें रहता है और गौ-ज्ञान श्रोताके मनमें रहता है। पर निरन्तर अभ्यासके कारण तीनों मिले हुए प्रतीत होते हैं। इस कारण जब किसीसे कहा जाता है कि गौको घास-चारा दे आओ, तब वह उस पशुविशेषके पास घास-चारा ले जाता है। वह इन तीनोंमें कोई भेद प्रतीत नहीं करता। पर यदि किसी विदेशी पुरुषसे जिसने अभीतक गौका शब्द नहीं सुना है, कहा जाय कि गौको घास-चारा दे आओ, तब वह इन तीनोंके भेदोंको विचारेगा। वह अनुमान करेगा कि पुरुष घास नहीं खाते हैं। इस कारण वह अनुमानसे ही शब्द-गौसे ही अर्थ-गौ और उसके ज्ञानको समझनेका यत्न करेगा। इसी प्रकार सब प्राणी जो शब्द बोलते हैं उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों होते हैं। योगीको संयम-अभ्याससे समाधि-प्रज्ञा (३.५) प्राप्त होती है। इसलिये वह शब्द, अर्थ और ज्ञानके विभागमें संयम करनेसे इस शब्दका अर्थ और शब्द-अर्थ दोनोंके सम्बन्धी ज्ञानको जान लेता है और सब प्राणियोंकी बोलीको समझ लेता है।

गौ अर्थ है, गौ शब्द है, गौ ज्ञान है; जो इनके विभागोंका ज्ञाता है, वह सर्ववित् है।

"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।। १३ ।। पाणिनीयशिक्षा"

सभी वर्णो के उच्चारण के लिए आठ स्थान हैं । वे इस प्रकार हैं – १. उर २. कण्ठ ३. शिर ४. जिह्वामूलम् ५. दन्त ६. नासिका ७. ओष्ठ और ८. तालु ।

शब्द, अर्थ और ज्ञानका विभाग करनेके लिये एक श्लोक से उदाहरण देते हैं, कि कैसे हम लोक-व्यवहार में भी शब्दों के अर्थ को मिश्रित कर देते हैं।

"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।

विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणम्।। १.४६.१२९।। पद्मपुराणम्"

ब्राह्मण पिता के द्वारा ब्राह्मणी माता के गर्भ से उत्पन्न बालक जन्मना ब्राह्मण होता है। उपनयन आदि संस्कारों से सुसंस्कृत ब्राह्मण में द्विजत्व की पात्रता आती है, अर्थात् वह द्विज कहा जाता है। तत्पश्चात् वह संस्कार सम्पन्न द्विज जब साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन-अध्यापन करता है और वेद शास्त्र के मनन चिन्तन से जब वह वैदिक सिद्धान्त के रहस्य को भली प्रकार जान जाता है तब उसे विप्र कहते

हैं । और इन तीनों (जन्म, संस्कार और विद्या— वेद-विद्यासे) से सम्पन्न श्रोत्रिय कहलाता है। आजकल तो कोई भी अपने को श्रोत्रिय कह देता या लिख देता है। सब मनुष्य एक आकृति के (जाति के) होते हैं और वर्णन से जिसका ज्ञान हो, उसको वर्ण बोलते हैं। वर्णनात् वर्णः। वर्णन से बताना पड़ेगा ये ब्राह्मण हैं, ये विद्वान हैं, ये क्षत्रिय हैं। परन्तु आकृतिग्रहणा जातिः, मनुष्यत्व- रुप आकृति सब में होती है। जो शास्त्रोक्त वर्णन से प्रमाणित होता हो, उसका नाम वर्ण है। आकृतिविशेष जिस का व्यञ्जक होता है उसे जाति कहते हैं । जैसे एक कुक्कुट (मुर्गे) या सूकर (सूअर) आदि को देख कर उस में गृहीत अवयव- संस्थान से अन्यत्र सर्वत्र कुक्कुट सूकर आदि व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है तो ये कुक्कुट, सूकर आदि व्यक्तिवाचक होते हुए भी जातिवाचक हैं।

हमलोगोंको भी शब्द, अर्थ और प्रत्यय के भेदका साक्षात्कार होते हुए भी, क्योंकि वह साक्षात्कार संयमजन्य नहीं है, इसलिये सभी प्राणियोंकी बोली समझ में नहीं आती। ऐसा साक्षात्कार करने का सामर्थ्य तो केवल योगज संयमजन्य ही है। अर्थात् योगके द्वारा जिन्होंने संयमका अभ्यास किया है उन्हीं को होता है। शब्द केवल वाणी द्वारा बोले जाते हैं, कान केवल ध्वनिको श्रवण करते हैं और बुद्धि उन दोनोंको मिलाकर अर्थ का निश्चय करती है। इन तीनों के स्थान और प्रयत्न अलग-अलग हैं। शशि और चन्द्र शब्द भिन्न होते हुए भी अर्थ एक है। विष्णु शब्द का अर्थ अलग है लेकिन बहुधा हमारे ख्याल में विष्णुप्रतिमा आती है। "वेवेष्टीति विष्णु" जो व्यापनशील है, जो सबको आच्छादित करता है वह विष्णु है। और ये ही चतुर्भुज भी हैं तब शब्द और अर्थ का ऐक्य हुआ। जो इन शब्द,अर्थ और प्रत्ययके विभागको जानता है, वह सर्वज्ञ है।

वर्ण से पद बनता है पदोंसे वाक्य प्रकट होता है, यह शब्दका तत्त्व है। अर्थ द्रव्यमें रहता है लक्ष्य ही अर्थका तत्त्व है। शब्दजन्य अर्थका विषय बुद्धिस्थप्रत्यय है यह ज्ञानतत्त्व है, इन तीनों के विभाग में संयम करने से सर्वशब्दादि का वशीकारसूचक सर्वभूतों का पशु, पक्षी आदि जीवोंकी ध्वनिका ज्ञान होता है। कि ये इस अर्थ को बोल रहे हैं यह बात संयमी जानता है।

वैसे ही यहाँ मनुष्योंके द्वारा बोले गये वचन, वाच्य और प्रत्यय में किया गया संयम और उनकी समान जातीय शब्दों में किया गया संयम उनके शब्दभेद, अर्थभेद तथा प्रत्ययभेद को योगी जानता है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें दूसरी सिद्धि कहते हैं —

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ ३.१८॥

संस्कार-साक्षात्-करणात् = संस्कारके साक्षात् करनेसे; पूर्वजातिज्ञानम् = पूर्वजन्मका ज्ञान होता है।

संस्कारके साक्षात् करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। योगी द्वारा अपने संस्कारों में संयम (धारणा-ध्यान और समाधि) करने से उसे अपने और दूसरोंके संस्कारोंमें संयम करनेसे दूसरोंके भी पूर्वजन्मके बारे में ज्ञान हो जाता है।

"संस्कारा द्विविधाः प्रोक्ता वासना आशयास्तथा ।

वासना स्यात् स्मृतेर्हेतुर्विपाकस्यैव चाशयाः ॥ १४९ ॥ योगसूत्रसारः"

संस्कार दो प्रकारके होते हैं, एक वासनारूप से रहकर स्मृतिके बीजरूपसे रहते हैं जो स्मृति और क्लेशोंके कारण हैं। दूसरे विपाक के कारण हैं जो धर्माधर्म के द्वारा सुख-दुःख रुप फलका अनुभव करवाते हैं। विपाक- माने फल, जो जाति (जन्म)-आयु और भोग-रूप होता है।

" साक्षात्कारात्तथैतेषां संस्काराणां हि तत्त्वतः।

ज्ञानं स्वस्य परस्यापि जायते पूर्वजन्मनः ॥ १५० ॥ योगसूत्रसारः"

अनुभवकी छाप जो अन्तःकरण में पड़ती है उसे संस्कार कहते हैं, जो जन्म, आयु, भोग और उनमें सुख-दुःखके कारण होते हैं। उन संस्कारोंके साक्षात्कारसे अपने और दूसरोंके भी पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। किसीको दूध अच्छा लगता है पर दही नहीं, किसीको दही अच्छा लगता है पर दूध नहीं, किसीको मिठाई अच्छी लगती है नमकीन नहीं तो किसीको नमकीन ही पसन्द है मीठी चीजें नहीं। यह सब वासनाके संस्कारोंके कारण होता है।

व्याख्या — संस्कार में संयम करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। संस्कार दो प्रकार के होते हैं। एक स्मृति- ज्ञान रुप जिनमें रागादि की वासना होती है, दूसरे धर्माधर्मरुप होते हैं जिनसे जन्म, आयु और भोग प्राप्त होते हैं। ये सारे संस्कार स्मृति-क्लेश रुप तथा धर्म और अधर्मरुप हैं। ये सब संस्कार इस जन्म तथा पिछले जन्ममें किये हुए कर्मोंसे बनते हैं और ग्रामोफोनके प्लेटके रिकार्ड (Records) के सदृश चित्तमें चित्रित रहते हैं। वे स्मृति और क्लेश के हेतु संस्कार परिदृष्ट कोटि में आते हैं तथा परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और धर्मकी भाँति अपरिदृष्ट चित्तके धर्म हैं। उनमें संयम करनेसे योगीको उनका साक्षात् हो जाता है। इससे उसको जिस देश, काल और जिन निमित्तोंसे वे संस्कार बने हैं, सब स्मरण हो जाते हैं। यही पूर्वजन्मका ज्ञान है। (योगियोंके अतिरिक्त बहुत-से शुद्ध संस्कारवाले बालक भी अपने पूर्वजन्मका हाल बतला देते हैं) जिस प्रकार संस्कारोंके साक्षात् करनेसे अपने पूर्वजन्मका ज्ञान होता है उसी प्रकार दूसरेके संस्कारोंके साक्षात् करनेसे दूसरेके पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। (विज्ञान-भिक्षुके अनुसार, 'पर' अर्थात् भावी जन्मोंका भी इसी भाँति संस्कारके साक्षात् करनेसे ज्ञान हो जाता है) ।

इस विषयमें एक आख्यान सुना जाता है —

पूर्वोक्त अर्थमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये भाष्यकारोंने आवट्य नामक योगीश्वरका योगिराज जैगीषव्यके साथ एक संवाद उपन्यस्त किया है। उसका यहाँ निरुपण किया जाता है। —

भगवान् जैगीषव्य जो एक प्रसिद्ध योगीश्वर हुए हैं उनके सम्बन्धमें ऐसा प्रसिद्ध है कि वे संस्कारोंके साक्षात्कारसे दस महाकल्पोंमें व्यतीत हुए अपने जन्म-परिणाम परम्पराका अनुभव करते हुए विवेकज-ज्ञान सम्पन्न थे और योगिराज भगवान् आवट्यके सम्बन्धमें कहा जाता है कि योगबलसे स्वेच्छामय दिव्य विग्रहको धारण करके विचरते थे। किसी समय इन दोनों योगियोंका संगम हो गया। तब आवट्यने जैगीषव्यसे यह बात पूँछी कि दस महाकल्पोंमें देव, मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होते हुए आपने जो अनेक प्रकारके नरक, तिर्यक-योनियोंमें और गर्भमें दुःखोंका अनुभव किया है वह सब आपको परिज्ञात है, क्योंकि स्वच्छ और अनभिभूत बुद्धि सत्त्व होनेके कारण आपको सारे पूर्वजन्मोंका ज्ञान है। इसलिये आप यह बतलायें कि दस महाकल्पोंमें जो आपने अनेक प्रकारके जन्म धारण किये हैं, उन जन्मोंमें आपने सुख और दुःखमें अधिक किसको जाना अर्थात् संसार सुखबहुल है या दुःख-बहुल ? तब जैगीषव्य ने बतलाया कि इन दस महाकल्पोंमें अनेक प्रकारके नरक तिर्यग् योनियोंमें दुःखोंका अनुभव करते हुए बारंबार देव और मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होते हुए मैंने जो अनुभव किया है, उन सबको मैं दुःखरुप ही जानता हूँ अर्थात् विषय-सुख दुःखरुप होनेसे संसार दुःखबहुल ही है सुखबहुल नहीं।

आवट्य मुनिने फिर पूछा — 'हे जैगीषव्य मुने! दीर्घायुवाले जो आपको प्रधान (मुख्यरुपसे) वशित्व और अनुत्तम संतोष सुखका लाभ हुआ है क्या वह भी दुःखपक्ष में ही निक्षिप्त है ?' तब भगवान् जैगीषव्यने कहा— 'हे आवट्य मुने ! विषय-सुखकी अपेक्षासे ही यह संतोष सुख अनुत्तम कहा जाता है। कैवल्यकी अपेक्षासे तो यह दुःखरुप ही है; क्योंकि संतोष बुद्धि-सत्त्वका ही धर्म है और जो-जो बुद्धिका धर्म है वह सब त्रिगुणात्मक होनेसे हेय पक्षमें (त्याज्य पक्षमें) पतित है।' अर्थात् बुद्धिका धर्म होनेसे संतोष भी सुखस्वरुप नहीं है।

सूत्रकारने 'संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥२. ४२॥' इस सूत्रसे संतोषको जो अनुत्तम (सर्वोत्तम) सुखका हेतु कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि रज्जुके सदृश पुरुषोंको बाँधनेवाली जो दुःखस्वरुप तृष्णातन्तु है उस तृष्णारुप दुःखका संतोषसे नाश होता है। तब तृष्णाके

अभावसे चित्त पीड़ासे रहित होकर प्रसन्न (निर्मल) हो जाता है। इस प्रकार तृष्णाकी निवृत्तिद्वारा सर्वानुकूल संतोष सुखको उत्तम कहा है। कैवल्यकी अपेक्षासे तो यह सब दुःखरूप ही है।

संसार का सुख तो मधु-विष-सम्पृक्त अन्न के समान है शुरुआत में मीठा तो लगता है लेकिन परिणाम में पश्चात्ताप और दुःख ही देता है।

"परिणाम ताप संस्कार दुःखैः गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (२.१५) परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख, इन तीन प्रकार के दुःखोंके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियों में परस्पर विरोधी स्वभावकी होनेके कारण विवेकी के लिए सब-के-सब कर्मफल दुःखरुप ही हैं।

श्रुति, स्मृति में निरुपाधि-प्रियत्वको ही सुख शब्दसे कहा गया है, जिसमें दुखका लेश भी न हो वैसा सुख तो कैवल्यमें ही है।

काक-भुशुण्डि, बक-दाल्भ्य, नारद, जड़-भरत, वसिष्ठादि को भी अपने पूर्वजन्मोंका स्मरण था। ऐसी कथायें इतिहास-पुराणादि ग्रन्थोंमें मिलती हैं।

संस्कार माने स्मृतिका पूर्वजन्मसे सम्बन्ध होता है। अन्यथा सद्योजात बच्चोंका दूध पीनेमें प्रवृत्त होना तथा छोटे-छोटे पक्षि-शावकोंकी अपनी माँ की चोंच में से माँस निकाल कर खानेकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें एक और सिद्धि बतलाते हैं —

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ ३.१९॥

प्रत्ययस्य = दूसरेके चित्तकी वृत्तिके साक्षात् करनेसे; पर चित्तज्ञानम् = दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है।

दूसरेके चित्तकी वृत्तिके साक्षात् करनेसे दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है।

योगी जब अपने से भिन्न व्यक्ति के चित्तके ज्ञानमें संयम करता है तो उसे दूसरे व्यक्ति के चित्त के भावों का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या — जब योगी किसीके चेहरे तथा नेत्र आदिकी आकृति देखकर उसके चित्तकी वृत्तिमें संयम करता है तो उसको उस चित्तका साक्षात् हो जाता है। इससे उसको ज्ञान हो जाता है कि इस समय उसका चित्त राग, द्वेषादि संसारकी वासनाओंसे रँगा हुआ है अथवा वैराग्ययुक्त है। दूसरेके चित्तकी वृत्तिमें संयम करने से उसके अशेष-विशेषों का ज्ञान (जैसे कि दूसरेकी खोपड़ीमें क्या खिचड़ी पक रही है इसका ज्ञान) सङ्कल्प-मात्रसे योगीको हो जाता है।

तृष्णा,दुःख और सन्ताप के हट जाने से जब चित्त शान्त हो जाता है तब उस चित्तकी गति अवाधित हो जाती है, इससे पहले तो योगी अपने चित्तको अच्छी तरहसे जानता है फिर दूसरोंके चित्तको जानने में भी सरलता होती है।

"आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेन्तर्गतं मनः ॥५०॥ हितोपदेशः"

सामान्य रूपसे मनुष्यके चित्तका आकलन इन्सान के बाहरी आकार, इंगित, गति (चाल) संकेत, चेष्टा एवं बोलना तथा आँखों एवं चेहरेके विकारोंसे चेष्टाके संकेतसे उसके भीतर में चल रहे विचारों को समझा जा सकता है।

"उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशिताः ।

अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥"

जो स्पष्ट रुप से कहा गया है, उसे तो जानवर भी पकड़ लेते हैं, (जैसे) घोड़े और हाथी आदेश पर अमल करते हैं। लेकिन बुद्धिमान तो उसे भी अनुभव करते हैं (उसका भी अनुमान कर लेते हैं) जो अनकहा है। निश्चय ही बुद्धि का परिणाम है, दूसरों की मंशा को समझ लेना, जो दूसरोंके इशारोंको समझ ले यही बुद्धिका फल है।

सङ्गति — अब इसी परचित्तज्ञानके विशेषज्ञानके बारे में बताते हैं। शङ्का — दूसरेके चित्तकी वृत्तिमें संयम करनेसे यह चित्त-मात्रका प्रत्यक्ष होता है अथवा स्वविषयसहित ? इसका उत्तर देते हैं —

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ ३.२० ॥

न-च-तत् = पर नहीं वह (चित्त); स आलम्बनम् = विषय सहित (साक्षात् होता है); तस्य = उस विषय सहित चित्तके; अविषयी-भूतत्वात् = संयमका विषय न होनेसे।

पर वह (दूसरेका चित्त) अपने विषय सहित साक्षात् नहीं होता; क्योंकि वह (विषयसहित चित्त) उसका (संयमका) विषय नहीं है।

"प्रत्यये संयमात् ज्ञानं परिचित्तस्य जायते।

न तत्सालम्बनं प्रोक्तं स्वचित्ताविषयीकृतेः ॥ १५१ ॥ योगसूत्रसारः"

योगी को दूसरे व्यक्ति के चित्तकी वृत्तिका (भावों का सामान्य ज्ञान) होता है। उन भावोंका विषय क्या है, इसका ज्ञान नहीं होता क्योंकि वह उसके अपने चित्तका अविषय है क्योंकि योगी के संयम का विषय तो दूसरे व्यक्ति का केवल चित्त है। चित्तकी वृत्तियाँ नहीं।

व्याख्या — पिछले सूत्रमें दूसरेके चित्तकी वृत्तिमें संयम करना बतलाया है। इससे इतना ही ज्ञान हो सकता है कि चित्त राग-द्वेषादिसे युक्त है अथवा वीतराग है। राग, द्वेष आदिका विषयज्ञान नहीं होता कि किस विषयमें राग है, किस विषयमें द्वेष है इत्यादि। क्योंकि ये उस संयमके विषय नहीं थे। संयम द्वारा उसीका साक्षात् होता है जो उसका विषय है। और संयमका विषय वही होता है जिसको किसी-न-किसी प्रकारसे पहले जान लिया है। बाहरी चिन्हों अर्थात् नेत्र अथवा चेहरेकी आकृतिसे केवल राग-द्वेषादि जाने जा सकते हैं न कि राग-द्वेषादिके विषय। अमुक व्यक्ति रागी है, इतना तो जानता है लेकिन इसका राग किसमें है यह नहीं जानता। इसलिये वे सालम्बन चित्तके संयमके विषय नहीं बन सकते। यदि राग-द्वेषादि के आभ्यन्तर लिङ्गोंद्वारा संयम किया जावे तो उसके विषयका भी अर्थात् सालम्बन चित्तका भी ज्ञान हो सकता है।

जो दूसरेका चित्त है वह सालम्बन है और योगीका अपना चित्त भी अपने आलम्बन के सहित है इसलिये दूसरेके आलम्बन का ज्ञान अशक्य होता है। लिङ्ग से तो केवल दूसरेके चित्तमात्र का ज्ञान होता है लेकिन यह पता नहीं लगता कि उस चित्तका विषय नीला है या पीला है। क्योंकि जो विषय ग्रहण ही नहीं हुआ उसमें संयम करना अशक्य है इसलिये परचित्तके विषयका ज्ञान नहीं होता। इसलिये दूसरेका चित्त आलम्बनके साथ नहीं पकड़ा जा सकता केवल चित्तके धर्मोंका ज्ञान होता है। परन्तु यदि जब उसके आलम्बन में संयम करता है तो उस संयमसे उसके विषयका भी ज्ञान हो ही जाता है। यह प्रणिधानविशेष का माहात्म्य है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें दूसरी सिद्धि बताते हैं —

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ ३.२१॥

काय-रुप-संयमात् = अपने शरीरके रुपमें संयम करनेसे; तत्-ग्राह्य-शक्ति-स्तम्भे = उसकी (रुपकी) ग्राह्य शक्ति रुक जानेपर; चक्षु: प्रकाश-असम्प्रयोगे = दूसरेकी आँखोंके प्रकाशका संयोग न होनेपर; अन्तर्धानम् = योगीको अन्तर्धान प्राप्त होता है।

अपने शरीरके रुपमें संयम करनेसे रुपकी ग्राह्य शक्ति रुक जाती है। इससे दूसरेकी आँखोंके प्रकाशसे योगीके शरीरका संनिकर्ष न होनेके कारण योगीके शरीरका अन्तर्धान (छिप जाना) हो जाता है।

"योगी तां ग्राह्यताशक्तिं प्रतिष्टभ्नाति संयमात्।

तन्मात्राणामतस्तस्यां ह्यन्तर्धानं प्रजायते ॥ १५२ ॥ योगसूत्रसारः"

जब योगी आँखोंकी रुप-ग्राह्यता शक्ति को स्तम्भित कर देता है तब रुप तन्मात्रामें संयम करनेसे अन्तर्धान हो जाता है। जब योगी अपने शरीरके रुपमें संयम कर लेता है तो उससे दूसरे व्यक्तियों की आँखों का रोशनी के साथ सम्बन्ध टूट जाता है, जिससे उनकी आँखोंकी योगी के शरीर को देखने की शक्ति रुक जाती है। इस कारण योगीका शरीर एक प्रकारसे छिप जाता है।

व्याख्या — चक्षु ग्रहण-शक्ति है और रुप ग्राह्य-शक्ति है। इन दोनों शक्तियोंके संयोगसे ही देखनेका काम होता है। इन दोनों में से किसी एक की शक्तिके रुक जानेसे देखनेका कार्य बंद हो जाता है। योगी संयम द्वारा शरीरके रुपकी ग्राह्य-शक्तिको रोक देता है। उस कारण चक्षुकी ग्रहण-शक्ति होते हुए भी दूसरे पुरुष उसके शरीरको नहीं देख सकते। यह उस योगीका अन्तर्धान अर्थात् छिप जाना है। जबकि शरीर पञ्चभूतात्मक है इसलिये इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध में संयम करनेसे उस-उसकी ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है और उनके वर्तमान रहते हुए भी वे अपने विषय करनेवाली इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किये जा सकते।

हमारी आँखें तभी किसी वस्तु या दृश्य को देखने में समर्थ होती हैं जब किसी वस्तु पर प्रकाश पड़ता है। किसी भी वस्तु या पदार्थ के ऊपर प्रकाश या रोशनी पड़ने से ही उस वस्तु या पदार्थ का छाया चित्र हमारी आँखों की पुतलियों पर आता है। जिसे हम मस्तिष्क के द्वारा पहचान पाते हैं। इस सूत्र में सूत्रकार कहते हैं कि शरीर के रुप अर्थात् आकृति में संयम करने से आँखों का प्रकाश अर्थात् रोशनी के साथ सम्पर्क टूट जाता है जिससे हमारी आँखें देख नहीं पाती हैं, जब हमारी आँखों का रोशनी या प्रकाशके साथ सम्बन्ध खत्म हो जाता है तो हमारी आँखें किसी भी वस्तु या पदार्थ को देख नहीं सकती। उदाहरण तौरपर रात के घने अन्धेरे में हमारी आँखें सामने रखी हुई वस्तुओं को भी नहीं देख पाती। क्योंकि आँखों का और रोशनी का आपस में सम्पर्क नहीं है। यह योगी के योगबल (संयम) का ही परिणाम है कि जिससे दूसरेकी आँखोंका प्रकाश से सम्बंध टूट जाता है और योगी अन्तर्धान हो जाता है।

"ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे॥४७॥

विषयश्च महाभाग याति चैवं पृथक् पृथक्।

दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथापरे॥४८॥

केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः। ॥ दुर्गासप्तशती ॥"

विषयमार्गका ज्ञान सब जीवोंको है ॥४७॥ इसी प्रकार विषय भी सबके लिये अलग-अलग हैं, कुछ प्राणी दिन में नहीं देखते और दूसरे रात में ही नहीं देखते ॥४८॥ तथा कुछ जीव ऐसे हैं, जो दिन और रात्रि में भी बराबर ही देखते हैं।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें दूसरी सिद्धि बताते हैं —

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ ३.२२॥

सोपक्रमम् = उपक्रमसहित (तीव्र वेगवाले) अथवा आरम्भसहित; च निरुपक्रमम् = और उपक्रमरहित (मन्द वेगवाले) अथवा आरम्भरहित; कर्म = (दो प्रकारके) कर्म होते हैं; तत्-संयमात् = उनमें संयम करनेसे; अपरान्त-ज्ञानम् = मृत्युका ज्ञान होता है; अपरान्त शरीरके वियोगको कहते हैं। अपरान्त माने मरण या अन्तिम समय। {आयुके अवसानको अपरान्त शब्दसे कहा गया है} अरिष्टेभ्यः वा = अथवा उलटे चिन्हों से।

कर्म दो प्रकार के होते हैं सोपक्रम और निरुपक्रम उनमें संयम करनेसे मृत्युका ज्ञान होता है अथवा अरिष्टोंसे उलटे चिन्होंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

“विपाकोऽप्यायुषः कर्म द्विविधं कथ्यते बुधैः।

सोपक्रमं तदाद्यं स्याद् द्वितीयं निरुपक्रमम् ॥ १५३ ॥ योगसूत्रसारः”

विद्वानों ने आयुका फल देनेवाले कर्म दो प्रकारके बताये हैं। एक सोपक्रम अर्थात् शीघ्र फल देनेवाले और दूसरे निरुपक्रम अर्थात् विलम्ब से फल देने वाले होते हैं।

“फलदं तीव्रवेगेन सोपक्रम इतीर्यते ।

कर्म तन्मन्दवेगेन निरुपक्रममुच्यते ॥ १५४ ॥ योगसूत्रसारः”

जो तीव्रवेगसे फल देते है उन्हें सोपक्रम कर्म कहते हैं तथा जो मन्दवेगसे फल देते हैं उन्हें निरुपक्रम कर्म कहते हैं। निरुपक्रम-कर्म माने जो कालान्तरमें फल देनेवाले हैं। जैसे चावल बोया और चार महीनेके बाद फसल तैय्यार हुई तब काटा यह निरुपक्रम है और चावल पकाया और खा लिया यह सोपक्रम है।

“द्वयोस्तु संयमाद्योगी ज्ञानमापद्यते महत्।

अरिष्टभ्यस्तथा वेत्ति मृत्योरागमनं तथा ॥ १५५ ॥ योगसूत्रसारः”

उन दोनों कर्माशयों में संयम करने से महान ज्ञान प्राप्त होता है। मृत्यु का आगमन या मृत्यु का ज्ञान कराने वाले संकेतों का योगी को पूर्व ज्ञान हो जाता है।

अरिष्टं इष्टस्य वाञ्छितस्य अरिः विरुद्धं च तं अरिष्टं दूरीकरोति। इष्ट का जो अरि है विरोधी है उसे अरिष्ट कहते हैं। उन अरिष्टेभ्य:- (अरिष्टों से) मृत्यु के ज्ञापक संकेतोंका ज्ञान योगीको हो जाता है।

व्याख्या — आयु नियत करनेवाले पूर्वजन्मके कर्म दो प्रकारके होते हैं। एक सोपक्रम अर्थात् वे कर्म जो आयु समाप्त करनेका काम पूरे वेगसे कर रहे हैं, जिनका बहुत-सा फल हो गया है और कुछ शेष है। दूसरे होते हैं निरुपक्रम अर्थात् वे कर्म जो मन्द वेगवाले हैं, जिन्होंने आयु भोगनेके कार्य अभीतक आरम्भ नहीं किया है। जैसे गीला वस्त्र गरम देशमें विस्तारपूर्वक फैलाया हुआ शीघ्र ही सूख जाता है अथवा जैसे शुष्क तृणोंके ऊपर फेंकी हुई अग्नि चारों ओर वायुसे युक्त होकर शीघ्र ही तृणोंको जला देती है, वैसे ही शीघ्र फल देनेवाले सोपक्रम कर्म हैं। और जैसे वही गीला वस्त्र इकठ्ठा लपेटकर शीत देशमें रखा हुआ देर में सूखता है अथवा जैसे हरित तृणोंपर फेंकी हुई अग्नि वायुरहित स्थानमें देरसे तृणोंको जलाती है, वैसे ही विलम्बसे फल देनेवाले निरुपक्रम कर्मको जानना चाहिये। अपरान्त शरीरके वियोगको कहते हैं। इन दोनों कर्मोंमें संयम करनेसे उनका साक्षात् हो जानेपर योगीको संशय-रहित यह ज्ञान हो जाता है कि आयु कितनी शेष रही है। और किस कालमें और किस देशमें तथा किस हेतुसे, किस प्रकारसे शरीरसे प्राणोंका वियोग होगा।

अथवा अरिष्टोंसे अर्थात् उलटे चिन्होंसे जो मृत्युके बतलानेवाले हैं, अपनी मृत्युका ज्ञान हो जाता है।

अरिष्ट तीन प्रकारके हैं —

१ आध्यात्मिक — अभ्यास होते हुए भी कानोंको बंद करनेपर अंदरकी ध्वनिका न सुनाई देना। अथवा आँखोंको हाथोंसे दबानेपर भी ज्योतिके कनकोंका न दिखलायी देना।

२ आधिभौतिक — अकस्मात् ही विकृत पुरुषका दर्शन होना। यमके दूतोंको देखना, पितरोंको देखना अथवा मरे हुए पुरुषोंका इस प्रकार दिखलायी देना मानो सामने खड़े हैं।

३ आधिदैविक — अकस्मात् सिद्धोंका दिखायी देना, अथवा आकाशके नक्षत्र-तारा आदिका उलटा-पुलटा दिखायी देना। इन अरिष्टोंके देखनेसे मृत्युके निकट होनेका ज्ञान होता है।

इसी प्रकार प्रकृतिका बदल जाना अर्थात् उदारका कृपण और कृपणका उदार हो जाना इत्यादि; तथा विपरीत ज्ञानका होना, जैसे धर्मको अधर्म, अधर्मको धर्म, मनुष्यलोकको स्वर्गलोक और स्वर्गलोकको मनुष्यलोक समझना इत्यादि भी अरिष्ट अर्थात् संनिहित-मरणके चिन्ह हैं।

पहिला संयमद्वारा मृत्युका ज्ञान तो केवल योगियोंको ही होता है। दूसरा अरिष्टों द्वारा योगियों और साधारण मनुष्योंको भी होता है। मृत्युके जाननेके प्रसङ्गमें अरिष्टोंका भी वर्णन कर दिया है, इन अरिष्टोंसे भी अयोगियोंको साधारण रीतिसे और संशयात्मक ज्ञान होता है। योगियोंको संशय-रहित प्रत्यक्षके तुल्य देश और कालसहित मृत्युका ज्ञान होता है।

दूसरे भी बहुत-से अरिष्ट (मृत्यु-चिह्न) वसिष्ठ-मार्कण्डेयादि के द्वारा कहे गये हैं, दिन-मास और संवत्सरादि के भेद से। स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें अध्याय ४२ में अगस्त्य मुनिके पूंछने पर कुमार-स्वामी ने मृत्युके समय में जो चिन्ह प्रकट होते हैं उनका वर्णन किया गया है। अरिष्ट का अर्थ होता है वे बुरे लक्षण या घटनाएं जो मृत्यु के नजदीक आने पर घटित होती हैं। जिससे कोई भी पुरुष मृत्यु का पहले से ही अनुमान लगा लेता है।

याम्यनासापुटे यस्य वायुर्वाति दिवानिशम् ।

अखंडमेव तस्यायुः क्षयत्यब्दत्रयेण हि ॥४.४२.३ ॥ स्कन्दपुराण

यदि कोई दिन-रात दाहिने नथुने से साँस लेता और छोड़ता है, तो उसका जीवन, भले ही अखंड हो, तीन साल के भीतर समाप्त हो जाता है।

अहोरात्रं त्र्यहोरात्रं रविर्वहति संततम् ।।

अब्दमेकं च तस्येह जीवनावधिरुच्यते ।। ४.४२.४ ।।

यदि हवा (श्वास) दो या तीन दिन और रात के लिए लगातार रवि (दाएं नासापुट) के माध्यम से चलती है, तो यह कहा जाता है कि उसकी जीवन सीमा एक वर्ष है।

वहेन्नासापुटयुगे दशाहानि निरंतरम् ।।

वातश्चेत्सह संक्रांतिस्तया जीवेद्दिनत्रयम् ।। ४.४२.५ ।।

यदि हवा (सांस) दोनों नथुनों से लगातार दस दिनों तक चलती है, तो इसके निष्कासन के साथ ही व्यक्ति केवल तीन दिनों तक जीवित रहता है।

नासावर्त्म द्वयं हित्वा मातरिश्वा मुखाद्वहेत् ।।

शंसेद्दिनद्वयादर्वाक्प्रयाणं तस्य चाध्वनि ।। ४.४२.६ ।।

नासिका छिद्र को छोड़कर यदि मुखसे श्वास चलती है तो व्यक्तिके दो दिन समाप्त होनेसे पहले मृत्युके मार्गपर चले जानेकी भविष्यवाणी की जा सकती है।

अकस्मादेवयत्काले मृत्युः सन्निहितो भवेत् ।।

चिंतनीयः प्रयत्नेन स कालो मृत्युभीरुणा ।। ४.४२.७ ।।

वह समय जब मृत्यु अचानक आएगी, मृत्यु से डरने वाले व्यक्ति द्वारा वह काल अच्छी तरह से सोचा जाना चाहिए।

सूर्ये सप्तमराशिस्थे जन्मर्क्षस्थे निशाकरे ।।

पौष्णः स कालो द्रष्टव्यो यदा याम्ये रविर्वहेत् ।। ४.४२.८ ।।

यदि सूर्य अपनी राशि से सप्तम राशि में या सप्तम भाव में हो और चंद्रमा जन्म नक्षत्र में हो और श्वास दाहिनी ओर (नासिका) से बहती हो, तो उस समय को पौषकाल (जिस समय का सूर्य देवता है) के रुप में देखा जाना चाहिए।

अकस्माद्वीक्षते यस्तु पुरुषं कृष्णपिंगलम् ।।

तस्मिन्नेव क्षणेऽरूपं स जीवेद्वत्सरद्वयम् ।। ४.४२.९ ।।

उस समय (पौषकाल में) यदि किसी को एक काला और पीलापन लिया हुआ व्यक्ति दिखे और तुरंत कोई अन्य रुप दिखाई दे, या छुप जाय तो वह दो साल तक जीवित रहेगा।

यस्य बीजं मलं मूत्रं क्षुतं मूत्रं मलं तु वा ।।

इहैकदा पतेद्यस्य अब्दं तस्यायुरिष्यते ।।४.४२.१० ।।

यदि वीर्य, मल और मूत्र या छींक, मूत्र और मल एक साथ गिर जाए, तो उसका जीवन एक वर्ष तक कहा जा सकता है या बढ़ जाता है।

इंद्रनीलनिभं व्योम्नि नागवृंदं य ईक्षते ।।

इतस्ततः प्रसृमरं षण्मासं न स जीवति ।।।४.४२.११।।

यदि कोई आकाश में नागों (नागों माने हाथियों) के समूहों को नीलम के सदृश और इधर-उधर सिर पर मड़राता हुआ, घूमता हुआ देखता है, तो वह छह महीने तक जीवित नहीं रहेगा।

व्यभ्रेह्नि वारिपूर्णास्यः पृष्ठीकृत्य दिवाकरम् ।।

फूत्कृत्याश्विंद्रचापं न पश्येत्षण्मासजीवितः ।। ४.४२.१२ ।।

जिस दिन बादल न हो उस दिन व्यक्ति को सूर्य के पीछे खड़े होकर अपने मुंह में पानी भर लेना चाहिए। फिर वह उसे बलपूर्वक और शीघ्रता से थूक देना चाहिये या पिचकारी मारते हुए कुल्ला करना चाहिये। ऐसा करते समय यदि इन्द्रधनुष न दिखे तो उसकी आयु मात्र छह माह की होगी।

अरुंधतीं ध्रुवं चैव विष्णोस्त्रीणिपदानि च ।।

आसन्नमृत्युर्नोपश्येच्चतुर्थं मातृमंडलम् ।।४.४२.१३।।

अरुंधती भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमुच्यते ।।

विष्णोः पदानि भ्रूमध्ये नेत्रयोर्मातृमंडलम् ।। ४.४२.१४ ।।

जिसकी मृत्यु निकट है, वह अरुंधति, ध्रुव, विष्णु के तीन चरणों और चौथे, मातृ-मण्डल (माताओं) के क्षेत्र को नहीं देखता है। अरुंधति का अर्थ है जीभ; नाक की नोक को ध्रुव के रूप में वर्णित किया गया है; विष्णु के चरण भौंहों के बीच में हैं; और माताओं का क्षेत्र (नेत्र-चन्द्रमा) आंखों के बीच में होता है।

वेत्ति नीलादिवर्णस्य कट्वम्लादिरसस्य च।

अकस्मादन्यथाभावं षण्मासेन स मृत्युभाक् ।।४.४२.१५।।

यदि कोई नीला और अन्य रंग या कड़वा, खट्टा और अन्य स्वाद को अन्यथा (उचित रंग या स्वाद में नहीं, बिना किसी उचित कारण के जैसेकि आंख की बीमारी या बुखार) देखता है, तो उसे छह महीने के भीतर मृत्यु का सामना करना पड़ता है।

षण्मासमृत्योर्मर्त्यस्य कंठोष्ठरसना रदाः ।।

शुष्यंति सततं तद्वद्विच्छायास्तालुपंचमाः ।।४.४२.१६।।

यदि किसी व्यक्ति की छह महीने के भीतर मृत्यु निश्चित है, तो उसका कंठ, होंठ, जीभ, दांत और पांचवां, तालु – ये सभी शुष्क और चमकहीन हो जाते हैं।

रेतः करजनेत्रांता नीलिमानं भजंति चेत् ।।

तर्हि कीनाशनगरीं षष्ठेमासि व्रजेन्नरः ।। ४.४२.१७ ।।

यदि आंखों का वीर्य, अंगुलियां और हाथ नीले पड़ जाएं तो जातक छठे माह में यम नगर में जाता है।

संप्रवृत्ते निधुवने मध्येंते क्षौति चेन्नरः ।।

निश्चितं पंचमे मासि धर्मराजातिथिर्भवेत् ।। ४.४२.१८।।

यदि संभोग में लिप्त पुरुष बीच में या अंत में छींकता है, तो यह निश्चित है कि वह पांचवें महीने में धर्मराज (मृत्यु के देवता) का अतिथि बन जाएगा।

द्रुतमारुह्यशरठस्त्रिवर्णो यस्य मस्तके ।।

प्रयाति याति तस्यायुः षण्मासेन परिक्षयम् ।। ४.४२.१९ ।।

तीन रंग का (जैसे नीला, लाल और पीला रंग का) गिरगिट या छिपकली अचानक सिर पर चढ़कर चला जाता है, तो छह महीने के भीतर उसका जीवन विलुप्त हो जाता है।

सुस्नातस्यापि यस्याशु हृदयं परिशुष्यति ।।

चरणौ च करौ वापि त्रिमासं तस्य जीवितम् ।। ४.४२.२० ।।

यदि अच्छी प्रकारसे नहाने पर भी, उत्कृष्ट स्नान करने के बाद भी हृदय (छाती) पैर या हाथ तुरंत सूख जाते हैं, तो उसकी जीवन सीमा तीन महीने की होती है।

प्रतिबिंबं भवेद्यस्य पदखंडपदाकृति ।।

पांसौ वा कर्दमे वापि पंचमासान्स जीवति ।। ४.४२.२१ ।।

अगर किसी के पैर की धूलसे या कीचड़ पर पड़े निशान टूटे पैर के आकार का है, तो वह पांच महीने और जीवित रहता है।

छाया प्रकंपते यस्य देहबंधेपि निश्चले ।।

कृतांतदूता बध्नंति चतुर्थे मासि तं नरम् ।। ४.४२.२२ ।।

अत्यन्त हृष्टपुष्ट देहधारी या अच्छी प्रकार से रस्सी आदि द्वारा बंधा होने पर भी स्थूल रुप स्थिर होने पर भी यदि किसी की छाया कांपती है तो चौथे मास में यम के दूत उस मनुष्य को बाँध देंगे।

निजस्य प्रतिबिंबस्य नीराज्यमुकुरादिषु ।।

उत्तमांगं न यः पश्येत्स मासेन विनश्यति ।। ४.४२.२३ ।।

यदि कोई व्यक्ति जल, घी, दर्पण आदि में अपने प्रतिबिम्ब का मस्तक न देखे तो वह एक माह में नष्ट हो जाता है।

मतिर्भ्रश्येत्स्खलेद्वाणी धनुरैद्रं निरक्षितै ।।

रात्रौ चंद्रद्वयं चापि दिवा द्वौ च दिवाकरौ ।। ४.४२.२४ ।।

दिवा च तारकाचक्रं रात्रौ व्योमवितारकम् ।।

युगपच्च चतुर्दिक्षु शाक्रं कोदंडमंडलम् ।। ४.४२.२५ ।।

भूरुहे भूधराग्रे च गंधर्वनगरालयम् ।।

दिवापिशाच नृत्यं च एते पंचत्वहेतवः ।।४.४२.२६।।

ये मृत्यु के संकेतक हैं। मन डोलता है, बुद्धि भ्रमित हो जाती है, वाणी लड़खड़ाती है, इन्द्रधनुष रूप (जब इन्द्रधनुष न हो) तब भी देखता है, रातों में दो चन्द्रमा, दिन में दो सूर्य, दिन में तारों की आकाशगंगा, रात्रिमें तारा रहित विस्तृत आकाश, एक साथ चारों ओर इंद्रधनुष, एक पेड़ या पहाड़ की चोटी पर गंधर्वनगर (काल्पनिक शहर) और दिन में भूत-पिशाचों का नृत्य देखता है। ये सब पञ्चतत्त्वमें विलीन होनेके लक्षण हैं। (वह जल्द ही मर जाएगा)।

सर्वेष्वेतेषु चिह्नेषु यद्येकमपि वीक्षते ।।

तदा मासावधिं मृत्युः प्रतीक्षेत न चाधिकम् ।। ४.४२.२७ ।।

यदि वह इनमें से किसी एक को भी देखे, तो भी मृत्यु केवल एक महीने की अवधि की प्रतीक्षा करेगी, और अधिक नहीं।

करावरुद्ध श्रवणः शृणोति न यदा ध्वनिम् ।।

स्थूलः कृशः कृशस्थूलस्तदामासान्निवर्तते ।। ४.४२.२८ ।।

यदि हाथों से कान बंद करनेपर भी आदमी को कोई आवाज नहीं सुनाई देती है, अगर कोई मोटा आदमी अचानक दुबला हो जाता है या दुबला पतला आदमी अचानक मोटा होने लग जाता है, तो वह एक महीने के भीतर लौट आता है (यानी मर जाता है)।

यः पश्येदात्मनश्छायां दक्षिणाशा समाश्रिताम् ।।

दिनानि पंच जीवित्वा पंचत्वमुपयाति सः ।। ४.४२.२९ ।।

यदि कोई दक्षिण दिशा में अपनी परछाई को देखता है तो वह पांच दिन जीवित रहता है और फिर वह मृत्यु को प्राप्त होता है।

प्रोह्यते भक्ष्यते वापि पिशाचासुरवायसैः ।।

भूतैः प्रेतैः श्वभिर्गृध्रैर्गोमायुखरसूकरैः ।। ४.४२.३० ।।

रासभैः करभैः कीशैः श्वेनैरश्वतरैर्बकैः ।।

स्वप्ने स जीवितं त्यक्त्वा वर्षांते यममीक्षते ।। ४.४२.३१ ।।

यदि कोई स्वप्न में स्वयं को किसीकी पींठ पर लदा हुआ जाता देखता है, अथवा पिशाचों, असुरों, कौओं, भूतों, प्रेतों, कुत्तों, गिद्धों, गीदड़ों, ऊँटों, सूअरों, गधों, करभों (ऊँटके बच्चेको करभ कहते हैं) वानरों, बगुले, खच्चरों और सारसों द्वारा खाये हुए देखे, (अपने को खाया जाता देखता है) तो एक वर्ष के अंत में उसका जीवन समाप्त हो जाता है। और यम के साथ आमने सामने होता है। अर्थात् यमराज की नगरीमें पहुंच जाता है।

गंधपुष्पांशुकैः शोणैः स्वां तनुं भूषितां नरः ।।

यः पश्येत्स्वप्नसमये सोऽष्टौ मासाननित्यहो ।। ४.४२.३२ ।।

यदि कोई व्यक्ति स्वप्न में अपने ही शरीर को सुगन्धित लाल पुष्पों, लाल सुगन्धों अथवा लाल वस्त्रों से अलंकृत देखता है तो अफ़सोस वह केवल आठ माह ही जीवित रहता है।

पांसुराशि च वल्मीकं यूपदंडमथापि वा ।।

योधिरोहति वै स्वप्ने स षष्ठे मासि नश्यति ।। ४.४२.३३ ।।

यदि कोई स्वप्न में धूल के ढेर पर या वल्मीक, (दीमक की ढ़ेरी पर) चढ़ जाता है, अथवा यूपदण्ड (वधस्तम्भ) पर आरोहण करता है तो वह छह महीने में नष्ट हो जाता है।

रासभारूढमात्मानं तैलाभ्यक्तं च मुंडितम् ।।

नीयमानं यमाशां यः स्वप्ने पश्येत्स्वपूर्वजान् ।। ४.४२.३४ ।।

स्वमौलौ स्वतनौ वापि यः पश्येत्स्वप्नगो नरः ।।

तृणानि शुष्ककाष्ठानि षष्ठे मासि न तिष्ठति ।। ४.४२.३५ ।।

यदि, सपने में, आदमी खुद को एक गधे पर चढ़ा हुआ देखता है, जिसके शरीर पर तेल लगा है और मुंडित है और दक्षिण दिशाकी ओर ले जाया जा रहा है। अथवा यदि वह सपने में अपने पूर्वजों को दक्षिण दिशा में ले जाते हुए देखता है। अपने सिर या शरीर पर घास या सूखी टहनियाँ देखता है, तो वह छठे महीने में नहीं रहता है।

लोहदंडधरं कृष्णं पुरुषं कृष्णवाससम् ।।

स्वयं योग्रे स्थितं पश्येत्स त्रीन्मासान्न लंघयेत् ।। ४.४२.३६ ।।

यदि कोई व्यक्ति किसी काले आदमी को काले कपड़े पहने और अपने सामने लोहे की छड़ पकड़े हुए खड़ा देखे, तो वह तीन महीने से अधिक जीवित नहीं रह सकता।

काली कुमारी यं स्वप्ने बध्नीयाद्बाहु पाशकैः ।।

स मासेन समीक्षेत नगरींशमनोषिताम् ।। ४.४२.३७ ।।

यदि किसी को सपने में किसी काले रंग की कुंवारी कन्या का आलिंगन होता है, तो उसे एक महीने के भीतर यमकी नगरी दिखाई देती है।

नरो यो वानरारूढो यायात्प्राचीदिशं स्वपन् ।।

दिनैः स पंचभिरेव पश्येत्संयमिनीं पुरीम् ।।४.४२.३८।।

यदि कोई व्यक्ति सपने में वानर पर सवार होकर पूर्व दिशा की ओर जाता है, तो उसे पांच दिनों के भीतर संयमिनी पुरी (यम की नगरी) दिखाई देती है।

कृपणोपि वदान्यः स्याद्वदान्यः कृपणो यदि ।।

प्रकृतेर्विकृतिश्चेत्स्यात्तदा पंचत्वमृच्छति ।।४.४२.३९।।

यदि कंजूस व्यक्ति उदार हो जाता है और यदि दानी कृपण हो जाता है, यदि प्रकृति विपथन करती है, तो उसे मृत्यु का सामना करना पड़ता है।

एतानि कालचिह्नानि संत्यन्यानि बहून्यपि ।।

ज्ञात्वाभ्यसेन्नरो योगमथवाकाशिकां श्रयेत् ।। ४.४२.४० ।।

ये सब कालके आगमनके काल (मृत्यु के देवता) के महत्वपूर्ण संकेत और भी बहुत-से हैं, कई हैं। उन्हें जानने के बाद मनुष्य को योग का सहारा लेना चाहिए। अथवा काशी चले जाना चाहिये।

मार्कण्डेयपुराणके अध्याय ४३ में दत्तात्रेयजी महाराज अलर्क को अरिष्टों का वर्णन सुनाते हैं।

अरश्मिबिम्बं सूर्यस्य वह्निं चैवांशुमालिनम् ।

दृष्ट्वै कादशमासात् तु नरो नोर्ध्वं तु जीवति॥४३.३॥

जो पुरुष किरणरहित सूर्य और अग्नि को सूर्यके समान देखता है वह जीवन के ग्यारह महीने देखता है। अर्थात् बारहवे मासमें वह शरीर व्याग देता है।

वान्ते मूत्रपूरीषे च यः स्वर्णं रजतं तथा ।

प्रत्यक्षं कुरुते स्वप्ने जीवेत् स दशमासिकम्॥४३.४॥

स्वप्न में मूत्र, पुरीष और वमन इन सबमें सुवर्ण अथवा रजत का दर्शन करनेसे वह पुरुष केवल दस महीने प्राणधारण करके कालग्रास में गिरता है।

दृष्ट्वा प्रेतपिशाचादीन् गन्धर्वनगराणि च ।

सुवर्णवर्णान् वृक्षांश्च नव मासान् स जीवति॥४३.५॥

जो पुरुष स्वप्न में प्रेत और पिशाचादि, गन्धर्वनगर तथा स्वणिम आभासे युक्त वृक्ष देखता है, उस व्यक्ति को केवल नौ महीने जीवित रहना पड़ता है।

स्थूलः कृशः कृशः स्थूलो योऽकस्मादेव जायते ।

प्रकृतेश्च निवर्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकम्॥४३.६॥

जो पुरुष अकस्मात् स्थूल होकर कृश और फिर कृश (दुबला-पतला) होकर अकस्मात् स्थूल (मोटा) हो जाय, इसके बाद उसकी प्रकृति भी बदल जाती है। तब उसकी परमायु आठ मास पर्यन्त अवशिष्ट जानें।

खण्डं यस्य पदं पार्ष्ण्यां पादस्याग्रे च वा भवेत् ।

पांसुकर्दमयोर्मध्ये सप्त मासान् स जीवति॥४३.७॥

रेते अथवा कीचड़के भीतर पैर ड़ालनेसे जिसके पार्ष्णि (एड़ी) या पैरके अग्रभागका चिन्ह खण्डित दिखाई दे, वह केवल सात महीने जीवन धारण करता है।

गृध्रः कपोतः काकालो वायसो वापि मूर्धनि ।

क्रव्यादो वा खगो नीलः षण्मासायुः प्रदर्शकः॥४३.८॥

गृद्ध, कबूतर, काकोल (उल्लू) काक अथवा क्रव्याद (मुर्दोंको खानेवाला) अथवा अन्य कोई नीलवर्ण मांसाहारी पक्षी उड़कर मस्तक पर बैठे तो छः मास आयु शेष जाननी चाहिये।

हन्यते काकपङ्क्तीभिः पांसुवर्षेण वा नरः ।

स्वां छायामन्यथा दृष्ट्वा चतुः पञ्च स जीवति॥४३.९॥

जो व्यक्ति काकसमूह से ताड़ति होता है। (काकादि इधर-उधर मण्डराते हुए उसे तंग करते हैं), या धूरकी वर्षा अर्थात् धूल के बवंडर के मध्य अपनेको पाता है, तथा जो पुरुष अपने शरीरकी छायाको विपरीत देखता है वह चार महीने वा पाँच महीने जीवित रहता है।

अनभ्रे विद्युतं दृष्ट्वा दक्षिणां दिशमाश्रिताम् ।

रात्राविन्द्रधनुश्चापि जीवितं द्वित्रिमासिकम्॥४३.१०॥

बिना मेघ ही दक्षिणदिशामें बिजली देखनेसे और रात्रिकालमें इन्द्रधनुषके देखनेसे मनुष्य केवल दो या तीन जीवित रहता है।

घृते तैले तथादर्शे तोये वा नात्मनस्तनुम् ।

यः पश्येदशिरस्कां वा मासादूर्ध्वं न जीवति॥४३.११॥

घृत, तैल, दर्पण और जल इन सबमें दृष्टि ड़ालनेपर जिसको स्वीयमूर्ति दिखाई न दे और अपने देहको मस्तकशून्य देखे तो एक माससे अधिक कालतक उसको जीवन धारण नहीं करना पड़ता।

यस्य बस्तमसो गन्धो गात्रे शवसमोऽपि वा ।

तस्यार्धमासिकं ज्ञेयं योगिनो नृप ! जीवितम्॥४३.१२॥

हे राजन् ! जिसके गात्रसे तामसिक पदार्थोंकी गन्ध या मुर्देकीसी गन्ध निर्गत होती है, वह योगी केवल अर्द्धमास जीवित रहता है।

यस्य वै स्नातमात्रस्य हृत्पादमवशुष्यते ।

पिबतश्च जलं शोषो दशाहं सोऽपि जीवति॥४३.१३॥

स्नान करतेही जिसका हृदय और पैर सूख जाँय और जलपान करतेही फिरसे तत्काल तृषासे जिसका कण्ठ शुष्क हो वह केवल दस दिनमात्र जीवित रहता है।

सम्भिन्नो मारुतो यस्य मर्मस्थानानि कृन्तति ।

हृष्यते नाम्बुसंस्पर्शात् तस्य मृत्युरुपस्थितः॥४३.१४॥

वायु छिन्नभिन्न होकर जिसके मर्मस्थानोंको पीड़ित करने लगे और जलस्पर्श करनेसे जिसको रोमाञ्च न हो, उसका मृत्युकाल उपस्थित ही जानें।

ऋक्षवानरयानस्थो गायन् यो दक्षिणां दिशम् ।

स्वप्ने प्रयाति तस्यापि न मृत्युः कालमिच्छति॥४३.१५॥

जो पुरुष स्वप्नमें ऋक्ष और वानरके यानमें चढ़कर गाता हुआ दक्षिण दिशामें जाय उसकी मृत्यु अति निकट जानें।

रक्तकृष्णाम्बरधरा गायन्ती हसती च यम् ।

दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति॥४३.१६॥

स्वप्नमें लाल काले वस्त्र पहनेहुई स्त्री हास्यमुखसे गान करते-करते जिसको दक्षिण दिशामें ले जाय, उसको शीघ्रही मृत्युमुखमें गिरना पड़ता है।

नग्नं क्षपणकं स्वप्ने हसमानं महाबलम् ।

एवं संवीक्ष्य वल्गन्तं विद्यान्मृत्युमुपस्थितम्॥४३.१७॥

स्वप्नमें महाबल नग्न क्षपणक (बौद्ध सन्यासी को) अकेला हँसते-हँसते और बड़बड़ाते हुए जाते देखकर जानें कि मत्युकाल बहुत निकट (सन्निकृष्ट) है।

आमस्तकतलाद्यस्तु निमग्नं पङ्कसागरे ।

स्वप्ने पश्यत्यथात्मानं स सद्यो म्रियते नरः॥४३.१८॥

जो पुरुष स्वप्नमें सिरसे लेकर पैरपर्यन्त अपने शरीरको कींचके सागरमें निमग्न (आप्लावित) देखता है, तो उसकी मृत्यु शीघ्रही संघटित होती है।

केशाङ्गारांस्तथा भस्म भुजङ्गान्निर्जलां नदीम् ।

दृष्ट्वा स्वप्ने दशाहात्तु मृत्युरेकादशे दिने॥४३.१९॥

जिसको स्वप्नमें केश, अंगार, भस्म, सर्प और सूखी (जलहीन) नदी यह सब देखने से दस दिनके पीछे ग्यारहवें दिन मृत्यु होती है।

करालैर्विकटैः कृष्णैः पुरुषैरुद्यतायुधैः ।

पाषाणैस्ताडितः स्वप्ने सद्यो मृत्युं लभेन्नरः॥४३.२०॥

जो स्वप्न में कराल और विकटाकार काले वर्णके पुरुषों द्वारा जिन्होंने अपने को शस्त्र एवं पाषाणों से सन्नद्ध किया हुआ है ऐसे भयंकर मनुष्योंके द्वारा मारा जाता हुआ देखता है तो उसकी मृत्यु शीघ्रही होती है।

सूर्योदये यस्य शिवा क्रोशन्ती याति संमुखम् ।

विपरीतं परीतं वा स सद्यो मृत्युमृच्छति॥४३.२१॥

सूर्योदय के समय जिस व्यक्तिके समक्ष सम्मुख, पीछे अथवा चारों ओर होकर गीदड़ी (सियारिन,श्रृगाली) चिल्लाती हुई दिखलाई पड़ती है वह शीध्रही मृत्यु को प्राप्त होता है।

यस्य वै भुक्तमात्रस्य हृदयं बाध्यते क्षुधा ।

जायते दन्तघर्षश्च स गतायुर्न संशयः ॥४३.२२॥

अच्छी प्रकारसे भोजन करनेपर भी जिस मनुष्यका हृदय फिरसे तत्काल भूँखसे व्याकुल हो, अथवा जो हमेशा क्षुधासे त्रस्त रहता है ओर रात्रि में दांत किटकिटाता है, उसकी आयु निःसंदेह शेष नहीं है, या वह व्यक्ति निःसन्देह अल्पायु होता है।

दीपगन्धं न यो वेत्ति त्रस्यत्यह्नि तथा निशि ।

नात्मानं परनेत्रस्थं वीक्षते न स जीवति॥४३.२३॥

दीपक के बुझनेपर आनेवाली गन्धविशेष का जो व्यक्ति घ्राणजप्रत्यक्ष नहीं कर पाता, दिनमें तथा रात्रिमें भयभीत रहता है और दूसरोंकी आँखकी पुतलीमें प्रतिविम्बित अपनी मुखाकृति को देखने में असमर्थ होता है वह व्यक्ति अधिक काल तक जीवित नहीं रहता है।

शक्रायुधं चार्धरात्रे दिवा ग्रहगणन्तथा ।

दृष्ट्वा मन्येत संक्षीणमात्मजीवितमात्मवित्॥४३.२४॥

यदि आधीरातके समयमें इन्द्रधनुष और दिनमें ग्रहगण दिखाई दें तो आत्मवित् पुरुष अपनी परमायुका क्षय हुआ जाने।

नासिका वक्रतामेति कर्णयोर्नमनोन्नती ।

नेत्रञ्च वामं स्रवति यस्य तस्यायुरुद्गतम्॥४३.२५॥

जिसकी नासिका टेढ़ी हो जाय, दोनों कान ऊंचे नीचे हों और वामनेत्रसे अश्रु गिरते रहें, उसकी परमायु पूरी हुई जाने।

आरक्ततामेति मुखं जिह्वा वा श्यामतां यदा ।

तदा प्राज्ञो विजानीयान्मृत्युमासन्नमात्मनः॥४३.२६॥

मुख लोहितवर्ण और रसना श्यामवर्ण होनेसे ही बुद्धिमान् पुरुष अपना मृत्युकाल निकट जाने।

उष्ट्र-रासभयानेन यः स्वप्ने दक्षिणां दिशम् ।

प्रयाति तञ्च जानीयात् सद्योमृत्युं न संशयः॥४३.२७॥

जो पुरुष स्वप्नमें ऊंट और गधेके यानमें चढ़कर दक्षिणदिशामें जाय, शीघ्रही उसकी मृत्यु होती है, इसमें संदेह नहीं।

पिधाय कर्णौ निर्घोषं न शृणोत्यात्मसम्भवम् ।

नश्यते चक्षुषोर्ज्योतिर्यस्य सोऽपि न जीवति॥४३.२८॥

जो कानोंको बन्द करने पर शरीर के अन्दर होने वाली ध्वनि को नहीं सुन पाता है ओर जिसके नेत्रोंकी ज्योति विलुप्त हो जाय वह पुरुष शीघ्रही जीवन त्याग देता है।

पततो यस्य वै गर्ते स्वप्ने द्वारं पिधीयते ।

न चोत्तिष्ठति यः श्वभ्रात्तदन्तं तस्य जीवितम्॥४३.२९॥

जो पुरुष स्वप्नमें गर्त (गढ्ढे) में गिरकर बाहर निकलनेके लिये द्वार न पावे सुतरां उठनेमें असमर्थ हो, ऐसा व्यक्ति भी अधिक कालपर्यन्त जीवित नहीं रहता है।

ऊर्ध्वा च दृष्टिर्न च संप्रतिष्ठा रक्ता पुनः संपरिवर्तमाना ।

मुखस्य चोष्मा शिशिरा च नाभिः शंसन्ति पुंसामपरं शरीरम्॥४३.३०॥

जिस पुरुषकी दृष्टि ऊर्ध्वभागमें स्थित नहीं होती, लोहितवर्ण (लाल रँग की होकर) होकर बारंबार घूर्णित और चञ्चल हो जाय और जिसका मुख ऊष्मा (गरमी) से परिपूर्ण हो और नाभि शीत (ठण्डी) हो जाय उसको वह देह त्यागकर दूसरा देह ग्रहण करना पड़ता है।

स्वप्नेऽग्निं प्रविशेद्यस्तु न च निष्क्रमते पुनः ।

जलप्रवेशादपि वा तदन्तं तस्य जीवितम्॥४३.३१॥

जो पुरुष स्वप्नमें अग्नि वा जलके भीतर प्रवेश करके फिर बाहर न निकल सके उसका जीवन निःशेष हुआ जाने।

यश्चाभिहन्यते दुष्टैर्भूतै रात्रावथो दिवा ।

स मृत्युं सप्तरात्रान्ते नरः प्राप्नोत्यसंशयम्॥४३.३२॥

जो पुरुष दिनमें वा रात्रिकालमें दुष्ट भूतगणोंसे ताड़नाको प्राप्त हो उसको सात रात्रियों के अन्तमें मृत्युके मुखमें गिरना होता है।

स्ववस्त्रममलं शुक्लं रक्तं पश्यत्यथासितम् ।

यः पुमान् मृत्युमासन्नं तस्यापि हि विनिर्दिशेत्॥४३.३३॥

जो व्यक्ति स्वप्नमें अपने शुभ्र वस्त्र को रक्त तथा काला देखता है उसकी मृत्यु आसन्नतम होती है।

स्वभाववैपरीत्यन्तु प्रकृतेश्च विपर्ययः ।

कथयन्ति मनुष्याणां सदासन्नौ यमान्तकौ॥४३.३४॥

स्वभावकी विपरीतता और प्रकृतिका विपर्यय होनेसे यम और अन्तक उस मनुष्यके निकट होते हैं।

येषां विनीतः सततं येऽस्य पूज्यतमा मताः ।

तानेव चावजानाति तानेव च विनिन्दति॥४३.३५॥

बुद्धिमान् पुरुष निश्चय जाने कि काल प्राप्त होनेपर ही मनुष्य पूजनीय पुरुषोंका और जिनके निकट सदा विनीत भावसे रहना उचित है उनका अपमान और निन्दा करता है।

देवान्नार्चयते वृद्धान् गुरून् विप्रांश्च निन्दति ।

मातापित्रोर्न सत्कारं जामातॄणां करोति च॥४३.३६॥

देवताओंकी पूजासे विमुख होता है वृद्ध और ब्राह्मणोंकी निन्दा करता है, माता-पिताका सत्कार तथा जामताका आदर करनेसे विमुख होता है।

योगिनां ज्ञानविदुषामन्येषाञ्च महात्मनाम् ।

प्राप्ते तु काले पुरुषस्तद्विज्ञेयं विचक्षणैः॥४३.३७॥

योगी, ज्ञानी, और अन्यान्य महात्मा सबके ही असत्कारमें उद्यत होता है उसकी आयु समाप्त जाने।

योगिनां सततं यत्नादरिष्टान्यवनीपते ।

संवत्सरान्ते तज्ज्ञेयं फलदानि दिवानिशम्॥४३.३८॥

हे अवनीपते ! योगिगण यत्नसहित निरन्तर इन अरिष्टोंको जान रक्खें कि ये सभी अरिष्ट संवत्सरके अन्तमें दिनरात फल प्रदान करते हैं।

विलोक्या विशदा चैषां फलपङ्क्तिः सुभीषणा ।

विज्ञाय कार्यो मनसि स च कालो नरेश्वर॥४३.३९॥

वह इन समस्त अति भीषण फलोंके प्रति भलीभाँति दृष्टि रक्खें। ये सब फल सहजमें ही जाने जाते हैं। हे नरेश्वर ! इन समस्त फलोंको सम्यक् विधानसे जानकर उनके आगमनका समय सदा मनमें रखना चाहिये।

ज्ञात्वा कालञ्च तं सम्यगभयस्थानमाश्रितः ।

युञ्जीत योगी कालोऽसौ यथा नास्याफलो भवेत्॥४३.४०॥

इस प्रकार योगी कालको उपस्थित जानकर भलीभाँति निर्भय स्थानमें आश्रय लेकर योगमें अभिनिविष्ट हो जिससे कालका बल न चले।

दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृदवाक्यमरुन्धतीम् ।

न जिघ्रन्ति न श्रृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ।।१.८०।। हितोपदेश

दीपक के बुझने की गन्ध, सुहृदों के वाक्य और अरुंधती तारा, इन तीनों को जो व्यक्ति न सूँघ सके अथवा सूँघने में समर्थ न हो, जो अपने सुहृद शुभचिंतकों के वाक्यों को न सुन सके अथवा उपेक्षा कर न सुनना चाहे और अरुंधती तारा को दृष्टि में न ला सके, उस को निश्चय ही गतायुष अर्थात् मृत्यून्मुख जानना चाहिये।

सङ्गति — अब चर्यायोग-साध्य सिद्धियोंको, पूर्वोक्त परिकर्म अर्थात् चित्तशुद्धिसे हुई सिद्धियोंको बतलाते हैं —

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ ३.२३॥

मैत्री-आदिषु = मैत्री आदिमें (संयम करनेसे); बलानि = मैत्री आदि बल प्राप्त होते हैं।

मैत्री आदिमें संयम करनेसे मैत्री आदि बल प्राप्त होता हैं।

मैत्री, करुणा, मुदिता इन तीन भावों में {चित्त की प्रसन्नता करने वाले उपायों में} संयम (धारणा-ध्यान और समाधि का अभ्यास करने से) इन तीनों भावों में अतिशय बल की प्राप्ति होती है।

व्याख्या — प्रथम पादके तैतीसवें सूत्रमें मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा — चार भावनाऐं बतलायी गयी हैं। इनमेंसे पहली तीन भावनाओंमें साक्षात्-पर्यन्त संयम करनेसे योगीका क्रमानुसार मैत्री, करुणा और मुदिता का बल बढ़ जाता है। अर्थात् योगीको मैत्री आदि ऐसी उत्कृष्ट हो जाती है कि सबकी मित्रता आदिको प्राप्त होता है। जब मैत्रीमें संयम करता है तो सब प्राणियोंका सुखकारी मित्र बन जाता है। करुणा में संयम करनेसे दुःखियोंके दुःख दूर करनेकी शक्ति आ जाती है। मुदितामें संयम करनेसे पक्षपाती नहीं होता। चौथा उपेक्षा अर्थात् उदासीनता अभावात्मक पदार्थ है, इस कारण वह संयमका विषय नहीं बन सकता।

सभी सुखी प्राणियोंमें मैत्री की भावना करनेसे मैत्रीका बल प्राप्त होता है। मैत्रीकी भावनासे जो बल बढ़ता है उससे समस्त जीव-लोकको सुखी करता है, जिससे सबका हित होता है। "बल बढ़ता है", माने उसका प्रयत्न बढ़ता है और वह प्रयत्न सफल भी होता है। अन्य लोगोंके साथ मैत्री करनेका प्रयत्न कभी विफल नहीं होता। उसे सबकी मित्रता प्राप्त होती है। जिससे योगी प्राणिमात्र के लिये सुखकर सुहृद् बन जाता है।

परमात्मा की और हम सबकी भी तीन विशेष शक्तियाँ हैं — ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति अर्थात् जानाति, इच्छति, करोति, के अनुसार ज्ञान से इच्छा और इच्छा से ही कर्म होते हैं। अथवा इच्छति, जानाति, प्रयतते पहले किसी वस्तु-विशेषकी इच्छा होती है फिर उसके बारेमें जाननेकी कोशिश करते है तदुपरान्त प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। श्रुतिमें भी बल शब्द इच्छा-शक्तिके लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च।।६.८।।

श्वेताश्वतरोपनिषद्"

सुना जाता है कि वस्तुतः 'उसका' बल, 'उसकी' क्रियाएँ तथा 'उसका' ज्ञान स्वभावतः आत्म-समर्थ तथा स्वयं ही स्वयं का कारण हैं।

"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृति"

"आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः ।

कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्या भवेत्क्रिया।।" आत्मा तो ज्ञान-स्वरुप ही है।

दुःखियों के प्रति करुणा की भावना करनेसे करुणा का बल प्राप्त करता है। करुणाके बल से प्राणियों का दुःखसे अथवा दुःखके हेतुओं से उद्धार करता है।

पुण्य-शील पुरुषोंमें मुदिता (प्रसन्नता,आनन्द) की भावना करनेसे मुदिताका बल प्राप्त करता है।

पाप-शील पुरुषोंकी तो उपेक्षा ही करनी चाहिये न कि भावना।

सङ्गति— अब अगले सूत्रमें लक्ष्ययोगसाध्य सिद्धियोग कहते हैं, एक अन्य प्रकारकी सिद्धि बतलाते हैं।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ ३.२४ ॥

बलेषु = बलोंमें (संयम करनेसे) हस्ति-बल-आदीनि = हाथी आदिके बल प्राप्त होते हैं।

हाथी आदिके बलोंमें संयम करनेसे हाथी आदिके बल प्राप्त होते हैं। “आदि” शब्दसे गरुड, वायु, हनुमान, वराह, शेषनाग, नृसिंह आदि का ग्रहण करना चाहिये।

“भावनासंयमात् योगी हस्त्यादिष्वपि संयमात्।

अनुत्तमं तथा शीघ्रं तत्तदापद्यते बलम् ॥ १५६॥ योगसूत्रसारः”

अलग-अलग प्रकारकी भावनाओंमें उन-उन मैत्री आदि भावनाओंकी सिद्धि तथा अलग-अलग प्रकारके बलों में संयम करनेसे योगी को हाथी, हनुमान, गरुड़, वायु आदि के समान सर्वोत्तम तथा शीघ्रही उन अलग-अलग प्रकार के बलों का आविर्भाव हो जाता है।

व्याख्या — जब योगी हाथी, सिंह आदिके बल और वायु आदिके वेगमें तन्मय भावसे तदाकार होकर साक्षात्-पर्यन्त संयम करता है तो उन जैसे बलों को प्राप्त होता है अर्थात् जिसके बल में संयम किया जाता है वही बल प्राप्त होता है। उन-उनके जैसी सामर्थ्य का प्रादुर्भाव होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि योगजधर्म (संयम) का अचिन्त्य प्रभाव होता है। कहावत भी है कि हम जैसा सोचते हैं वैसे ही हो जाते हैं।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें शिवयोगद्वारा साध्य, सिद्धि के बारेमें बताते हैं।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ ३.२५॥

प्रवृति-आलोक-न्यासात् = प्रवृत्तिके प्रकाश ड़ालनेसे; सूक्ष्म = सूक्ष्म (इन्द्रियातीत); व्यवहित = व्यवधानवाली (आड़ में रहनेवाली); विप्रकृष्ट = दूरकी वस्तुओंका; ज्ञानम् = ज्ञान होता है।

प्रवृत्तिके प्रकाश ड़ालनेसे सूक्ष्म (इन्द्रियातीत) व्यवहित = व्यवधानवाली (आड़ में रहनेवाली) और विप्रकृष्ट = दूरकी वस्तुओंका ज्ञान होता है।

“ज्योतिष्मत्या प्रवृत्त्या च प्रकाशन्यासतश्च धीः।

सूक्ष्मस्य विप्रकृष्टस्य तथा व्यवहितस्य च ॥ १५७ ॥ योगसूत्रसारः”

व्याख्या — प्रथम पादके “विशोका वा ज्योतिष्मती ॥१.३६॥” छत्तीसवें सूत्रमें बतलायी हुई मनकी ज्योतिष्मती प्रवृत्तिके प्रकाशको जब योगी संयमद्वारा किसी सूक्ष्म (इन्द्रियातीत) जैसे कि अदृश्य परमाणु आदि, व्यवहित (ढके हुए) जैसे भूमिके अंदर दबी हुई खानें, दीवारकी ओटमें छिपी हुई वस्तुऐं, शरीरके अंदरके भाग इत्यादि, विप्रकृष्ट – दूरस्थ वस्तुऐं जहाँ आँख नहीं पहुंचती, वहाँ उस ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश को ड़ालता है तब उनका उसको प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। जैसे सूर्यादिके प्रकाशसे घटादि प्रत्यक्ष होते हैं वैसे ही ज्योतिष्मती के प्रकाशमें सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट वस्तुका ज्ञान होता है। जैसे किसी चीजको देखनेके लिये आँख का प्रयोग किया जाता है वैसे ही सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुके लिये संयमयुक्त प्रकाश का प्रयोग किया जाता है। यहाँ ज्योतिष्मती शब्द का अर्थ है बुद्धि और पुरुष से भिन्न साक्षात्काररुपिणी मनकी प्रवृत्ति।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी॥१.३५॥

“ज्योतिष्मती, प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी”

विषयवती और ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के बारेमें प्रथम पादमें बता चुके हैं। ज्योतिष्मती, स्पर्शवती, रसवती तथा गन्धवती ये चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। योग की प्रवृत्तियों के प्रथम लक्षण में पतंजलि ने स्वयं ज्योतिष्मती. गंधवती, स्पर्शवती, एवं रसवती इन चार योग

वृत्तियों में से किसी एक लक्षण के प्रकट हो जाने पर योग शक्ति में उसके प्रवेश का लक्षण बताया है। इनमें से मन की ज्योतिष्मती माने प्रकाशवती प्रवृत्ति के प्रकाश में (सात्विक आलोकमें) अच्छे प्रकार संयम करने से अत्यंत छोटा या व्यवहित = जो वस्तु किसी से ढकी हो या छुपी हो और विप्रकृष्ट = जो वस्तु कहीं दूर देश में स्थित हो उन सूक्ष्म, ढकी और दूरस्थ सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती परा।

गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः।।

आसां योगप्रवृत्तीनां यद्येकापि प्रवर्तते।

प्रवृत्तयोगं तं प्राहुर्योगिनो योगचिन्तकाः ॥

अर्थात् ज्योतिष्मती, स्पर्शवती, रसवती तथा गन्धवती ये चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ है । इन योगप्रवृत्तियों में से यदि कोई एक भी उत्पन्न हो जाए, तो योगविचारक उस साधक-योगीको "प्रवृत्तयोग" कहते है। अर्थात् योगमें प्रवृत्त हुआ बतलाते हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के दूसरे अध्यायमें बताया गया है कि —

"पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥१२॥ "

जब योगी के समक्ष योग के द्वारा योग के पाँच गुण प्रकट हो जाते हैं तब उसे योगाग्नि से बना शरीर प्राप्त हो जाता है और तब वह रोग, जरा, मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

जब योगी द्वारा मन की प्रकाशमय प्रवृत्ति में संयम किया जाता है। तब उसे जो वस्तु या पदार्थ साधारण मनुष्योंको दिखाई नहीं देते, जो किसी आवरण या पर्दे के अन्दर हैं या किसी दूर देश में स्थित हैं। उन सभी वस्तुओं का उसे भली-भाँति ज्ञान हो जाता है ।

संयमके अभ्याससे अन्तःकरण के साथ-साथ इन्द्रियों में भी प्रकृष्ट शक्ति प्राप्त होती है, जिससे सूक्ष्म परमाणु आदि, व्यवहित भूमि के अन्तर्गत दबे हुए धन आदि, विप्रकृष्ट मेरु और हिमालय आस-पास जो रसायनादि छिपे हुए हैं उन सबका ज्ञान हो जाता है।

इस सूत्रके द्वारा वेदोंमें बताये हुए "एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति," जिस एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान होता है। इसका भी व्याख्यान हो जाता है। आत्मविषयक संयम के सिद्ध हो जानेपर किसी भी अन्य संयम की अपेक्षा नहीं रहती है। उन-उन संयमोंके बिना ही आत्मसंयम के माहात्म्य से ही सभी विषयोंका भान हो जाता है। अब यदि कहो कि यह आत्मा का उत्कर्ष क्या है? जिसमें संयम करनेसे सभीका ज्ञान हो जाता है तो सुनिये। जीवके स्वामी परमेश्वर हैं क्योंकि वे ही कारण हैं जैसे जल पृथ्वीका कारण है। प्रकृति के धारक, साक्षी और प्रेरक होनेसे ईश्वर में कारणता वेदों में प्रसिद्ध है, इसीको मिट्टी, सोना और लोहेके दृष्टान्त देकर समझाया गया है। जैसे यदि एक स्वर्ण का ज्ञान हो जाय तो स्वर्ण से बने सभी आभूषणोंका ज्ञान हो जाता है क्योंकि वे सब स्वर्ण के ही विकार है। वैसे ही कारण के ज्ञानसे कार्यका ज्ञान हो जाता है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें इसीके समान एक और संयम की सिद्धि बतलाते हैं — अबतक इस लोक का ज्ञान बताया अब आगे परलोक का ज्ञान बतायेंगे –

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ ३.२६॥

भुवन-ज्ञानं = भुवनका ज्ञान; सूर्ये-संयमात् = सूर्यमें संयम करनेसे होता है।

सूर्यमें संयम करनेसे भुवनका ज्ञान होता है।

व्याख्या — प्रकाशमय सूर्यमें साक्षात्-पर्यन्त संयम करनेसे भू:, भुवः अर्थात् अंतरिक्ष, स्व: अर्थात् इन्द्र-लोक आदि सातों लोकोंमें जो भुवन हैं अर्थात् जो विशेष सीमावाले स्थान हैं, उन सबका यथावत् ज्ञान होता है। पिछले पच्चीसवें सूत्रमें सात्विक प्रकाशके आलम्बनसे संयम कहा गया है, इस सूत्रमें भौतिक सूर्यके प्रकाश द्वारा संयम बताया गया है, किंतु सूर्यका अर्थ सूर्यद्वारसे लेना चाहिये और यहाँ सूर्यद्वारसे अभिप्राय सुषुम्ना है। उसीमें संयम करनेसे उपर्युक्त फल प्राप्त हो सकता है। श्रीव्यासजीने भी सूर्यका अर्थ सूर्यद्वार ही किया है। तथा मुण्डकोपनिषद में भी सूर्यद्वारका वर्णन है। "सूर्यद्वारेण ते विरजाः"

'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥१.२.११॥

जो अरण्य में अपनी श्रद्धा एवं तपश्चर्या का पालन करते हुए शान्त-चित्त एवं ज्ञाननिष्ठ भाव से भिक्षावृत्ति के द्वारा जीवनयापन करते हैं, वे अपनी कामनाओं की धूलि (रज) से मुक्त होकर सूर्य के द्वार से निकलकर वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ 'अव्ययात्मा', 'अमृत-पुरुष' विद्यमान है।'

इस विषय में वाचस्पति मिश्रजी भी कहते हैं कि संयम का विषय सुषुम्ना नाड़ी होती है । जिसे सूर्यका द्वार माना जाता है। अर्थात् प्रकाशका द्वार माना जाता है। इसलिए जब योगी सूर्य में संयम करता है तो उसे भुवन माने सभी लोक-लोकान्तरों का ज्ञान हो जाता है। वास्तवमें कुण्डलिनी जाग्रत् होनेपर सुषुम्ना नाड़ी में जब सारे स्थूल प्राणादि प्रवेश कर जाते हैं तभी इस प्रकारके अनुभव होते हैं। उस समय संयमकी भी आवश्यकता नहीं रहती, किंतु जिधर वृत्ति जाती है अथवा जिसका पहलेसे ही संकल्प कर लिया है उसीका साक्षात्कार होने लगता है।

"ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।

माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः।।"

ब्रह्मलोक तीन भूमिकाओं वाला है (जनलोक, तपलोक, सत्यलोक) प्राजापत्य लोकको महर्लोक कहते हैं। माहेन्द्र लोकको स्वर्ग कहते हैं। ताराओंके लोकको द्युलोक कहते हैं और मनुष्यलोकको भूलोक कहते हैं।

भूलोक के ऊपरी भागको सात द्वीपों और सात महासागरों में विभक्त किया गया है।

सात द्वीप — १. एशियाका दक्षिण भाग अर्थात् हिमालय-पर्वतके दक्षिणमें जो अफगानिस्तान, भारतवर्ष, म्यांमार और थाईलेण्ड आदि देश हैं।

२. एशियाका उत्तरीभाग अर्थात् हिमालय-पर्वतके उत्तरमें तिब्बत, चीन तथा तुर्कमेनिस्तान इत्यादि।

३. यूरोप

४. अफ्रीका

५. उत्तरी अमेरिका

६. दक्षिणी अमेरिका

७. भारतवर्षके दक्षिण-पूर्वमें जो जावा, सुमात्रा और आस्ट्रेलिया आदिका द्वीप-समूह है।

सात महासागर — १. हिन्द महासागर (Indian Ocean)

२. प्रशान्त महासागर (Pacific Ocean)

३. अन्ध महासागर (atlantic ocean)

४. उत्तर हिम-महासागर (Arctic Ocean)

५. दक्षिण हिम-महासागर (antarctic ocean)

६. अरब सागर (Arabian Sea)

७. भूमध्य सागर (Mediterranean Sea)

स्थूल भूतोंकी स्थूलता और तमस् के तारतम्यके क्रमानुसार पृथिवीके नीचे भागको सात अधोलोकोंमें नरक-लोकोंके नामसे विभक्त किया गया है। इनके साथ जो जलके भाग हैं उनको सात पातालोंके नामसे दर्शाया गया है तथा इन तामसी स्थानोंमें रहनेवाले मनुष्यसे नीची राजसी, तामसी योनियोंको असुर, राक्षस आदि नामोंसे वर्णन किया गया है।

जिस प्रकार पृथ्वीके ऊपर छः और लोक हैं, इसी प्रकार पृथ्वीसे नीचे चौदह और लोक हैं उनमें सबसे नीचा १. अवीचि नामका नरक है। उसके ऊपर २. महाकाल नामका नरक है जो मिट्टी, कंकड़, पाषाणादिसे युक्त है। उसके ऊपर ३. अम्बरीष नरक है जो जलपूरित है। उसके ऊपर ४. रौरव नरक है जो अग्निसे भरा हुआ है। उसके ऊपर ५. महारौरव नरक है जो वायुसे भरा हुआ है। उसके ऊपर ६. महासूत्र नरक है जो अंदरसे खाली है। उसके ऊपर ७. अन्धतामिस्र नरक है जो अन्धकारसे व्याप्त है। ये सात महानरक हैं, अन्य दूसरे उपनरक जैसे कि विविध दुःखमय तामिस्र, अन्धतामिस्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, मदशतप्रभूमि, वज्रकण्टक, शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विषसन, लालाभक्षण, सारमेयादन, मदीचि, अयपान, क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन, सूचिमुख आदि अनेकों हैं, जो इन महानरकों के आस-पास ही अवस्थित हैं। ये सारे नरक भूलोकके ही अंश हैं। इन नरकोंमें वे ही पुरुष जो काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, असूया, मदमात्सर्यादि से युक्त हैं, दुःख देनेवाली दीर्घ आयुको प्राप्त होते हैं। जिनको अपने किये हुए पाप-कर्मोंका दुःख भोगना होता है। इन नरकोंमें परवित्तकलत्रापहारक, (दूसरेके धन और स्त्री का हरण करनेवाले) परवञ्चक, (ठग) भूतद्रोह, (प्राणियोंका द्रोह करनेवाले) कुटुम्बादिके अपोषक, देहम्भर, (अपनाही पेट भरने वाले) पशुपक्षिप्राणपीडक, पितृगुर्वादिविद्वेशक, पाखण्डधर्मपोषक (अवैदिक) रुधादण्डप्रद, (क्रोधसे दण्ड देनेवाले) अविवेकी, मत्कुणविघातक, स्वयमेवमिष्टान्नभोजी, बलात्कार-पूर्वक परस्वाऽपहारक, परवधूरत, धर्मनाशक, वृषलीपति, मृगयासक्त, दाम्भिकयाजक, सवर्णभार्यागामी, गरदाग्निद, (जहर देनेवाले, आग लगाने वाले) मिथ्यावादि, सुरापायि, विद्यादिमद्द्वेषि, (विद्वानोंका द्वेष करनेवाले और विद्वानों के जैसी वेश-भूषा धारण करने वाले) कहावत भी है {बड़ा धोता, बड़ा पोथा, पण्डिता पगड़ा बड़ा, मतलब ढोंगी} भूतोद्वेजक, (समाजमें तहलका मचानेवाले) अतिथिविद्वेषक, कृपण, पिशुन, (चुगलखोर) गणिकागामि, विपरीतधर्माचारी, आदि नानाविध यातनाओं से पीड़ित होकर हाय-हाय करते हुए रोते हुए निवास करते हैं।

इन नरकोंके साथ ही महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल — ये सात पाताल हैं।

महातलमें तक्षक आदि निवास करते हैं।

रसातलमें दैतेय, दानव, निवातकवच आदि निवास करते हैं।

अतल में मयासुरके पुत्रादि असुर निवास करते हैं।

सुतल में भगवान् के अनुग्रह से महाराज बलि जिन्होंने भगवान् को आत्मनिवेदन किया था वे अपने गणों के निवास करते हैं।

वितल में भगवान् हाटकेश्वर भवानी के साथ विहार करते हैं। जहाँ से हाटकी नामकी नदी निकलती है, वहाँ उनके भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मार, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड, विनायक आदि निवास करते हैं।

तलातल में मय और मायावी तथा उनके अनुगामी निवास करते है।

पाताल में वासुकि आदि नागाधिपति सपरिवार निवास करते हैं।

इन सब पाताल, समुद्र और पर्वतोंमें असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सराऐं, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड और विनायक नामवाले देवयोनि-विशेष (मनुष्योंकी अपेक्षा निकृष्ट अर्थात् राजसी- तामसी प्रकृतिवाले प्राणधारी) निवास करते हैं। और जम्बूद्वीपके सिवाय अन्य द्वीपोंमें देव-मनुष्य निवास करते हैं।

भूलोक — इन सातों तलों के ऊपर आठवीं यह भूमि है जिसको वसुमती कहते हैं, जो सात द्वीपोंसे युक्त है। पुराणोंमें द्वीपोंके नाम इस प्रकार हैं — १. जम्बूद्वीप २. प्लक्षद्वीप ३. शाल्मलद्वीप ४. कुशद्वीप ५. क्रौंचद्वीप ६. शाकद्वीप ७.पुष्करद्वीप।

भुवर्लोक — पृथ्वीके ऊपर अन्तरिक्ष लोक है जिसमें ग्रह (बुध, शुक्र आदि जो कि सूर्यके चारो तरफ घूमते हैं) यह लोक ग्रह, नक्षत्र, तारोंसे चित्रित लोक है (यह अन्तरिक्ष लोक ही भुवः-लोक कहलाता है) नक्षत्र (अश्विनी आदि जिनमें चन्द्रमा गति करता है) तारका (ग्रहों और नक्षत्रोंसे भिन्न अन्य तारे तथा तारामण्डल) भ्रमण करते हैं। ये सब ग्रह, नक्षत्र आदि, ध्रुव नामक ज्योति (पोल स्टार) के साथ वायुरुप रज्जुसे बँधे हुए (वायु-मण्डल में स्थित) वायुके नियत संचार से लब्ध संचारवाले होकर, ध्रुवके चारों ओर भ्रमण करते हैं। इसमें सूर्य-मण्डल, चंद्र- मण्डल, नक्षत्र-मण्डल, बुध-मण्डल, शुक्र-मण्डल, मंगल-मण्डल, बृहस्पति- मण्डल, शनि-मण्डल, सप्तर्षि-मण्डल और अन्त में ध्रुव-मण्डल तक इसकी सीमा है।

इसके ऊपर स्वर्गलोक है। जिसको माहेन्द्र-लोक कहते हैं। इस लोकमें त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित-वशवर्ती, परिनिर्मित-वशवर्ती ये छः देवयोनि-विशेष निवास करते हैं। ये सब देवता सङ्कल्पसिद्ध, (संकल्पमात्रसे ही इनके सम्मुख विषय उपस्थित हो जाते हैं) अणिमादि ऐश्वर्य से सम्पन्न और कल्प पर्यन्त आयुवाले, वृन्दारक (पूजने योग्य) कामभोगी और औपपादिक देहवाले (बिना माता-पिताके दिव्य शरीरवाले) हैं; और उत्तम अनुकूल अप्सराऐं इनकी स्त्रियाँ हैं।

इस स्वर्गलोकसे ऊपर महर्लोक है (महान् नामक स्वर्ग-विशेष है) जिसको महालोक तथा प्राजापत्यलोक भी कहते हैं। इसमें कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ, प्रचिताभ — ये पाँच प्रकारके देवयोनि-विशेष काम करते हैं। ये सब देवविशेष महाभूतवशी (जिनकी इच्छामात्रसे महाभूत कार्यरुपमें परिणत होते हैं) और ये ध्यानाहार (बिना अन्नादिके सेवन किये ध्यानमात्रसे तृप्त और पुष्ट होनेवाले) तथा सहस्र कल्प आयुवाले हैं।

महर्लोकसे आगे जनःलोक है जिसको प्रथम ब्रह्मलोक कहते हैं। इस जनःलोकमें ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक, और अजरामर — ये चार प्रकारके देवयोनि-विशेष निवास करते हैं। ये भूत तथा इन्द्रियोंको स्वाधीन रखनेवाले हैं। पञ्च-तन्मात्राऐं इनके वशमें होती हैं।

जनःलोकसे आगे तपोलोक है जिसको द्वितीय ब्रह्मलोक कहते हैं। तपोलोकमें आभास्वर, महाभास्वर, सत्यमहाभास्वर — ये तीन प्रकारके देवयोनि-विशेष निवास करते हैं, जो भूत, इन्द्रिय, प्रकृति (अन्तःकरण) — इन तीनोंको स्वाधीन करणशील हैं। और पूर्वसे उत्तर-उत्तर दुगने-दुगने आयुवाले हैं। ये सभी ध्यानाहार ऊर्ध्वरेतस (जिनका बीर्यपात कभी नहीं होता) हैं। ये ऊर्ध्व—सत्यादि लोकमें अप्रतिहत ज्ञानवाले और अधर, अवीचि आदि लोकोंमें अनावृत ज्ञानवाले अर्थात् सब लोकोंको यथार्थरुपसे जाननेवाले हैं।

तपोलोकसे आगे सत्यलोक है जिसको तृतीय ब्रह्मलोक कहते हैं। इस मुख्य ब्रह्मलोकमें अच्युत, शुद्ध-निवास, सत्याभ, संज्ञासंज्ञी — ये चार प्रकारके देवता -विशेष निवास करते हैं। ये अकृत-भवनन्यास (किसी एक नियत गृहके अभाव होनेसे अपने शरीररूप गृहमें ही स्थित) होनेसे स्वप्रतिष्ठित हैं क्योंकि वहाँ आधारका अभाव है इसलिये इनको रहनेके लिये कोई घर नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि सत्य-लोक में भी अवान्तर-लोक-भेद हैं। और ये सब यथाक्रमसे ऊंची-ऊंची स्थितिवाले हैं। ये प्रधान (अन्तःकरण) को स्वाधीनकरणशील अर्थात् (सत्त्व-रजस्-तमस्) इनकी इच्छासे कार्य करते हैं। और पूरे सर्ग-काल पर्यन्त आयुवाले होते हैं। लोक सात ही हैं, अवान्तर भेदसे चौदह भुवन कहे जाते हैं। इस प्रकार संक्षेपसे भुवन शब्दकी व्याख्या हुई।

“ब्रह्मणासह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानःप्रविशन्ति परं पदम्॥ १२.२७३॥ कूर्मपुराणम्”

ब्रह्माजीके साथ ही इनका लय होता है, द्विपरार्ध के अन्त में ये कृतात्मा (अमलात्मा) परं पद में प्रवेश करते हैं।

“अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।

ईदृशानां तथा तत्र कोटि-कोटि-शतानि च॥ २.७.२७ ॥ विष्णुपुराणम्”

इस प्रधान में (प्रकृति में) ऐसे हजारों, लाखों तथा करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं। यह हमारा ब्रह्माण्ड तो आकाशमें एक खद्योत के समान है। एक सरसोंके दाने के बराबर है।

“मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं च महेश्वरम् ।

तस्यवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥४.१०॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्”

माया को प्रकृति की शक्ति जानो तथा माया के अधीश्वर को ‘महेश्वर’ समझो; ‘उसी’ (महेश्वर) के अवयव रूप सम्भूतियों से यह समस्त जगत् व्याप्त है।

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ ५.१०.१॥ बृहदारण्यकोपनिषद

मनुष्य जब इस संसार से विदा होता है, तो वह वायु में पहुंच जाता है। उसके लिए हवा रथ के पहिये के छेद की तरह चौड़ी हो जाती है। इस उद्घाटन के माध्यम से वह चढ़ता है और सूर्य तक पहुंचता है। सूरज उसके लिए वहाँ खुलता है, जो एक लंबर के छेद जितना चौड़ा होता है। इस उद्घाटन से वह चढ़ता है और चंद्रमा पर पहुंचता है। चाँद उसके लिए वहाँ खुलता है, जो ढोल के छेद जितना चौड़ा होता है। इस उद्घाटन के द्वारा वह चढ़ता है और दु:ख और ठंड से मुक्त दुनिया में पहुंचता है। वहाँ वह उस ब्रह्मलोक में कई कल्पों तक अर्थात् अनंत वर्षो तक रहता है।

“वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥३.२.६॥ मुण्डकोपनिषद्"

वे तपस्वीजन जिन्होंने वेदान्त के समग्रज्ञान (विज्ञान) के लक्ष्य को निश्चित रूप से जान लिया है, संन्यासयोग के द्वारा जिनकी अन्तर सत्ता पूर्णतः परिशुद्ध हो चुकी है, वे सब अपने अन्तकाल में, मृत्यु के परे जाकर ब्रह्मलोक में सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

"अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८.८।। श्रीमद् भगवद्गीता"

हे पार्थ अभ्यासयोगयुक्त अनन्यगामी चित्तद्वारा अर्थात् चित्तसमर्पणके आश्रयभूत मुझ एक परमात्मामें ही विजातीय प्रतीतियोंके व्यवधानसे रहित तुल्य प्रतीतिकी आवृत्तिका नाम अभ्यास है वह अभ्यास ही योग है ऐसे अभ्यासरूप योगसे युक्त उस एक ही आलम्बनमें लगा हुआ विषयान्तरमें न जानेवाला जो योगीका चित्त है उस चित्तद्वारा शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार चिन्तन करता हुआ योगी परम निरतिशय — दिव्य पुरुषको — जो आकाशस्थ सूर्यमण्डलमें परम पुरुष है — उसको प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।८.१४।। श्रीमद् भगवद्गीता

अनन्यचित्तवाला अर्थात् जिसका चित्त अन्य किसी भी विषयका चिन्तन नहीं करता ऐसा जो योगी सर्वदा निरन्तर प्रतिदिन मुझ परमेश्वरका स्मरण किया करता है। यहाँ सततम् इस शब्दसे निरन्तरताका कथन है और नित्यशः इस शब्दसे दीर्घकालका कथन है अतः यह समझना चाहिये कि छः महीने या एक वर्ष ही नहीं किंतु जीवनपर्यन्त जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है। हे पार्थ उस नित्यसमाधिस्थ योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। अर्थात् उसको मैं अनायास प्राप्त हो जाता हूँ। जब कि यह बात है इसलिये (मनुष्यको) अनन्य चित्तवाला होकर सदा ही मुझमें समाहितचित्त रहना चाहिये।

सूर्यके भौतिक स्वरूपमें संयमद्वारा योगीको भूलोक अर्थात् पृथ्वी-लोक और भुवःलोक अर्थात् अन्तरिक्षलोकके अन्तर्गत सारे स्थूल लोकों का सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है और इसी संयममें पृथ्वीका आलम्बन करके अथवा केवल पृथिवीके आलम्बनसहित संयमद्वारा पृथिवीके ऊपरके द्वीपों, सागरों, पर्वतों आदि तथा उसके अधोलोकों का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

ध्यानकी अधिक सूक्ष्म अवस्थामें इसी उपर्युक्त संयमके सूक्ष्म हो जानेपर अथवा सूर्यके अध्यात्म सूक्ष्म स्वरूपमें संयमद्वारा सूक्ष्म लोकों अर्थात् स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यलोकका ज्ञान प्राप्त होता है।

इस संयमका उपयोग यह है कि यह नानाविध लोक गतियों को देख कर अत्यन्त वैराग्य हो जाय, ऐसा समझना चाहिये।

सङ्गति — अगले सूत्रमें अन्य भौतिक प्रकाशोंको संयमका विषय बनाकर भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ कहते हैं —

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ ३.२७ ॥

चन्द्रे = चन्द्रमा में (संयम करनेसे); तारा-व्यूह-ज्ञानम् = ताराओंके व्यूहका (नक्षत्रोंके स्थान-विशेषका) ज्ञान होता है।

चन्द्रमा में संयम करनेसे ताराओंके व्यूहका (सभी नक्षत्रोंकी, सभी तारों की ठीक-ठीक स्थिति की जानकारी हो जाती है, स्थान-विशेषका) ज्ञान होता है।

व्याख्या — ताराव्यूह माने नक्षत्र-मण्डल, ताराओंकी स्थितिका अर्थात् अमुक तारा अमुक स्थान पर है इसका यथावत् ज्ञान चन्द्रमा में संयम करनेसे होता है। पृथिवी एक दिनमें प्रायः दो-दो घण्टोंमें एक-एक राशिके हिसाबसे, बारह राशियोंको एक बार देखा करती है और एक-एक राशिमें एक-एक मासतक निवास करती हुई बारह राशियोंका चक्कर बारह मासोंमें अर्थात् एक वर्षमें पूरा करती है; परन्तु चन्द्रमा चूँकि अपने चान्द्रमासमें एक बार पृथिवीके चारों ओर घूमता है, अर्थात् एक चान्द्रमासमें बारह राशियोंमें एक बार घूम लेता है, इसलिये एक वर्षमें चन्द्र बारह राशियोंमें बारह बार घूमेगा। इस कारण चन्द्रमें संयमद्वारा योगीको राशि-चक्रका ज्ञान सुगम रीतिसे हो सकता है। ज्योतिषका यह सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं, उन सबमें चन्द्र एक राशिपर सबसे कम समयतक रहता है, इस हिसाबसे प्रत्येक तारा व्यूह राशिकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिके साथ चन्द्रका अतिघनिष्ट सम्बन्ध है। अतः उस आकर्षण-विकर्षण शक्तिके आलम्बनसे युक्त तारा व्यूहके ज्ञानमें चन्द्रकी सहायता ली जा सकती है।

ताराओंका माने ज्योतिपुञ्जोंका जो व्यूह अर्थात् एक विशिष्ट सन्निवेश उसका ज्ञान चन्द्रमामें संयम करने से होता है क्योंकि सूर्यके प्रकाशमें ताराओंका तेज ढ़क जाता है इसलिये सूर्यमें संयम करनेसे उनका ज्ञान होना सम्भव नहीं है, इसलिये अलगसे उपाय बताया गया है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें नक्षत्रादि के ज्ञानका फल बतलाते हैं —

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ ३.२८ ॥

ध्रुवे = ध्रुवमें संयम करनेसे; तद्- गति-ज्ञानम् = उनकी (ताराओंकी) गतिका ज्ञान होता है।

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका ज्ञान होता है।

"सूर्ये च संयमाज्ज्ञानं भुवनस्यापि जायते ।

ताराव्यूहादिज्ञानं च शशाङ्कध्रुवसंयमात् ॥ १५८ ॥ योगसूत्रसारः"

सूर्यमें संयम करनेसे चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डका ज्ञान तथा चन्द्र एवं ध्रुवमें संयम करनेसे ताराव्यूह का (तारा समूह की गतिका) ज्ञान और उन ताराओंकी भिन्न-भिन्न गतियोंका सम्पूर्णतया ज्ञान होता है।

व्याख्या — ध्रुव सब ताराओंमें प्रधान तथा निश्चल है। इसीलिये उसमें संयम करनेसे प्रत्येक ताराकी गतिका ज्ञान, नियत काल और नियत देश-सहित हो जाता है। अर्थात् इतने समयमें यह तारा, यह ग्रह अमुक राशि, अमुक नक्षत्रमें जायगा। इससे काल का ज्ञान होता है यह फल निकला। इस कालमें इस ग्रह से यह ग्रह विरुद्ध है, इस समय में इस ग्रह का उदय होगा और इस कालमें इस ग्रह का अस्त होगा और इसके द्वारा प्राणियोंके शुभाशुभ इत्यादि को जानता है।

व्यासभाष्यमें इतना और विशेष लिखा है कि — ऊर्ध्व (आकाशमें उड़नेवाले) देवताओंके विमानोंमें संयम करनेसे उनका ज्ञान होता है।

सङ्गति — अबतक बाहरकी सिद्धियोंका प्रतिपादन किया, अब आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) माने शरीरके अन्दरकी सिद्धियोंका आरम्भ करते हैं —

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ ३.२९ ॥

नाभि-चक्रे = नाभि-चक्रमें संयम करनेसे; काय-व्यूह-ज्ञानम् = शरीरके व्यूहका ज्ञान होता है।

नाभि-चक्रमें संयम करनेसे शरीरके व्यूहका ज्ञान होता है।

व्याख्या — दश-पत्र या दस-दल दस अरों (सिरों) वाला नाभिचक्र, शरीरके मध्यमें है और सब ओर फैली हुई नाड़ियों आदिका विशेष स्थान है। इसीलिये इसमें संयम करनेसे शरीरमें रहनेवाली वात, पित्त, कफ — तीनों दोष और त्वचा, रक्त, मांस, नाड़ी, हड्डी, चरबी, वीर्य — सातों धातुओंकी स्थिति आदिका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। पेट के मध्य में स्थित नाभिप्रदेश (नाभिचक्र) में संयम करने से योगी को (सम्पूर्ण शरीर-संस्थान का) पूरे शरीर की संरचना या बनावट का ज्ञान हो जाता है। इस नाभिचक्रके ज्ञानसे जीवके देहान्तर प्रवेश को भी जाना जा सकता है। नाभि-चक्र शारीरिक प्रक्रियाओं को संतुलित रखने में प्रमुख योगदान करता है। इसका दूसरा नाम मणिपुर-चक्र या अग्नि-चक्र भी है।

“अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥२.२.६॥ मुण्डकोपनिषद्”

रथ के चक्र की नाभि में जुड़े हुए अरों की भाँति जहाँ नाड़ियाँ एकत्रित हो जाती हैं, ‘वह’ ही है जो अन्तर में विचरण करता है, — ‘वही’ बहुविध रूप में जन्म लेता है। ‘आत्मा’ का ‘ओम्’, के रूप में ध्यान करो, तथा अन्धतमस् से परे उस पार जाने का तुम्हारा मार्ग मंगलमय (स्वस्ति) हो।

विश्व-चक्र —

“तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः। अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥१.४॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्”

ऋषियों ने एक चक्र या पहिया देखा जिसमें एक नेमि है, तीन वृत्त हैं, सोलह सिरे या अन्त-भाग हैं, पचास अरें हैं, बीस प्रत्यरे हैं, छः अष्टक हैं, भिन्न-भिन्न रूपों का एक पाश है जिसके द्वारा तीन भिन्न-भिन्न मार्गों पर वह चालित होता है तथा (पुण्य-पाप) ये दो निमित्त हैं। और एक मोहवाले कारण को देखा।

शब्दार्थ — उन ब्रह्मवादी ऋषियोंने समाधि अवस्थामें (तम्) उस संसार रूपी ब्रह्मचक्रको देखा (एकनेमिं) एक प्रकृति रूप नेमि माने परिधि – घेरा वाला, त्रिवृतम् = तीन सत्त्व, रज और तम रुप लपेटों वाला, षोडशान्तम् १६ प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म , लोक, और नाम। अथवा सोलह विकार, पाँच भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ — ये जिस आत्माके अन्त — अवसान यानी विस्तारकी समाप्ति हैं उस सोलह अन्तोंवाले {उस आत्माको कारणरूपसे देखा।}

शतार्धारम् – शत+अर्ध+अरम् = सौ के आधे यानी ५० अरे अर्थात् ५ विपर्यय, २८ अशक्ति, ९ तुष्टि, और ८ सिद्धि नामक पचास प्रत्ययभेद जिसके अरोंके समान हैं उस पचास अरोंवाले चक्रको देखा। ५+२८+९+८ =५०

तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र ये पाँच विपर्ययके भेद हैं। इन्हीको अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश भी कहते हैं।

अशक्ति अठ्ठाईस प्रकारकी है, तुष्टि नौ प्रकारकी और सिद्धि आठ प्रकारकी। ये ही पचास प्रत्ययभेद हैं।

अशक्ति माने कमजोरी या निर्बलता । ये कमजोरी सांख्य में बुद्धि और इन्द्रियों का बध या विपर्यय है। हाथ पैर आदि इन्द्रियों और बुद्धिका बेकाम होना। विशेषरुपसे — ये अशक्तियाँ अटठाईस हैं । इंद्रियाँ ग्यारह है, उनमें अन्धा होना, बहरा, लूला, लंगड़ा-होना आदि ग्यारह तो इन्द्रियोंकी अशक्तियाँ हुई। इसी प्रकार बुद्धिकी दो अशक्तियाँ है तुष्टि और सिद्धि । तुष्टि नौ हैं और सिद्धि आठ। इन सबके विपर्यय को अशक्ति कहते हैं। कुल मिलाकर ये अठ्ठाईस अशक्तियाँ हैं।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और मन और इन्हीं की ११ अशक्तियां इन्द्रियों की हैं, पुरुषार्थकी योग्यतारूप तुष्टियोंसे विपरीत नौ अशक्तियाँ अन्तःकरणकी हैं और आठ अशक्तियाँ सिद्धियोंसे विपरीत हैं।

अब ९ प्रकारकी तुष्टि बतलाते है — चार तो प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामवाली तथा पाँच विषयोंसे उपरति हो जानेसे होती है। अर्थात् एक प्रकृति के ज्ञान मात्र में संतुष्ट, दूसरी संन्यासचिन्हों के धारण अर्थात् वैराग्य में संतुष्ट, तीसरी यह समझने में कि काल ही सब कुछ करता है इसीमें संतुष्ट, चौथी भाग्य के भरोसे में संतुष्ट, (५) पाँचवीं यह मानकर कि विषयोंका मिलना असम्भव है, तो उपरत होकर सन्तुष्ट हो जाता है। (६) विषयोंका उपार्जन तो सम्भव है पर उपार्जित विषयोंकी रक्षा करना सम्भव नहीं है, अतः उनसे उपरत होकर सन्तोष कर लेता है। (७) कोई विषयोंमें न्यूनाधिकतादि दोष देखनेसे उनसे उपरत होकर सन्तुष्ट हो जाता है। (८) विषयोंकी इच्छा उनके भोगसे कभी शान्त नहीं होती अतः इन विषयोंके भोगको छोड़ो — इस प्रकार विषयासक्तिमें दोष देखकर कोई उनसे उपरत होकर सन्तोष कर लेता है। (९) और नवमी — जीवोंकी हिंसा किये बिना भोग मिलना सम्भव नहीं है और जीवहिंसापूर्वक भोग भोगनेसे अधर्म होगा तथा अधर्मसे नरकादिकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार हिंसारूप दोष देखकर कोई उनसे उपरत होकर सन्तोष कर लेता है। इस प्रकार प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक चार एवं विषयोंके उपार्जन, रक्षण, विषयतारतम्यरुप-दोष, संग और हिंसा — इन दोषोंके कारण होनेवाली पाँच — ऐसी ९ तुष्टियों की ९ अशक्तियाँ अर्थात् अभाव का वर्णन किया।

अब ८ सिद्धियाँ बतलायी जाती हैं — तीन सिद्धियाँ तो ऊह, शब्द और अध्ययन नामकी हैं, तीन दुःखविघात नामवाली हैं और दो सुहृत्प्राप्ति एवं दान हैं।

ऊह — तत्त्वजिज्ञासुको उपदेशके बिना ही जन्मान्तरके संस्कारसे जो प्रकृति आदिके विषयमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह ऊह नामकी पहली सिद्धि है।

बिना अभ्यासके केवल श्रवणमात्रसे ही जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह शब्द नामकी दूसरी सिद्धि है।

शास्त्रके अभ्याससे जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसे अध्ययन कहते हैं, यह तीसरी सिद्धि है।

आध्यात्मिक,आधिभौतिक और आधिदैविक — इन त्रिविध दुःखोंकी उपेक्षा करनेसे शीतोष्णादिजनित दुःख सहन करनेवाले तितिक्षु पुरुषको जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह दुःखविघात नामकी सिद्धि है। आध्यात्मिकादि भेदके कारण इस सिद्धिके भी तीन प्रकार हैं।

किसी सुहृद्के प्राप्त होनेपर जो ज्ञानकी सिद्धि होती है वह सुहृत्प्राप्ति नामकी सिद्धि है।

आचार्यको उनकी प्रिय वस्तु दान करनेसे जो ज्ञानकी प्राप्ति होती है वह दान नामकी सिद्धि है।

इस प्रकार ५ क्लेश, २८ अशक्ति, ९ तुष्टि और ८ सिद्धि मिलकर कुल ५० अरों वाला ब्रह्मचक्र बनता है।

जैसे छोटे-छोटे टुकड़ो को जोड़कर पहिया (चक्र) बनाया जाता है, वैसे छः टुकड़ों को जोड़कर ६ अष्टकों वाला यह चक्र बना है

षड्भिः-अष्टकैः — ६ अष्टकों वाला अर्थात् १. प्रकृत्यष्टक – पाँच स्थूलभूत, मन, बुद्धि और अहंकार।

२. धात्वष्टक, त्वक्, चर्म, मांस, रुधिर, मेदा, अस्थि, मज्जा वा वीर्य

३. सिद्धि-अष्टक — उह, शब्द, अध्ययन और त्रिविध दुखों की उपेक्षा करनेसे दुःख विघात-नामकी सिद्धि, सुहृद प्राप्ति और दान। अथवा परकाय प्रवेश, जलादि में असंग, उत्क्रान्ति, ज्वलन्त, दिव्यवर-शाप, आकाशगमन, प्रकाशावरणक्षय और भूतजय,

४. भावाष्टक — धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य – ये आठ भाव हैं। अथवा मद-अष्टक — तनमद, धनमद, जनमद, बलमद, ज्ञानमद, बुद्धिमद, कुलमद, जातिमद,

५. देवाष्टक— ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र आदि देव, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच ये देवताओं के आठ भेद हैं। अथवा अशुभ-अष्टक — अशुभ सोचना, सुनना, देखना, बोलना, स्पर्श करना, कर्म करना, कराना, होने देना,

६. धर्म-अष्टक — अनसूया, दया, क्षमा, अनायास, मंगल, अकार्पण्य, शौच और अस्पृहा अथवा नित्यधर्म, नैमित्तिक-धर्म, देशधर्म, कालधर्म, कुलधर्म, जाति धर्म, आपद्-धर्म और अपवाद धर्म,

विश्वरूपैकपाशम् विश्वरूपी एक ही पाश बन्धन वाला — स्वर्ग, पुत्र एवं अन्नादि विषयभेदसे काम नामक एक ही विश्वरूप माने अनेक प्रकारका पाश है। त्रिमार्गभेदम् = धर्म, अधर्म और ज्ञानरूप तीन मार्गों वाला, द्विनिमित्तैकमोहम् – द्विनिमित्त + एकमोहम् दो शुभ और अशुभ इन दोनों का एक ही निमित्त मोह यानी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं जाति आदि अनात्माओंमें जिसका आत्माभिमान है ऐसे उस दो के (मोहरूप) एक ही निमित्तवालेको उन्होंने करणरूपसे समाधि में देखा।

सङ्गति — अब एक अन्य संयमकी सिद्धि बतलाते हैं —

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३.३० ॥

कण्ठ-कूपे = कण्ठ-कूपमें (संयम करनेसे) क्षुत्-पिपासा-निवृत्तिः = क्षुधा और पिपासाकी निवृत्ति होती है।

कण्ठ-कूपमें संयम करनेसे क्षुधा और पिपासा (भूख-प्यास) की निवृत्ति होती है।

"कायव्यूहस्य संबोधो नाभिचक्रे च संयमात् ।

क्षुत्पिपासाविनाशश्च कण्ठकूपे च संयमात् ॥ १५९ ॥ योगसूत्रसारः"

कायव्यूह (शरीर-संघात) का ज्ञान नाभिचक्रमें संयम करनेसे होता है तथा कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास की निवृत्ति होती है।

व्याख्या — जिह्वाके नीचे सूतके समान एक नस है, उसके नीचे कण्ठ है। उस कण्ठके नीचे जो गढ़ा है उसे कण्ठकूप कहते हैं। उस स्थानमें प्राणादिका स्पर्श होनेसे पुरुषको भूख-प्यास लगती है। इसलिये इस कण्ठ-कूपमें संयमद्वारा प्राणादिके स्पर्शकी निवृत्ति हो जानेसे योगीको भूख-प्यास नहीं लगती है। अर्थात् जिह्वा-तन्तु के मूलसे आरम्भ करके हृदय पर्यन्त जो छिद्र है वह कूपाकार छिद्र होनेसे

उसको कण्ठ-कूप कहते हैं। जिह्वाके नीचे तन्तु है उसके नीचे कण्ठ है और उसके भी नीचे कूप है। उस कण्ठकूप में संयम करने से योगी को साधनाकाल में भूख- प्यास के ऊपर पूर्ण रुप से नियंत्रण हो जाता है।

जीभको अगर ऊपर उठायें तो उसके नीचे एक तन्तु दिखता है, उस तन्तुके नीचे अन्दर की तरफ गला है फिर गलेकी घण्टी है और उसके नीचे उस गढ्ढे के आकारके प्रदेश विशेष में प्राणादि के संघर्षणसे भूख-प्यास लगती है अतः उस स्थानमें संयम करनेसे अशेष-विशेषतः साक्षात्कार होनेपर क्षुधा-पिपासा की निवृत्ति-रूपा सिद्धि होती है। इस प्रकारके संयमों में भावना का प्रकार और प्रयोग योग-शास्त्रमें विशेषज्ञ गुरुओं के मुखसे ही जानना चाहिये।

सङ्गति — अब एक अन्य प्रकारके संयमकी सिद्धि बतलाते हैं —

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३.३१ ॥

कूर्मनाड्याम् = कूर्मनाड़ीमें (संयम करनेसे) स्थैर्यम् = स्थिरता होती है।

कूर्म-नाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है।

व्याख्या — कण्ठ-कूपके नीचे छातीमें कछुवेकी आकारवाली एक नाड़ी है। उसे कूर्म-नाड़ी कहते हैं। कुण्डलित-सर्पके समान स्थित होनेसे उस नाड़ीको कूर्माकार कहा गया है। उसमें संयम करनेसे स्थिरताकी प्राप्ति होती है। जैसे सर्प और गोह स्थिर होते हैं।

कण्ठ-कूपके नीचे हृदयमें कुण्डलित सर्पके समान स्थित होनेसे उस कूर्माकार हृदयपुण्डरीक नामवाले नाडीचक्रको कूर्मनाडीचक्र के नामसे जाना जाता है।

(प्रसिद्ध भी है और वास्तविक घटना भी है — सर्प छिद्रमें आधा घुसा हो तो आधेको पकड़कर कितना ही बलपूर्वक खींचें वह ऐसा जम जाता है कि चाहे टूट जाये परन्तु खिंचता नहीं। यही बात गोहके सम्बन्धमें भी प्रसिद्ध है। प्रायः चोर किसी छतपर चढ़नेके निमित्त गोहके कमरमें रस्सी बाँधकर उसको ऊपर चढ़ा देते हैं। जब वह मुंड़ेरपर पहुँच जाती है तब पैर जमा लेती है और चोर रस्सीके सहारे ऊपर चढ़ जाते हैं। श्रीअङ्गदजीके पैर न उठनेकी बात भी इसी संयमकी सिद्धिकी सूचक हो सकती है।)

यहाँ सर्प और गोहका दृष्टान्त दिया है। सर्प और गोह दोनों ही जमनेके लिये कुण्डलाकार (कूर्माकार) बन जाते हैं।

उस हृदयगत पुण्डरीक नामवाले नाड़ीचक्र स्थानमें (कूर्मनाड़ीमें) जो प्रविष्ट हो जाता है उसकी चञ्चलता समाप्त हो जाती है। अथवा कहें कि उसकी काया स्थिर हो जाती है, फिर कोई भी उसे हिला नहीं सकता।

“तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात्॥८.१.२॥ छान्दोग्योपनिषद्”

अगर वे (शिष्य) उससे कहें: “अब, निवास के संबंध में, इस ब्रह्मपुर में अर्थात् अंतरआकाशमें, ब्रह्म के शहर में छोटेसे हृदय-कमलमें और इसके भीतर के छोटेसे आकाश में -इसमें ऐसा क्या है जिसे खोजा जाना है और वहां क्या है जिसको समझने की इच्छा की जाए ?” तब उस ऐसे जिज्ञासुको गुरु द्वारा इस प्रकार कहना चाहिए: “जहाँ तक, वास्तव में, यह महान आकाश फैलता है, जहाँ तक आकाश हृदय के भीतर फैलाता है। स्वर्ग और पृथ्वी दोनों इसमें समाहित हैं, अग्नि और वायु दोनों, सूर्य और चंद्रमा दोनों, दोनों बिजली और तारे; और जो कुछ इस दुनिया में (अर्थात् देहधारी प्राणी) हैं और जो कुछ नहीं है, वह सब उसमें निहित है (अर्थात् हृदय आकाश में)।

“यदिदं ब्रह्मपुरं दहरं पुण्डरीकं वेशम” इस श्रुतिके द्वारा जिस ब्रह्मवेशमका प्रतिपादन किया गया है उसमें प्रविष्टचित्तवालेको आनन्दविशेषका लाभ होनेसे फिर मन इधर-उधर कहीं नहीं जाता यह भाव है। अच्युताय नमः अनन्ताय नमः गोविन्दाय नमः। जो अनन्त है वही अच्युत है और वही गोविन्द है।

सङ्गति — अगले सूत्रमें एक अन्य सिद्धिका निरुपण करते हैं —

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३.३२ ॥

मूर्ध-ज्योतिषि = मूर्द्धाकी ज्योतिमें (संयम करनेसे); सिद्ध-दर्शनम् = सिद्धोंका दर्शन होता है।

मूर्द्धाकी ज्योतिमें संयम करनेसे सिद्धोंका (साक्षात्कार) दर्शन होता है।

“संयमात् कूर्मनाड्यां च संयमी वर्तते स्थिरः ।

सुषुम्नायां तथा कृत्वा सिद्धानन्वीक्षते हि सः ॥ १६० ॥ योगसूत्रसारः”

कूर्म नामक नाड़ीमें संयम करनेसे योगीको स्थिरताकी प्राप्ति होती है। तथा “मूर्ध” शब्दसे सुषम्ना नामवाली नाडी जाननी चाहिये। अर्थात् सुषुम्ना नाड़ीके अन्तिम भागमें अर्थात् कपाल-प्रदेश में स्थित मूर्ध ज्योति के प्रकाश में संयम करनेसे सिद्ध योगियों को देखने और बातचीत करनेकी योग्यता आती है। शिरके कपालमें ब्रह्मरन्ध्र नामक जो छिद्र है वह समस्त प्रकाशोंका आधार होनेसे ज्योतिर्मय है। शिरमें अथवा कपालमें जो छिद्र है वह ब्रह्मरन्ध्र नामक छिद्र जब सुषुम्नाके योगसे प्रकाशित हो उठता है तब उसे मूर्द्धज्योति कहते हैं।

व्याख्या — शरीरके कपालमें ब्रह्म-रन्ध्र नामक एक छिद्र है। उसमें जो प्रकाशवाली ज्योति है वह मूर्धा-ज्योति कहलाती है। उसमें संयम करनेसे सिद्धोंके दर्शन होते हैं। द्यौ और पृथिवीलोकके अन्तरालमें विचरनेवाले सिद्ध अर्थात् दिव्य-पुरुष जो किसी अन्य प्रमाणान्तरसे अदृश्य ही रहते हैं अर्थात् जो दूसरे प्राणियोंको अदृश्य रहते हैं, योगी उनको ध्यानावस्थामें देखता है और उनके साथ भाषण करता है।

इस ज्योतिका सम्बन्ध भ्रुकुटी अर्थात् आज्ञाचक्रसे है। इसलिये ब्रह्मरन्ध्रमें प्राण तथा मनको स्थिर करनेके पश्चात् जब आज्ञाचक्रमें ध्यान किया जाता है तो इस मूर्धा-ज्योतिके सत्त्वगुणके प्रकाशमें सूक्ष्म जगत् का अनुभव होने लगता है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें सर्वज्ञत्व का उपाय (सब वस्तुओंको जाननेका उपाय) कहते हैं —

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३.३३ ॥

प्रातिभाद्-वा = अथवा प्रातिभ ज्ञानसे; सर्वम् = सब कुछ जाना जाता है।

अथवा प्रातिभ-ज्ञानसे योगी सब कुछ जान लेता है। (प्रतिभोहः, तद्-भवं प्रातिभं) प्रतिभासे जो उत्पन्न होता है उसे प्रातिभ कहते हैं। प्रातिभ नामक ज्ञानके उत्पन्न होनेसे योगीके भीतर अन्तःप्रज्ञा जाग्रत होनेसे उसे सब प्रकारका ज्ञान हो जाता है। अपनी ही प्रतिभा से उत्थित अनौपपदेशिक (अनुपदिष्ट) ज्ञान प्रातिभ-ज्ञान है। संसारसे तरणका उपाय होनेसे इसे तारक भी कहते हैं, यह सभी विषयोंसे तार देता है। (३.५४) इस सूत्रमें इसकी व्याख्या की जायेगी। विवेकख्याति को ही प्रसङ्ख्यान कहते हैं और वही संसारसे तरणका उपाय है। विवेख्यातिके उदय होनेके पूर्व सूचक रुपसे प्रातिभ-ज्ञान प्रकट होता है।

व्याख्या — प्रातिभ (Intuitional insight) वह प्रकाश अथवा ज्ञान है जो बिना किसी बाहरके निमित्तके स्वयं अंदरसे प्राप्त हो। (यदूहजं ज्ञानं) जो ऊह नामक सिद्धिसे उत्पन्न ज्ञान है, वह प्रातिभ-ज्ञान है। ऊह — तत्त्वजिज्ञासुको उपदेशके बिना ही जन्मान्तरके

संस्कारसे तथा वर्तमानमें योगाभ्याससे जो प्रकृति आदिके विषयमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह ऊह नामकी सिद्धि कहलाती है। प्रातिभ ही तारक-ज्ञान (३.५४) का नाम है, यही प्रातिभ-ज्ञान जब प्रसङ्ख्यानके सन्निधापनसे संसारसे तारनेमें कारण बनता है तब इसे ही तारक-ज्ञान कहते हैं।

यह विवेकज्ञानका प्रथम रुप है। जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेका प्रथम ज्ञापक चिन्ह प्रभा (अरुणोदय) है, इसी प्रकार प्रसंख्यानके उदय होनेका प्रथम लिङ्ग प्रातिभज्ञान है। जैसे सूर्यकी प्रभाके उत्पन्न होनेपर सबकुछ जाना जा सकता है इसी प्रकार प्रातिभ-ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर योगी बिना संयमके ही सब कुछ जान लेते हैं। वा (अथवा) शब्द इस अभिप्रायसे लगाया गया है कि इससे पूर्व जो-जो संयम कहा गया है उससे जिन-जिन विषयोंका ज्ञान होता है वह इस सब प्रातिभ-ज्ञानसे हो जाता है। अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान-ज्ञानसे लेकर सिद्ध-दर्शन पर्यन्त अथवा और भी जो कुछ जिज्ञासित हो वह सब कुछ संयमान्तर के बिना ही जान लेता है।

सङ्गति — अबतक संयमसे सिद्ध होनेवाली छोटी-छोटी अवान्तरसिद्धियाँ कही गयीं। अब सत्वपुरुषान्यताख्यातिरुप (आत्मसाक्षात्काररुप) मुख्य सिद्धिको बतलाने के लिये पहले उस संयमकी हेतुभूता (कारणरुपा) जो चित्तसंवित् है उसे बताते हैं। क्योंकि आत्म-साक्षात्कार होनेसे पहले चित्त-साक्षात्कार होना आवश्यक है।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३.३४ ॥

हृदये = हृदयमें (संयम करनेसे); चित्त-संवित् = चित्तका ज्ञान होता है।

हृदयमें संयम करनेसे चित्तका ज्ञान होता है।

“प्रातिभे संयमं कृत्वा सर्वं जानाति हेलया ।

हृदये च तथा कृत्वा चित्तं जानाति संयमी ॥ १६१ ॥ योगसूत्रसारः”

प्रातिभ-ज्ञानमें संयम करनेसे खेल-खेल में ही सब कुछ जान लेता है, और हृदय परमात्मा के सिंहासन जैसा है इसमें अन्तःकरण ही सिंहासन के चार पाये हैं। चित्तका स्थान अधोमुख हृत्पङ्कज है। उस हृदयमें संयम करनेसे अपने चित्तका तथा अन्योंके चित्तोंका भी ज्ञान होता है।

व्याख्या — हृदयकमल चित्तका निवासस्थान है, उसमें संयम करनेसे वृत्तिसहित चित्तका साक्षात्कार होता है। हृदय या दिल में संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) करने से वासनाओं सहित अपने चित्त का ठीक ठीक ज्ञान होता है। अर्थात् हृदय प्रदेश में संयम करने से योगी अपने चित्त के स्वरूप को ठीक ठीक जान लेता है।

हृदय शरीरमें एक विशेष स्थान है; उसमें सूक्ष्म कमलाकार जिसका मुख नीचेको है ऐसा एक अधोमुख कमल है, उसके अंदर अन्तःकरण या चित्तका स्थान है। उसमें जिस योगीने संयम किया है, उसको अपने और दूसरेके चित्तका ज्ञान उत्पन्न होता है। अपने चित्तमें प्रविष्ट सब वासनाओं और दूसरेके चित्तमें प्रविष्ट रागादि को जान लेता है।

“अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यंतद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥८.१.१॥ छान्दोग्योपनिषद्”

इस ब्राह्म नगर में (शरीरमें) रहता है, हृदय का छोटा-सा कमल; इसके भीतर एक छोटा-सा आकाश है। अब उस छोटे-से आकाश में जो कुछ है, जिसे तलाशना है, उसे समझने की इच्छा होनी चाहिए। वहाँ पर साक्षात्कार-पर्यन्त संयम करनेसे सकलवृत्तिविशिष्ट चित्त का माने बुद्धिका साक्षात्कार होता है।

सङ्गति — जब चित्तका साक्षात्कार हो जाता है तब यह विवेक हो जाता है कि मैं (ज्ञाता) चित्तको जाननेवाला हूँ और चित्त जाना जानेवाला है (ज्ञेय है), इस प्रकार विवेक होनेसे आत्मज्ञान होता है। यही बात अगले सूत्रमें क्रमानुसार बतलाते हैं।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३.३५॥

भोजवृत्तिका-पाठभेद :- सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः

परार्थान्यस्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३.३५॥

सत्त्व-पुरुषयो: = चित्त और पुरुष; अत्यंत-असंकीर्णयो: = जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं (इन दोनोंकी) प्रत्यय-अविशेषः = प्रतीतियोंका अभेद; भोगः = भोग है; परार्थ = परार्थ-प्रतीति (से) अन्य-स्वार्थ-संयमात् = भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है (पौरुषेय प्रत्यय) है उसमें संयम करनेसे; पुरुषज्ञानम् = पुरुषका ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इन दोनोंकी प्रतीतियोंका अभेद भोग है। उनमेंसे परार्थ-प्रतीतिसे भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है उसमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

“अत्यन्तं तावसंकीर्णौ प्रकृतिः पुरुषस्सदा ।

भोगस्तद्भेदशून्यत्वं परार्थत्त्वाच्च तत्त्वतः ॥ १६२ ॥ योगसूत्रसारः”

पुरुष और प्रकृति अर्थात् आत्मा और बुद्धि दोनों अत्यन्त भिन्न हैं परन्तु उन दोनोंमें अभेद देखना भोग कहलाता है। इसमें कारण है बुद्धि का परार्थ होनेसे क्योंकि बुद्धि स्वभावसे ही बाहरकी तरफ देखती है। अतः इसमें बुद्धि का विपरीत ज्ञान ही कारण है। बुद्धि हमें यह समझाती है कि जो कुछ बाहर है वहींसे सुख-भोग लाया जा सकता है।

“परार्थं तं सुविज्ञाय स्वार्थे कृत्वा च संयमम्।

पुरुषं वेत्ति तं योगी विज्ञातारञ्च हेलया ॥ १६३ ॥ योगसूत्रसारः”

लेकिन इस बुद्धि द्वारा समझाये गये परार्थको (भोगको) अर्थात् बाह्य-पदार्थ ही सुखरूप हैं, इस बातको अच्छी तरह समझकर और इसको छोड़कर जो स्वार्थमें अर्थात् (भोक्ता में) आत्मामें संयम करता है वह योगी पुरुष-तत्त्वको अर्थात् आत्म-तत्त्वको बड़ी सरलतासे समझ लेता है। असलमें असली विज्ञाता तो आत्मा है लेकिन बुद्धि हमें यह समझाती है कि मैं विज्ञाता हूँ।

व्याख्या — सत्त्व अर्थात् चित्त, प्रकाश और सुखरूप होनेसे और पुरुष ज्ञानस्वरूप होनेसे तुल्य-जैसे प्रतीत होते हैं, किंतु वास्तवमें ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं; क्योंकि चित्त परिणामी, अर्थात् बदलनेवाला (विकारी) है, तथा जड़ और भोग्यरूप है और पुरुष निर्विकार, चैतन्य और भोक्ता-स्वरूप है।

इस जड़ चित्तमें चैतन्य पुरुषसे प्रतिबिम्बित होकर जो सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्तियोंका उदय होना है, यह प्रत्ययाविशेष है; क्योंकि इससे चित्तके धर्म सुख, दुःख और मोह आदिका चित्तमें प्रतिबिम्बित चैतन्य पुरुषमें अध्यारोप होता है। यही प्रत्ययाविशेष अर्थात् चित्त और चित्तमें प्रतिबिम्बित चेतनके प्रत्ययों (वृत्तियों) का अभेद भोग है।

यह भोगरूप प्रत्यय यद्यपि चित्तका धर्म है तथापि चित्तको (परार्थत्वात्) पुरुषके अर्थवाला होनेसे और पुरुषका चित्तका भोक्ता होनेसे यह भोगरूप प्रत्यय भी परार्थ अर्थात् पुरुषके अर्थ है। और जो भोगरूप प्रत्ययसे भिन्न चेतनमात्रको अवलम्बन करनेवाला पौरुषेय प्रत्ययरूप चित्तका धर्म है वह स्वार्थ प्रत्यय है। अर्थात् यद्यपि सुख-दुःखादिके अनुभवका नाम भोग है और भोगका अनुभव करनेवाल

भोक्ता कहलाता है ऐसा भोग-कर्तृत्वरूप भोक्तृत्व निर्विकार चेतन-पुरुषमें भी वास्तवमें सम्भव नहीं है, तथापि चित्तके धर्म इस प्रत्ययरूप भोग, सुख-दुःख आदिका पुरुषके प्रतिबिम्बद्वारा पुरुषमें आरोप-स्वरूप ही है।

जैसे स्वच्छ जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें जलके कम्पनसे चन्द्रमा काँपता है, ऐसा कम्पनका आरोप चन्द्रमामें होता है। वास्तवमें चन्द्रमामें कम्पन नहीं होता है, वैसे ही यह भोग चित्तका परिणाम होनेके कारण वास्तवमें चित्तमें ही होता है, परंतु प्रतिबिम्बद्वारा निर्विकार पुरुषमें सुख-दुःखादिका आरोपरूप भोग है।

इसलिये आरोपित भोगवाला होनेसे पुरुष भोक्ता कहलाता है। ऐसा चित्तका परिणाम प्रत्ययस्वरूप भोग जड़ होनेसे परार्थ है और परार्थ होनेसे भोग्य है;

क्योंकि जो वस्तु परार्थ होती है वह भोग्य होती है। {सङ्घातस्तु परार्थत्वात्}

इस परार्थ जड़-भोगसे भिन्न जो पुरुषका प्रतिबिम्बित रूप प्रत्यय है वह स्वार्थ कहलाता है। वह पौरुषेय प्रत्ययरूप भोग किसीका भोग्य नहीं है।

उस प्रतिबिम्बरूप स्वार्थ-प्रत्ययको पौरुषेय-प्रत्यय और पौरुषेय-बोध भी कहते हैं। इस स्वार्थ-प्रत्ययमें संयम करनेसे पुरुष (विषयक) ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् पुरुषको विषय करनेवाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि चित्तके धर्म पुरुष-प्रत्ययसे पुरुष जाना जाता है, किंतु पुरुषही चित्तमें प्रतिबिम्बित हुआ स्वात्मावलम्बन (अपने स्वरूपको प्रकाश करनेवाली) रूप प्रत्ययको देखता है; क्योंकि ज्ञाता पुरुषका वास्तविक स्वरूप चित्तद्वारा नहीं जाना जा सकता है, जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है —

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् । 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' ॥बृह. २,४.१४ ॥

अर्थ — सबको जाननेवाले उस विज्ञानीको (परमात्माको) कैसे और किसके द्वारा जाना जा सकता है अर्थात् किसीसे नहीं जाना जा सकता है। क्योंकि वह आत्मा स्वयं ही नित्य-ज्ञानस्वरूप है।

अर्थात् भास्य-रूप बुध्दि को छोड़कर भासकरूप साक्षीप्रत्यय में संयम करनेसे आत्म-साक्षात्कार होता है। क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय में अत्यन्त विरोध है। ज्ञाता और ज्ञेय ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं इसलिये ज्ञाता ज्ञेय नहीं हो सकता तथा ज्ञेय ज्ञाता नहीं हो सकता। परार्थ का मतलब सत्त्व या बुद्धि है और स्वार्थ का मतलब चितिमात्रस्वरूप अर्थात् शुद्ध साक्षी। लेकिन विवेक न होनेसे लोहेके गोलेने मुझे जला दिया के समान भ्रान्ति हो जाती है। लोहेके गोलेके अंदर जो आग थी उसने जलाया लोहेके गोले ने नहीं और शरीरको जलाया साक्षीको नहीं।

सत्त्व माने बुद्धि सत्त्वगुणके प्रभावसे शान्त (सुखमय) हो जाती है, रजोगुणके प्रभावसे घोर (दुःखमय) हो जाती है और तमोगुणके प्रभावसे मूढ़ (मोहमय) हो जाती है। अतः त्रिगुणमय होनेसे परिणामिनी है तथा अनित्य, अशुद्ध, परार्थ माने दूसरेके भोग और अपवर्ग का साधन होना, भोग्य, अनात्मा और अचेतन होनेसे पुरुषकी अपेक्षा अत्यन्त विपरीत धर्मवाली है। और साक्षी विशुद्ध है, त्रिगुणातीत है, अपरिणामी है, स्वार्थ है माने अपने आपमें परिपूर्ण है, नित्य है, भोक्ता है, चिन्मात्ररूप है, आत्मा है और पुरुष है। तत्त्वज्ञानार्थियों के लिये केवल यही एक संयम मुख्य है।

"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१.२.१२॥ कठोपनिषद्"

अर्थ — अध्यात्मयोग के द्वारा उस 'देव' का बोध प्राप्त करके, जो 'पुराण' (पुरातन) है तथा जिसका दर्शन दुर्लभ है, कारण, वह हमारी गूढता में प्रविष्ट हो गया है, गुह्य-सत्ता में निहित है एवं प्राणियोंकी हृद्गुहा में स्थित है; ज्ञानी एवं धीर पुरुष उसे जानकार हर्ष और शोक का परित्याग कर देता है।

"अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।१३.३२।। श्रीमद् भगवद्गीता"

एक ही आत्मा सब शरीरोंका आत्मा माना जानेसे उसका उन सबके दोषोंसे सम्बन्ध होगा ऐसी शंका होनेपर यह कहा जाता है कि "आदि" कारणको कहते हैं जिसका कोई कारण न हो उसका नाम अनादि है और अनादिके भावका नाम अनादित्व है यह परमात्मा अनादि होनेके कारण अव्यय है क्योंकि जो वस्तु आदिमान् होती है वही अपने, स्वरूपसे क्षीण होती है। किंतु यह परमात्मा अनादि है इसलिये अवयवरहित है। अतः इसका क्षय नहीं होता। तथा निर्गुण होनेके कारण भी यह अव्यय है क्योंकि जो वस्तु गुणयुक्त होती है उसका गुणोंके क्षयसे क्षय होता है। परंतु यह (आत्मा) गुणरहित है अतः इसका क्षय नहीं होता। सुतरां यह परमात्मा अव्यय है अर्थात् इसका व्यय नहीं होता। ऐसा होनेके कारण यह आत्मा शरीरमें स्थित हुआ भी शरीरमें रहता हुआ भी कुछ नहीं करता है तथा कुछ न करनेके कारण ही उसके फलसे भी लिप्त नहीं होता है। आत्माकी शरीरमें प्रतीति होती है इसलिये शरीरमें स्थित कहा जाता है। क्योंकि जो कर्ता होता है वही कर्मोंके फलसे लिप्त होता है। परंतु यह अकर्ता है इसलिये फलसे लिप्त नहीं होता यह अभिप्राय है।

पूर्व-पक्ष — तो फिर शरीरोंमें ऐसा कौन है जो कर्म करता है और उसके फलसे लिप्त होता है यदि यह मान लिया जाय कि परमात्मासे भिन्न कोई अन्य शरीरी कर्म करता है और वही उसके फलसे लिप्त होता है तब तो क्षेत्रज्ञ भी तू मुझे ही जान, इस प्रकार जो क्षेत्रज्ञ और ईश्वरकी एकता कही है वह अयुक्त ठहरेगी। यदि यह माना जाय कि ईश्वरसे पृथक् अन्य कोई शरीरी नहीं है तो यह बतलाना चाहिये फिर कौन करता और लिप्त होता है अथवा यह कह देना चाहिये कि (इन सबसे) पर कोई ईश्वर ही नहीं है। (बात तो यह है कि) भगवान् द्वारा कहा हुआ यह उपनिषद्रूप दर्शन सर्वथा दुर्विज्ञेय और दुर्वाच्य है इसीलिये वैशेषिक, सांख्य, जैन और बौद्धमतावलम्बियोंद्वारा यह छोड़ दिया गया है।

उत्तर-पक्ष — इसका उत्तर स्वभाव ही बर्तता है ऐसा कहकर भगवान् ने स्वयं ही दे दिया है —

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।५.१४।। श्रीमद् भगवद्गीता"

{परमेश्वर मनुष्योंके न कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके साथ संयोगकी रचना करते हैं; किन्तु स्वभाव ही बरत रहा है।}

क्योंकि अविद्यामात्र स्वभाववाला ही करता है और लिप्त होता है इसीसे यह व्यवहार चल रहा है। वास्तवमें अद्वितीय परमात्मामें वे (कर्तापन और लिप्त होना आदि) नहीं हैं। सुतरां इस वास्तविक ज्ञानदर्शनमें स्थित हुए ज्ञाननिष्ठ परमहंस परिव्राजक संन्यासियोंका जिन्होंने अविद्याकृत समस्त व्यवहारका तिरस्कार कर दिया है कर्मोंमें अधिकार नहीं है — यह बात जगह-जगह भगवान् द्वारा गीतामें दिखलायी गयी है।

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्ड दोहा संख्या ११७ में यह बात श्रीतुलसीदासजीने गाय और बछड़ेका रूपक देकर बहुत ही अच्छे ढ़ंगसे समझाई है। देखिये आगे .....

चौपाई :

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी।।

ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।।

सो मायावश भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।।

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।

तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।।

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।।

जीव हृदयँ तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।।

अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई।।

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई।।

जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।।

तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।।

नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा।।

परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई।।

तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै।।

मुदिताँ मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी।।

तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।।

भावार्थ: हे तात ! यह अकथनीय कहानी (वार्ता) सुनिये। यह समझते ही बनती है, कही नहीं जा सकती। जीव ईश्वर का अंश है। [अतएव] वह अविनाशी, चेतन, निर्मल और स्वभाव से ही सुख की राशि है। हे गोसाईं ! वह माया के वशी भूत होकर तोते और वानर की भाँति अपने-आप ही बँध गया। इस प्रकार जड़ और चेतन में ग्रन्थि (गाँठ) पड़ गयी। यद्यपि वह ग्रन्थि मिथ्या ही है, तथापि उसके छूटने में कठिनता है। तभी से जीव संसारी (जन्मने-मरनेवाला) हो गया। अब न तो गाँठ छूटती है और न वह सुखी होता है। वेदों और पुराणों ने बहुत-से उपाय बतलाये हैं, पर वह (ग्रंथि) छूटती नहीं वरं अधिकाधिक उलझती ही जाती है। जीव के हृदय में अज्ञान रूप अन्धकार विशेष रूप से छा रहा है, इससे गाँठ देख ही नहीं पड़ती, छूटे तो कैसे ? जब कभी ईश्वर ऐसा संयोग (जैसा आगे कहा जाता है) उपस्थित कर देते हैं तब भी वह कदाचित् ही वह (ग्रन्थि) छूट पाती है। श्रीहरि की कृपा से यदि सात्त्विकी श्रद्धारूपी सुन्दर गौ हृदयरूपी घरमें आकर बस जाय; असंख्यों जप, तप, व्रत, यम और नियमादि शुभ धर्म और आचार (आचरण), जो श्रुतियों ने कहे हैं,। उन्हीं [धर्माचाररूपी] हरे तृणों (घास) को जब वह गौ चरे और आस्तिक भावरूपी छोटे बछड़े को पाकर वह पेन्हावे। निवृत्ति (सांसारिक बिषयोंसे और प्रपंच से हटना) नोई (गौके दुतहे समय पिछले पैर बाँधने की रस्सी) है, विश्वास [दूध दूहनेका] बरतन है, निर्मल (निष्पाप) मन जो स्वयं अपना दास है। (अपने वशमें है), दुहनेवाला अहीर है। हे भाई ! इस प्रकार (धर्माचारमें प्रवृत्त सात्त्विकी श्रद्धा रूपी गौसे भाव, निवृत्ति और वश में किये हुए निर्मल मन की सहायता से) परम धर्ममय दूध दुहकर उसे निष्काम भावरूपी अग्नि पर

भलीभाँति औटावे। फिर क्षमा और संतोष रुपी हवा से उसे ठंढा करे और धैर्य तथा शम (मनका निग्रह) रुपी जामन देकर उसे जमावे। तब मुदिता (प्रसन्नता) रूपी कमोरी में तत्त्वविचाररूपी मथानीसे दम (इन्द्रिय-दमन) के आधार पर (दमरूपी खम्भे आदि के सहारे) सत्य और सुन्दर वाणीरुपी रस्सी (नाम-जप तथा शरणागति, हे नाथ ! मैं तुम्हारा हूँ, मेरा उद्धार करो) लगाकर उसे मथे और मथकर तब उसमें से निर्मल, सुन्दर और अत्यन्त पवित्र बैराग्यरुपी मक्खन निकाल ले।

दोहा :

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म शुभाशुभ लाइ।

बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ।।११७ क।।

तब बिग्यानरुपिनी बुद्धि बिशद घृत पाइ।।

चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ।।११७ ख।।

तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।

तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि।।११७ ग।।

सोरठा:

एहि बिधि लेसै दीप तेज राशि बिग्यानमय।

जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक शलभ सब।।११७ घ।।

भावार्थ: तब योग रुपी अग्नि प्रकट करके उसमें समस्त शुभाशुभ कर्मरुपी ईंधन लगा दे (सब कर्मोको योगरूपी अग्निमें भस्म कर दे)। जब [वैराग्यरुपी मक्खन का] ममता रुपी मल जल जाय, तब [बचे हुए] ज्ञानरुपी घी को निश्चियात्मिका] बुद्धि ठंडा करे। तब विज्ञानरुपिणी बुद्धि उस [ज्ञानरुपी] निर्मल घी को पाकर चित्तरुपी दियेको भरकर, समता की दीवट बनाकर उसपर उसे दृढ़तापूर्वक (जमाकर) रक्खे। [जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति] तीनों अवस्थाएँ और [सत्त्व, रज और तम] तीनों गुणरुपी कपाससे तुरीयावस्थारुपी रुईको निकालकर और फिर उसे सँवारकर उसकी सुन्दर कड़ी बत्ती बनावें। इस प्रकार तेज की राशि विज्ञानमय दीपक को जलावे, जिसके समीप जाते ही मद आदि सब पतंगे जल जायँ।।११७ (क -घ)।।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें इसी संयमका फल अर्थात् स्वार्थ-प्रत्ययके संयमके मुख्य-फल अर्थात् पुरुष-ज्ञानके उत्पन्न होनेसे पूर्व जो सिद्धियाँ होती हैं, उनका निरूपण करते हैं —

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३.३६॥

ततः = उस स्वार्थसंयमके अभ्याससे; प्रातिभ-श्रावण-वेदना-आदर्श- आस्वाद-वार्ता जायन्ते = प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता-ज्ञान उत्पन्न होता है।

उस स्वार्थ-संयमके अभ्याससे प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता-ज्ञान उत्पन्न होता है।

“पुरुषे संयमाद्योगी बह्वीस्सिद्धीस्समश्नुते।

प्रातिभं श्रावणं ज्ञानं वेदनाख्यं तथैव च ॥ १६४ ॥ योगसूत्रसारः"

पुरुषमें संयम अर्थात् स्वार्थमें संयम करनेसे बहुतसी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे कि प्रातिभ-सिद्धि, श्रावण-सिद्धि, वेदना-सिद्धि अर्थात् दिव्य स्पर्श जाननेकी योग्यता — तथा —

"आदर्शस्वादवार्ताश्च सिद्धयस्ताः पृथग्विधाः।

इन्द्रियं विषयं दिव्यं गृह्णातीत्येव सिद्धयः ॥ १६५ ॥ योगसूत्रसारः"

आदर्श अर्थात् रूप देखनेकी योग्यता, आस्वाद अर्थात् दिव्य-रस जाननेकी योग्यता और वार्ता अर्थात् दिव्य गन्ध सूँघनेकी योग्यता आदि ज्ञानेन्द्रियोंके दिव्य विषयोंको ग्रहण करनेकी योग्यतारूप सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

व्याख्या — स्वार्थ-संयमके अभ्याससे पुरुष-ज्ञान उत्पन्न होनेसे पूर्व निम्न प्रकारकी छः सिद्धियाँ प्रकट होती हैं —

१. प्रातिभ — मनमें सूक्ष्म (अतीन्द्रिय), व्यवहित (छिपीहुई), विप्रकृष्ट (दूरस्थ), अतीत और अनागत वस्तुओंके (भूतकाल और भविष्यकालकी वस्तुओंके) जाननेकी योग्यता प्राप्त होना। जैसा कि सूत्र ॥ ३.३३॥ में वर्णन किया गया था।

२. श्रावण — श्रोत्रेन्द्रियकी दिव्य और दूरके शब्द सुननेकी योग्यता।

३. वेदना — त्वचा-इन्द्रियकी दिव्यस्पर्श जाननेकी योग्यता। 'वेद्यतेऽनया' इस व्युत्पत्तिके द्वारा स्पर्शेन्द्रियमें उत्पन्न ज्ञानकी 'वेदना' संज्ञा है।

४. आदर्श — नेत्रेन्द्रियकी दिव्य रूप देखनेकी योग्यता।

आ समन्ताद् दृश्यतेऽनुभूयते रुपमनेन, इति आदर्शः।

इस व्युत्पत्तिसे नेत्रेन्द्रियसे उत्पन्न ज्ञानका नाम आदर्श है। —

५. आस्वाद — रसनेन्द्रियकी दिव्य रस जाननेकी योग्यता।

६. वार्ता — घ्राणेन्द्रियकी दिव्य गन्ध सूँघनेकी योग्यता।

शास्त्रीय परिभाषामें वृत्ति शब्द घ्राणेन्द्रियका वाची है 'वर्तते गन्धविषये इति वृत्तिः' गन्ध जिसका विषय है वह वृत्ति है अर्थात् नासिकाग्रवर्ती घ्राणेन्द्रिय है, उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान 'वार्ता' कहलाता है।— (भोजवृत्ति) — वर्तते गन्धविषये इति वृत्तेर्घ्राणेन्द्रियाज्जाता वार्ता गन्धसंवित्। अथवा {वृत्तौ भवं वार्तं} लौकिक व्यवहार का ज्ञान वार्ता है। यानी लोक-व्यवहारको अच्छी तरह समझता है।

स्वार्थ-संयमका मुख्य प्रयोजन है पुरुषका ज्ञान होना, जबतक यह पुरुष-ज्ञानका प्रधान कार्य पूरा न हो जाये तबतक ये सारी सिद्धियाँ प्रातिभ-ज्ञान, श्रावण-ज्ञान, वेदना-ज्ञान, आदर्श-ज्ञान, आस्वाद-ज्ञान और वार्ता-ज्ञान नामवाली सिद्धियाँ योगीको नित्य-सिद्ध होती हैं। अर्थात् व्युत्थानकी दशामें कामनाके बिना भी उपस्थित होतीं हैं।

प्रातिभ-ज्ञान मनकी सिद्धि है, इसके अतिरिक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके दिव्य विषयोंके अनुभवोंको यहाँ शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों द्वारा कहा गया है। जैसे दिव्यशब्द, दिव्यस्पर्श, दिव्यरूप, दिव्यरस, दिव्यगन्ध विषयक ज्ञानको क्रमसे श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता-ज्ञानके नामसे कहा गया है।

सङ्गति — तो अब जब योगीको इतनी सारी सिद्धियाँ और सामर्थ्य मिल गयी तो उसे अपने-आपको कृतकृत्य मान लेना चाहिये, इसलिये अब अगले सूत्रमें — स्वार्थ प्रत्ययका संयम पुरुष-ज्ञानके निमित्त किया है; उससे पूर्व इन सिद्धियोंको पाकर योगी अपने-आपको कृतार्थ मानकर उपरामताको प्राप्त न हो जावे किंतु पुरुष-ज्ञानके लिये बराबर प्रयत्न करता रहे इस हेतुसे कहते हैं —

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३.३७ ॥

ते = वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ; समाधौ-उपसर्गा: = समाधि (पुरुष-दर्शन) में विघ्न हैं; व्युत्थाने सिद्धयः = व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं।

वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ समाधि (पुरुष-दर्शन) में विघ्न हैं, व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं।

"अन्तरायाश्च योगे ते प्रातिभाद्यास्तु सिद्धयः ।

व्युत्थाने सिद्धयस्तास्तु तस्मात्त्याज्या मुमुक्षुभिः ॥ १६६ ॥ योगसूत्रसारः"

ये प्रातिभ आदि सिद्धियाँ योगके अन्तराय अर्थात् विघ्न हैं। परन्तु व्युत्थान- कालमें अर्थात् जिस समयमें चित्त योग की स्थिति में नहीं रहता, उस कालमें ये बड़ी भारी चमत्कारिणी सिध्दियाँ हैं इसलिये मोक्षकी इच्छावालेको इनका त्याग कर देना चाहिये।

व्याख्या — पिछले सूत्रमें बतलायी हुई छः सिद्धियाँ एकाग्र चित्तवालोंको समाधि-प्राप्ति (पुरुष-दर्शन) में विघ्नकारक हैं; क्योंकि जब समाधि अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ रही होती है उस समय इन सिद्धियोंके कारण उनमें हर्ष, गौरव, आश्चर्यादि करनेसे समाधि शिथिल होती है, पर व्युत्थान-दशामें विशेष फलदायक होनेसे सिद्धिरूप होती हैं अर्थात् जैसे जन्मका कँगला अत्यल्प द्रव्यको पाकर ही अपने-आपको कृतार्थ समझने लगता है वैसे ही विक्षिप्त चित्तवालोंको ही पुरुष-ज्ञानसे पूर्व होनेवाले उपर्युक्त प्रातिभादि छः ऐश्वर्य सिद्धिरूप दीखते हैं। परन्तु व्युत्थान माने व्यवहारदशामें सिद्धियाँ पुरुषार्थरूप हो जातीं हैं, इसलिये इनका निरुपण व्यर्थ भी नहीं है।

यहाँ पर "विक्षिप्त" शब्द पागलपन के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु चित्तकी भूमिका-विशेषके लिये प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि चित्तकी पाँच भूमिकाएं होती है — (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध) उन्हीको फिरसे एकबार दुहरा देते हैं —

१. क्षिप्त-अवस्था — मन की पहली अवस्था है- क्षिप्त अवस्था। क्षिप्त का अर्थ है-मन की चञ्चल-स्थिति, डाँवाँडोल-स्थिति अथवा संशयग्रस्त-अवस्था।

२. मूढ़-अवस्था — दूसरी अवस्था है-मूढ़ अवस्था। जब तमोगुण का प्रभाव अधिक होता है, तब मूढ़ अवस्था उत्पन्न होती है। मूर्च्छा जैसी, थोड़ी नशे जैसी अवस्था या तमोगुणी अवस्था मूढ़ता-प्रधान अवस्था है।

३. विक्षिप्त-अवस्था — विक्षिप्त अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होती है, लेकिन बीच-बीच में रजोगुण और तमोगुण भी आते रहते हैं। इस-'विक्षिप्त अवस्था' को पहली दोनों अवस्थाओंसे ऊंची अवस्था माना गया है।

४. एकाग्र-अवस्था — जिसमें सत्त्वगुण का पूरा प्रभाव होता है। अब रज और तम बीचमें गड़बड़ी नहीं करते, इस अवस्था का नाम है-'एकाग्र -अवस्था'।

५. निरुद्ध-अवस्था — पाँचवीं चित्तकी भूमि है। चित्त की निरोध अवस्था में चित्त त्रिगुणात्मक अवस्था से मुक्त हो जाता है। अर्थात् चित्त सत्व गुणसे भी मुक्त हो जाता है।

समाहित चित्तवाला योगी इन प्राप्त ऐश्वर्योंसे दोष-दृष्टिद्वारा उपराम होकर इनको समाधिमें रुकावट जानकर अपने अन्तिम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कारके लिये स्वार्थ-संयमका निरन्तर प्रमाद-रहित होकर अभ्यास करता रहे।

श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा भी है कि —

"इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।१५.२०।। श्रीमद् भगवद्गीता"

हे निष्पाप भारत ! इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य (तथा प्राप्त-प्राप्तव्य) हो जाता है।

तथा मनुका भी वचन है कि विशेषरूपसे ब्राह्मणके जन्मकी यही पूर्णता है क्योंकि इसीको प्राप्त करके द्विज कृतकृत्य होता है अन्य प्रकारसे नहीं।

"यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।

आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ।।१२.९२ ।।मनुस्मृतिः"

श्रेष्ठ द्विज उसके लिए विहित यज्ञ आदि कर्मों को छोड़कर भी १. परमात्म-ज्ञान, २. इन्द्रियसंयम और ३. वेदाभ्यास में प्रयत्नशील अवश्य रहे अर्थात् इनको किसी भी अवस्था में न छोड़े

"एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।

प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ।। १२.९३ ।। मनुस्मृतिः"

ये पिछले श्लोकमें बताये हुए तीनों कर्म द्विजों के, विशेष रुप से ब्राह्मण के जन्म को सफल बनाने वाले हैं। द्विज व्यक्ति इनका पालन करके ही कर्त्तव्यों की पूर्णता प्राप्त करता है, इनके बिना नहीं

इसीलिये वसिष्ठजी ने भी कहा है —

"सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ।

तद्विरुद्धा कथं तस्मादिच्छा सञ्जायतेऽनघ ॥ ५.८९.३३ ॥ योगवासिष्ठः"

हे अनघ राम ! अपनी इच्छाओंके जालसे मुक्त होनेके बाद, अध्यात्मवादी अपनी आध्यात्मिक स्थिति को (आत्मस्थिति को) प्राप्त करता है; फिर वह किसी भी अन्य इच्छा का मनोरंजन कैसे कर सकता है जो इसके विरोध में है?

"न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यमी।

नागरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव।।४.५.३४।।लघुयोगवासिष्ठः"

किसी भी बुद्धिमान् तत्वज्ञ को जगत् के अस्थाई भाव मनोरञ्जन के कारण नहीं बन सकते जैसे नगरमें रहनेवाले सभ्य पुरुषके लिये सुसंस्कृत नागरी नारी ही मनोरमा हो सकती है, गाँवकी गवांरिन (फूहड़) नहीं।

सङ्गति — पुरुष-दर्शनपर्यन्त संयमका फल ज्ञानरूप ऐश्वर्य-विभूतियोंका निरूपण करके अब क्रियारूप सिद्धियोंको दिखलाते हैं।

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३.३८॥

बन्ध-कारण-शैथिल्यात् = बन्धके कारणके शिथिल करनेसे; प्रचार-संवेदनात्-च = और घूमनेके मार्ग जाननेसे; चित्तस्य = चित्तका (सूक्ष्म-शरीरका); पर-शरीर-आवेश: = दूसरेके शरीरमें आवेश होता है।

बन्धके कारणके शिथिल करनेसे और घूमनेके मार्ग जाननेसे चित्त (सूक्ष्म-शरीर) का दूसरेके शरीरमें आवेश होता है।

“कर्मबन्धक्षयाद्योगी चित्तसन्चारवेदनात् ।

अन्यदेहेषु चित्तं तद्धेलयासौ क्षिपत्यथ ॥ १६७ ॥ योगसूत्रसारः”

अपने सकाम-कर्मोंके बन्धनोंका क्षय करनेसे और नाडियोंमें चित्तके सञ्चार का मार्ग जान लेनेसे, दूसरोंके देहोंमें अपने चित्तका (सूक्ष्म-शरीरका) प्रवेश योगी खेल-खेलमें ही कर लेता है।

व्याख्या — चित्तका शरीरमें बन्ध रहनेका कारण धर्माऽधर्म अर्थात् सकाम कर्म और उनकी वासनाऐं हैं। योगी जब धारणा, ध्यान और समाधिके अभ्याससे सकाम कर्मोंको छोड़कर निष्काम कर्मोंका आसरा लेता है तो इन बन्धोंके कारणोंको ढ़ीला कर देता है और नाडियोंमें संयम करके चित्त (सूक्ष्म-शरीर) के उनमें आने-जानेका मार्ग प्रत्यक्ष कर लेता है। इस प्रकार जब बन्धके कारण शिथिल हो जाते हैं और नाडियोंमें चित्त (सूक्ष्म-शरीर) के घूमनेके मार्गका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है तब योगीमें यह सामर्थ्य हो जाती है कि वह अपने शरीरसे चित्त (सूक्ष्म-शरीर) को निकालकर किसी दूसरे शरीरमें ड़ाल सके। चित्तके अनुसार ही इन्द्रियाँ भी यथास्थान आवेश कर जातीं हैं।

चित्तका शरीरमें आना और रहना कर्म-निमित्तक है। इस आगम-निर्गम और प्रतिबन्धका जो संयोग-विशेष है उसके क्षय होनेपर तथा चित्तकी गतिका साक्षात्कार ही प्रचार-संवेदन है अर्थात् चित्तके गमनागमन के मार्गको जानना। कि यह चित्तवहा नाडी है — और यह केवल समाधिसे ही सम्भव हो सकता है। जब ये दो क्रियाएं हो जायें तो परकाय-प्रवेश हो सकता है।

इस प्रकार बन्धक रज्जुके नष्ट होनेपर और देशान्तरके मार्गका ज्ञान होनेपर मार्गज्ञ योगिचित्तका परशरीरावेश होता है।

भोजवृत्तिका भाषार्थ —

आत्मा और चित्त व्यापक हैं, पर नियत कर्मों (भले-बुरे कर्मों) के वशसे ही शरीरके भीतर रहते हैं। उनका जो भोक्ता (आत्मा) और भोग्य (चित्त) बनकर बँध जाना है वह ही शरीरका बन्धन है। इस बन्धनका कारण धर्म और अधर्म जब समाधिसे शिथिल अर्थात् कृश हो जाता है तब ह्रदयसे लेकर इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके सम्मुख जो चित्तका प्रचार (फैलाव वा गमनागमनका मार्ग) है उसका ज्ञान हो जाता है कि यह चित्तको बहानेवाली (चित्तके गमनागमनकी) नाड़ी है। इससे चित्त बहता है अर्थात् विषयोंमें जाता है। और यह नाड़ी रस और प्राणादिको बहानेवाली नाडियोंसे भिन्न है। जब अपने और दूसरोंके शरीरमें चित्तके संचार को जान जाता है तब दूसरेके मृतक शरीरमें अथवा जीते हुए शरीरमें चित्तके संचारद्वारा प्रवेश करता है। दूसरेके शरीरमें प्रवेश होनेपर चित्तके पीछे अन्य सब इन्द्रियाँ भी साथ हो लेतीं हैं, जैसे रानी मक्खीके पीछे अन्य मक्खियाँ। दूसरेके शरीरमें घुसा हुआ योगी अपने शरीरकी तरह उस शरीरमें बर्तता है, क्योंकि चित्त और पुरुष दोनों व्यापक हैं इसलिये भोगोंके संकोचका कारणरूप कर्म (क्रिया) यदि समाधिसे हट गया तो स्वतन्त्रताके कारण सर्वत्र ही भोग-सम्पादन हो सकता है।

सङ्गति — अब योग-शास्त्रोक्त संयम-विशेषके द्वारा उदान-वायुके जयसे होनेवाली सिद्धिको कहते हैं —

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३.३९॥

उदान-जयात् = संयमद्वारा उदानके जीतनेसे; जल = पानी, पङ्क = कीचड़; कण्टक-आदिषु = काँटों आदिमें; असङ्गः = असङ्ग रहना होता है; उत्क्रान्तिः च = और प्रयाण-कालमें ऊर्ध्व गति होती है।

(संयमद्वारा) उदानके जीतनेसे जल, कीचड़, काँटों आदिमें असङ्ग रहना और जीवनके अवसान-कालमें ऊर्ध्व गति होती है।

"उदानस्य जयात्पङ्के जले वा कण्टकादिषु।

उत्क्रान्तिं लभते योगी तद्वायोश्चैव शक्तितः ॥ १६८ ॥ योगसूत्रसारः"

उदान-वायुको जय करनेसे, उदान-वायुकी शक्तिसे योगीको ऐसी सामर्थ्य प्राप्त होती है कि वह जलमें नहीं डूबता, कीचड़में नहीं फँसता, काँटों आदिमें नहीं उलझता और ऊपर उठनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है।

व्याख्या — शरीरमें समस्त इन्द्रयोंमें बर्तनेवाले जीवनका आधार प्राणवायु है। उसके क्रियाभेदसे पाँच मुख्य नाम हैं।

१. प्राण — यह इन पाँचोंमें सबसे प्रथम है। यह मुख और नासिकाद्वारा गति करनेवाला है। नासिकाके अग्रभागसे लेकर हृदय-पर्यन्त बर्तता है।

२. अपान — नीचेको गति करनेवाला है। मूत्र, पुरीष और गर्भ आदिको नीचे ले जानेका हेतु है। नाभिसे लेकर पादतल तक अवस्थित रहता है।

३. समान — खान-पानके रसको सम्पूर्ण शरीरमें अपने-अपने स्थानपर समानरूपसे पहुंचानेका हेतु है। हृदयसे लेकर नाभितक बर्तता है।

४. व्यान — सारे शरीरमें व्यापक होकर गति करनेवाला है।

५. उदान — ऊपरकी ओर गतिका हेतु है। कण्ठमें रहता हुआ शिर-पर्यन्त बर्तनेवाला है। इसीके द्वारा शरीरके व्यष्टि प्राणका समष्टि प्राणसे सम्बन्ध है। मृत्युके समय सूक्ष्म-शरीर इसी उदानद्वारा स्थूल-शरीरसे बाहर निकलता है। जब योगी संयमद्वारा उदानको जीत लेता है तो उसका शरीर रुईकी तरह हलका हो जाता है। वह किसी महानदीके पानीपर पैर रखते हुए उसमें नहीं डूबता। कीचड़-काँटोंमें उसके पैर नहीं फँसते; क्योंकि वह अपने शरीरको हलका किये ऊपर उठाये रखता है। और मरण समयमें उसकी ब्रह्मरन्ध्रद्वारा प्राणोंके निकलनेसे ऊर्ध्व गति (शुक्ल गति) उत्तर-मार्गसे होती है।

अब सूत्रके अन्तमें जो उत्क्रांति शब्द है, उस उत्क्रान्तिके बारेमें समझते हैं —

अन्तःकरणकी दो प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं —

(१) बुद्धिका काम है निश्चय-करना, चित्तका स्मृति, अहङ्कारका अभिमान, मनका संकल्प करना — यह इन सबका अलग-अलग काम बाह्य-वृत्ति है।

(२) इन सबका साधारण साझा (मिश्रित) काम आभ्यन्तर-वृत्ति है। जैसे सूखे हुए तृणोंमें अग्नि लगानेसे एकदम अग्नि प्रज्वलित हो जाती है अथवा जैसे एक कबूतर पिंजरेको नहीं हिला सकता और बहुतसे मिलकर एक साथ चला सकते हैं इसी प्रकार शरीर-धारणरूपी कार्य जो अन्तःकरणकी मिश्रित आभ्यन्तर वृत्तिसे चल रहा है, इसीका नाम जीवन है। यह जीवनरूप प्रयत्न शरीरमें उपगृहीत वायुकी

क्रियाओंके भेदका कारण है। इस जीवनरूप प्रयत्नसे पाँच प्रकारके वायुकी क्रिया होती है। उन क्रियाओं और स्थानोंके भेदसे वायुके प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान पाँच मुख्य नाम हैं

"स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥ (सांख्यकारिका)"

अन्तःकरणके तीन आंतरिक अंगों (बुद्धि, अहंकार और मनस) में से प्रत्येक का अपना-अपना अलग कार्य है जो उन सभी के लिए सामान्य (साझा-काम) नहीं है; लेकिन पांच प्राणों (प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान) के कार्य तीनों आंतरिक अंगों के लिए समान हैं।

प्राण वायु से लेकर समान पर्यन्त जो पांच वायु हैं यह अन्तःकरण की साधारण वृत्ति कहलाते हैं अर्थात् जो वायु हृदय में रहता है, उसका नाम प्राण है, और जो गुदा में रहता है, उसका नाम अपान है, और जो कण्ठ में रहता है, उसका नाम उदान है, जो नाभि में रहता है, उसका नाम समान है, और जो सारे शरीर में रहता है उसका नाम व्यान वायु है यह सब अन्तःकरण के परिणामी भेद हैं, और जो बहुत से लोग प्राण और वायु को एक मानते हैं उनका ऐसा मानना श्रुतिविरुद्ध है – इस कारणसे अयोग्य है क्योंकि —

"एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ २.१.३ ॥ मुण्डकोपनिषद्"

इसी 'परमात्म-तत्त्व' से प्राण, मन तथा समस्त इन्द्रियों का जन्म होता है; तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा सभी को धारण करने वाली पृथ्वी का भी जन्म होता है। इसमें प्राण और वायु को भिन्न-भिन्न माना है। अन्यत्र भी वेदमें बताया है कि प्राण वायुका कारण है और वायु प्राणका कार्य है।

"स प्राणमसृजत। प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च ॥ ६.४॥ प्रश्नोपनिषद्"

"तब उसने 'प्राण' को उत्पन्न किया, तथा 'प्राण' से श्रद्धा को, तत्पश्चात् आकाश और फिर वायु, फिर ज्योति फिर जल फिर पृथ्वी, फिर इन्द्रियाँ एवं मन तथा अन्न, फिर अन्न से वीर्य को तथा वीर्य से तप तथा तप से मन्त्रों को, इन मन्त्रों से कर्म, कर्म से लोकों को, लोकों में नाम को रचा; 'आत्मा' से इस क्रम में समस्त पदार्थों का जन्म हुआ।

तथा ब्रह्मसूत्रमें भी कहा है कि —

"न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्।।२.४.९।। ब्रह्मसूत्र"

मुख्य प्राण भी (उस परमात्मा से ही उत्पन्न होता है) मुख्य प्राण वायुतत्त्व नहीं है और न वायुकी क्रियाका नाम ही मुख्य प्राण है। क्योंकि छन्दोग्योपनिषद, मुण्डकोपनिषद तथा प्रश्नोपनिषद में उसका पृथक ही उपदेश किया गया है। जैसे लोहेके गोलेमें अग्निका व्यवहार होता है वैसे ही प्राणमें वायुका व्यवहार होता है। वास्तवमें दोनों अलग-अलग हैं। जैसे सूर्य ही चक्षु है ऐसा व्यवहार होता है वैसे ही वायु ही प्राण है ऐसा व्यवहार होता है। "सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो" (१०.६.४) शतपथब्राह्मणम्। वास्तव में सूर्य चक्षुका अधिष्ठाता देव है और प्राण वायुका अधिष्ठाता देव है। जैसे राज्य-कर्मचारियोंके द्वारा दिया गया आदेश भी राज्यादेश माना जाता है। राजाके जो अनुगत हैं उनमें राजाके जैसा ही व्यवहार होता है।

इन सबमें प्राण ही प्रधान है क्योंकि श्रुतिमें कहा है कि — उसके उत्क्रमणसे (बाहर निकलनेसे) सभीका उत्क्रमण हो जाता है — प्राणमुत्क्रामन्तमनु सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति।

"शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्त सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति स विज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ ४.४.२ ॥ बृहदारण्यकोपनिषद"

और जब आत्मा विदा होती है, तब प्राणवायु चलती है और जब प्राणवायु निकलती है, तो सभी अंग उसका अनुसरण करते हैं। "तब आत्मा एक विशेष चेतना से संपन्न हो जाती है और उस चेतना को प्राप्त करने के लिए दूसरे शरीर में चली जाती है। "ज्ञान, कर्म और पिछले अनुभव स्वयं का (आत्माका) अनुसरण करते हैं।

तथा उदान-जयसे अर्चि आदि मार्गमें गमन करनेके लिये तथा ब्रह्मलोकमें गमन करनेके लिये ब्रह्मरन्ध्रका भेदन करके लिङ्गदेहको स्वेच्छासे बाहर निकालनेमें समर्थ होता है। स्वेच्छासे उत्क्रान्ति (मृत्यु) प्राप्त होती है और ऊर्ध्व उत्क्रान्ति उदान-वशित्वके विना नहीं प्राप्त होती इसलिये उदान-जयी होना चाहिये यह अर्थ है।

मृत्युके समय लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरकी चार अवस्थाऐं या चार गतियाँ —

"अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति।

पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥३.७॥ प्रश्नोपनिषद्"

अब उदान जो ऊपरको जानेवाला है वह एक नाड़ी (सुषुम्ना) के द्वारा (लिङ्ग-शरीरको) लेकर प्रयाण करता है तथा जो पुण्यों के द्वारा पुण्यलोक में, (आदित्यलोक वा चन्द्रलोक) को ले जाता है (इन दोनों लोकोंमें अन्तर्मुख होकर जाना होता है)। पापों के द्वारा पापों के नर्क में (पशु, पक्षी, कीट-पतङ्गादिकी योनिमें) और दोनों पाप तथा पुण्य के मिश्रित कर्मों से पुनः मनुष्य लोक में वापिस ले आता है।

वे मनुष्य जिनकी रुचि सदा पापमें रहती है, जो स्वार्थसिद्धि अथवा बिना स्वार्थके भी दूसरोंको हानि पहुंचाने तथा नाना प्रकारसे हिंसात्मक और नीच कर्मोंमें लगे रहते हैं, उनका लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर मृत्युके समय वर्तमान स्थूल-शरीरको छोड़कर कीट, पशु, पक्षी आदि तिर्यक्-योनियोंको प्राप्त होता है। और पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, हिंसात्मक और अहिंसात्मक इन दोनों प्रकारके मिश्रित कर्म करनेवाला जीव मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। इन दोनों प्रकारके मनुष्योंके लिङ्ग-शरीरकी मृत्युके समय अधः तथा मध्यम गति स्थूल लोकोंमें बाहरकी ओरसे होती है।

"एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परितज्य ये

सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये ।

तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये

ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।। (नीतिशतकम् – ७५)"

सत्पुरुष वे हैं जो अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरे के कार्य को साधते हैं, सामान्य पुरुष वे हैं, जो अपने और पराये दोनों के कार्यों को साधन करते हैं और मनुष्यों में राक्षस वे पुरुष हैं, जो अपने हित के लिए पराये कार्य को नष्ट करते हैं और जो व्यर्थ ही पराये कार्य की हानि करते हैं, वे कैसे पुरुष हैं, उन्हें हम नहीं जानते क्योंकि ऐसे लोगोंमें अधमता की पराकाष्ठा है जो अकारण ही दूसरों के कार्य को बिगाड़ते हैं।

पितृयाण एवं देवयान

पुण्यात्माओंके लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरोंकी कृष्ण और शुक्ल गतियोंका पितृयाण और देवयान नामसे वेदों, उपनिषदों और गीतामें सविस्तर वर्णन किया गया है।

यथा —

"द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।

ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च।। १०.८८.१५ ।। ऋग्वेदः"

(अन्तरिक्षलोक और पृथ्वीलोकके बीचमें) मैंने मृत्युधर्मा मनुष्यों के गमन योग्य दो मार्ग सुने हैं। एक पितरों का पितृयाण मार्ग और दूसरा देवों का देवयान मार्ग है। वे (पथ) पिता (स्वर्ग) और माता (पृथ्वी) के बीच स्थित हैं।' इन्हीं दोनों मार्गोंसे समस्त संसारी पुण्यात्माओंके लिङ्ग-शरीर जाते हैं।

"यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।८.२३।। श्रीमद् भगवद्गीता"

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! जिस काल अर्थात् मार्गमें शरीर छोड़कर गये हुए योगी अनावृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर नहीं आते और (जिस मार्गमें गये हुए) आवृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर आते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको मैं कहूँगा।

"शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः।।८.२६।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जगत् के ये दो प्रकार के शुक्ल और कृष्ण मार्ग सनातन माने गये हैं । इनमें एक (शुक्ल) के द्वारा (साधक) अपुनरावृत्ति को तथा अन्य (कृष्ण) के द्वारा पुनरावृत्ति को प्राप्त होता है।

"धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।८.२५।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जिस मार्गमें धूम और रात्रि है अर्थात् धूमाभिमानी और रात्रिअभिमानी देवता हैं तथा कृष्णपक्ष अर्थात् कृष्णपक्षका देवता है एवं दक्षिणायनके छः महीने हैं अर्थात् पूर्ववत् दक्षिणायन मार्गाभिमानी देवता है उस मार्गमें (उन उपर्युक्त देवताओंके अधिकारमें मरकर) गया हुआ योगी अर्थात् इष्टपूर्त आदि कर्म करनेवाला कर्मी चन्द्रमाकी ज्योतिको अर्थात् कर्मफलको प्राप्त होकर- भोगकर उस कर्मफलका क्षय होनेपर लौट आता है। अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त होता है। (मनुष्य शरीर धारण करता है)।

"ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रि रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासास्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति॥ ५.१०.३॥ छान्दोग्योपनिषद्"

उनके लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर धूम्रको अपना मार्ग बनाते हैं। धुएं से रातके अन्धकारको, रात से चंद्रमा के अंधेरे कृष्णपक्षके अन्धकारको, कृष्णपक्षसे छह महीने तक, जिसके दौरान सूर्य दक्षिण की ओर जाता है उस दक्षिणायनके अन्धकारको मार्ग बनाते हुए

आगे जाते हैं। वे संवत्सर (कल्प) को प्राप्त नहीं होते।

"मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति॥ ५.१०.४॥ छान्दोग्योपनिषद्"

उन दक्षिणायनके छः महीनों से वे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको मार्ग बनाते हैं। आकाश से चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं। यह सोम राजा (चन्द्रमा अर्थात् चन्द्रलोक 'स्वर्गलोक')है। । वे देवताओं के भोजन हैं। यह पितरोंका अन्न (शुभ कर्मोंके फलोंका भोगस्थान) है, इसको पितर भक्षण करते हैं अर्थात् चन्द्रलोकमें अपने अमृतरुपी सूक्ष्म फलोंको भोगते हैं।

"तस्मिन्यवात्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति॥ ५.१०.५॥ छान्दोग्योपनिषद्"

वे वहाँ (चन्द्रलोकमें) उतनी देर रहते हैं जब तक उनके अच्छे कर्म क्षीण न हो जाए, तब तक वे चंद्रलोक में निवास करते हैं, वे फिर से उसी तरह लौट आते हैं जैसे वे गये थे। वे पहले आकाश और आकाश से वायु तक पहुंचते हैं। फिर हवा बनकर धुआँ बन जाते हैं। धुआँ बन कर धुंध बन जाते हैं; "धुंध" बन कर बादल बन जाते हैं, बादल बन कर बरसने के पानी के रुप में गिर जाते हैं। फिर वे चावल और जौ, जड़ी-बूटी और पेड़, तिल और फलियाँ आदि के रुप में पैदा होते हैं।

यहाँ चन्द्रसे अभिप्राय यह भौतिक चन्द्र नहीं है, जो आकाशमें हमें दीखता है। यह तो हमारी पृथिवीके सदृश एक स्थूल पिण्ड है। हमारे मर्त्यलोक पृथिवीकी अपेक्षासे चन्द्र शब्द अमृतके अर्थमें सारे सूक्ष्म लोकोंके लिये प्रयोग हुआ है जिनको द्युलोक, स्वर्गलोक और कहीं-कहीं ब्रह्मलोक भी कहा जाता है। ये सूक्ष्म लोक भूः और भुवः अर्थात् पृथ्वीलोक और सारे स्थूल अंतरिक्षलोकोंके अंदर हैं, न कि बाहर। पहले ऊपर बतला चुके हैं कि सूक्ष्म लोकोंमें अन्तर्मुख होकर जाना होता है। उसीके उलटे क्रमसे सूक्ष्म लोकोंसे मनुष्यलोकमें बहिर्मुख होना होता है।

सूक्ष्म-शरीरका बीर्यद्वारा प्रवेश करना श्रुतिके विरुद्ध है। श्रुतिमें ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्रवेश होना बतलाया है। यथा —

"स एतमेव सीमानं विदर्यैतया द्वारा प्रापद्यत। ॥३.१२॥ ऐतरेयोपनिषद्"

तब उसने (उदान ने) इसी सीमा को ब्रह्मरन्ध्रको फोड़ा अर्थात् विदीर्ण किया, और इसी द्वार से 'उसने' अन्दर प्रवेश किया।

और छान्दोग्योपनिषद् के मन्त्र ७ में इस बातको दर्शाया गया है कि —

"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा॥ ५.१०.७॥ छान्दोग्योपनिषद्"

अच्छे कर्मवाले अच्छे गर्भोंमें और बुरे कर्मोंवाले बुरे गर्भोंमें अर्थात् वे जो इस लोकमें शुभ आचरणवाले हैं तत्काल ही शुभ जन्मको पाते हैं — जैसे वे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के रुप में जन्म लेते हैं और जो अशुभ कर्म वाले होते हैं वो कुत्ते, सूकर या चाण्डाल आदि योनि को प्राप्त करते हैं।

देवयान —

"अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।८.२४।। श्रीमद् भगवद्गीता"

यहाँ अग्नि कालाभिमानी देवताका वाचक है तथा ज्योति भी कालाभिमानी देवताका ही वाचक है अथवा अग्नि और ज्योति नामवाले दोनों प्रसिद्ध वैदिक देवता ही हैं। जिस वनमें आमके पेड़ अधिक होते हैं उसको जैसे आमका वन कहते हैं उसी प्रकार यहाँ कालाभिमानी देवताओंका वर्णन अधिक होनेसे यत्र काले तं कालम् इत्यादि कालवाचक शब्दोंका प्रयोग किया गया है। (अभिप्राय यह कि जिस मार्गमें अग्निदेवता ज्योतिदेवता) दिनका देवता शुक्लपक्षका देवता और उत्तरायणके छः महीनोंका देवता है उस मार्गमें (अर्थात् उपर्युक्त देवताओंके अधिकारमें) मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता यानी ब्रह्मकी उपासनामें तत्पर हुए पुरुष क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। यहाँ उत्तरायण मार्ग भी देवताका ही वाचक हैं क्योंकि अन्यत्र (ब्रह्मसूत्रमें) भी यही न्याय माना गया है। जो पूर्ण ज्ञाननिष्ठ सद्योमुक्तिके पात्र होते हैं उनका आनाजाना कहीं नहीं होता श्रुति भी कहती है उसके प्राण निकलकर कहीं नहीं जाते। वे तो ब्रह्मसंलीनप्राण अर्थात् ब्रह्ममय — ब्रह्मरुप ही हैं।

"अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासास्तान्मासेभ्यः संवत्सर संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत् पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते॥ ४.१५.५ ॥ छान्दोग्योपनिषद्"

अब, चाहे वे ऋत्विज् ऐसे व्यक्ति के लिए (शवकर्म) अंतिम संस्कार करते हैं या नहीं, वह प्रकाश (अर्चि-किरण) में जाता है, प्रकाश (अर्चि) से दिन तक, दिन से शुक्लपक्ष चंद्रमा के उज्ज्वल आधे तक, चंद्रमा के उज्ज्वल आधे से शुकलपक्षसे उत्तरायणके छह महीने तक, जिसके दौरान सूर्य उत्तर की ओर जाता है, उन महीनों से वर्ष तक, वर्ष से सूर्य तक, सूर्य से चंद्रमा तक, चंद्रमा से बिजली तक। वहाँ एक अमानव (जो मानुषी सृष्टिका नहीं है) पुरुष (अर्थात् पुरुषविशेष =ईश्वर = अपरब्रह्म) ऐसा व्यक्ति जो मनुष्य नहीं है, उससे मिलता है और उसे ब्रह्म की ओर ले जाता है। यह देवताओं का मार्ग (देवयान) है, ब्रह्मपथ है वह मार्ग जो ब्रह्म की ओर जाने वाला मार्ग है। जो लोग इसके द्वारा यात्रा करते हैं, वे मानवता के चक्कर में (मानुषी जीवनमें) नहीं लौटते, हाँ, वे वापस नहीं आते हैं।

उपर्युक्त सारे प्रकाशमय मार्गोंके वर्णनसे सकामकर्मियोंकी अपेक्षा निष्कामकर्मियोंकी केवल ऊर्ध्व तथा शुक्ल गतिका ही निर्देश समझना चाहिये। वास्तवमें तो —

"स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्॥ ८.६.५ ॥ छान्दोग्योपनिषद्"

वह जितनी देरमें मन फेंका जाता है, उतनी देरमें आदित्यलोकमें पहुंच जाता है; क्योंकि यह आदित्यलोक पर-ब्रह्मका द्वार है। ज्ञानियोंके लिये यह खुला हुआ है और अज्ञानियोंके लिये बंद है।

इसी ऊर्ध्व गतिको योगदर्शनके सूत्रमें 'उत्क्रान्तिः' शब्दसे बतलाया गया है। यथा —

"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥ ८.६.६ ॥ छान्दोग्योपनिषद्"

एक सौ एक हृदयकी नाड़ियाँ हैं। उनमेंसे एक मूर्द्धाकी ओर निकलती है। उस नाड़ीसे ऊपर चढ़ता हुआ (ज्ञानी) अमृतत्त्व (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है। दूसरी (नाड़ियाँ) निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति (देने) वाली होती हैं। हाँ, निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति देनेवाली होती हैं।

मुक्तिके दो भेद

वेदान्तमें मुख्यतया मुक्तिके दो भेद माने हैं —

१. क्रममुक्ति — जिसमें निष्कामकर्मयोगी जो शवल-ब्रह्मको तो साक्षात् कर चुके, किंतु शुद्ध ब्रह्मको साक्षात् करनेसे पूर्व ही इस लोकसे चल देते हैं। वे उपर्युक्त देवयानद्वारा आदित्यलोकमें पहुंचकर वहाँ शुद्ध ब्रह्मको साक्षात् करके मुक्त होते हैं। (तथा असम्प्रज्ञात-समाधिकी भूमिको प्राप्त किये हुए वे योगी जो निरोधके संस्कारोंद्वारा बहुत अंशमें व्युत्थानके संस्कारोंको नष्ट कर चुके हैं, लेकिन कुछ शेष रह गये हैं, जिस अवस्थामें उन्होंने स्थूल शरीरको त्यागा है वे आदित्यलोक को अर्थात् विशुद्ध सत्त्वमयचित्तको प्राप्त होते हैं। वहाँ ईश्वरके अनुग्रहसे उनके व्युत्थानके शेष संस्कार निवृत्त हो जानेपर वे कैवल्य अर्थात् परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।)

यथा — ब्रह्मसूत्रमें क्रममुक्ति इस प्रकार दर्शायी गयी है —

“कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ४.३.१०॥ ब्रह्मसूत्र” ,

आदित्यलोकमें पहुंचकर वह कार्य (शवल-ब्रह्म) को उलाँघकर उस कार्यसे परे जो उसका अध्यक्ष परब्रह्म है उसके साथ ऐश्वर्यको भोगता है। और फिर पूरी तरह से मुक्त हो जाता है। यह क्रममुक्ति है। (आदित्यलोक यहाँ आकाशमें दिखलायी देनेवाले भौतिक सूर्यका बोधक नहीं है, जो हमारी पृथिवीके सदृश एक भौतिक स्थूल लोक है। इससे अभिप्राय विशुद्ध सत्त्वमयचित्त है, जो सारे सूक्ष्मलोकोंसे सूक्ष्मतम, कारण लोक अर्थात् कारण जगत् है।

२. सद्योमुक्ति — वे निष्काम कर्मयोगी जो शुद्ध ब्रह्मको पूर्णतया साक्षात् कर चुके हैं (तथा असम्प्रज्ञात-समाधिकी भूमिको प्राप्त किये हुए वे योगी जो व्युत्थानके सारे संस्कारोंको निवृत्त कर चुके हैं) उनको आदित्यलोकमें जानेकी अपेक्षा नहीं है। वे देहको छोड़ते ही मुक्त हो जाते हैं। यथा —

“योऽकामो निष्काम आप्तकामो आत्मकाम न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति॥ ४.४.६॥ बृहदारण्यकोपनिषद”

परन्तु जो मनुष्य कामना नहीं करता, जो कामना रहित है, जो कामनाओं से बाहर निकल गया है, जो कामनाओं से मुक्त है, जिसकी कामना तृप्त है, जिसकी इच्छा का एकमात्र उद्देश्य आत्मा है, जिसको केवल आत्माकी कामना है उसके प्राण नहीं निकलते हैं; वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्मको पहुंचता है। वह पहले से ही ब्रह्म होने के कारण ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

“सोइ जानहि जेहि देहु जनाई, जानत तुमहिं तुमहि हुई जाई।”

तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत्, अर्थात् — परमात्मा को देखा ! परमात्मा ही हो गया ! क्योंकि परमात्मा ही था।

परि द्यावापृथिवी सद्य ऽ इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः । ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तद् अपश्यत् तद् अभवत् तद् आसीत् ॥ ३२.१२ ॥ शुक्लयजुर्वेदः

शुक्लयजुर्वेद का यह मंत्र कितना अद्भुत है। इसका अर्थ है- ‘समस्त अंतरिक्ष, समस्त पृथ्वी, समस्त लोकोंमें, समस्त दिशाओंमें और समस्त स्वानुभूतियों में विश्वव्यापी ऋतके नियमके तंतु फैले हुए हैं। किन्तु जो उनको भी चीरकर जो पार दृष्टि वाला हो जाता है, वह तत्काल ही उस सत्य को देख लेता है। और फिर वह वही हो जाता है। क्योंकि वह वही था।

ब्रह्मके शवल-स्वरुपकी उपासना और उसका साक्षात्कार कारणशरीर (चित्त) से होता है, शुद्ध चेतनतत्त्वमें कारणशरीर तथा कारण-जगत् परे रह जाते हैं। यथा —

“यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥ ९.१॥ तैत्तिरीयोपनिषद्”

'ब्रह्म' का वह आनन्द जहाँ से कुछ भी प्राप्त किए बिना वाणी वापिस लौट आती है तथा मन भी जहाँ पहुँच कर विस्मय से चकित होकर लौट आता है, 'ब्रह्म' के उस आनन्द को अनुभव करता हुआ (शुद्ध परमात्मस्वरुपमें एकीभावको प्राप्त करता हुआ) सर्वतो अभय हो जाता है। वह चाहे इस जगत् में, चाहे अन्यत्र, कहीं भी, भयभीत नहीं होता।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ३.४०॥

समान-जयात् = (संयमद्वारा) समानके जीतनेसे; ज्वलनम् = योगीका दीप्तिमान् होना होता है।

(संयमद्वारा) समानके जीतनेसे योगीका दीप्तिमान् होना होता है।

व्याख्या — जब संयमद्वारा योगी समानवायुको वशमें कर लेता है, तब समान प्राणके अधीन जो शारीरिक अग्नि है, उसके उत्तेजित होनेसे उसका शरीर अग्निके समान चमकता हुआ तेजस्वी दिखायी देता है।

अथवा जैसे सतीने अपने शरीरको योगाग्निसे भस्म कर दिया था, वैसे ही अपने शरीरका दाह कर सकता है।

यह कथा रामचरितमानसके बालकाण्डके दोहा ६४ में वर्णित है। पति के अपमान से दुःखी होकर सती का योगाग्नि से जल जाना,

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा॥

रामचरितमानस के अरण्य-काण्ड में सरभंग मुनिने भी इसी प्रयोग से अपने देहको जला दिया था।

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपाँ बैकुंठ सिधारा।।

सङ्गति — इसी पादके छत्तीसवें सूत्रमें स्वार्थसंयमके अवान्तर फलरुप श्रावणसिद्धिको बतलाया है, अब श्रावणसिद्धिवाले संयमको बतलाते हैं।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ३.४१॥

श्रोत्र-आकाशयो: = श्रोत्र और आकाशके; सम्बन्ध-संयमात् = सम्बन्धमें संयम करनेसे; दिव्यं श्रोतम् = दिव्य श्रोत्र होता है।

श्रोत्र और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होता है।

"समानस्य जयाद्योगी ज्वलत्यग्निवदेव वा ।

आकाशस्सर्वशब्दानां प्रतिष्ठा शब्दवारिधेः ॥ १६९ ॥ योगसूत्रसारः"

समानके जयसे योगीकी देह अग्निके समान जाज्वल्यमान प्रतीत होने लगती है अर्थात् काया कुन्दन हो जाती है। और क्योंकि आकाश ही शब्द-समुद्रकी (ध्वनि-मात्रकी) प्रतिष्ठा है अर्थात् सारे शब्द आकाशमें ही रहते हैं, इसलिये—

" सम्बन्धे संयमं कृत्वा त्वाकाशकर्णयोस्तथा ।

दिव्यं श्रोत्रं समादत्ते योगी शब्दस्य कारणम् ॥ १७० ॥योगसूत्रसारः"

आकाश और कान के सम्बन्धमें संयम करनेसे, कान का सम्बन्ध आकाशके साथ स्थापित करनेपर योगीको दिव्य कानोंकी प्राप्ति होती है। क्योंकि आकाशही शब्दमात्र का कारण है। अतः कानों एवं आकाश के परस्पर सम्बन्ध में संयम करने से योगी के दिव्य श्रोत्र

अथवा सुनने की दिव्य क्षमता की प्राप्ति होती है। जिस शक्तिके द्वारा वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म शब्दों को भी सहजता से सुनने में समर्थ हो जाता है।

व्याख्या — शब्दकी ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय अहंकारसे उत्पन्न हुई है और अहंकारसे उत्पन्न हुए शब्दतन्मात्राका कार्य आकाश है। इन दोनोंका सम्बन्ध देश-देशी आश्रयाश्रयिभावसे है। इस सम्बन्धमें संयम करनेसे योगीको दिव्य श्रोत्र प्राप्त होता है, जिससे वह दिव्य, सूक्ष्म, व्यवहित (आवृत्त) और विप्रकृष्ट अर्थात् दूरस्थ शब्दोंको सुन सकता है। इसी प्रकार (त्वचा-वायु, चक्षु-तेज, रसना-जल, घ्राण-पृथ्वी) के सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य त्वचा, दिव्य नेत्र, दिव्य रसना, और दिव्य घ्राण प्राप्त होता है। ये सब सिद्धियाँ सूत्र छत्तीसमें पुरुष-ज्ञानसे पूर्व भी बतलायी गयी हैं।

इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं, भौतिक नहीं क्योंकि अहंकारसे तन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है और तन्मात्राओंसे पञ्च-महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। यह बात शंकराचार्य कृत 'आत्मबोध' और 'पञ्चीकरण' आदि ग्रन्थोंमें स्पष्टतया समझायी गयी है। क्योंकि आँख, कान आदि तो अन्धे और बहरे को भी होते ही हैं। अतः श्रोत्र शब्दग्राहक आहङ्कारिक इन्द्रिय है और आकाश, व्योम शब्दतन्मात्रा का कार्य है। स्वभावसे ही अनावृत आकाशरुप अधिष्ठानमें शब्द रहते हैं।

सङ्गति — अब संयमजन्य एक अन्य सिद्धि कहते हैं —

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ३.४२॥

काय-आकाशयो: = शरीर और आकाशके; सम्बन्ध-संयमात् = सम्बन्धमें संयम करनेसे; लघु-तूलसमापत्ते: च = और हलके रुई आदिमें समापत्ति करनेसे (तदाकार-वृत्ति करनेसे); आकाशगमनम् = आकाश-गमन (सिद्धि प्राप्त होती है)।

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे और हलके रुई आदिमें समापत्ति करनेसे (तदाकार-वृत्ति करनेसे) आकाश-गमन सिद्धि प्राप्त होती है।

"लघुतूलसमापत्तेराकाशे डयते तथा ।

शरीरकाशसंबन्धे योगी कृत्वा च संयमम् ॥ १७१ ॥ योगसूत्रसारः"

शरीर व आकाश तत्त्वके परस्पर सम्बन्धमें संयम करने और रुई जैसे बहुत ही हल्के पदार्थों में तदाकार-वृत्ति (तन्मयभाव) करनेसे करने से योगी का शरीर उन्ही पदार्थों की तरह हलका हो जाता है, जिससे उसे आकाश में उड़नेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या — जहाँ पाञ्चभौतिक शरीर है वहीं उसको अवकाश देनेवाला शब्द तन्मात्राका कार्य आकाश है, अवकाशके विना शरीरका अवस्थान असंभव है। इस प्रकार इन दोनोंमें आधेय-आधार, व्याप्य-व्यापक भावका सम्बन्ध है। इस सम्बन्धमें संयम करनेसे अथवा रुई-सदृश हल्की वस्तुओंमें (परमाणुओं में) समापत्ति करनेसे (तदाकार होनेसे) योगीका शरीर पहले लघुताको प्राप्त करता है। इसलिये वह जलपर पाँव रखता हुआ चल सकता है। इसके पश्चात् उस योगीमें मकड़ीके जाले-सदृश सूक्ष्म तारोंपर चलनेकी सामर्थ्य आ जाती है। फिर किरणों में विहार करता हुआ वायुमें विहार करता है फिर यथेष्ट आकाश-गति करता है। अन्तमें शरीरके अति सूक्ष्म हो जानेसे नारदादि सिद्धोंकी की तरह आकाशगमनकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

यद्यपि योगसूत्रके प्रथम-पादमें इस सूत्रकी व्याख्या कर चुके हैं — क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।।१.४१।।

तथापि समापत्ति शब्द को स्पष्ट करनेके लिये फिरसे दोहरा देते हैं —

भावार्थ — जिसकी समस्त बाह्य वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे स्फटिक मणि की भाँति निर्मल चित्त का; जो ग्रहीता अर्थात् आत्मा ग्रहण अर्थात् अंत:करण और इंद्रियां तथा ग्राह्य अर्थात् पंचभूत और विषयों – में एकाग्र स्थित होकर उसी विषय के स्वरुप को प्राप्त हो जाना सम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् चित्त का विषय के साथ तदाकार हो जाना है।

इस सूत्रमें "तत्स्थ-तदञ्जनता समापत्तिः"

तत्स्थम् = तत्र तस्मिन् आलम्बने स्थितं चित्तम्। उस आलम्बन में स्थित चित्त। (उस आलम्बनके स्वरुप में स्थित होकर)

तदञ्जनता = (आलम्बनैः सह) तद्रूपता। तदाकाराकारितता। आलम्बनोंके साथ तद्रूपता, (उनके ही जैसा हो जाना) उसीके आकारके साथ चित्तका एकरुप हो जाना। तदाकाराकारितता प्राप्त करना ही अर्थात् तदाकार अवस्थाको प्राप्त करना समापत्ति है।

अब आगे संयमान्तर की सिद्धि कहते हैं —

त बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ३.४३॥

बहि:-अकल्पिता = शरीरसे बाहर कल्पना न की हुई; वृत्ति: = वृत्ति (चिन्तनकी धारा) महाविदेहा = महाविदेहा कहलाती है; ततः = उससे; प्रकाश-आवरण-क्षय: = प्रकाशके आवरणका नाश होता है।

शरीरसे बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महाविदेहा है, उससे प्रकाशके आवरणका नाश होता है।

व्याख्या — मनको शरीरसे बाहर धारण करना "विदेहा-वृत्ति" तथा मनकी "विदेहा-धारणा" कहलाती है। जबतक मन शरीरके अंदर ही स्थित रहे पर उसको वृत्तिमात्रसे बाहर ही धारण किया जाय तबतक वह "कल्पिता" कहलाती है। अभ्यासके परिपक्व हो जानेपर बिना कल्पनाके मन शरीरसे बाहर यथार्थ रुपसे स्थित हो जाता है; तब विदेहा-वृत्ति अकल्पिता कहलाती है। इसीको महाविदेहा कहते हैं। यह योगीको पर-शरीर-आवेश तथा लोक-लोकान्तरोंमें सूक्ष्म-शरीरसे भ्रमण करनेमें सहायक होती है। इन दोनोंमें कल्पित-विदेहा-धारणा साधन है और अकल्पित-विदेहा-धारणा साध्य है; क्योंकि पहले कल्पित-विदेहाका अभ्यास किया जाता है, उसके पश्चात् अकल्पित-विदेहा को साधा जाता है। इसके अभ्याससे चित्तके प्रकाशको रोकनेवाले अविद्यादि क्लेश, कर्मविपाक आदि मल जो रजस्-तम के मूलक हैं, नाश हो जाते हैं और चित्तमें निरावरण होनेके कारण यथेच्छ विचरनेकी सामर्थ्य हो जाती है।

जिसमें अहङ्कारका कार्य वेग नहीं हैं ऐसी शरीर-निरपेक्ष अकल्पिता-महाविदेहा को सिद्ध करनेसे पहले जो सामान्य शरीर-सापेक्ष कल्पित-विदेहा है उसको सिद्ध कर लेना चाहिये। फिर उस महाविदेहा में संयम करनेसे योगीके सम्पूर्ण चित्तमल क्षीण हो जाते हैं। बुद्धिसत्वके आवरक जो रज-तम आदि हैं उनका क्षय हो जाता है प्रकाशात्मा बुद्धिसत्वका जो आवरण क्लेष-कर्म-विपाक-रुप आवरक हैं उनका समूल क्षय हो जाता है। उनका क्षय हो जानेपर निरावरण हुआ योगीका चित्त स्वेच्छासे विहार करता है तथा सर्वज्ञत्वलाभ अर्थात् सबकुछ जानता भी है।

इस महाविदेहा धारणासे भी लिङ्ग-देहका पर-शरीरावेश हो जाता है।

तुलसीदासजीने जिसको "बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता।।" इसमें विषय, करण, (माने इन्द्रियाँ) सुर (माने उन इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता) और अन्तमें उनका भोक्ता जीवके रुपमें जिसका प्रतिपादन किया है उसीको महर्षि पतञ्जलिने यहाँ ग्रहीतृ,ग्रहण और ग्राह्यके रुपमें प्रतिपादन किया है। अब अगले सूत्रमें पहले ग्राह्य-विषयक सिद्धि बताते हैं।

ग्रहीतृ माने भोक्ता-जीव, ग्रहण माने विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ और ग्राह्य माने स्थूल विषय।

तदेवं परिणामत्रयसंयमादित्यारभ्योच्चवचविषयसंयमानां ज्ञानकर्मरुपाः सिद्धयस्तत्तत्कामेभ्य उपदिष्टाः ।

परिणामत्रयसंयमाद् अतीतानागतज्ञानम् ॥ ३.१६॥

किसी भी पदार्थ के तीनों परिणाम (धर्म, लक्षण व अवस्था) में संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) करने से उस पदार्थ के भूत एवं भविष्य काल का ज्ञान हो जाता है। यहाँ से आरम्भ करके — अनेक प्रकारकी छोटी-बड़ी सिद्धियोंके संयमके विषयमें ज्ञान-कर्मरुप उन-उन कामनाओंकी सिद्धिके लिये संयमका उपदेश किया।

फिर — इदानीं वितर्कविचारेत्यादिसूत्रैश्च शास्त्रे मुख्यतः प्रकृतेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु ये संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः । तत्र ग्रहीतृग्रहणयोर्ग्राह्यनिरुप्यत्वादादौ ग्राह्यसंयमस्य सिद्धिमाह —

{वितर्कविचारानन्दास्मितारुपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥१.१७॥}

वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता – इन चारों के सम्बन्ध से युक्त चित्तवृत्ति का समाधान – सम्प्रज्ञात समाधि है। तथा —

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः॥१.४१॥

जिसकी समस्त बाह्य वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे स्फटिक मणि की भाँति निर्मल चित्त का; जो ग्रहीता अर्थात् आत्मा ग्रहण अर्थात् अंत:करण और इन्द्रियाँ तथा ग्राह्य अर्थात् पंचभूत और विषयों में एकाग्र स्थित होकर उसी विषय के स्वरुप को प्राप्त हो जाना सम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् चित्त का विषय के साथ तदाकार हो जाना है।

सङ्गति — सोलहवें सूत्रसे लेकर तैंतालीसवें सूत्रतक समाधिमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये भिन्न-भिन्न संयम और उसकी सिद्धियाँ वर्णन करके अब अपने दर्शनके उपयोगी सबीज और निर्बीज-समाधिकी सिद्धिमें विविध उपाय दिखाते हैं। अगले सूत्रमें ग्राह्य पाँचों भूतोंका संयम बताया है।

स्थूलस्वरुपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ३.४४॥

स्थूल = (पाँचों भूतोंके) स्थूल आकार; स्वरुप = स्वरुप; सूक्ष्म = सूक्ष्म; अन्वय = अन्वय; अर्थवत्त्व = अर्थवत्त्वमें; संयमात् = संयम करनेसे; भूतजय: = भूतोंका जय होता है।

पाँचों भूतोंके स्थूल, स्वरुप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे भूतोंका जय होता है।

"स्थूलस्वरुपसूक्ष्मेषु तथान्वयार्थवत्त्वयोः।

संयमात् पञ्चभूतानां संयमी जयमश्नुते ॥ १७२ ॥ योगसूत्रसारः"

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश ये पांच महाभूत होते हैं। पञ्च-महाभूतों की स्थूल, स्वरुप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व रुप से पाँच अवस्थाऐं अथवा पाँच विभाग हैं। इन सभी विभागों में क्रमसे संयम करने पर योगी सभी पञ्च महाभूतों पर विजय प्राप्त कर लेता है। अर्थात् पहले पञ्च-भूतोंके स्थूलरुपमें संयम करे फिर उनके स्वरुपमें, फिर सूक्ष्म-रुपमें, फिर अन्वयमें और अन्तमें अर्थवत्त्व में।

व्याख्या — पृथ्वी आदि पाँच भूतोंके पाँच-पाँच रुप हैं। स्थूल, स्वरुप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व जिनका वर्णन इस प्रकार है —

१. स्थूल — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाशका अपना-अपना विशिष्ट आकार स्थूल रुप है। जिसे हम अपनी इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर सकते हैं। इनमें से पाँचों गुण (शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध) पृथ्वीमें रहते हैं। गन्धको छोड़कर चार गुण जलमें रहते हैं। गन्ध

और रसको छोड़कर तीन तेजमें रहते हैं। गन्ध-रस और रूपको छोड़कर दो वायुमें रहते हैं। और केवल शब्द आकाश में रहता है। ये इनके विशेष सहकारी धर्म हैं। इन सब धर्मोंको मिलाकर शास्त्र में इनको स्थूल संज्ञा दी गयी है।

२. स्वरूप — उपर्युक्त पाँच भूतोंका अपना-अपना नियत धर्म, जिनसे ये जाने जाते हैं — जैसे पृथ्वीकी ठोसता, (घनत्व) कठोरता, या मूर्ति बननेकी योग्यता और सुरभि-दुर्गन्ध आदि गन्ध, जलकी तरलता, शीतत्व, अभास्वर- शुक्लत्वादि-रूप, मज्जा, पुष्टि, बलाधानका हेतु, कषायत्वादि रस और स्नेह, अग्निकी उष्णता और प्रकाश, वायुकी गति या कम्पन और आकाशका अवकाश देना स्वरूप है।

३. सूक्ष्म — स्थूल भूतोंके कारण — गन्ध-तन्मात्रा पृथ्वीकी, रस-तन्मात्रा जलकी, रूप-तन्मात्रा अग्निकी, स्पर्श-तन्मात्रा वायुकी और शब्द-तन्मात्रा आकाशकी; यह पाँच महाभूतोंका सूक्ष्म रुप है। इन पृथ्वी आदि पाँचों भूतोंके कारण पञ्चतन्मात्राऐं हैं और तन्मात्राओंके परिणाम परमाणु हैं। इसलिये परमाणु और पञ्चतन्मात्राऐं सूत्रमें सूक्ष्म पदसे बतलाये हुए पाँचों भूतोंके तृतीय रुप हैं अर्थात् पाँचों भूतोंके जैसे परमाणु सूक्ष्म रुप हैं, वैसे ही पञ्चतन्मात्राऐं परमाणुओंके सूक्ष्म रुप हैं।

४. अन्वय रुप — सत्त्व, रजस् तथा तमस् जो तीनों गुण अपने प्रकाश, क्रिया और स्थिति धर्मसे पाँचों भूतोंमें अन्वयीभावसे मिले रहते हैं, यही अन्वयी रुप है। यह भूतों की सूक्ष्मतर (सूक्ष्म-से-भी-सूक्ष्म) अवस्था होती है। क्योंकि सभी तन्मात्राओं का भी आधार त्रिगुण है। प्रकाशात्मक होनेसे मन और चक्षु आदि इन्द्रियाँ सात्त्विक हैं, प्राण गतिशील होनेसे राजसिक हैं और अन्न-रसादि का उपचय और अपचय दीखता है अर्थात् स्थूल शरीरका घटना-बढ़ना दिखनेसे तामसिक है। यही अन्वय नामवाला चौथा रुप है। अर्थात् जैसा कि श्रुतिमें कहा है — "अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ॥ ६.६.५ ॥ छान्दोग्योपनिषद्" मेरे प्रिय! अन्नके बिना मनकी स्थिति नहीं होती अर्थात् मन में भोजन होता है, प्राण में जल होता है और वाणी में अग्नि होती है।" भूतादि सर्व कार्योंमें अनुगत जो प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील तीन गुण हैं, वे सूत्रमें अन्वय शब्दसे बतलाये हुए पाँचों भूतोंका चतुर्थ रुप है।

५. अर्थवत्त्व — अर्थात् प्रयोजन। पुरुषका भोग और अपवर्ग। जिस प्रयोजनको लेकर ये पाँचों भूत कार्योंमें लगे हुए हैं वह अर्थवत्त्वरूप है। इस प्रकार पाँचों भूतोंके धर्म, लक्षण और अवस्था भेदोंसे पचीसों रूपोंमें क्रमसे साक्षात् पर्यन्त संयम करनेसे पाँचों भूतोंका सम्यक् ज्ञान और उनपर पूरा वशीकार होता है। इस प्रकार भूतोंके स्वाधीन होनेपर जैसे गाय बछड़ोंके अनुकूल होती है, वैसे ही सब भूतोंकी प्रकृतियाँ योगीके संकल्पानुसार हो जाती हैं। अर्थात् तब वह योगी इन सभी पञ्च-महाभूतों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इन पञ्च-भूतोंका भोग और अपवर्ग ही प्रयोजन है। शब्दादि विषयोंकी उपलब्धि भोग कहलाती है और विवेक-ख्याति मोक्ष कहलाती है। और ये भोग-मोक्ष अन्तःकरणमें ही अनुभव होते हैं, सत्त्वादि-गुणोंमें नहीं। पुरुषके भोग और अपवर्गके सम्पादन करनेका जो गुणोंमें सामर्थ्यविशेष है, वह जो सूत्रमें अर्थवत् शब्दसे कथन किया गया है वह भूतोंका पाँचवाँ रुप है।

आकाशके षड्ज-गान्धारादि ध्वनियाँ, वायुके शीतोष्णादि स्पर्श, तेजके नील-पीतादि रुप, जलके कषाय-मधुरादि रस और पृथ्वीके सुरभि आदि गन्ध विशेष गुण हैं।

जब हम भूतोंके स्वरुपको समग्रता से जानेंगे तभी उनमें संयम करना सम्भव हो सकेगा।

पार्थिव धर्माः — पृथ्वीके धर्म —

"आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च।

वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्श्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता ॥"

आकार माने अवयव-संस्थान, गौरव माने गुरुता (भारीपन), रोक्ष्य माने रूखापन, वरण माने आवरण-शक्ति, स्थैर्य माने स्थिरता, वृत्ति माने सर्व-भूताधारता, भेद माने विदारण-शक्ति, क्षमा माने सहिष्णुता, कार्श्यं माने कृशता, काठिन्यं माने कठिनता अथवा धारण करनेका सामर्थ्य और सर्वभोग्यता। यह सब मिलाकर पृथिवीका स्थूल-रूप है।

अपां धर्माः — जलके धर्म —

"स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत्।

शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः॥"

स्नेह माने चिकनाई, सौक्ष्म्यं माने सूक्ष्मता या पतलापन, प्रभा माने हल्का- चमकीलापन, शौक्ल्यं माने शुभ्रता, मार्दवं माने मृदु होना (मुलायम होना), गौरवं माने भारी होना (बजन वाला होना), शैत्यं माने शीतल होना, रक्षा माने रक्षक होना, पवित्रत्वं माने पवित्रता देनेवाला, संधानं माने जोड़नेवाला ये सब जलके गुण हैं।

तैजसा धर्माः — तेजके धर्म

"ऊर्ध्वभाक् पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम्।

प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम् ॥"

ऊर्ध्वभाक् माने ऊपरकी तरफ गति करनेवाला, पाचक माने अन्नादिको पचाकर रस-रूपमें परिवर्तन करनेवाला, दग्धृ माने जलानेवाला, पावकं माने पवित्र करनेवाला, लघु माने हलका, भास्वरम् माने चमकीला, प्रध्वंसी माने सबकुछ भस्म करनेवाला, ओजस्वी माने प्रभावशाली, ये सब तेजके लक्षण हैं।

वायवीया धर्माः — वायुके धर्म —

"तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम्।

चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः ॥"

वायुकी वहनशीलता, तिर्यग्-यानं माने टेढ़ा चलनेवाला (जैसे हिरन तिरछी चालसे चलता है) पवित्रत्वं माने पवित्रता देनेवाला, आक्षेपः माने गिरानेवाला, नोदनं माने कम्पन, हिलानेवाला या प्रेरणा देनेवाला, बलम् माने बल देनेवाला, चलं माने नित्य गमनशील, अच्छायता माने अनाच्छादन (आच्छादनका अभाव) छायासे रहित, रौक्ष्यं माने रूखापन ये सब वायुके गुण हैं।

"चलनेन तृणादीनां शरीरस्याटनेन च।

सर्वगं वायु-सामान्यं नामित्वम् अनुमीयते ॥"

घासके तिनकोंके उड़नेसे, शरीरके इधर-उधर चलने-फिरनेसे, एवं सर्वत्र गतिशील होनेसे वायुकी वहनशीलताका अनुमान किया जाता है।

आकाशीया धर्माः — आकाशके धर्म —

"सर्वतोगतिरव्यूहोऽविष्टम्भश्चेति ते त्रयः।

आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वधर्मविलक्षणाः ॥" इति॥

सर्वतो-गति माने जिसकी सर्वत्र गति है अर्थात् जो विभु है (व्यापक है) अव्यूहः माने सभी पदार्थोंको अलग-अलग करके दिखाता है (सर्व-पदार्थानां प्रविरलीकरणम्) अर्थात् विभाग करना, घना नहीं होने देना, अविष्टम्भ माने अवकाश देनेवाला ये सब आकाशके धर्म हैं।

यहाँ इतना और जान लेना चाहिये कि गुणोंमें तो भोगापवर्ग-सम्पादनकी सामर्थ्य साक्षात् अनुगत है और तन्मात्रा तथा भूत आदिकोंमें परम्परासे (गुणोंद्वारा) अनुगत है तथा साक्षात् और परम्परासे सभी पदार्थ अर्थवत्तावाले हैं। इस प्रकार पाँचों भूतोंके पाँच रूपोंमें जिस-जिस रूपमें योगी संयम करता है, उस-उस रूपका योगीको साक्षात्कार और जय होता है। स्थूल स्वरूप सूक्ष्मादि रूपोंके क्रमसे पाँचों भूतोंके पाँचों रूपोंमें संयम करनेसे योगीको पाँचों भूतोंका प्रत्यक्ष और वशीकार हो जाता है। ऐसे योगीको भूतजयी कहते हैं। सब भूतोंकी प्रकृतियाँ उसके संकल्पानुसार हो जातीं हैं अर्थात् भूतोंका स्वभाव उसके संकल्पानुसार हो जाता है।

सङ्गति — अब इन सभी भूतों पर विजय प्राप्त करनेके बाद जो फल मिलता है वह अगले सूत्र में बतलाते हैं —

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ३.४५॥

शब्दार्थ — ततः = उससे (भूतजयसे); अणिमादि-प्रादुर्भाव: = अणिमादि आठ सिद्धियोंका प्रादुर्भाव; काय-सम्पत् = काया सम्पत्; (शरीर का विशेष सामर्थ्य बढ़ता है) तत्-धर्म-अनभिघात:- च = और उन पाँचों भूतोंके धर्मोंसे चोटका न लगना — रुकावट न होना होता है।

उस भूतजयसे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंका प्रादुर्भाव और काया सम्पत् होती है (शरीर का विशेष सामर्थ्य बढ़ता है) और उन पाँचों भूतोंके धर्मोंसे रुकावट नहीं होती।

"सिद्धीनामणिमाद्यानां प्राप्तिस्तेनैव सिद्ध्यते ।

कायसम्पत् समाप्तिश्च धर्मैश्चानभिभूतता ॥ १७३ ॥ योगसूत्रसारः"

पञ्च भूतों पर विजय प्राप्त करनेके बाद योगीको अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है। और कायसम्पत् माने शरीर का विशेष सामर्थ्य बढ़ता है और साथ ही पृथ्वी आदि पञ्च भूतोंके धर्म योगीको किसी भी प्रकारसे बाधा नहीं पहुंचाते हैं।

व्याख्या — चौवालीसवें सूत्रमें बताये हुए भूतजयसे निम्न प्रकारकी आठ सिद्धियोंका प्रादुर्भाव और कायसम्पत् होती है।

सिद्धियोके बारेमें अमरकोषादि में एक प्रसिद्ध श्लोक है —

अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा ।

प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ।।

१. अणिमा = परमाणु-रूपता को प्राप्त हो जाना।

२. महिमा = महत्त्व-प्राप्ति। आकाशादि के समान महद्भाव को प्राप्त हो जाना। (बहुत बड़ा हो जाना)

जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा॥

सोरह जोजन मुख तेहिं ठयऊ। तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ॥

उसने (सुरसा ने) योजनभर (चार कोस में) मुँह फैलाया। तब हनुमान ने अपने शरीर को उससे दूना बढ़ा लिया। उसने सोलह योजन का मुख किया। हनुमान तुरंत ही बत्तीस योजन के हो गए।

३. लघिमा = तूलके समान (पर्वतको भी पतले धागेके समान हलका बना देना) लघुत्वप्राप्ति। लघु-भावको प्राप्त करा देना।

४. गरिमा = गुरुत्वप्राप्ति। हल्की चीजको भी पर्वतसे भी भारी बना देना।

५. प्राप्ति = अङ्गुल्यग्रसे चन्द्रादिस्पर्शनशक्ति।

६. प्राकाम्य = इच्छा का अनभिघात अर्थात् श्रुत-दृष्ट में (जो कुछ देखा या सुना है उसमें) यथेष्टकी प्राप्ति।

७. ईशित्व = शरीर और अन्तःकरणका ईश्वरत्व (मालिक होना) ईशित्व नामकी सिद्धि है

८. वशित्व = सर्वत्र प्रभाव-शाली होना वशित्व नामक सिद्धि है।

ये अणिमा आदि आठ गुण महासिद्धि कहे जाते हैं।

१. अणिमा — शरीरको सूक्ष्म कर लेना। इतना सूक्ष्म हो सकता है कि हीरेके अन्दर भी घुस जाय। बड़ा होते हुए भी अणुके समान छोटा हो जाना। स्वेच्छा से अपने शरीरको अणु-परिमाणका बना लेना यह अणिमा सिद्धि है।

२. लघिमा — शरीरको हलका कर लेना। आकाशमें एक तिनकेके समान उड़ सकना।

३. महिमा — शरीरको बड़ा कर लेना। छोटा होते हुए भी पहाड़के समान या आकाशके समान बड़ा हो जाना।

४. प्राप्ति — जिस पदार्थको चाहें प्राप्त कर लेना। यदि चाहे तो इतना बड़ा हो सकता है कि धरती पर खड़े-खड़े ही अवयवोंका उपचय करके केवल अपनी उंगलीके अग्रभागका विस्तार करके चन्द्रमाको छू ले। ये सिद्धियाँ भूतोंमें संयम करनेसे प्राप्त होतीं हैं।

५. प्राकाम्य — बिना रुकावटके इच्छा पूर्ण होना। यथेष्टकाम हो जाता है। यदि चाहे तो जैसे पानीमें डुबकी लगाते हैं वैसे ही योगी पृथ्वीमें डुबकी लगा सकता है। यह पाँचों भूतोंके स्वरूपमें संयम करनेसे सिद्ध होती है।

६. वशित्व — पृथ्वी आदि पाँचों भूतों तथा भौतिक (गाय, घड़ा, मनुष्यादि) पदार्थोंको वशमें कर लेना (भूतोंके सूक्ष्मरूपमें संयम करनेसे)।

७. ईशित्व — भूत-भौतिक पदार्थोंके उत्पत्ति-विनाशका सामर्थ्य। (यह सिद्धि अन्वयमें संयम करनेसे प्राप्त होती है।)

८. यत्र-कामावसायित्व — प्रत्येक संकल्पका पूरा हो जाना अर्थात् जैसा योगी संकल्प करे उसके अनुसार भूतोंके स्वभावका अवस्थापन हो जाना है। वह योगी यदि संकल्प करे तो अमृतकी जगह विष खिलाकर भी पुरुषको जीवित कर सकता है। (यह सिद्धि अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे प्राप्त होती है।)

ये सब संकल्प होते हुए भी योगीके संकल्प ईश्वरीय नियमके विपरीत नहीं होते। अपने परमगुरु नित्यसिद्ध योगिराज ईश्वरके संकल्पानुसार ही योगियोंका संकल्प होता है।

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।

प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता।। ११.१५.४ ।।

उनमें से 'अणिमा', 'महिमा' और 'लघिमा' की तीन उपलब्धियां शरीर से संबंधित हैं। इन्द्रियोंकी एक सिद्धि है — 'प्राप्ति'। लौकिक और पारलौकिक पदार्थोंका इच्छानुसार अनुभव करनेवाली सिद्धि को 'प्राकाम्य' कहा जाता है। माया और उसके कार्योंको इच्छानुसार सञ्चालित करना 'इशिता' नामकी सिद्धि है।।४।।

गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति

एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः ।।११.१५.५।। श्रीमद्भागवतपुराणम्

विषयोंमें रहकर भी उनमें आसक्त न होना अर्थात् विषयों के प्रति अनासक्ति को 'वशिता' कहा जाता है और जिस-जिस सुखकी कामना करे, उसकी सीमातक पहुंच जाना 'कामवसायिता' नामकी आठवीं सिद्धि है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा कि — ये आठों सिद्धियाँ मुझमें स्वभावसे ही रहतीं हैं और जिन्हें मैं देता हूँ, उन्हींको अंशतः प्राप्त होतीं हैं ।।५।।

"जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च।।४.४.१७।। ब्रह्मसूत्र"

सृष्टि को प्रगट करना, सृष्टि का पालन करना, सृष्टि का प्रलय करना एवं अनंतानंत जीवोंके प्रत्येक जन्मके प्रत्येक कर्मको नोट करने का कार्य एवं उनके कर्मों का फल देने का कार्य ये सारे काम भगवान शिव स्वयं ही करते हैं, किसी भी शिव भक्त को ये कार्य नहीं देते।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच् च । (ब्रह्मसूत्र-४,४.२१)

शिव प्राप्ति पर जीव भगवान शिव के अनंत सत्ता, अनंत ज्ञान एवं अनंत आनंद मे ही समता प्राप्त कर सकता है , स्वयं भगवान नहीं बन जाता।

भगवत्पाद-भाष्यकार व्यासजी कामावसायी योगीके सम्बन्धमें लिखते हैं कि यद्यपि यह योगी सर्वसामर्थ्यवाला है तथापि वह पदार्थोंकी शक्तियोंको ही विपरीत करता है न कि पदार्थोंको। अर्थात् अमावस्याको पूर्णिमा नहीं बनाता, अग्निको ठण्डा नहीं करता, चन्द्रमाको सूर्य और सूर्यको चन्द्रमा तथा विषको अमृत नहीं करता है, किंतु विषमें जो प्राण-वियोग करनेकी शक्ति है, उसको निवृत्त कर उसमें जीवन-शक्तिका सम्पादन कर देता है; क्योंकि पदार्थोंका विपरीत होना नित्यसिद्ध ईश्वरके संकल्पके विरुद्ध है। यदि योगी-लोग जलको अग्नि बनावें और धर्मको अधर्म बनाने लग जायँ तो सबकुछ अव्यवस्थित हो जायगा इसलिये ऐसा नहीं होता है। और पदार्थोंकी शक्तियाँ अनियत हैं। इसलिये उनके विपरीत करनेमें कोई दोष नहीं अर्थात् पूर्वसिद्ध अन्यकामावसायी सत्यसंकल्प ईश्वरका यह संकल्प है कि सूर्य सूर्य ही रहे और चन्द्रमा चन्द्रमा ही रहे। इसलिये उसकी आज्ञाके विरुद्ध योगी संकल्प नहीं कर सकता।

यही बात श्रुति कहती है —

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" ॥१०.१९० ३॥ ऋग्वेदः

(धाता) परमेश्वर जैसे पूर्व कल्प में सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि बनाया था। वैसे ही अब बनाये हैं और आगे भी वैसे ही बनावेगा।

इसलिये परमेश्वर के काम विना भूल चूक के होने से सदा एक से ही हुआ करते हैं। जो अल्पज्ञ और जिस का ज्ञान वृद्धि क्षय को प्राप्त होता है उसी के काम में भूल चूक होती है; ईश्वर के काम में नहीं। यदि एक योगीके मनमें आये कि प्रलय करना है और दूसरेके मनमें आये कि सृष्टि करनी है तो सब गड़बड़ हो जायगा। ईश्वर अपने नियमोंका पालन करनेके लिये अन्तर्यामीरुपसे सिद्धोंको वैसी ही प्रेरणा देते हैं जिससे विश्वमें अव्यवस्था न हो।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि कामावसायी योगी शुद्धचित्त और न्यायकारी होते हैं। उनका संकल्प, ईश्वर-संकल्प और उसकी आज्ञाके विपरीत नहीं होता है। इसलिये जब कभी वे अपने इस ऐश्वर्यको काममें लाते हैं तो वह ईश्वरके संकल्प और उसके आज्ञानुसार न्याय और व्यवस्थाके धारणार्थ ही होता है। उसके विपरीत नहीं।

(१) कायसम्पत् — शरीरकी सम्पदा। इसका वर्णन अगले सूत्रमें दिया जायगा।

(२) तद्धर्मानभिघातः — इन पाँचों भूतोंके कार्य योगीके विरुद्ध रुकावट नहीं ड़ालते अर्थात् मूर्तिमान् कठिन पृथ्वी योगीकी शरीरादि क्रियाको नहीं रोकती। शिलामें भी योगी प्रवेश कर जाता है। जलका स्नेहधर्म योगीको गीला नहीं कर सकता। यदि एक हजार वर्ष तक पानीमें रहे तो भी पानी उसे भीगा नहीं कर सकता। अग्निकी उष्णता उसको जला नहीं सकती। वहनशील वायु उसको उड़ा नहीं सकता। अनावरणरूप आकाशमें भी योगी अपने शरीरको ढ़क लेता है और सिद्धपुरुषोंसे भी अदृश्य हो जाता है।

सङ्गति — अगले सूत्रमें कायसम्पत् अर्थात् शरीर का विशेष सामर्थ्यसे युक्त होना बतलाते हैं —

रुपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ३.४६॥

रुप = रुप; लावण्य = लावण्य; बल = बल; वज्र-संहननत्वानि = वज्रकी-सी बनावट; कायसम्पत् = शरीरकी सम्पदा कहलाती है।

रुप, लावण्य, बल, वज्रकी-सी बनावट। कायसम्पत् (शरीरकी सम्पदा) कहलाती है।

व्याख्या — १. रुप — जो आँखोंको प्रिय लगे उसे रुप कहते हैं अर्थात् सुन्दरता, मुखकी आकृतिका अच्छा और दर्शनीय हो जाना।

२. लावण्य — सर्वाङ्गसौन्दर्य अर्थात् चमक, कांति, दीप्ति एवं तेजस्विता अर्थात् सारे अङ्गोंमें कान्तिका हो जाना।

३. बल — विशेष शक्ति युक्त, शक्तिशाली अर्थात् बलका अधिक हो जाना।

४. वज्रसंहननत्वानि — जिसका अवयव-समूह वज्रके समान दृढ़ है। वज्रस्येव संहननं प्रहारो यस्येति वज्रवन्निविडो दृढः संघातो यस्येति वा वज्र-संहननः। वज्रके समान है संहनन माने प्रहार जिसका अथवा वज्रके समान घना या दृढ़, मजबूत शरीर है जिसका। जैसा कि हनुमान आदिके लिये प्रसिद्ध है। {महावीर विक्रम बजरंगी,} हीरे आदि पथ्थरोंकी तरह कठोर, सुदृढ़ या सुगठित हो जाना अर्थात् शरीरके प्रत्येक अङ्गका वज्रके समान दृढ़ और पुष्ट हो जाना। यह कायसम्पत् शरीर की सम्पदा या सम्पत्ति कहलाती है।

सङ्गति — अबतक ग्राह्यसंयमकी सिद्धियोंका वर्णन किया। अब आगे ग्रहणसंयमकी सिद्धि कहते हैं। “ग्राह्य” भूतोंमें संयम करनेकी विधि बतलाकर अगले सूत्रोंमें “ग्रहण” इन्द्रियोंमें संयम बतलाते हैं। इस प्रकार भूतजय बताकर जिसको योगाभ्यासमें एक विशेष भूमिका प्राप्त हो गयी है उसके लिये अब इन्द्रिय-जय बताते हैं।

ग्रहणस्वरुपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ३.४७॥

ग्रहण = आँख आदि इन्द्रियों का रुप आदि विषयों के साथ जुड़ना; स्वरुप = इन्द्रियों के कार्य; अस्मिता = सूक्ष्म अवस्था; अन्वय = तीनों गुणोंका इन्द्रियोंमें अनुगत होना (सूक्ष्मतर अवस्था); अर्थवत्त्व = इन्द्रियों का उद्देश्य अथवा प्रयोजन (भोग एवं अपवर्ग); संयमात् = संयम करनेसे; इन्द्रिय-जयः = इन्द्रियजय होता है।

इन्द्रियों के ग्रहण, स्वरुप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करने से इन्द्रियजय होता है। जिस प्रकार पंच महाभूतों की पाँच अवस्थाएँ बताई गई थी । उसी प्रकार यहाँ पर इन्द्रियों की भी पाँच अवस्थाएँ बताई गई हैं। जिनमें संयम करने से योगी अपनी सभी

इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है।

"ग्रहणञ्च स्वरूपञ्च तथैव चास्मितान्वयः ।

एतेषु संयमं कृत्वा संयमी जयतीन्द्रियम् ॥ १७४ ॥ योगसूत्रसारः"

इन्द्रियोंके ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय व अर्थवत्त्व इन पांच विभागों में संयम करने से योगीको सभी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार हो जाता है।

व्याख्या — जिसने भूतजय कर लिया है ऐसे योगीको इन्द्रिय-जयका उपाय बताते हैं। इन्द्रियोंके निम्न पाँच रूप हैं। इन पाँचों रूपोंमें क्रमसे साक्षात् पर्यन्त संयम करनेसे इन्द्रिय-जय-सामर्थ्य प्राप्त होती है।

१. ग्रहण — इन्द्रियोंकी विषयाभिमुखी वृत्ति ग्रहण कहलाती है।

"सान्त:करणा बुद्धि: सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।

तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥ सांख्यकारिका"

भावार्थ — (मन और अहंकार ये दोनों) अंत:करण के साथ बुद्धि सर्वविषयों को ग्रहण करती है। इसलिए त्रिविध अंत:करण वह द्वारि (मुख्य है) और बाकी की इन्द्रियाँ द्वार अप्रधान (गौण) है। फिरभी दर्शनादि क्रिया तो चक्षुरादि इन्द्रियोंसे ही होती है इसलिए उस दर्शनादि को ग्रहण शब्दसे कहा गया है।

२. स्वरुप — सामान्य रुपसे इन्द्रियोंका प्रकाशकत्त्व, जैसे नेत्रोंका नेत्रत्व आदि स्वरुप कहलाता है।

३. अस्मिता — इन्द्रियोंका कारण अहंकार, जिसका इन्द्रियाँ विशेष परिणाम हैं। जिससे इन सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

४. अन्वय — सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण, जो अपने प्रकाश, क्रिया और स्थिति धर्मसे इन्द्रियोंमें अन्वयीभावसे अनुगत हैं।

५. अर्थवत्त्व — इनका प्रयोजन पुरुषको भोग — अपवर्ग दिलाना।

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र- ३.४७॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंमें एक-एक इन्द्रियके पाँच-पाँच रुप हैं —

(१) इनमें सामान्य-विशेष रूप जो शब्दादि ग्राह्य विषय और श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी जो विषयाकार परिणामरूप वृत्ति है, वह ग्रहण शब्दका अर्थ है। यह इन्द्रियोंकी वृत्ति केवल सामान्यमात्रविषयक नहीं होती है, किंतु सामान्य-विशेष दोनों विषयवाली होती है। यदि विशेषविषयक इन्द्रियोंकी वृत्ति न मानी जाय तो इन्द्रियोंसे अनुग्रहीत होनेके कारण वह विशेष मनसे निश्चित न किया जा सकेगा; क्योंकि बाह्य इन्द्रियोंके अधीन होकर ही मन बाह्य विषयोंमें अनुव्यवसायवाला होता है, स्वतन्त्र नहीं होता है; इसलिये सामान्य-विशेषरूप विषयाकार ही इन्द्रियोंकी वृत्ति होती है। यह सूत्रमें ग्रहणपदसे कथन किया हुआ इन्द्रियोंका प्रथम रुप है।

(२) प्रकाशात्मक महत्तत्वका परिणाम जो अयुतसिद्ध अवयव सात्त्विक अहंकार है, उसमें कार्यरूपसे अनुगत जो सामान्य-विशेष रूप द्रव्य है, वह इन्द्रियोंका स्वरुप है अर्थात् सात्त्विक अहंकारका कार्य जो प्रकाशस्वरुप द्रव्य 'इन्द्रिय' है, वह इन्द्रियोंका 'स्वरुप नामक' दूसरा रुप है।

(३) इन्द्रियोंका कारण जो अहंकार है, वह इन्द्रियोंका अस्मिता नामक तीसरा रुप है। इस सामान्य रुप अहंकारके इन्द्रियाँ विशेष परिणाम हैं।

(४) व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) महत्तत्वके आकारसे परिणामको प्राप्त हुए जो प्रकाश-प्रवृत्ति-स्थितिशील गुण हैं, वह अन्वय नामक इन्द्रियोंका चौथा रुप है अर्थात् अहंकारके साथ इन्द्रियोंको महत्तत्वका परिणाम होनेसे और महत्तत्वको गुणोंका परिणाम होनेसे तीनों गुण इन्द्रियोंमें अनुगत हैं; इसलिए गुणोंको अन्वयरुप कहा जाता है।

(५) गुणोंमें अनुगत जो पुरुषके भोग-अपवर्ग-सम्पादनकी सामर्थ्य है, वह अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंका पाँचवां रुप है।

इन पाँचों इन्द्रियोंके रुपमें क्रमसे संयम करनेसे उस-उस रुपके जयद्वारा पाँचों रुपोंका जय होनेसे योगीको इन्द्रियजय प्राप्त होता है।

इस प्रकार इन्द्रियोंके स्वाधीन होनेपर जैसे गाय बछड़ोंके अनुकूल होती है, वैसे ही सब इन्द्रियोंकी प्रकृतियाँ योगीके संकल्पानुसार हो जाती हैं। अर्थात् तब वह योगी इन सभी पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

सङ्गति — इसके बाद फिर क्या होता है? तो इन्द्रिय-जयका फल बताते हैं —

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ३.४८॥

ततः = उससे (इन्द्रियजयसे); मनोजवित्वं = शरीर की गति मन की भाँति अत्यंत तीव्र हो जाना; विकरणभाव: = शरीर के बिना ही इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने का भाव, इन्द्रियों का विशेष सामर्थ्य; प्रधान-जयः च = और प्रधानका जय होता है अर्थात् प्रकृति पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है।

इन्द्रियजयसे मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानका जय होता है।

व्याख्या — उपर्युक्त इन्द्रियजयसे निम्न-प्रकारके फल प्राप्त होते हैं।

१. मनोजवित्व — शरीरका मनके समान वेगवाला होना (ग्रहणके संयमसे) कर्मेन्द्रियों की वृत्तियों पर विजय करनेसे शरीरकी गति मनके समान शीघ्रगामी हो जाती है।

२. विकरणभाव — शरीरकी अपेक्षाके बिना इन्द्रियोंका वृत्तिलाभ अर्थात् बिना शरीरकी परवाके इन्द्रियोंमें काम करनेकी शक्ति आ जाना। दूरके और बाहरके अर्थोंको (विषयोंको) जान लेना (स्वरुपमें संयम करनेसे) विदेहों के समान, जो स्थूल-देहके संपर्कसे रहित हैं, उनके समान।

३. प्रधानजय — प्रकृतिके सब विकारोंका वशीकार (अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे) प्रकृतिके सभी विकारों पर, प्रकृतिसे बने सभी भेदों या अंगों पर विजय अर्थात् अधिकार प्राप्त कर लेता है। पञ्चभूत, इन्द्रियां, प्रकृति के सत्त्वादि-गुण और उनके विकार इन सबका स्वेच्छासे अनुविधान करना प्रधान-जय कहलाता है। इसी प्रधान-जयको शास्त्रोंमें सर्ववशित्व कहते हैं।

सिद्धियाँ जितेन्द्रिय पुरुषसे ही प्राप्त की जा सकतीं हैं। योगशास्त्रमें ये तीनों सिद्धियाँ (मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय) मधुप्रतीका कहलातीं हैं; क्योंकि इन सिद्धियोंके प्राप्त होनेपर योगीको प्रत्येक सिद्धिमें मधु-समान स्वाद प्रतीत होता है अथवा योगसे उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञाका नाम 'मधु' है; उस मधुका प्रतीक अर्थात् कारण जिससे प्रत्यक्ष किया जाय, वह मधुप्रतीक है।

"मधु वाता ऋतायते मधुं क्षरन्ति सिन्धवः।" (॥१.९०.६॥ ऋग्वेदः)

वायुदेव मधु प्रदान करते हैं; तरंगमय जलप्रवाह जिनमें होता है उन नदियों से मधुका क्षरण होता है।

सङ्गति — इन्द्रियजय के बारेमें बताकर अब अन्तःकरणजय के बारेमें बतलाते हैं। ग्राह्य और ग्रहणके पश्चात् ग्रहीतृ (चित्त) में संयमका फल बतलाते हैं अर्थात् जिस विवेकख्यातिके लिये यह सब संयम निरूपण किये हैं, उसका अवान्तर फल बतलाते हैं —

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ३.४९॥

सत्त्व-पुरुष-अन्यता-ख्यातिमात्रस्य = चित्त और पुरुषके भेद जाननेवालेको; सर्व-भाव-अधिष्ठातृत्वम् = सारे भावोंका मालिक होना; च सर्व-ज्ञातृत्वम् = और सर्वज्ञ (सबका जाननेवाला) होना प्राप्त होता है।

चित्त और पुरुषके भेद जाननेवालेको सारे भावोंका मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है।

“बुद्धिपुरुषयोर्भेदं सम्यग्विज्ञाय संयमी।

सर्वज्ञस्सर्वभावानामधिष्ठाता च वै भवेत् ॥ १७६ ॥ योगसूत्रसारः”

जिस संयमीको बुद्धि आदि जड़ पदार्थों और जीवात्मा इन दोनोंका अलग-अलग होना अच्छी तरहसे समझमें आ जाता है, ऐसे योगी का सभी वर्तमान पदार्थों पर अधिकार हो जाता है और उसे सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या — सर्वभाव-अधिष्ठातृत्वम् — गुणोंका कर्तृत्व-अभिमान शिथिल होनेपर उनके सब परिणामों और भावोंको पुरुषके प्रति स्वामीके समान वर्तना है।

सर्वज्ञातृत्व — वे गुण जो अतीत, अनागत और वर्तमानकालमें धर्मीभावसे अवस्थित रहते हैं उनका यथार्थ विवेकपूर्ण ज्ञान सर्वज्ञातृत्व कहलाता है। पहले बतला चुके हैं कि गुणोंका सबसे प्रथम परिणाम महत्तत्व अर्थात् समष्टि चित्त है। इसीमें सृष्टिके सब नियम बीजरूपसे रहते हैं। पुरुषोंके व्यष्टि चित्त ग्रहीतृरूप हैं, जिनके द्वारा गुणोंके परिणामोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके स्वरूप अवस्थित होते हैं। पुरुष चित्तका स्वामी, ज्ञानस्वरूप है पर अविवेकके कारण चित्तमें आत्माका अध्यारोप हो जाता है। यही सर्वक्लेशोंकी मूल अविद्या है। सात्त्विक चित्तके प्रकाशमें संयम करनेसे पुरुष और चित्तमें भेद करनेवाला विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसको विवेक-ख्याति कहते हैं। इस विवेक-ख्यातिके हो जानेपर पुरुष अपनेको चित्तसे पृथक् देखता हुआ गुणोंके परिणामोंका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उनपर पूर्ण अधिकार रखते हुए उनका अधिष्ठाता होकर नियममें रखता है।

श्रुति भी ऐसा ही बतलाती है —

‘आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व विदितम्’ (बृहदारण्यकोपनिषत् २।४।५) — अर्थात् पुरुष-दर्शन होनेपर सर्वज्ञातृत्व प्राप्त हो जाता है।

इस सिद्धिका नाम विशोका है; क्योंकि इसकी प्राप्तिसे योगी क्लेशोंके बन्धनोंके क्षीण होनेसे सबका अधिष्ठाता और सर्वज्ञ होकर शोकसे रहित होकर विचरता है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि वास्तवमें ‘सर्वभावाधिष्ठातृत्व’ पाँचों क्लेशोंको दग्धबीज करके उनपर विजय प्राप्त कर लेना है, और ‘सर्वज्ञातृत्व’ यह साक्षात् कर लेना है कि सारा व्यवहार ग्रहण और ग्राह्यरूप तीनों गुणोंमें चल रहा है अर्थात् सारा ही दृश्य त्रिगुणात्मक है, आत्मा इनका द्रष्टा इनसे सर्वथा भिन्न, असङ्ग, निर्लेप, अजर, अमर, अप्रसवधर्मी, निष्क्रिय, ज्ञानस्वरूप कूटस्थ-नित्य है।

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र- ३.४९॥

जब बुद्धि सत्त्वके रज और तम धुल जाते हैं, वह परवैशारद्य (परम स्वच्छता) {अर्थात् अतिसूक्ष्म वस्तुके प्ररिबिम्बको ग्रहण करनेके सामर्थ्यका नाम परवैशारद्य है} परवशीकार अवस्थामें अवस्थित होता है। सत्त्व और पुरुषकी अन्यताख्याति-मात्ररूपमें प्रतिष्ठित होता है, तब बुद्धि सत्त्वको सर्वभावोंका अधिष्ठातृत्व हो जाता है। सर्वात्मक गुण व्यवसाय और व्यवसेयरुप (ग्रहण और ग्राह्यरुप) गुण स्वामी क्षेत्रज्ञके प्रति अशेष दृश्यरुपसे उपस्थित हो जाते हैं।

सर्वज्ञातृत्व-सर्वात्मकगुण जो शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मसे अवस्थित हैं, उनके विषयमें अक्रमोपारूढ़ (क्रियारहित) विवेकज ज्ञान होता है, यह विशोका (शोकशून्यता) नामकी सिद्धि है,जिसको प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ क्षीणक्लेशबन्धन और वशी होकर विहार करता है।

विज्ञानभिक्षु-कृत— योगवार्तिकका सारांश ॥ सूत्र- ३.४७॥

पूर्वोक्त प्रकासे ग्राह्य और ग्रहण विषयके संयमोंकी सिद्धिको कहकर ग्रहीतृ संयमकी सिद्धिको कहते हैं। सूत्रमें मात्र शब्दसे संयमरुप ख्याति उपलब्ध होती है तथा सत्त्व और पुरुषकी अन्यताके संयमवाले (धर्म-धर्मीके अभेदसे) चित्तका सर्वभावोंमें प्रकृति और प्रकृतिके कार्यों और पुरुषके विषयमें अधिष्ठातृत्व स्वदेहके समान स्वेच्छया विनियोक्तृत्व हो जाता है।

तथा प्रकृति और पुरुष आदिमें सर्वज्ञातृत्व हो जाता है। यहाँ भी साक्षात्कारतक ही समझना चाहिये; क्योंकि संयमकी सिद्धि ही अन्य सिद्धियोंका हेतु है।

यद्यपि सब पुरुष सब गुणोंके अशेषतया स्वामी हैं तथापि पापादिके प्रतिबन्धसे सब गुण सब समय सब पुरुषोंके लिये भोग्यरुपसे उपस्थित नहीं होते, यह भाव है।

ऐसी श्रुति भी इस विषयमें प्रमाण है 'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते॥ ८.२.१॥ (छान्दोग्योपनिषद्)' — अर्थात् यदि वह पुरुष पितृलोककी दुनिया चाहता है, तो उसके विचार-मात्र से ही मानो वे पितर उसके पास उपस्थित हो जाते हैं। जिससे पितृलोकका संसार पाकर वह प्रसन्न होता है। इत्यादि श्रुतिमें भी संकल्पसिद्धिकी बात कही गयी है।

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें परवैराग्यके द्वारा विवेकसंयमकी सर्वसिद्धिमूर्धन्य मोक्ष नामसे प्रसिद्ध मुख्य सिद्धिको कहते हैं — विवेक-ख्याति भी चित्तकी ही अवस्था है, इसलिये उसमें भी वैराग्य बताते हैं अर्थात् विवेक-ख्यातिका अवान्तर फल कहकर अब उसके मुख्य फल कैवल्यको बतलाते हैं —

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ३.५०॥

तत्-वैराग्यात्-अपि = उसके (विवेक-ख्यातिके) वैराग्यसे भी; दोषबीजक्षये = दोषोंके बीज-क्षय होनेपर; कैवल्यम् = कैवल्य होता है।

विवेक-ख्यातिसे भी वैराग्य होनेपर दोषोंके बीज-क्षय होनेपर कैवल्य होता है।

"तद्वैराग्यादशेषाणां दोषाणां बीजनाशतः।

कैवल्यं लभते द्रष्टा स्वरुपावस्थितिं ध्रुवम् ॥ १७७॥ योगसूत्रसारः"

उस विवेक-ख्यातिसे अथवा विशोका नामक सिद्धिसे भी वैराग्य हो जानेपर दोषोंके बीजका सम्पूर्णतया नाश हो जानेपर अथवा अविद्या आदि पञ्च क्लेशों का नाश हो जानेपर द्रष्टा-स्वरूपमें स्थित योगीको कैवल्य प्राप्त होता है अर्थात् निश्चित ही स्वरुपावस्थिति या जीवनमुक्ति हो जाती है।

व्याख्या — यह विवेक-ख्याति जिससे योगी सर्वभाव-अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त करता है और जिससे अपने शुद्ध, अपरिणामी और ज्ञान-स्वरूपको त्रिगुणात्मक, परिणामी और जड़ चित्तसे अलग करके देखता है, जो कि चित्तहीका एक धर्म है, उसीका एक परिणाम है, अपना वास्तविक स्वरूप नहीं। इसलिये अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित होनेके लिये इस विवेक-ख्यातिसे भी विरक्त हो जाता है। इसीको परवैराग्य कहते हैं। जब परवैराग्य पूर्ण तथा परिपक्व हो जाता है, तब चित्तको बनानेवाले गुण पुरुषको भोग-अपवर्ग दिलानेके कार्यको पूर्ण करके अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। उनके साथ ही अविद्या आदि क्लेशोंके संस्कार भी विवेकख्यातिद्वारा दग्धबीजके सदृश उत्पत्तिके अयोग्य होकर लीन हो जाते हैं, तब आत्माके सामने कोई दृश्य नहीं रहता। यह पुरुषका गुणोंसे अत्यन्त पृथक् होकर अपने केवलीस्वरूपमें अवस्थित होना कैवल्य है।

उस विशोका नामक सिद्धिसे भी वैराग्य होनेपर और उसका हेतु सालम्बन समाधिमें भी जब परवैराग्य किया जाता है, तब ऐसा लगता है कि जो कुछ करना था सो कर लिया, जो कुछ प्राप्त करना था सो प्राप्त कर लिया, जो कुछ जानना था सो जान लिया, जो कुछ छोड़ना था सो छोड़ दिया, इस तरहसे योगीका चित्त व्यवस्थित हो जाता है। और फिर उसके परिणाम-स्वरूप राग, द्वेष, मोहादि दोषोंका जो बीज अविद्या है अथवा दोषोंका बीज जो भ्रान्तिसंस्कार है (कि सुख कहीं बाहरसे मिलेगा) उसका क्षय, अर्थात् सर्वथा तिरोभाव हो जानेपर, उसका निःशेषतया क्षय (नाश) हो जानेपर कैवल्य अर्थात् आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिविशिष्ट स्वरुपमें प्रतिष्ठित्वरुप कैवल्य होता है। यह संस्कारशेष नामक सिद्धि है।

"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१.३.१३॥ कठोपनिषद्"

प्रज्ञावान् व्यक्ति अपनी वाणी को मन में नियन्त्रित रखे, उस मन को ज्ञानस्वरुप आत्मा में नियन्त्रित रखे तथा ज्ञान को 'महान् आत्मा' में नियन्त्रित रखे और उसे पुनः उस 'आत्मा' में नियन्त्रित रखे जो शान्त-स्वरुप है।

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र- ३.५०॥

क्लेश और कर्मोंके क्षय होनेपर जब इस योगीका ऐसा भाव होता है कि विवेक प्रत्यय बुद्धिरुप सत्त्वका धर्म है और बुद्धि अनात्म होनेसे हेय (त्याज्य) पक्षमें मानी गयी है और शुद्ध स्वरुप अपरिणामी पुरुष बुद्धिसे भिन्न है, तब इस प्रकारके विवेकसे विवेकख्यातिमें भी वैराग्य उदय हो जाता है। उस परवैराग्यवाले पुरुषके चित्तमें जो क्लेश-बीज विद्यमान हैं वे शालि (चावलों) के दग्धबीजके सदृश अपने अङ्कुरोत्पादनमें असमर्थ हुए मनके सहित ही नष्ट हो जाते हैं। उन क्लेश आदिकोंके प्रलीन होनेपर पुरुष आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक — इन तीनों तापोंको नहीं भोगता है और कर्म, क्लेश विपाकरुपसे चित्तमें विद्यमान चरितार्थ हुए गुणोंका प्रतिप्रसव अर्थात् मनके सहित ही स्वकारणमें लय हो जाता है। यह पुरुषका आत्यन्तिक गुण-वियोग (गुणोंसे अत्यन्त पृथक् हो जाना) कैवल्य है। इस दशामें चितिशक्तिरुप पुरुष स्वरुपप्रतिष्ठित होता है। तथा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति होती है।

इसी बातको भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार कहा है —

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।२.४५।।"

हे अर्जुन वेदों का विषय तीन गुणों से सम्बन्धित (संसार से) है तुम त्रिगुणातीत, निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्व (शुद्धता) में स्थित, योगक्षेम से रहित और आत्मवान् बनो। जो उपर्युक्त प्रकारसे विवेकबुद्धिसे रहित हैं उन कामपरायण पुरुषोंके वेद त्रैगुण्यविषयक हैं अर्थात् तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारको ही प्रकाशित करनेवाले हैं। परंतु हे अर्जुन तू असंसारी हो निष्कामी हो। तथा निर्द्वन्द्व हो अर्थात् सुखदुःखके हेतु जो परस्पर विरोधी (युग्म) पदार्थ हैं उनका नाम द्वन्द्व है उनसे रहित हो और नित्य सत्त्वस्थ हो अर्थात् सदा सत्त्वगुणके आश्रित हो। तथा निर्योगक्षेम हो। अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेका नाम योग है और प्राप्त वस्तुके रक्षणका नाम क्षेम है योगक्षेमको प्रधान माननेवालेकी कल्याणमार्गमें प्रवृत्ति होनी अत्यन्त कठिन है अतः तू योगक्षेमको न चाहनेवाला हो। तथा आत्मवान् हो अर्थात् (आत्मविषयोंमें) प्रमादरहित हो। तुझ स्वधर्मानुष्ठानमें लगे हुएके लिये यह उपदेश है।

सङ्गति — इस प्रकार इन सर्वज्ञता आदिमें भी राग हो जाना कैवल्य-सिद्धिमें विघ्न-रूप ही है, इस बातको दिखानेके लिये अगला सूत्र प्रारम्भ करते हैं। अगले सूत्रमें उसी समाधिमें स्थित रहनेका उपाय बताते हैं। अथवा अभी यहाँ कैवल्यका प्रसङ्ग चल रहा है, इसलिये उस कैवल्यको साधनेमें जो योगी इस समय प्रवृत्त हुआ है, उस योगीके सामने विघ्नोंके आनेकी सम्भावना है अतः उनके निराकरणके प्रकारको कहते हैं। योगके मार्गमें मनुष्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके सामने बड़े-बड़े प्रलोभन, दिव्य विषय और विभूतियाँ उपस्थित होतीं हैं। उनसे सावधान रखनेके लिये अगला सूत्र है —

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ३.५१॥

स्थानि-उपनिमन्त्रणे = स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर; सङ्गस्मय-अकरणम् = लगाव और घमंड नहीं करना चाहिये; पुनः अनिष्ट-प्रसङ्गात् = फिर अनिष्टके प्रसङ्गसे (अनिष्टके लगनेके भयसे)।

स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर लगाव और घमंड नहीं करना चाहिये; क्योंकि (इसमें) फिर अनिष्टके प्रसङ्गका भय है।

"तत्तद्भोगरसास्वादे देवैश्चोपनिमन्त्रितः।

सङ्गस्मयौ न वै कुर्याद्योगी पुनरनिष्टतः ॥ १७८ ॥ योगसूत्रसारः"

उन-उन भोगोंका रसास्वाद करनेके लिये उच्च स्थान प्राप्त किसी देवता द्वारा निमन्त्रण मिलने पर योगी को उन भोगोंमें राग, घमंड, अभिमान या अहंकार नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से योग मार्ग से पुनः नीचे गिरने का अवसर उपस्थित हो जाता है।

व्याख्या — योगियोंको उनकी साधनाके स्तर के अनुसार (उनकी भूमियोंके अनुसार) उनको चार श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं, जो निम्न प्रकार से हैं —

१. प्रथम कल्पिक — आरम्भिक अभ्यासवाले जो सवितर्क समाधिका अभ्यास कर रहे हैं। (१ — ४२)

२. मधु-भूमिका — जो निर्वितर्क समाधि नामी ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त करके पञ्च-भूत और इन्द्रियोंको जीतनेका अभ्यास कर रहे हैं। (१ — ४३), (३ — ४४ — ४७)

३. प्रज्ञा-ज्योति — जिन्होंने सविचार समाधिद्वारा भूत-इन्द्रियोंको जीत लिया है और स्वार्थ-संयमद्वारा विशोका-भूमि का अभ्यास कर रहे हैं। इसी तृतीय पादके सूत्र संख्या (३१,३५,४९)

४. अतिक्रान्तभावनीय — जो निर्विचार समाधिद्वारा मधु-प्रतीका और विशोका भूमियोंको प्राप्त करके उनसे विरक्त हो गये हैं, जिनको अब कुछ साधना शेष नहीं रहा केवल असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा चित्तका लय करना बाकी है। जो सात प्रकारकी प्रान्त-भूमि प्रज्ञावाले हैं। इसका वर्णन साधनपादके सूत्र (२.२७) में किया जा चुका है।

उपर्युक्त श्रेणियाँ भाष्योंके आधारपर लिखी गयी हैं। सुगमताके लिये निम्न श्रेणियोंमें भूमियोंको विभक्त किया जा सकता है।

(१) वितर्कानुगत भूमि,

(२) विचारानुगत भूमि,

(३) आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमि

(४) विवेकख्यातिकी भूमि।

अपनी-अपनी भूमियोंके स्थानपति देवता बड़े आदरसे नाना प्रकारके भोगों और ऐश्वर्योंका योगियोंको प्रलोभन देते हैं, अर्थात् इन भूमियोंमें नाना प्रकारके भोग, ऐश्वर्य, दिव्य विषय और विभूतियोंके प्रलोभन आते हैं। इनसे योगियोंको सदा सावधान और सचेत रहना चाहिये। इनमें यदि फँसा तो सब किया हुआ परिश्रम व्यर्थ जायगा। इस कारण इनसे सदा अलग रहना चाहिये। परंतु इन सब प्रलोभनोंको देखकर और अपनेमें उनको हटानेकी सामर्थ्य समझकर अभिमान भी न करना चाहिये; क्योंकि अभिमानसे उन्नति रुक जाती है और पतन होने लगता है। प्रथम भूमिवाला अभ्यासी इस योग्य ही नहीं होता कि उसके लिये ये प्रलोभन आवें, तीसरे और चौथे भूमिके अभ्यासी इतनी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, कि आसानीसे इनके फंदेमें नहीं आ सकते। दूसरी भूमिवालोंके (मधुमती -भूमिका वालोंके) गिरनेकी बहुत सम्भावना है, इस कारण उनको सबसे अधिक सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

जिनके स्थान हैं वे महेन्द्र, कुबेर आदि देवता स्थानी कहलाते हैं।

देवताओं द्वारा उपनिमन्त्रणका प्रकार —

देवता लोग कहते हैं कि अजी जरा सुनिये ! यहाँ आइये ! यहाँ बैठिये ! अब यहाँ ही रमण कीजिये ! देखो यह भोग कितना कमनीय है ! यह कन्या कितनी सुन्दर है ! यह अमृत-कुम्भ-रसायन है, इसका सेवन करनेसे बुढ़ापा और मृत्यु बाधा नहीं पहुंचा सकते ! यह देखो आपके लिये आकाशमें गमन करनेवाला विमान है ! यहाँ ये पारिजात, कल्प-द्रुम हैं, पुण्य-सलिला मन्दाकिनी नदी है, सिद्ध महर्षियोंका दर्शन, सत्सङ्ग लाभ लीजिये, उत्तम, अनुकूल, अप्सराऐं आपके प्रमोदके लिये उपस्थित हैं ! दिव्य-श्रोत्र, दिव्य-चक्षु, वज्रोपम काया यह सब आपके लिये सुलभ है। आप आयुष्मान हों आपने अपने ही गुणोंसे यह सबकुछ उपार्जित किया है, इन सबका लाभ लीजिये। यह देवताओंका प्रिय अक्षय (अविनाशी), अजर (सदा अभिनव) स्थान है, अतः कृपया यह सब आप स्वीकार करें और अब यहीं निवास कीजिये। आपका स्वागत है।

यही बात श्रीरामचरित मानसमें प्रकारान्तर से रूपक बाँधकर तुलसीदासजी ने कही है —

“इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।।

आवत देखहि विषय बयारी। ते हठि देहि कपाट उघारी।।

जब सो प्रभंजन

उर गृह जाई। तबहि दीप विग्यान बुझाई।।”

शरीर में इंद्रियों के जितने द्वार हैं वे मानो हृदयरुपी भवन के झरोखे हैं। हर झरोखे पर एक देवता बैठा हुआ है। जब वह अपने अनुकूल विषय की वयार आती देखता है, फट से दरवाजा खोलकर वयार का आनन्द लेने लगता है। बिषय प्राप्ति का सुख लेने के लिए उसकी प्रतीक्षा में इंद्रियाँ दरवाजे पर ही बैठी रहती हैं। जब यह विषय की आँधी हृदय तक पहुँचती है तो वहाँ जल रहे ज्ञान दीप को बुझा देती है।

अगर फिर भी किसी तरह दीपक बुझने से बचा रह गया, प्रकाश से पूर्ण रह गया तो वह जरूर बंधन से मुक्त हो जाता है । क्योंकि बंधन खोलने के लिए प्रकाश की आवश्यकता पडती है, बिना प्रकाश के ग्रन्थी खोल पाना संभव नहीं।"

"लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद्-

बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः ।

प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः

सोपानपङ्क्तौ पतितो यथा तथा ।। – विवेकचूडामणिः ३२५"

मन, जो स्वभाव से ही बहिर्मुखी है, आदर्श, लक्ष्य से यदि थोड़ासा भी भटक जाता है, तो वह वस्तु से वस्तु की ओर अनियंत्रित होकर चला जाता है, जैसे अनजाने में हाथसे छूटी हुई एक गेंद एक कदम से दूसरे कदम नीचे जाने वाली सीढ़ी पर गिरती ही चली जाती है।

अतः सङ्ग (विषयासक्ति) स्मय (घमंड या अभिमान) ये दोनों कैवल्य के विघ्न हैं, इन दोनोंको न करना ही कैवल्यका उपाय है, अन्यथा सङ्ग से तथा स्मय से पुनः संसाररूप अनिष्ट का प्रसङ्ग हो सकता है। इन्हीं दोनों के निरासके लिये यह सूत्र है।

सङ्गति — सूत्र ४९ में जो फलरूप विवेक-ज्ञान कहा है, उसीके विषयमें पूर्वोक्त संयमसे भिन्न दूसरा उपाय बतलाते हैं — अर्थात् सर्वज्ञताके साधनरूप संयमान्तरका निरूपण करते हैं।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ३.५२॥

क्षण-तत्-क्रमयो: = क्षण और उसके क्रमोंमें; संयमात् = संयम करनेसे, विवेकजम्-ज्ञानम् = विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है।

क्षण और इसके क्रमोंमें संयम करनेसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

"क्षणतत्क्रमयोर्योगी संयमाल्लभतेऽचिरात्।

ज्ञानं विवेकसम्पन्नं तारकं सर्वसंक्षयात् ॥ १७९ ॥ योगसूत्रसारः"

क्षण एवं क्षणके क्रममें (निरंतरता में) संयम करनेसे समस्त वासनाओंके क्षय हो जानेसे योगी शीघ्र ही विवेकसे सम्पन्न होकर तारक ज्ञानकी प्राप्ति करता है।

व्याख्या — जिस प्रकार द्रव्यका सबसे छोटा विभाग जो भागरहित है, वह परमाणु है, वैसे ही समयकी सबसे छोटी विभागरहित गति क्षण है। अथवा जितने समयमें चलाया हुआ परमाणु पूर्वदेशको छोड़कर उत्तरदेशको प्राप्त होवे वह कालकी मात्रा क्षण है। उन क्षणोंके प्रवाहका विच्छेद न होना अर्थात् बने रहना क्रम कहलाता है।

क्षण और उसका क्रम दोनों एक वस्तु नहीं हैं। ये बुद्धिके निर्माण किये हुए मुहूर्त, दिन, रात, मास, आदि होते हैं। अथवा इसको यों समझना चाहिये कि काल वास्तवमें वस्तुसे शून्य है, केवल बुद्धिहीकी निर्माण की हुई वस्तु है। वस्तुसे शून्य होते हुए भी कालको शब्द-ज्ञानके पीछे विकल्प (सूत्र १.९ प्रथमपाद) से व्यवहारदशामें लोग वस्तुके समान जानते हैं। क्षण, क्रमाश्रित होनेसे कोई वस्तु नहीं है। एक क्षणके पीछे दूसरे क्षणका आना क्रम कहलाता है। योगीजन इसीको काल कहते हैं। दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते और क्रमसे भी दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते; क्योंकि पूर्ववाले क्षणसे उत्तरवाले क्षणका अन्त न होना ही क्षणोंका क्रम है। इसलिये वर्तमान ही एक क्षण है, पूर्व और उत्तर क्षण नहीं हैं। इसलिये इन दोनोंका एकत्व भी नहीं है। अतीत और अनागत क्षण वर्तमान क्षणके ही परिणाम

कहने योग्य हैं। उस एक वर्तमान क्षणसे ही सम्पूर्ण लोक परिणामको प्राप्त होते हैं। सब धर्म उस एक क्षणके ही आश्रित हैं। इसलिये क्षण और उसके क्रममें संयम करनेसे इन दोनोंका साक्षात्कारपर्यन्त विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

भाव यह है कि जैसे नैयायिक सबसे छोटे निर्विभाग पदार्थको परमाणु मानते हैं वैसे ही योगाचार्य सत्त्वादिके एक परिणाम-विशेषको द्रव्यरुप क्षण मानते हैं। क्षणोंके प्रवाहका अविच्छेद अर्थात् पूर्वापरभाव होना क्रम कहलाता है। पर यह क्रम वास्तवमें सत्य नहीं है,कल्पित है; क्योंकि दो अगले पिछले क्षणोंका एक समयमें समाहार होना असम्भव है। इसलिये घटिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, मास, वर्ष आदि रूप काल भी वास्तवमें वस्तुशून्य है। इनमें विकल्पसे व्यवहार हो रहा है। वास्तवमें एक वर्तमान क्षण ही सत्य है। उसी एक वर्तमान क्षणका परिणाम यह सारा ब्रह्माण्ड है। ऐसा जो एक वर्तमान क्षण है और उसका जो यह कल्पित क्रम है, उसमें संयम करनेसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

विवेकज-ज्ञान — विवेकसे उत्पन्न ज्ञान योगका पारिभाषिक शब्द है, जिसका लक्षण सूत्र ५४ में बतलाया जायगा।

कालका जो अभेद्य कालभाग है वह क्षण है। अन्य जो मुहूर्तादि कालभाग हैं वे क्षणके ही समूहरूप हैं इसलिये असत्य हैं क्योंकि समूह कोई वस्तु नहीं होता।

प्रतिक्षण सभी वस्तुऐं बदलती रहतीं हैं। अतः क्षणोंमें और उनके क्रममें (विभागमें) संयमके द्वारा साक्षात्कार करनेपर सभी वस्तुओंका परिणाम तथा उन-उनके क्रममें भी ज्ञान होनेसे सभी वस्तुओंका विवेकजज्ञान होता है, यह आशय है।

— भोजवृत्तिका भाषानुवाद — ॥ ३.५२॥

पहले जो फलरुप विवेकज-ज्ञान कहा है उसीके विषयमें पूर्वोक्त संयमसे भिन्न उपाय कहते हैं —

सबके अन्तका, कालका ऐसा अवयव, जिसके फिर हिस्से न हो सकें वह क्षण कहलाता है। उस प्रकारके कालक्षणोंका जो क्रम अर्थात् पूर्वापरभावसे परिणाम है, उनमें संयम करनेसे भी पूर्वोक्त विवेकज-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यह क्षण इस क्षणसे पूर्व और इस क्षणसे उत्तर है, इस प्रकार काल-क्रममें संयम करनेवालेको जब अत्यन्त सूक्ष्म क्षण-क्रमका प्रत्यक्ष होता है तो अन्य बुद्धि आदि सूक्ष्म पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष हो जाता है ऐसे विवेकज्ञानसे ज्ञानान्तर होते हैं।

सङ्गति — इस विवेकज-ज्ञानका मुख्य फल बतलानेसे पूर्व अवान्तर फल अगले सूत्रमें बतलाते हैं —

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ३.५३॥

जाति-लक्षण-देशै: = जाति, लक्षण, देशसे; अन्यता-अनवच्छेदात् = भेदका निश्चय न होनेसे, तुल्ययो: = दो तुल्य वस्तुओंका; तत: = उस विवेकज-ज्ञानसे; प्रतिपत्ति: = निश्चय होता है।

एक दूसरेसे जाति, लक्षण, देशसे भेदका निश्चय न होनेसे दो तुल्य वस्तुओंका, विवेकज-ज्ञानसे निश्चय होता है।

व्याख्या — जातिमें भेद जैसे कि यह गाय है और यह घोड़ी है अतः इन दोनोंमें भिन्नता है। लक्षण – माने (पदार्थ का स्वरुप), तथा देशभेद अर्थात् (स्थान-भेदसे, भेद या अन्तर का निश्चय न होनेपर दो समान प्रतीत होनेवाली वस्तुओंका पूर्वोक्त विवेकज-ज्ञान से भेदका ज्ञान होता है। क्योंकि तत्त्वज्ञान असंदिग्ध होना चाहिये इसलिये निश्चय तो विवेकज-ज्ञानसे ही होता है।

समान जाति, लक्षणों व स्थान से एक ही जैसी दिखने वाली वस्तुओं में विवेकज-ज्ञान के द्वारा योगी को पृथकता का ज्ञान हो जाता है।

जातिः = अनेक व्यक्तियोंमें जो अनुगत सामान्य धर्म है वह जाति है। जैसे गायोंमें गोत्व; भैंसोंमें महिषत्वादि।

लक्षण — जातिसे समान वस्तुओंको पृथक् करनेवाले असाधारण धर्मका नाम लक्षण है। जैसे लाल गाय, काली गाय, यह बालक है, यह वृद्ध है इत्यादि।

देश — देश नाम पूर्वत्व तथा परत्वका (पूर्व तथा पश्चिम का) है।

पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति। पदार्थोंके, एक-दूसरेसे, भेद निश्चित करानेके कारण जाति, लक्षण और देश होते हैं। जैसे एक देशमें समान लक्षण अर्थात् काले रङ्गकी एक गौ और एक भैंस हो तो उन दोनोंमें जातिसे भेद होता है। जाति और देश समान होनेपर जैसे एक चितकबरी गाय और एक लाल गाय हो, उनका भेद लक्षणसे होता है। जाति और लक्षण समान होनेपर जैसे दो आँवले समान जाति और लक्षणके हों (अर्थात् दोनों वर्तुलाकार गोल-गोल हैं और दोनोंका रङ्ग भी हरा-हरा है तथा दोनोंका बजन भी समान है) तो उनका पूर्व व उत्तर देशसे भेद जाना जाता है। जिसने इन दोनों आँवलोंको पहले देखा है, उसकी दृष्टि बचाकर यदि कोई पूर्व देशके आँवलेको उत्तर देशमें और उत्तर देशके आँवलेको पूर्व देशमें रख दे तो तुल्य देश होनेपर इन दोनोंमें संशयरहित यथार्थ ज्ञानद्वारा यह विभाग निश्चय नहीं हो सकता कि यह पूर्ववाला है, यह उत्तरवाला है। इसका निश्चय विवेकज-ज्ञानसे हो सकता है। यह ज्ञान योगीको विवेकज-ज्ञानसे किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर भाष्यकारने इस प्रकार दिया है — कि उत्तर आँवलेके क्षण-सहित देशसे पूर्व आँवलेका क्षण-सहित देश भिन्न है। जब वे आँवले अपने देश-क्षण अनुभवमें भिन्न हैं तब उन दोनोंके देश-क्षणका अनुभव उन दोनोंके भेदका कारण है। इसी दृष्टान्तके समान जाति, लक्षण, देशके परमाणुओंमें पूर्व देशवाले परमाणुके देश, क्षणोंसहित, साक्षात् करनेसे उस उत्तर देशवाले परमाणुका वह देश निश्चय न होनेपर उत्तरवालेके देशका भिन्न अनुभव क्षणोंसहित भेदसे होता है। उन दोनों देश-क्षण-सहित परमाणुओंके ज्ञानमें समर्थ योगीहीको उन दोनोंके भेदका ज्ञान होता है।

जहाँ किसी भी उपायसे भेदका निश्चय हो पाना सम्भव नहीं होता वहाँ क्षण-क्रम-संयमसे ही भेद-ज्ञानका निश्चय हो सकता है।

जो मुक्तात्मा हैं, जिनका शरीर आकाशमय है, योगीलोग उनके देहमें भेद, क्षण-क्रम-ज्ञानसे ही देख पाते हैं।

वैशेषिक सिद्धान्तवाले जो यह कहते हैं कि छः पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय) में जो विशेष नामवाला पदार्थ है वही द्रव्योंका भेदक है। सो उन विशेषोंमें भी (१) देश, (२) लक्षण, (३) मूर्ति (अवयव संनिवेशविशेष), (४) व्यवधि (व्यवधान-विशेष) और (५) जाति, भेद-ज्ञानका कारण होते हैं। यहाँ यह और जान लेना चाहिये कि जाति आदिके भेदसे पदार्थोंका भेद-ज्ञान होना तो साधारण है, किन्तु क्षण-भेदसे भेद-ज्ञान होना केवल योगीके ही बुद्धिगम्य है। इससे ही वार्षगण्याचार्यने कहा है —

'मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः'

मूल प्रकृतिमें भेद नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें मूर्ति, व्यवधि, जाति आदि जो भेदके कारण हैं इनका अभाव है।

जिसमें ये उक्त भेदों के हेतु नहीं होते उस प्रधानमें (मूल प्रकृति में) प्रभेद नहीं होते ऐसा आचार्य पतञ्जलिका का मानना है। इसीलिये उन्होंने कहा — कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् (२.२२)

जो मुक्त पुरुष होते हैं उनके लिए इस सृष्टिका कोई प्रयोजन न रहने से यह उनके लिए नष्ट हुई के समान है । लेकिन जो अन्य सामान्य पुरुष हैं उनके लिए इसका प्रयोजन अभी भी वैसा ही है। इसलिए यह उनके लिए नष्ट नहीं होती है।

सङ्गति — इस प्रकार विवेकज-ज्ञानका अवान्तर फल दिखलाकर अब लक्षणद्वारा उसका मुख्य फल बतलाते हैं — अर्थात् अब हेतु सहित विवेकज-ज्ञानकी मोक्षमें उपयोगिता बतलाते हैं।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयम् अक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ३.५४॥

तारकम् = बिना किसी निमित्तके अपनी प्रतिभासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला; सर्वविषयम् = सबको विषय करनेवाला; सर्वथा-विषयम् = सब प्रकारसे विषय करनेवाला; च = और अक्रमम् = बिना क्रमके; (एक साथ ज्ञानको); इति = ऐसा या इस प्रकारका; विवेकजं, ज्ञानम् = विवेकज-ज्ञान कहते हैं।

बिना किसी निमित्तके अपनी प्रतिभासे अर्थात् (साधनाकी योग्यता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान) स्वयं उत्पन्न होनेवाला, सबको विषय करनेवाला, सब प्रकारसे विषय करनेवाला, बिना क्रमके एक साथ अर्थात् बिना विभाग के ही पैदा होने वाला ज्ञान होता है ऐसे ज्ञानको विवेकज-ज्ञान कहते हैं।

व्याख्या — विवेकज-ज्ञान चार लक्षणोंवाला होता है।

१. तारकम् — बिना किसी निमित्तके अपनी प्रतिभासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला और संसारसागरसे तारनेवाला।

२. सर्वविषयम् — महदादिपर्यन्त सब तत्त्वोंका विषय करनेवाला।

३. सर्वथाविषयम् — भूत, भविष्य और वर्तमानके सब तत्त्वोंको सब अवस्थामें स्थूल, सूक्ष्म आदि भेदसे उनके तीनों परिणामोंसहित सब प्रकारसे विषय करनेवाला।

४. अक्रमम् — क्रमकी अपेक्षारहित होकर सबको एक क्षणमें सब प्रकारसे विषय करनेवाला।

ये सम्पूर्ण विवेक-ज्ञान है। इक्यावनवें सूत्रमें बतलायी हुई ऋतम्भरा प्रज्ञावाली मधुमती भूमि इसका एक अंश है। उससे ज्ञानकी वृद्धि करता हुआ योगी इस अवस्थातक पहुंचता है।

उक्त क्षण-संयमके बलसे ही उसकी अन्तिम भूमिकामें उत्पन्न जो ज्ञान है, उसे तारक ज्ञान कहते हैं। अगाध संसारसागरसे तार देता है इसीलिये इसका नाम तारक है। यह ज्ञानकी अन्तिम गति है; क्योंकि इसमें कोई वस्तु इसका अविषय नहीं रहती।

“अंधं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम् ।

यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे विवेकजम्।। ६.५.६२।। विष्णुपुराणम्”

अज्ञान घोर अन्धकारके समान होता है। इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रदीपके समान होता है। हे विप्रर्षे ! विवेक जन्य ज्ञान सूर्यके समान होता है।

सङ्गति — अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता कि इन सब विभूतियोंको प्राप्त करनेके बाद ज्ञानसे मोक्ष होता है अथवा इनके बिना भी हो सकता है ? अर्थात् अब इस विवेकजन्य तारक-ज्ञानसे क्या होता है ? इसपर अगले सूत्रमें कहते हैं कि — योगीको उपर्युक्त प्रकारसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न हो या न हो, चित्त और पुरुष दोनोंकी समान शुद्धि ही कैवल्यका कारण है —

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ३.५५॥

सत्त्व-पुरुषयो: = चित्त और पुरुषकी; शुद्धिसाम्ये = शुद्धि समान होनेपर; कैवल्यम् = कैवल्य होता है; इति = यहाँ तीसरा पाद समाप्त होता है।

चित्त और पुरुषकी समान शुद्धि होनेपर कैवल्य होता है।

"शुद्धिसाम्ये हि कैवल्यं प्रकृतेः पुरुषस्य च ।

सत्त्वाधिकारसम्पूर्तिद्रष्टुस्स्वरूपदर्शनात् ॥ १८० ॥ योगसूत्रसारः"

जब प्रकृति माने बुद्धि और पुरुषकी माने जीवात्माकी समान रूपसे शुद्धि हो जाती है तब चित्तका अधिकार माने कार्य पूरा हो जाने के कारण तथा द्रष्टा के स्वरूपका दर्शन हो जानेपर कैवल्य की दशा प्राप्त होती है।

सत्त्वकी माने चित्तकी शुद्धि यह है कि (सर्ववृत्तिराहित्यं) सभी प्रकारसे कर्तृत्वाभिमानकी निवृत्ति-पूर्वक अपने कारणमें अनुप्रवेश हो जाना। और पुरुषकी शुद्धि यह है कि भोक्तापन के भावका राहित्य अर्थात् चित्तके द्वारा उपचरित समस्त भोगोंका अपनेमें अभाव-दर्शन करना। जब दोनोंकी समान शुद्धि हो जाती है तब कैवल्य उत्पन्न होता है। यही पुरुषका केवलीभाव है। इसमें किसी सिद्धिकी अपेक्षा नहीं है।

व्याख्या — सत्त्व चित्तका पुरुषके समान शुद्ध होना यह है कि उसमें रजस्-तमस् का मैल यहाँतक दूर हो जावे कि वह पुरुष और चित्तका भेद दिखाकर गुणोंके परिणामोंका यथार्थ ज्ञान कराकर पुरुषको अपना स्वरूप साक्षात् करानेके योग्य हो जावे। पुरुषकी शुद्धि यह है कि चित्तमें आत्म-अध्यासके कारण उसके भोगको जो उपचारसे अपना समझ रहा था उसका चित्त और पुरुषके भेदके यथार्थ ज्ञानसे सर्वथा अभाव हो जावे। यही कैवल्य है।

इस पादमें बतायी हुई कुछ विभूतियाँ कैवल्य-प्राप्तिमें सहायक हो सकतीं हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि इन भिन्न-भिन्न संयमोंद्वारा भिन्न-भिन्न विभूतियों और भूमियोंको प्राप्त करनेके पश्चात् ही कैवल्य हो। ये विभूतियाँ और भूमियाँ प्राप्त हों या न हों, कैवल्यके लिये पुरुष और चित्तमें यथार्थरूपसे भेद करानेवाला प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञानका होना आवश्यक है।

विवेक-ज्ञानसे अविद्याका नाश होता है। अविद्याके नाशसे अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रुपी सारे क्लेश दग्धबीजसदृश नष्ट हो जाते हैं। उनके न रहनेपर सकाम कार्योंका भी अभाव हो जाता है। सकाम कार्योंके अभावसे उनकी वासनासे फलकी भावनाका वृक्ष भी पैदा नहीं होता। वृक्षके अभावमें उसके फल, जन्म, आयु और भोग भी नहीं लगते। फिर उनका स्वाद दुःख-सुख भी नहीं चखा जा सकता। इस प्रकार गुणोंका प्रयोजन, पुरुषको भोग-अपवर्ग दिलानेका, समाप्त हो जाता है, और वे चरितार्थ होकर अपने कारणमें लीन हो जाते हैं और पुरुष अपने स्वरुपमें अवस्थित हो जाता है। यही कैवल्य है।

आगे कहे जानेवाले चौथे पादके अन्तिम सूत्र (४.३४) में कैवल्य, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, स्वरुपावस्थिति, गुणाधिकार-समाप्ति, परमधाम और परमपद एकार्थक शब्द हैं।

उपसंहार

अत्रान्तरङ्गाण्यङ्गानि परिणामा प्रपञ्चिताः ।

संयमाद् भूति-संयोगस्तासु ज्ञानं विवेकजम्॥ (वाचस्पति-मिश्र)

इस प्रकार समाधिके अन्तरङ्ग तीनों अङ्ग (धारणा, ध्यान और समाधि) को कहकर, उन तीनोंकी संयम संज्ञा करके, संयमके विषय दिखलानेको तीन प्रकारके परिणाम बताकर संयमके बलसे उत्पन्न पूर्वान्त, परान्त और मध्यकी सिद्धियोंको दिखाकर, समाधिमें अभ्यास करनेके लिये भुवन-ज्ञानादि रुप बाहरकी और कायव्यूह-ज्ञानादि रुप भीतरकी सिद्धियोंको कहकर, समाधिके उपकारार्थ इन्द्रियजय, प्राणजयादि-पूर्वक सिद्धियोंको दिखाकर मुक्ति-सिद्धिके लिये क्रमसे अवस्थासहित भूतोंके जय और इन्द्रियोंके जयसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियोंकी व्याख्या करके, विवेकज-ज्ञानके लिये उन-उन उपायोंको बतलाकर, सब समाधियोंके अन्तमें 'तारक' के स्वरुपको कहकर,

उसमें समाधिसे कर्तव्यको समाप्त करके चित्तके अपने कारणमें लीन हो जानेसे 'मुक्ति' उत्पन्न होती है यह कहा गया है। इस प्रकार योगसूत्र-व्याख्यामें 'विभूति' नामवाले तीसरे पादकी व्याख्या समाप्त हुई।

अथ कैवल्यपादः

"यदाज्ञयैव कैवल्यं विनोपायैः प्रजायते ।

तमेकमजमीशानं चिदानन्दमयं स्तुमः ॥"

जिनकी केवल आज्ञा-मात्रसे बिना किसी उपाय के ही कैवल्यकी सिद्धि हो जाती है, उन चिदानन्दमय एक {अद्वितीय} ईशान प्रभुकी हम स्तुति करते हैं।

अबतक हानोपाय अर्थात् मोक्षके उपायोंका दूसरे और तीसरे पादमें खूब विस्तारसे वर्णन किया, हान का (मोक्ष का) स्वरूप संक्षेप से ही कहा, अब उसका अशेष-विशेष-रुप विस्तार करनेके लिये चौथे पादका आरम्भ करते हैं।

पहले पादमें योगका स्वरूप समाधि, दूसरे पादमें उसका साधन, तीसरे पादमें उस साधनसे होनेवाली सिद्धियाँ वर्णन करके अब चौथे पादमें कैवल्यको बताते हैं। कैवल्यका निर्णय चित्त और चितिके अधीन है, इस कारण कैवल्यके उपयोगी चित्तका निर्णय करनेके हेतु सबसे पहले पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ और उनसे उत्पन्न होनेवाले पाँच सिद्ध चित्तोंको बताते हैं —

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ ४.१ ॥ जन्म-औषधि-मन्त्र-तप:-समाधिजा: = जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न होनेवाली; सिद्धयः = सिद्धियाँ हैं।

जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ हैं।

"जन्मनश्चौषधेश्चैव मन्त्राच्च तपसस्तथा।

समाधेश्च प्रसिद्ध्यन्ति सिद्ध्यः पञ्चथा हि ताः ॥ १८१ ॥ योगसूत्रसारः"

जन्म से, औषधियों एवं रसायनों के सेवन से, गुरुके द्वारा उपदिष्ट मन्त्रों के जपसे, तप करनेसे और धारणा, ध्यान एवं समाधि के अभ्यास से सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः ये सिद्धियाँ पाँच प्रकारकी हैं।

व्याख्या — शरीर, इन्द्रियों और चित्तमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न होने अर्थात् इनकी प्रकृतिमें विलक्षण परिवर्तन होनेको सिद्धि कहते हैं। इनके निमित्त पाँच हैं। जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि।

इसलिये सिद्धियाँ भी इन निमित्तोंके कारण पाँच प्रकारकी हैं।

१. जन्मजा सिद्धि — वे सिद्धियाँ हैं जिनकी उत्पत्तिमें केवल जन्म ही निमित्त है। जैसे पक्षियों आदिका आकाशमें उड़ना अथवा कपिल आदि महर्षियोंका पूर्व जन्मके पुण्योंके प्रभावसे जन्मसे ही सांसिद्धिक ज्ञानका उत्पन्न होना। ये चित्त जन्मसे ही इस योग्यताको प्राप्त किये हुए होते हैं। और यदि कहीं इस लोकमें किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप देवयोनिमें जन्म हो गया तो जन्मसे ही अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

२. ओषधिजा सिद्धि — पारे आदि रसायनके उपयोगसे शरीरमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना। अथवा सोमरसपान तथा अन्य ओषधियोंद्वारा काया-कल्प करके शरीरको पुनः युवा बना लेना इत्यादि। जैसे भीमने नागलोकमें रसायनका सेवन करके और भी अधिक

बल प्राप्त किया था। तथा इस लोकमें भी ओषधि आदिके योगसे सुवर्णादि बना लेते हैं। यह ओषधि आदिके सेवनद्वारा चित्तमें सात्त्विक परिणामसे होता है। जैसे दिव्यरसायनके उपयोगसे माण्डव्य मुनीने सिद्धि पाई, तथा रसायनों व औषधियोंके प्रयोगसे च्वयन ऋषिने अपने आपको पुनः जवान कर लिया था।

३. मन्त्रजा सिद्धि — जैसे (स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ २.४४॥) स्वाध्यायसे इष्ट देवताका मिलना। मन्त्रद्वारा चित्तमें एकाग्रताका परिणाम होता है। उससे यह सिद्धि प्राप्त होती है।

४. तपोजा सिद्धि — 'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ २.४३॥' तपसे अशुद्धिके दूर हो जानेपर शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है। चित्तमें तपके प्रभावसे यह योग्यता होती है।

५. समाधिजा सिद्धि — समाधिसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ, जिनका वर्णन तीसरे पादमें सविस्तार किया गया है। जैसे याज्ञवल्क्य दत्तात्रेय आदि समाधिके द्वारा सिद्ध हुए। यह समाधिसे उत्पन्न हुआ चित्त ही कैवल्यके उपयोगी है। इस प्रकार सिद्धियोंके पाँच भेदसे सिद्ध चित्तोंके भी पाँच भेद जान लेने चाहिये।

श्रीभोज महाराजने ये जन्म, ओषधि, मन्त्रादि पाँचों सिद्धियाँ पूर्व जन्ममें अभ्यस्त समाधिके बलसे ही प्रवृत्त हुई बतलायी हैं।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद || सूत्र ४.१ ||

पहले जो सिद्धियाँ कही हैं उनके अनेक प्रकारके जन्मादि (सूत्रोक्त) कारण हैं। इसका प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार यह बतलाते हैं कि ये जो सिद्धियाँ हैं वे सब पूर्व अभ्यस्त समाधिके बलसे ही प्रवृत्त हुई हैं। जन्म, ओषधि आदि सब निमित्तमात्र हैं। इससे अनेक जन्ममें जो समाधि की जाती है उसकी कोई हानि नहीं है अर्थात् एक जन्ममें कोई फल न हो तो जन्मान्तरमें अवश्य होगा, ऐसा जान लेना चाहिये। ऐसे विश्वासको पैदा करनेके लिये और समाधि-सिद्धिकी प्रधानता कैवल्यके लिये (बतलाते हुए यह) कहते हैं — किन्हीं सिद्धियोंके केवल जन्म कारण हैं — जैसे पक्षी आदिका आकाशमें उड़ना आदि अथवा (पक्षी आदिके उड़नेको सिद्धि न माना जाय तो) जन्मके अनन्तर ही जो कपिल महर्षि आदिकोंके स्वाभाविक गुण थे (वह जन्मजा सिद्धि है)।

पारे आदि रसायनादिके उपयोगसे ओषधिजन्य सिद्धियाँ होती हैं।

किसी मन्त्रके जपसे किन्हीका आकाशमें उड़ना आदि 'मन्त्रसिद्धि' है। विश्वामित्र आदिकोंको 'तपःसिद्धि' हुई थी। समाधिसिद्धि इससे पूर्व पादमें बतला चुके हैं। ये सब सिद्धियाँ पूर्व-जन्ममें क्लेशोंको नष्ट करनेवालोंको ही होती हैं। इससे समाधिके तुल्य द्वितीय जन्ममें अभ्यस्त समाधि ही अन्य सिद्धियोंका कारण है। जन्म आदि केवल निमित्तमात्र हैं।

सङ्गति — पूर्वोक्त मन्त्र, तप और समाधि आदिसे जो पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी हैं वे सिद्धियाँ यही हैं कि शरीर और इन्द्रियों आदिमें विलक्षण शक्ति आ जाय या पहली जातिसे दूसरी जाति बदल जाय। जात्यन्तर परिणाम बिना उपादानके केवल मन्त्रादिसे कैसे हो सकता है ? इस शङ्काके निवारणार्थ अगला सूत्र है। क्योंकि नन्दीश्वरादि का जात्यादि परिवर्तनरूप परिणाम इसी जन्ममें देखा जाता है। तो फिर कैसे जन्मान्तराभ्यस्त समाधिको कारण कहा ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते है —

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥४.२॥

जात्यन्तर-परिणामः = एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना; प्रकृति-आपूरात् = प्रकृतियोंके भरनेसे होता है।

एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना प्रकृतियोंके भरनेसे होता है।

"मानवादिशरीरेभ्यस्तद् भिन्नदेहरूपता ।

प्रकृत्यापूरतो ज्ञेया धर्माधर्मानिमित्तिका ॥ १८२ ॥ योगसूत्रसारः"

मनुष्य आदि शरीरका मानवेतर देहके रूपमें परिवर्तन हो जाना धर्माधर्मानिमित्तिका प्रकृतिके (उपादान कारण के) आपूरण से सम्भव होता है। जैसे नहुषका अजगर सर्प रूपमें हो जाना और नन्दीश्वर का मनुष्यसे देवरूप धारण कर लेना।

व्याख्या — 'जात्यन्तरपरिणाम' — एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना अर्थात् शरीर एवं इन्द्रियों आदिका ओषधि मन्त्रादिके अनुष्ठानसे विलक्षण शक्तिवाला हो जाना। 'प्रकृत्यापूरात्' — प्रकृति उपादान कारणको कहते हैं। शरीरकी प्रकृति पृथ्वी जलादि पाँच भूत हैं और इन्द्रियोंकी प्रकृति अस्मिता है। प्रकृतियोंका कारणरूपसे कार्यरूप अवयवोंके आकारमें भरने या प्रवेश करनेको 'प्रकृत्यापूर' कहा गया है। इस प्रकृतिकी 'आपूर' पूर्ण होनेसे जात्यन्तर (दूसरे जातिके रूप व आकार) में परिणाम होता है।

सूत्रका भाव यह है कि योगीके इन्द्रियों आदिमें जो जात्यन्तर परिणाम अर्थात् उनके पहले रूपसे विलक्षण शक्तिवाला हो जाना ओषधि, मन्त्र, तप, समाधि आदिके प्रभावसे होता है, वह प्रकृतियोंके अपूर्व अवयवोंके समूहसे होता है। जैसे शुष्कतृणों व शुष्कवनमें सूक्ष्मरुपसे व्याप्त अग्निके अपूर्व अवयवोंके समूह अग्निकी एक कणिकासे दीर्घ देशव्यापी प्रचण्ड ज्वालारूप हो जाते हैं वैसे ही योगीके शरीर और इन्द्रियाँ आदिके पहले राजसी व तामसी अवयव अलग हो-होकर ज्यों-ज्यों उनके स्थानपर दूसरे सात्त्विक अवयव भरते चले जाते हैं त्यों-त्यों उसके शरीर, इन्द्रियाँ आदि विलक्षण शक्तिवाले होते जाते हैं। इस प्रकार उस जातिके अनुकूल अवयव भरते रहनेसे दूसरी जाति बन जाती है। इस जात्यन्तर परिणाममें निमित्त योगज धर्म है जिसे योगी मन्त्र-तप आदिसे सिद्ध करता है।

भोजवृत्तिका भाषार्थ ॥ सूत्र ४.२॥

यहाँ पर शङ्का होती है कि नन्दीश्वरादिका जाति आदि परिणाम उसी जन्ममें देखा गया है तो फिर किस प्रकार दूसरे जन्मोंमें समाधि किये हुए अभ्यासको कारण कहा जाता है। इसी शङ्काका उत्तर इस सूत्रमें दिया गया है।

'यह जो एक जन्ममें ही नन्दीश्वरादिका जात्यादि परिणाम (तपके प्रभावसे देवत्वको प्राप्त करना) है, वह प्रकृतिके अवयवप्रवेश (अथवा प्रकृतिके सर्वत्र व्याप्त होनेसे) हुआ जानना चाहिये। पिछले जन्मकी ही प्रकृति इस जन्ममें अपने विकारोंको प्रवेश करके जाति विशेषाकारसे परिणत होती है।'

नोट — शिवपुराणमें (शतरुद्रसंहिता) के अध्याय ६-७ में ऐसा वर्णन है कि शिलादमुनिका नन्दी नामक कुमार शिवजीकी अति उग्र उपासनाद्वारा मनुष्य शरीरको त्यागकर उसी जन्ममें देवदेहको प्राप्त हो गया था।

यहाँ जात्यंतर तथा आपूर शब्दसे योगियों के पास देखा गया गज-तुरङ्गादि-वैभव भी समझ लेना चाहिये तथा काय-व्यूहादि की सिद्धि भी। जैसे महर्षि कर्दमने देवहूति के लिये विमानकी रचना कर दी थी, तथा सौभरि ऋषिने ५० कन्याओंके लिये पचास रूप धारण कर लिए थे।

काय-व्यूहके सम्बन्धमें श्रुतिः —

"स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः ॥ ७.२६.२ ॥ छान्दोग्योपनिषद्"

"वह (जानने वाला) कायव्यूहोंकी सृष्टि से पहले एक है, तीन हो जाता है, पांच हो जाता है, सात हो जाता है, नौ हो जाता है; फिर वह ग्यारह, एक सौ दस और एक हजार बीस कहलाएगा।"

इससे वामनावतारमें एक क्षणमें ही त्रिभुवन-व्यापित्व तथा अनेक अवतारोंमें अनेकों बार विश्व-रूपका दर्शन कराना। मार्कण्डेयादि अनेकों मुनियों को विष्णुके द्वारा मायाका प्रदर्शन यह सब प्रकृति के आपूर से सम्भव हुआ। और इन सबकी बादलमें बिजलीकी चमक जैसी क्षण-भङ्गुरता भी समझ लेनी चाहिये। अगस्त्यादि ने समुद्र-पान किया तो वहाँ जलकी प्रकृतिके अपसारणसे समझना चाहिये। प्रह्लादादि के जीवनमें जो भक्तिजा सिद्धि देखनेमें आती है वह तपःसिद्धिके अन्तर्गत ही माननी चाहिये। 'अक्षयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते' इसी प्रकार यह विश्व परमेश्वरकी माया कही जाती है जैसे ऐन्द्रजालिक जादूका खेल दिखाता है। एक क्षणमें ही प्रकृतिका आपूर और अपसारण, जगतको बदलदेना या विलीन करदेना परमेश्वरके सङ्कल्प-मात्रसे ही सम्भव है। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो प्रतिक्षण ऐसा हो ही रहा है , योगी लोग भगवान् के नृत्यको देखते हैं।

"अक्षयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते ।।

श्रद्धया परया चैव सर्वं पापं प्रणश्यति ।। ३३-२९ ।। नारदपुराणम्-पूर्वार्धः"

इसका मतलब है कि तप करनेके बजाय भक्ति अधिक बलवती है।

सङ्गति — क्या धर्म जो प्रकृतियोंके आपूरसे जात्यन्तर परिणाममें निमित्त है स्वयं प्रकृतिको ऐसे परिणामके लिये प्रेरता है अथवा केवल प्रतिबन्धकको हटा देता है ? इसका उत्तर देते हैं — नहीं, वह केवल रुकावटको दूर कर देता है। रुकावटके दूर होनेसे जाति बदलनेवाले प्रकृतिके अवयव स्वयं भरने आरम्भ हो जाते हैं।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ४.३ ॥

निमित्तम् = (धर्मादि) निमित्त; अप्रयोजकम् = अप्रयोजक — प्रेरक नहीं हैं, प्रकृतीनाम् = प्रकृतियोंका; वरण-भेदः = आवरण-प्रतिबन्धक-रुकावटका तोड़ना (होता) है; तु = किंतु; ततः = उससे अर्थात् धर्मादि निमित्तसे; क्षेत्रिकवत् = किसानकी तरह।

धर्मादि निमित्त प्रकृतियोंका प्रेरक नहीं होता है, किंतु उससे किसानके सदृश रुकावट दूर होती है।

"धर्माद्यास्तु निमित्तं ते न कदापि प्रयोजकाः ।

कार्यं प्रावारभेदेन क्षेत्रिकोऽत्र निदर्शनम् ॥ १८३ ॥ योगसूत्रसारः"

धर्म, क्रिया-योग आदि जो निमित्त साधन होते हैं वे उपादान कारण-प्रकृति के प्रेरक या संचालक नहीं होते हैं, उनका काम केवल अवरोधकको दूर हटाना मात्र है, जैसे किसान केवल पानीके अवरोध को दूर करते हैं। फिर पानी अपने-आप खेतमें फैल जाता है। वैसे ही प्रकृति अपने स्वभाव से ही जात्यन्तर रूपी परिणाम में परिवर्तित होती है।

व्याख्या — धर्मादि निमित्त प्रकृतियों (उपादान-कारणों) के प्रवृत्त करनेवाले नहीं होते। क्योंकि धर्मादि प्रकृतिके कार्य हैं और कार्य कारणका प्रवर्तक नहीं होता। जैसे किसान जब जलसे भरी एक क्यारीमेंसे दूसरी क्यारीमें जल ले जाना चाहता है तो हाथसे पानीको उस क्यारीमें नहीं ले जाता किंतु उस क्यारीकी मेंड (मुहाना जो बंद है) को तोड़ देता है, उस मेंडके खुल जानेपर जल, स्वयं दूसरी क्यारीमें भर जाता है। इसी प्रकार धर्म प्रकृतियोंके वरण (आवरण-प्रतिबन्धक अधर्म) को नष्ट कर देता है। उस अधर्मरूपी प्रतिबन्धकके नष्ट होनेपर प्रकृतियाँ स्वयं अपने-अपने कार्यको नये अवयवोंसे भर देती हैं। अथवा जैसे वही किसान धान, गेहूँ, मूँग आदिके मूलमें जल और भूमिके रसोंको प्रवेश करनेमें असमर्थ होता है, किंतु खेतमें जलके सींचनेपर जल-भूमि आदिके रस स्वयंही धानों आदिके मूलमें प्रवेश हो जाते हैं वैसे ही धर्म भी अपने विरोधी अधर्मकी निवृत्तिमात्र करनेमें कारण है; क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध दोनोंमें अत्यन्त विरोध है। प्रकृतिको प्रवृत्त करनेमें धर्म उपादान-कारण नहीं होता, किंतु निमित्त होता है। धर्म और अधर्मके बारेमें नन्दीश्वर और नहुषका

उदाहरण पहले दे चुके हैं। नन्दी नामक एक मनुष्य ईश्वर बन गया (नन्दीश्वर) और नहुष नामक एक मनुष्य राजा पहले देवराज-इन्द्र बना फिर अजगर बन गया।

जिस प्रकार धर्म प्रकृत्यापूर अर्थात् प्रकृतियोंकी प्रवृत्तिमें निमित्त (हेतु) है इसी प्रकार अधर्मको भी प्रकृतियोंको प्रवृत्त करनेमें निमित्त जानना चाहिये। जब धर्म अधर्मरूपी रुकावटको दूर करता है तब उसका शुद्ध परिणाम होता है और जब अधर्म धर्मरूप प्रतिबन्धको हटाता है तब अशुद्ध परिणाम होता है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद || सूत्र ४.३ ||

यहाँ यह शङ्का होती है कि धर्म आदि भी तो पूर्व जन्ममें किये गये हैं उन्हींको जात्यन्तर परिणामका कारण क्यों न मान लिया जाय। प्रकृतिको उस परिणामका कारण क्यों माना जाता है। इसका उत्तर देते हैं।

निमित्त जो धर्मादि हैं वे प्रकृतिके अर्थान्तर परिणाममें प्रयोजक नहीं हैं (क्योंकि वे प्रकृतिके ही कार्य हैं) कार्यसे कारणको प्रेरणा नहीं होती। तो फिर धर्मादिका कहाँ काम पड़ता है ? इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं कि जब उस धर्मसे उसके विरोधी अधर्मका नाश किया जाता है तो प्रतिबन्धकके न रहनेपर प्रकृतियाँ स्वयं अपने कार्यमें समर्थ होती हैं। इसमें दृष्टान्त यह देते हैं कि जैसे खेती करनेवाला, जो कि एक क्यारीसे दूसरी क्यारीमें जल ले जानेकी इच्छा करता है, वह जलकी रोकमात्र (मेंड, मिट्टी आदि) को हटाता है, जब रुकावट दूर हो जाती है तो जल स्वयमेव फैलकर उस क्यारीमें चला जाता है। जलके फैलानेमें किसानका कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार धर्मादि निमित्त अधर्मादिको हटाते मात्र हैं।

चित्तभूमि जन्म-जन्मान्तरोंके कर्माशयोंसे चित्रित है। जो कर्माशय नियत विपाक बनकर ऊपरकी भूमिमें आकर प्रधान रूपसे अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं वे अपने विरोधी उपसर्जन (गौण) कर्माशयोंको प्रतिबन्धकरूपसे निचली भूमियोंमें दबाये रखते हैं (साधन-पाद-सूत्र — सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥२.१३॥) सूत्रमें बतलाये हुए निमित्त धर्मोंका केवल इतना काम होता है कि जिन प्रकृतियोंको आपूर अर्थात् भरना होता है उनके विरोधी प्रकृतिवाले प्रधान कर्माशयोंको उनके द्वारा हटा दिया जाता है। इस प्रकार निचली भूमियोंमें दबे पड़े हुए उपसर्जन (गौण) कर्माशय अपने प्रतिबन्धकके हट जानेपर ऊपरकी भूमिमें आकर प्रधानरूपसे अभिमत (इच्छित) प्रकृतियोंके भर देनेका काम आरम्भ कर देते हैं। जिस प्रकार जब किसान खेतमें पानी भरना चाहता है तब उसके प्रतिबन्धक मेंडको काट देता है। इस प्रकार प्रतिबन्धक मेंडके हट जानेपर मेंडसे रुका हुआ खेतसे बाहरका पानी स्वयं खेतमें आना आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार सूत्र संख्या २ में बतलाये हुए एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल देनेका परिणाम उनकी उपादान प्रकृतिके भर देनेसे होता है। यही कारण है कि कभी-कभी ऐसा देखनेमें आता है कि अकस्मात् एक अधर्मी धर्मात्मा बन जाता है तथा कभी-कभी धर्मात्मा अधर्मी।

सङ्गति — जिस योगीने तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है ऐसे योगीको जब यह इच्छा होती है कि मैं अपने सारे कर्मोंके फलको एक साथ ही भोग लूँ तब वह अपनी निरतिशय विभूतिके अनुभवसे एकसाथ ही अनेकों शरीरों के निर्माणकी इच्छा करता है तब उसके अनेक चित्त कहाँसे पैदा होते हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये अगला सूत्र है। अर्थात् जब योगी बहुत-से शरीरोंका निर्माण करता है तब क्या वह एक मनवाला होता है अथवा अनेक मनवाला ? इसका उत्तर देते हैं —

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥४.४॥

निर्माण-चित्तानि = निर्माण चित्त; अस्मिता-मात्रात् = अस्मिता-मात्रसे (होते हैं)

अस्मितामात्रसे निर्माण-चित्त होते हैं

"कायान्तरं यदा योगी निर्मिमीते स्वशक्तितः।

तत्र निर्माणचित्तानि केवलाहंकृतेस्तदा ॥ १८४ ॥ योगसूत्रसारः"

योगी जब अपनी शक्तिसे अनेक शरीरों का निर्माण करता है तब वह अस्मिता (संकल्प मात्र) का प्रयोग करके अनेक चित्त निर्मित कर लेता है।

व्याख्या — चित्तके कारण अस्मितामात्रको लेकर चित्तोंका निर्माण करता है उससे उसके शरीर सचित्त होते हैं। — (व्यासभाष्य)

अर्थात् योगी अस्मितामात्रसे निर्माण-चित्तोंको अपने संकल्पमात्रसे निर्मित करता है। (बनाता है) इन निर्माण-चित्तोंसे योगीके बनाये हुए सब शरीर चित्तसंयुक्त होते हैं।

भोजवृत्तिमें इस सूत्रकी सङ्गति तथा सूत्रार्थ निम्न प्रकारसे दिये हैं —

सङ्गति — तत्त्वको साक्षात् करनेवाले योगीको जब एक बार ही कर्मफल भोगनेके लिये अपनी निरतिशय (सबसे बड़ी) सिद्धिके अनुभवसे एक साथ अनेक शरीरोंके रचनेकी इच्छा होती है, तब अनेक चित्त कैसे हो जाते हैं ? तब इसके उत्तरमें कहते हैं —

योगीके अपने रचे हुए शरीरोंमें जो चित्त होते हैं, वे अपने मूल कारण अस्मितामात्रसे हो योगीकी इच्छासे फैल जाते हैं। जैसे अग्निसे निकले हुए कण एक साथ ही परिणत होते हैं। (भोजवृत्ति)

इस सूत्रकी सङ्गति तथा व्याख्यामें हमने व्यासभाष्य तथा भोजवृत्तिके शब्दार्थ दे दिये हैं। योगीकी शक्ति अपरिमित हो सकती है और योगके बलसे ऐसी सिद्धिका होना भी सम्भव हो सकता है। पर यहाँ कई कारणोंसे यह संदेह होता है कि ये शब्द श्रीव्यासजी महाराज तथा भोजजीके ही हैं अथवा अन्य किसी पुरुषने योगका अद्भुत चमत्कार दिखलानेके लिये एक समयमें बहुत-से शरीर और चित्तोंकी कल्पना करके ये शब्द बढ़ा दिये हैं। संदेहके कारण निम्नलिखित हैं —

(१) योगकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी विभूतियाँ विभूतिपादमें वर्णन की गयी हैं। यदि सूत्रकारको कोई ऐसी 'निरतिशय' विभूति बतलाना अभिमत होता तो उसमें इसका कुछ-न-कुछ संकेत अवश्य किया जाता।

(२) अन्य ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं बहुत-से भौतिक शरीरोंके एक साथ दिखलानेका वर्णन आया है वहाँ वे मायावी बतलाये गये हैं न कि वास्तविक और कर्मफल भोगकी निवृत्तिके लिये प्रकृति आपूर सूत्र २ की विधिके अनुसार निर्माण किये गये हैं।

(३) गुणोंका प्रथम विषम परिणाम चित्त है और पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रतिबिम्बित अर्थात् प्रकाशित चित्तकी संज्ञा अस्मिता है। एक व्यष्टि चित्त दूसरे व्यष्टि चित्तोंका उपादान-कारण अर्थात् प्रकृति नहीं बन सकता। चित्तका विषम परिणाम अर्थात् विकृति अहंकार ही हो सकता है। इसलिये यदि यहाँ निर्माण-चित्तोंको अहंकारके अर्थोंमें लें तो अहंकार भिन्न होनेसे वह योगी उन अहंकारोंके कर्मों और फलोंका भोक्ता नहीं हो सकता है।

(४) यदि निर्माण-चित्तके अर्थ अहंकार न लेकर केवल चित्तके ही लें तो वे भी पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रतिबिम्बित होकर उस योगीसे भिन्न नये पुरुष (जीव) रूप हो जायँगे।

(५) कर्म तीन प्रकारके होते हैं — क्रियमाण, प्रारब्ध और संचित। प्रारब्धकर्म प्रधान कर्माशय नियत विपाक वाले होते हैं और संचितकर्म उपसर्जन (गौण) कर्माशय अनियत विपाकवाले होते हैं। उन दोनोंमेंसे प्रथम श्रेणीके कर्म तो, जिन्होंने जन्म, आयु और भोगफल देना आरम्भ कर दिया है,भोगने ही होते हैं; किन्तु दूसरी श्रेणीके कर्मोंको जिन्होंने अभीतक फल देना आरम्भ नहीं किया है उनको इतनी सामर्थ्यवाला योगी स्वयं दग्धबीज-तुल्य कर सकता है।

(६) बहुत-से शरीरोंके एक साथ निर्माण करनेका यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। यह सङ्गतिके विरुद्ध है।

(७) यहाँ प्रथम सूत्रसे पाँच प्रकारकी सिद्धियोंद्वारा पाँच प्रकारके सिद्ध 'निर्माण' चित्तोंका प्रसङ्ग चला आ रहा है। एक साथ बहुत-से शरीरोंके रचनेका कहीं संकेतमात्र भी नहीं है।

(८) श्रीव्यासजी तथा भोजजी महाराजने स्वयं छठे सूत्रके भाष्य तथा वृत्तिमें निर्माण-चित्तके अर्थ जन्म, ओषधि आदिद्वारा उत्पन्न हुए पाँच सिद्ध चित्त बतलाये हैं न कि एक साथ उत्पन्न हुए अनेक शरीरोंके चलानेवाले अनेक चित्त।

इसको अधिक स्पष्ट करनेके लिये अर्थसहित मूलभाष्य और भोज-वृत्ति नीचे लिख देते हैं।

पञ्च-विधं निर्माण-चित्तं — जन्मौषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः सिद्धयैति । तत्र यद् एव ध्यानजं चित्तं, तद् एवानाशयं,तस्यैव नास्त्य् आशयो रागादि-प्रवृत्तिः, नातः पुण्य-पापाभिसम्बन्धः, क्षीण-क्लेशत्वाद् योगिन इति। इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥६॥ — (व्यासभाष्य)

जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, समाधिसे उत्पन्न जो पाँच प्रकारके सिद्ध निर्माण चित्त हैं, उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है वही वासनारहित है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति और वासनाएँ नहीं होतीं। इस कारण क्लेश नष्ट होनेसे योगीका पुण्य-पापसे सम्बन्ध नहीं होता। दूसरों (चार-जन्म, ओषधि, मन्त्र और तपसे उत्पन्न होनेवाले सिद्ध निर्माण-चित्तों) की तो कर्म और वासनाएँ विद्यमान रहतीं हैं।

वृत्तिः — ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तत् पञ्चसु मध्येऽनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थः ॥ ६॥ — (भोजवृत्ति)

ध्यानजम् अर्थात् समाधिसे उत्पन्न हुआ जो चित्त है वह उन पाँचों (सिद्ध निर्माणचित्तों) में अनाशय अर्थात् कर्मकी वासना और संस्कारोंसे रहित होता है यह अभिप्राय है।

उपर्युक्त सब बातोंको दृष्टिकोणमें रखते हुए सूत्र ४ की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिये —

निर्माणचित्तानि = जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, समाधि — इन पाँच सिद्धियोंसे उत्पन्न होनेवाले पाँच प्रकारके सिद्ध-चित्त जिनका प्रथम सूत्रसे प्रसङ्ग चला आ रहा है।

अस्मितामात्रात् = पुरुषसे प्रतिबिम्बित चित्तसत्त्व (जिससे अहङ्कार उत्पन्न होता है अर्थात् जिसमें अहङ्कार बीजरूपसे रहता है) जो निर्माणचित्तोंकी प्रकृति है। उन विलक्षण शक्तिवाले सिद्ध शरीर इन्द्रियों आदिको चलानेवाले सिद्ध निर्माणचित्त अस्मितामात्रसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् उनकी प्रकृति (उपादान कारण) अस्मिता (चित्तसत्त्व) है। जिसके 'आपूर' से उनमें यह विलक्षण परिणाम होता है।

परन्तु वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु आदि ने अपनी-अपनी टीकाओंमें प्रकारान्तर से योगीके द्वारा अनेक शरीर और अनेक चित्तोंका निर्माण माना है। क्योंकि —

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।।२.३७.१७।। ब्रह्मवैवर्तपुराणम्"

किये हुए पापों और पुण्यों का अक्षय फल अवश्य भोगना पड़ता है (प्रलय हो जाने पर जीव के जिन कर्मों का फल शेष रह जाता है, दूसरे कल्प में नयी सृष्टि होने पर वह जीव पुनः अपने पुरातन कर्मों का भोग भोगता है।) कोई भी कर्म सौ करोड़ कल्पों में भी बिना भोगे नष्ट नहीं होता। अपने किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।

समाधि और भोग, ज्ञान और अज्ञान एक-दूसरेके विरोधी होनेके कारण एक ही चित्त में नहीं रह सकते अतः चित्त-भेद होना सिद्ध होता है।

अतएव विष्णुजी सर्वज्ञ होनेपर भी स्व-सङ्कल्प-निर्मित चित्तके भेदसे राम-शरीरमें कुछ काल पर्यन्त अज्ञानको स्वीकार कर लेते हैं, अन्यथा योगवासिष्ठकी रचना ही नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण भी १६१०८ रूप धारण करके भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। जब योगी अपने द्वारा निर्मित देहेन्द्रिय-सङ्घातों में अनेक जीवोंकी योजना करता है तो उसे अनेक अन्तःकरणोंकी भी अपेक्षा होगी। परन्तु कदाचित् वह योगी एक ही अन्तःकरणसे नाना देहोंमें व्यवहार करे तो हम इसका निराकरण नहीं करते क्योंकि स्वतन्त्र इच्छावाले योगीकी इच्छा पर नियन्त्रण करना अशक्य है।

इस प्रकार योगीलोग शरीरोंके भेदसे अनेक चित्तोंको धारण करके नाना-प्रकारके विरुद्ध कार्योंको एकसाथ करते हैं, ऐसा पुराणोंमें और योगियोंकी जीवन-कथाओं में प्रसिद्ध है।

" एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।

भूत्वा यस्माच्च बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः ।।५.१३९।।

तस्माच् च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि ।

प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिद् उग्रं तपश्चरेत् ।

संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥५.१४९॥ वायुपुराणम्-उत्तरार्धम्"

"एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः ।

योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोतिच ॥१,४.२१॥ ब्रह्माण्डपुराणम्-पूर्वभागः"

"अचिन्त्यो हि समाधिप्रभावः" यद्यपि सामान्य नियमके अनुसार, विना भोगे हुए कर्म करोड़ों कल्पोंमें भी क्षय नहीं हो सकते, परन्तु जिस प्रकार गीले वस्त्रको फैलाकर सुखाने में वस्त्र बहुत जल्दी सूख जाता है, अथवा जिस प्रकार सूखे हुए धासमें अग्नि डालनेसे हवाके अनुकूल होनेपर घास बहुत जल्दी जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार जिस समय योगी एक शरीरसे कर्मके फलको भोगनेमें असमर्थ होता है, उस समय.वह संकल्प मात्रसे बहुतसे शरीरोंका निर्माण कर ज्ञान-अग्निसे कर्मोका नाश करता है। इसीको योगशास्त्रमें बहुकायनिर्माणद्वारा सोपक्रम आयुका विपाक कहा है। इन बहुतसे शरीरोंमें कभी योगी लोग एक ही अन्तःकरणसे प्रवृत्ति करते हैं। वायुपुराणमें भी जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंको वापिस खींच लेता है, उसी प्रकार एक शरीरसे एक, दो, तीन आदि अनेक शरीरोंको उत्पन्न करके इन शरीरोंको पीछे खींचनेका उल्लेख है।

सङ्गति — क्योंकि यदि उन सभी चित्तोंके भिन्न अभिप्राय होंगे तो योगी जिन कर्मफलों को भोगना चाहता है उनको नहीं भोग सकेगा और कृत-प्रणाश तथा अकृताभ्यागम-रूप दोष भी उपस्थित हो सकता है। और जब बहुत-से चित्त होंगे तो उन सबके अलग-अलग अभिप्राय होंगे तो उन कार्योंका कर्ता एक नहीं हो सकता ऐसी शङ्का होनेपर अगले सूत्रमें सूत्रकार अपना निर्णय बताते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥४.५॥

प्रवृत्ति-भेदे = प्रवृत्तिके भेदमें; प्रयोजकम् = प्रेरनेवाला, चित्तम् = चित्त; एकम् = एक; अनेकेषाम् = अनेकोंका होता है।

प्रवृत्तिके भेदोंमें एक चित्त अनेकोंका प्रेरनेवाला होता है।

व्याख्या — एक चित्तसे किस प्रकार अनेक चित्तोंके अभिप्रायपूर्वक प्रवृत्ति होती है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि सब चित्तोंका प्रवर्तक (नियामक) एक चित्त है, उससे प्रवृत्तिभेद होता है। — (व्यासभाष्य)

उन अनेक चित्तोंके वृत्तिभेद होनेमें एक ही चित्त अधिष्ठाता होकर प्रेरणा करनेवाला होता है। इससे अनेक चित्तोंका मतभेद नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जैसे एक मन अपने शरीरका अधिष्ठाता बनकर चक्षु-हस्तादिको इच्छापूर्वक प्रेरणा करता है, वैसे ही अन्य कार्योंमें भी प्रेरक माना जाता है। — (भोजवृत्ति)

ऊपर बताये हुए पाँचों निर्माणचित्तोंका नाना प्रकारकी प्रवृत्तिमें लगानेवाला अस्मिता अर्थात् अधिष्ठाता चित्त है। इन चित्तोंकी सारी प्रवृत्तियाँ उसी एक अधिष्ठाता चित्तके अधीन हैं।

योगीका जो पूर्व-सिद्ध चित्त है वही अन्य सभी चित्तोंका प्रयोजक होता है। (नियमन करता है)। इससे विष्णु आदिके अनेकों अंशावतार समझ लेने चाहिये। एक तरफ तो विष्णु परशुराम बनकर मार-काट कर रहे हैं और दूसरी तरफ कपिल, बुद्ध, हंस आदि बनकर ज्ञान, शान्ति आदिका उपदेश करते हैं। अथवा जैसे किसी महाराज के नीचे दस विभाग होते हैं तो उन-उन विभागोंको वह भिन्न-भिन्न आदेश देता है। जैसे हमलोग भी अपने रोजमर्रा के व्यवहारमें अपने चित्त को विभिन्न (अलग- अलग) स्तर का बना लेते हैं, जैसे पुत्रके साथ, पिताके साथ, पत्नीके साथ, सेठके साथ अलग-अलग ढंगसे व्यवहार करते हैं, आदि-आदि। इस प्रकार चित्त का विभिन्न अवस्थाओं वाला होने पर भी उन सभी का संचालन करने वाला चित्त मुख्य रूप से एक ही होता है। अहंकार द्वारा निर्मित चित्त त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रज व तम से युक्त) होता है। किसी भी एक गुण के बढ़ने से उसकी प्रवृत्ति में भेद होना उसका स्वभाव होता है । लेकिन वह चित्त मूल रूप से एक ही होता है।

सङ्गति — इन पाँच प्रकारकी सिद्धियोंसे उत्पन्न हुए निर्माण-चित्तोंमेंसे समाधिजन्य चित्तकी विलक्षणता अगले सूत्रमें बतलाते हैं —

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥४.६॥

तत्र = उनमेंसे (पाँच प्रकारके निर्माण-सिद्धचित्तोंमेंसे) ; ध्यानजम् = ध्यानसे उत्पन्न होनेवाला (चित्त) ; अनाशयम् = वासनाओंसे रहित (होता है) ।

उन पाँच प्रकारके जन्म, ओषधि आदिसे उत्पन्न हुए पाँचों निर्माणसिद्ध- चित्तोंमेंसे समाधिसे उत्पन्न होनेवाला चित्त वासनाओंसे रहित होता है।

"व्यापारस्य हि नानात्वे चित्तमेकं प्रयोजकम् ।

तत्रापि ध्यानजं चित्तं कर्मशयविवर्जितम् ॥ १८५ ॥ योगसूत्रसारः"

अनेक प्रकारके व्यवहारोंमें नियामक (प्रयोजक) चित्त एक ही होता है उनमें से भी जो समाधि के द्वारा निर्मित चित्त है वह चित्त कर्म-संस्कारों से रहित होता हैं। अर्थात् पाप-पुण्य आदि कर्मों का संस्कार उस चित्तमें नहीं बनता है।

व्याख्या — जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न जो पाँच प्रकारके सिद्धनिर्माण-चित्त हैं, उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है, वही वासनाओं से रहित है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति और वासनाएँ नहीं होतीं। इस कारण क्लेश नष्ट होनेसे योगीका पुण्य-पापसे सम्बन्ध नहीं होता। दूसरों (चार — जन्म, ओषधि, मन्त्र, तपसे उत्पन्न होनेवाले) सिद्ध-निर्माण-चित्तोंकी तो कर्म और वासनाएँ विद्यमान रहतीं हैं। — (व्यासभाष्य)

ध्यानजं अर्थात् समाधिसे उत्पन्न हुआ जो चित्त है, वह उन पाँचों (सिद्धनिर्माण चित्तोंमें) अनाशय अर्थात् कर्मकी वासना और संस्कारोंसे रहित होता है — यह अभिप्राय है। — (भोजवृत्ति)

जहाँ कर्म-वासनाएँ और क्लेश-वासनाएँ सोई पड़ी रहतीं हैं उसे आशय कहते हैं और जहाँ ये सब नहीं होतीं उसे अनाशय कहते हैं। यह अनाशय चित्त ही अपवर्ग-भागी (मोक्ष-भागी) होता है। ध्यान-सिद्ध चित्त ही अनाशय होता है। योगसे ही ज्ञानोत्पत्ति होनेके अनन्तर वासनओंका उच्छेद सम्भव है न कि मन्त्रादि से, और पुनर्जन्म न होना ही मोक्ष है, यह अर्थ है।

प्रश्नोत्तरी 'मणिरत्नमाला' में आचार्य शङ्कर कहते हैं कि —

जातो हि को यस्य पुनर्न जन्म. को वा मृतो यस्य पुनर्न मृत्युः ॥ १८॥

प्रश्न — किसका जन्म सराहनीय है ?

उत्तर — जिसका फिर जन्म न हो ।

प्रश्न — किसकी मृत्यु सराहनीय है ?

उत्तर — जिसकी फिर मृत्यु नहीं होती ।

मृत्योर्बिभेषि किं बाल भीतं मुञ्चति किं यमः।

अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि।।

हे बाल ! हे अज्ञ जीव ! अरे ओ मूर्ख, मौत से क्यों ड़रते हो और डरने का क्या फायदा? क्या मौतसे डरनेवाले को मृत्यु छोड़ देगी ? मेरे भाई ! जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है। जिसका जन्म नहीं होता उसकी मृत्यु भी नहीं होती। इसलिये तुम ऐसा यत्न करो जिससे फिर जन्म न हो। क्या मृत्यु के देवता भयभीत को बख्शते हैं ? अतः फिर कभी जन्म न लेने का प्रयास करें।

"मृत्योर्बिभेषि किं बाल ! न स भीतं विमुञ्चति ।

अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥" (पञ्चतन्त्रः १.४१९)

"मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते ।

अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ १०.१.३८॥श्रीमद्भागवतं"

हे वीरवर! जो जन्म लेते हैं, उनके शरीर के साथ ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है। आज हो या सौ वर्ष के बाद- जो प्राणी है, उसकी मृत्यु होगी ही। ॥ ३८॥

मृत्यु का जन्म, देह के जन्म के साथ ही होता है! पर कोई रुप और आकार न होने पर भी उसकी सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है! यह कोई आवश्यक नहीं कि इस संसार में जो दिखाई दे अस्तित्व केवल उसी का हो! मृत्यु को किसी ने नही देखा, पर वह अटल सत्य है! "प्रमादो वै मृत्यु:" प्रमाद ही मृत्यु है,आत्मा तो अजन्मा है! जैसे घट के नष्ट हो जाने पर भी आकाश का नाश नहीं होता! वरन् वह घटाकाश (ससीम) से महाकाश (असीम) हो जाता है! वैसे ही देह के नाश से आत्मा का नाश नही होता! —

"लोभप्रमादविश्वासैः पुरुषो नश्यते त्रिभिः ।

तस्माल्लोभो न कर्त्तव्यः प्रमादो न न विश्वसेत् ॥१.११५.४३॥" (गरुडपुराणम्)

तीन दोषोंसे प्रत्येक प्राणी बँधता है और मारा जाता है १. लोभ २. प्रमाद ३. विश्वास जैसे राजा हरिश्चन्द्र विश्वास से बन्धन को प्राप्त हुए और युधिष्ठिर लोभके कारण बन्धन को प्राप्त हुए और प्रमाद करनेसे विश्वामित्र को कई बार कष्ट भोगना पड़ा।

"सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।

मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।८.१२।।श्रीमद् भगवद्गीता"

समस्त द्वारोंका अर्थात् विषयोंकी उपलब्धिके द्वाररूप जो समस्त इन्द्रियगोलक हैं उन सबका संयम करके एवं मनको हृदयकमलमें निरुद्ध करके अर्थात् संकल्पविकल्पसे रहित करके फिर वशमें किये हुए मनके सहारेसे हृदयसे ऊपर जानेवाली नाडीद्वारा ऊपर चढ़कर अपने प्राणोंको मस्तकमें स्थापन करके योगधारणाको धारण करनेके लिये प्रवृत्त हुआ साधक (परमगतिको प्राप्त होता है।

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।८.१३।।श्रीमद् भगवद्गीता"

उसी जगह = ब्रह्मरन्ध्र में (प्राणोंको) स्थिर रखते हुए –, ओम् इस एक अक्षररूप ब्रह्मका अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपका लक्ष्य करानेवाले ओंकारका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थरूप मुझ ईश्वररूपका चिन्तन करता हुआ जो पुरुष शरीरको छोड़कर जाता है अर्थात् मरता है वह इस प्रकार शरीरको छोड़कर जानेवाला परम गतिको पाता है। यहाँ त्यजन्देहम् यह विशेषण मरण का लक्ष्य करानेके लिये है। अभिप्राय यह कि देहके त्यागसे ही आत्माका मरण है स्वरूपके नाशसे नहीं।

"अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।८.५।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जो मनुष्य अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे स्वरुप को ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

"यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।८.६।।श्रीमद् भगवद्गीता"

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।

सङ्गति — जब योगी भी साधारण मनुष्योंकी भाँति कर्म करते देखे जाते हैं, तो उनके चित्त वासनारहित किस प्रकार हो सकते हैं ? जैसे दूसरोंके चित्तोंसे योगियोंका चित्त क्लेशादि से रहित होनेके कारण विलक्षण होता है वैसे ही योगियोंके कर्म भी विलक्षण होते हैं — समाधि-योग दो प्रकारका होता है एक सम्प्रज्ञात और दूसरा असम्प्रज्ञात, इन दोनोंका क्रमसे अभ्यास करनेपर वासनाओंका समूल उन्मूलन (जड़से उखाड़ फेंकना) सम्भव है। और जब चित्त निर्वासन हो जाता है तभी चित्त मोक्ष के योग्य होता है। जिस प्रकार जला हुआ बीज कभी भी अंकुरित होनेमें समर्थ नहीं हो सकता। ठीक उसी प्रकार ध्यानसे निर्मित चित्तमें कभी भी क्लेशों की उत्पत्ति नहीं हो सकती —

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥४.७॥

कर्म = कर्म; अशुक्ल-अकृष्णम् = न शुक्ल न कृष्ण; योगिनः = योगीका; त्रिविधम् = तीन प्रकारका; इतरेषाम् = दूसरोंका होता है।

चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः। कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला,अशुक्लाकृष्णा।

योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण (न शुक्ल न कृष्ण अर्थात् निष्काम) होता है, दूसरोंका तीन प्रकारका (पाप, पुण्य और पाप-पुण्य-मिश्रित) होता है।

"सामान्यतस्तु सम्पूर्णा कर्मादिषु चतुष्पदी।

शुक्ला पुण्यात्मनामेव कृष्णा तावद्दुरात्मनाम् ॥ १८६ ॥ योगसूत्रसारः"

सामान्यतया चार प्रकारके कर्मों में से पुण्यात्माओंके कर्म शुक्ल और दुरात्माओंके कर्म कृष्ण (काले) होते हैं।

"शुक्लकृष्णा परेषां सा योगिनां तु कदापि न ।

तद्रूपश्च विपाकस्स्यात्तत्तज्जातीयकर्मणः ॥ १८७ ॥ योगसूत्रसारः"

और जो तीसरी कोटि के पुरुष हैं उनके कर्म मिश्रित होते हैं अर्थात् पाप और पुण्यसे मिलेजुले (शुक्लकृष्ण) परन्तु योगी के कर्म पाप एवं पुण्य से रहित होते हैं अर्थात् निष्काम होते हैं जबकि योगी से भिन्न सांसारिक व्यक्तियों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं ।

व्याख्या — कर्म चार प्रकारके होते हैं —

१. कृष्ण — पापरूप कर्म अर्थात् हिंसा आदि दूसरोंको हानि पहुंचानेवाले चोरी, व्यभिचार, अपेयपान, ब्रह्महत्या आदि कर्म दुराचारी अर्थात् बहिर्मुख, नारकी पुरुषोंके होते हैं। इनसे तमोगुणकी वृद्धि होती है।

२. शुक्ल — पुण्यकर्म, अन्तर्याग, जप, अहिंसा आदि दूसरोंको लाभ पहुंचानेवाले, स्वाध्याय, तप, ध्यान, यज्ञ आदि भगवद्भक्तोंके, धर्मात्माओंके अर्थात् अन्तर्मुख-विद्वानोंके होते हैं। ऐसे कर्मोंसे सुखरूप फल होता है और सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है।

३. कृष्ण-शुक्ल — दोनों मिलेजुले अर्थात् पाप-पुण्यमिश्रित कर्म — जिनमें किसीको हानि; किसीको लाभ हो, जैसे कि बहिर्याग, युद्धादि, बाह्यसाधन-साध्य जितने भी कर्म हैं वे साधारण मनुष्योंके होते हैं। इस तरहके कर्मोंसे रजोगुणकी वृद्धि होती है।

४. अशुक्ल-अकृष्ण — न पुण्य न पाप अर्थात् फलोंकी वासनासे रहित निष्काम शुद्ध कर्म। ऐसे कर्म सुख-दुःखरूप फलसे शून्य होते हैं क्योंकि इनका प्रेरक कोई गुण नहीं है। लेकिन इस तरहके कर्मोंका एक फल होता है और वह है अन्तःकरणकी शुद्धि। ऐसे कर्म योगियोंके अर्थात् संन्यासियोंके होते हैं, जो जीवन्मुक्त हैं, जिनके क्लेश क्षीण चुके हैं अथवा जिनका अन्तिम जन्म है, उनके होते हैं।

इनमेंसे योगियोंके कर्म अशुक्ल-अकृष्ण होते हैं अर्थात् न पुण्यवाले न पापवाले। पापकर्म तो वे कभी करते ही नहीं। क्योंकि वे उनके लिये सर्वदा त्याज्य हैं, इस कारण उनके कर्म अकृष्ण हैं। शुक्लकर्मोंको निष्कामभावसे फलोंको त्यागकर करते हैं, इस कारण वे अशुक्ल होते हैं। साधारण मनुष्योंकी तरह उनको कर्ममें प्रवृत्त करनेवाले अविद्या आदि क्लेश नहीं होते; बल्कि वे अपने-आपको तथा अपने सब कर्मों और उनके फलोंको ईश्वर-समर्पण करके केवल उसके आज्ञापालनमें अपना कर्त्तव्य समझते हुए करते हैं। इस कारण वे वासना रहित हैं।

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।५.१०।।श्रीमद् भगवद्गीता"

जो स्वामीके लिये कर्म करनेवाले नौकरकी भाँति मैं ईश्वरके लिये करता हूँ इस भावसे सब कर्मोंको ईश्वरमें अर्पण करके यहाँतक कि मोक्षरूप फलकी भी आसक्ति छोड़कर कर्म करता है। वह जैसे कमलका पत्ता जलमें रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता वैसे ही पापोंसे लिप्त नहीं होता।

"कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये।।५.११।।श्रीमद्भगवद्गीता"

योगीजन, शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा आसक्ति को त्याग कर आत्मशुद्धि (चित्तशुद्धि) के लिए कर्म करते हैं।

"युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।५.१२।।श्रीमद्भगवद्गीता"

क्योंकि सब कर्म ईश्वरके लिये ही हैं मेरे फलके लिये नहीं इस प्रकार निश्चयवाला योगी कर्मफलका त्याग करके ज्ञाननिष्ठामें होनेवाली मोक्षरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। यहाँ पहले अन्तःकरणकी शुद्धि फिर ज्ञानप्राप्ति फिर सर्वकर्मसंन्यासरूप ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्ति इस प्रकार क्रमसे परम शान्तिको प्राप्त होता है इतना वाक्य अधिक समझ लेना चाहिये। परंतु जो अयुक्त है अर्थात् उपर्युक्त निश्चयवाला नहीं है वह कामकी प्रेरणासे अपने फलके लिये यह कर्म मैं करता हूँ इस प्रकार फलमें आसक्त होकर बँधता है। इसलिये तू युक्त हो अर्थात् उपर्युक्त निश्चयवाला हो यह अभिप्राय है। करणका नाम कार है कामके करणका नाम कामकार है उसमें तृतीया विभक्ति जोड़नेसे कामके कारणसे अर्थात् कामकी प्रेरणासे यह अर्थ हुआ। अर्थात् सकाम मनुष्य कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँध जाता है।

साधारण मनुष्योंके तीन प्रकारके कर्म १ — शुक्ल=अच्छे, २ — कृष्ण=बुरे, ३ — शुक्ल-कृष्ण-मिश्रित — अच्छे-बुरे मिले हुए होते हैं। इस कारण वे चित्तमें फलोंकी वासनाको पैदा करते हैं।

कर्म-सिद्धान्तको समझनेके लिये कुछ शास्त्रीय उद्धरण —

संन्यास शब्दका अर्थ है त्याग, कर्ममें कर्तृत्व-अभिमानका त्याग और कर्मके फलका त्याग —

"अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।१८.१२।। श्रीमद्भगवद्गीता"

सर्व कर्मोंका त्याग करनेसे जो फल होता है वह क्या है ? इसपर कहते हैं — अनिष्ट अर्थात् नरक और पशुपक्षी आदि योनिरुप, इष्ट अर्थात् देवयोनिरुप तथा मिश्र अर्थात् इष्ट और अनिष्टमिश्रित मनुष्ययोनिरुप, इस प्रकार यह पुण्य-पापरूप कर्मोंका फल तीन प्रकारका होता है। जो पदार्थ बाह्य कर्ता, कर्म और क्रिया आदि अनेक कारकोंद्वारा निष्पन्न हुआ हो और बाजीगरकी मायाके समान अविद्याजनित महामोहकारक हो एवं जीवात्माके आश्रितसा प्रतीत होता हो और साररहित होनेके कारण तत्काल ही लय अर्थात् नष्ट हो जाताहो उसका नाम फल है। यह फल शब्दकी व्याख्या है। ऐसा यह तीन प्रकारका फल अत्यागियोंको अर्थात् परमार्थसंन्यास न करनेवाले कर्मनिष्ठ अज्ञानियोंको ही मरनेके पीछे मिलता है। केवल ज्ञाननिष्ठामें स्थित परमहंसपरिव्राजक वास्तविक संन्यासियोंको कभी नहीं

मिलता। क्योंकि (वे) केवल सम्यग्ज्ञाननिष्ठ पुरुष संसारके बीजरूप अविद्यादि दोषोंका मूलोच्छेद नहीं करते, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

“कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।१८.९।।श्रीमद्भगवद्गीता”

हे अर्जुन ! “कर्म करना कर्तव्य है” ऐसा समझकर जो नियत कर्म आसक्ति और फल को त्यागकर किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है।

“त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।।४.२०।। श्रीमद्भगवद्गीता”

जो पुरुष, कर्मफलासक्ति को त्यागकर, नित्यतृप्त और सब आश्रयों से रहित है वह कर्म में प्रवृत्त होते हुए भी (वास्तव में) कुछ भी नहीं करता है।

“यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१८.१७।।श्रीमद् भगवद्गीता”

जिस पुरुष में अहंकार का भाव नहीं है और बुद्धि किसी (गुण दोष) से लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न मारता है और न (पाप से) बँधता है।

“योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः ।

निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ॥ ३६८ ॥ (विवेकचूडामणिः)”

योगका पहला चरण है वाणी पर नियंत्रण, अनावश्यक वस्तुओंका संग्रह न करना, किसीसे आशा न करना, विविध कामनाओंका त्याग, (उपहार न लेना) बिना किसी अपेक्षाके व्यवहार करना, गतिविधि से मुक्त हमेशा एकान्त स्थान पर रहना।

“ब्रह्मचर्यं तपः श्रद्धा नित्यमेकान्तशीलता।

विषयेष्वस्पृहताऽस्तेयं सर्वभूतदया क्षमा।।”

“लज्जा धृतिः शुचित्वं च निरोधो मनसस्तथा।

एतैरुपायैः संयुक्तस्ततः प्रणवमभ्यसेत्॥ ”

“नैनमहत्यशुद्धात्मा केवलं प्रणवं द्विजः।

ततः परतरं ब्रह्म नाऽशुद्धोऽत्र च लभ्यते॥” (शौनकस्मृतिः)

“न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥३॥ कैवल्योपनिषद्”

उस (अमृत) की प्राप्ति न कर्म के द्वारा, न सन्तान के द्वारा और न ही धन के द्वारा हो पाती है। (उस) अमृतत्व को सम्यक् रूप से (ब्रह्म को जानने वालों ने) केवल त्याग के द्वारा ही प्राप्त किया है। स्वर्गलोक से भी ऊपर गुहा अर्थात् बुद्धि के गह्वर में प्रतिष्ठित होकर जो ब्रह्मलोक प्रकाश से परिपूर्ण है, ऐसे उस (ब्रह्मलोक) में संयमशील योगीजन ही प्रविष्ट होते हैं।

"त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥२.१७॥ संन्यासोपनिषद्"

बृहस्पतिने भी कचसे कहा है कि — सभी तरह के धर्म-अधर्मको छोड़, सत्य और झूठ दोनों को छोड़, संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया। सत्य और झूंठ दोनोंको छोड़कर और फिर जिस (अहंकार) से इनको छोड़ता है उसको भी छोड़ ! इस तरह धर्म-अधर्म तथा सत्य-असत्य दोनों का ही परित्याग कर देना चाहिए। तदनन्तर जिसके द्वारा इस प्रकार सत्य-असत्य का परित्याग किया जाता है, उसका भी त्याग कर देना चाहिए।

"संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।

प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ।।"

संसार को साररहित देखकर परवैराग्यके आश्रित हुए पुरुष, सार वस्तुके दर्शनकी इच्छासे विवाह किये बिना (ब्रह्मचर्य-आश्रमसे) ही संन्यास ग्रहण करते हैं।

"विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११॥ ईशोपनिषद्"

जो तत् को इस रुप में जानता है कि वह एक साथ विद्या और अविद्या दोनों है, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमरता का आस्वादन करता है।

"प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥३.१.४॥ मुण्डकोपनिषद्"

यह प्राण ही है जो समस्त भूतपदार्थों के द्वारा अभिव्यक्त होकर उद्भासित होता है; विद्वान् व्यक्ति इसे पूर्णतया जानते हुए, मतमतान्तर एवं विवादों (अतिवाद) से बचता है। 'आत्मा' में उसकी रति होती है तथा 'आत्मा' में ही क्रीड़ारत रहकर कर्म करता रहता है, – ब्रह्मवेत्ताओं में वह सर्वश्रेष्ठः वरिष्ठ है।

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।४.१८।।श्रीमद् भगवद्गीता"

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, योगी है और सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला है।

"इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।। १.८ ।। (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)"

यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि प्राकृत धर्मोंकी अपेक्षा योगके द्वारा आत्मदर्शन करना परमधर्म है। अर्थात् आत्मदर्शनके साधनको योग कहते हैं। अतः 'योग' के द्वारा आत्म दर्शन करना ही परमधर्म है।

"इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः |

अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ||३.२.७१||महाभारतम्"

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और लोभसे विमुखता -धर्म के ये आठ मार्ग बताए गए हैं। इन पर चलने वाला धर्मात्मा कहलाता है।

अष्टौ आत्मगुणाः — दया सर्वेषु भूतेषु, क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा (गौतम धर्मसूत्र ७.१०)

आत्माके आठ स्वाभाविक गुण हैं १. सभी प्राणियों पर दया करना, २. क्षमा, ३. अनसूया (दोष दर्शन न करना) ४. शौच (पवित्रता) ५. अनायास (अति प्रयास न करना) ६. मङ्गल (सबका विकास, प्रगति चाहना) ७. अकार्पण्य (दीनताका प्रदर्शन न करना) ८. अस्पृहा (विषय लालसा का न होना)

"जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।। २.८७ ।।मनुस्मृतिः"

ब्राह्मण सब जीवों से प्रेम (प्रीति) रक्खे, कुछ और करे या न करे, केवल जप ही को करे तो सब सिद्धि प्राप्त हो सकती है। क्योंकि सब सिद्धियों का मूल मन की एकाग्रता और ज्ञान है। जप करनेसे तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान अपने-आप हो जाता है अतः चित्तैकाग्र्यं परं तपः।

"त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।

त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम् ॥"

त्याग ही मोक्षका उत्तम साधन है, त्याग करते ही त्यागकरनेवाला उस ज्ञेय तत्त्वको (अपने अन्तरात्मा-रूप परमपदको) प्राप्त कर लेता है।

"यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।

आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ।। १२.९२ ।।मनुस्मृतिः"

श्रेष्ठ द्विज उसके लिए विहित यज्ञ आदि कर्मों को (संन्यासी अवस्था में) छोड़कर भी परमात्म-ज्ञान, इन्द्रियसंयम और वेदाभ्यास में प्रयत्नशील अवश्य रहे अर्थात् इनको किसी भी अवस्था में न छोड़े ।

"एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।

प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ।। १२.९३ ।।मनुस्मृतिः"

ये तीनों कर्म द्विजों के, विशेष रूप से ब्राह्मण के जन्म को सफल बनाने वाले हैं । द्विज व्यक्ति इनका पालन करके ही कर्त्तव्यों की पूर्णता प्राप्त करता है, इनको बिना नहीं।

"यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।

अभिलाषोपनीतं तत्सुखं स्वर्गपदास्पदम्।।" (महाभारत ५.३३)

स्वर्ग भी वह जहाँ का सुख दु:खसे मिश्रित न हो और बाद में भी दु: ख न हो। संकल्पमात्र से प्राप्त हो वस्तुत: वही सुख स्वर्ग है। इन्द्रादि लोकों में सुखभोगकाल में दूसरे के सुख से ईर्ष्या तथा प्राय: दैत्यदानवों का आक्रमण होता है। और देवगण मारे मारे फिरते हैं । इसलिए उनका स्वर्ग वास्तविक स्वर्ग नहीं है।

"लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।

व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ- सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥११.५.११॥ श्रीमद्भागवत"

इस दुनिया में किसी से यह कहना नहीं पड़ता है कि तुम मैथुन, मांस और मदिरा का सेवन करो; ये बातें मनुष्य को स्वभाव ही से पसंद हैं। इन तीनों की कुछ व्यवस्था कर देने के लिए अर्थात्, इनके उपयोग को कुछ मर्यादित करके व्यवस्थित कर देने के लिए (शास्त्रकारों ने) अनुक्रम से विवाह, सोमयाग और सौत्रामणी यज्ञ की योजना की है। परन्तु इस पर भी निवृत्ति अर्थात् निष्काम आचरण ही इष्ट है।

"अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् ।

यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ।। २.४ ।।मनुस्मृतिः"

इस जगत् में कोई भी ऐसी क्रिया नहीं है जिसके पीछे कोई कामना नहीं हो। इच्छा के बिना किसी मनुष्य को कोई कार्य करते नहीं देखा जाता। मनुष्य जो कुछ भी करता है उसके पीछे कोई न कोई इच्छा या कामना अवश्य होती है। {वास्तव में मनुष्य का कर्म उसकी इच्छा की ही चेष्टा है।}

"कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते ।

अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥ ६.१.११ ॥श्रीमद्भागवत"

वस्तुतः कर्म के द्वारा ही कर्म का निर्बीज नाश नहीं होता; क्योंकि कर्म का अधिकारी अज्ञानी है। अज्ञान रहते पापवासनाएँ सर्वथा नहीं मिट सकतीं। इसलिये सच्चा प्रायश्चित्त तो तत्त्वज्ञान ही है ॥ ११ ॥

सङ्गति — ऊपर बताये हुए योगियोंसे अतिरिक्त साधारण मनुष्योंके वासनाके अनुसार किये गये तीन प्रकारके कर्मोंका फल बताते हैं।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥४.८॥

ततः = उससे (पिछले सूत्रमें बताये हुए तीन प्रकारके कर्मोंसे); तद्-विपाक-अनुगुणानाम्-एव = उन्हींके फलके अनुकूल ही; अभिव्यक्ति: = प्रकटता; वासनानाम् = वासनाओंकी होती है।

उन पिछले सूत्रमें बताये हुए तीन प्रकारके कर्मोंसे उनके फलके अनुकूल ही वासनाओंकी अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव) होती है।

"अभिव्यक्ता विपाकेन तद्रूपाश्चैव वासनाः ।

देवतिर्यङ्मनुष्येषु समानश्चर्च एव सः ॥ १८८ ॥ योगसूत्रसारः"

उन सांसारिक व्यक्तियों के तीन प्रकारके कर्मों से उन विपाक-फलोन्मुख कर्मों के भोगों के अनुरूप ही व्यक्ति के वासनाओं या संस्कारों की अभिव्यक्ति होती हैं, या वे प्रकट होते हैं। योगी से भिन्न व्यक्तियोंके (देव, पशु और मनुष्योंके) जो अन्य तीन प्रकारके कर्म होते हैं, उन फलोन्मुख कर्मों के भोगों के अनुरुप ही वासनाओं या संस्कारोंकी (विचारोंकी) अभिव्यक्ति होती है।

व्याख्या — कर्माशयका विवेचन करनेके बाद अब क्लेशाशयका विवेचन करते हैं — कर्मके संस्कार — जिनका फल भविष्यमें होनेवाला है — उसका नमा कर्माशय है, और त्रिविध फलका (शुभ-अशुभ और मिश्र का) भोग होने पर उसके अनुभवका जो संस्कार है वह वासना है। यहाँ पर अशुक्ल-अकृष्ण कर्म के अतिरिक्त बचे हुए तीन कर्मों के फलों की विचारणा की गई है। योगियोंसे अतिरिक्त सकामी पुरुष फलोंकी वासनासे कर्म करते हैं। जैसे कर्म होते हैं, उनके फलोंके अनुकूल गुणोंवाली वासनाएँ उत्पन्न होतीं हैं। उन वासनाओंसे फिर वैसे ही कर्म और उनसे फिर उसी प्रकारकी वासनाएँ बनती हैं। यदि मनुष्यता को प्राप्त करानेवाले कर्मोंके उदय होनेपर, पशु आदिकी भोगवासना प्रकट हो जाय तो मनुष्य भी तृण-भोजनमें प्रवृत्त हो जाय। इसलिये जिस समय जो कर्म फल देनेको प्रवृत्त होते हैं उस समय उसके अनुकूल ही वासनाओंकी अभिव्यक्ति होती है। वासनाएँ चित्तमें दो प्रकारके संस्काररूपसे होतीं हैं। एक स्मृतिमात्र फलवाली, दूसरी जाति, आयु, भोग-फलवाली। जब कोई कर्म फल देता है तो उस फलके अनुकूल ही सारी वासनाएँ प्रकट हो जातीं हैं। उदाहरणार्थ — जब कर्मोंका फल मनुष्य-जन्म होता है तो स्मृति फलवाली वासनाएँ, मनुष्य-जाति, आयु और भोगवाली वासनाओंको जो जन्म-जन्मान्तरोंसे चित्तमें संस्काररूपसे पड़ी हुई हैं, जगा देतीं हैं। उससे भिन्न अन्य जाति, आयु और भोगवाली वासनाएँ चित्तभूमिमें दबी रहतीं हैं। इसी प्रकार यदि कर्मोंका फल (कर्मविपाक) कोई पशुयोनि हो तो उस जाति-आयु और भोगकी वासनाओंको स्मृति-फलवाली वासनाएँ जगा देतीं हैं और वे अपना फल देने लगतीं हैं। इसका विस्तारपूर्वक विवरण साधनपादके सूत्र १२ और १३ में अवागमनके सम्बन्धमें किया जा चुका है।

हीन जातिमें प्रकृष्ट वासना प्रकट नहीं हो सकती और प्रकृष्ट जातिमें हीन वासना प्रकट नहीं हो सकती। जैसे भ्रमरको पुष्परस छोड़कर गोवरका रस अच्छा नहीं लग सकता और गुबरैला को पुष्परस अच्छा नहीं लग सकता। इसलिये वासनाकी अभिव्यक्ति प्रारब्ध-कर्मद्वारा नियत होनेसे अयोगीको तत्त्वज्ञानके बिना मोक्षकी गन्ध भी नहीं मिल सकती।

यदि ज्ञान नहीं हुआ है तो ज्ञानप्राप्तिके लिये अपने आश्रमोचित निष्काम कर्म करो। और यदि ज्ञान होगया है तो लोकसंग्रहके लिये (लोकमें सदाचारका उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिये) निष्काम कर्म करो।

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।३.२०।। श्रीमद् भगवद्गीता"

जनकादि (ज्ञानी जन) भी कर्म द्वारा ही संसिद्धि को प्राप्त हुये लोक संग्रह (लोक रक्षण) को भी देखते हुये; (निष्कामभावसे) तुम कर्म करने योग्य हो। क्योंकि पहले जनक, अश्वपति प्रभृति विद्वान् क्षत्रिय लोग कर्मोंद्वारा ही मोक्षप्राप्तिके लिये प्रवृत्त हुए थे। यहाँ इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि यदि वे जनकादि यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो चुके थे तब तो वे प्रारब्धकर्मा होनेके कारण लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हुए ही अर्थात् संन्यास ग्रहण किये बिना ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए और यदि वे जनकादि यथार्थ ज्ञानको प्राप्त नहीं थे तो वे अन्तःकरणकी शुद्धिके साधनरूप कर्मोंसे क्रमशः परम सिद्धिको प्राप्त हुए। यदि तू यह मानता हो कि आत्मतत्त्वको न जाननेवाले जनकादि पूर्वजोंद्वारा कर्तव्यकर्म किये गये हैं इससे यह नहीं हो सकता कि दूसरे आत्मज्ञानी कृतार्थ पुरुषोंको भी कर्म अवश्य

करने चाहिये। तो भी तू प्रारब्धकर्मके अधीन है इसलिये तुझे लोकसंग्रहकी तरफ देखकर भी अर्थात् लोगोंकी उलटे मार्गमें जानेवाली प्रवृत्तिको निवारण करनारूप जो लोकसंग्रह है उस लोकसंग्रहरूप प्रयोजनको देखते हुए भी कर्म करना चाहिये।

सङ्गति — वासनाएँ सैकड़ों जन्म पूर्वकी होतीं हैं और इनमें देश तथा समयका भी अत्यन्त अन्तर होता है, फिर एक जन्मको देनेके लिये भिन्न-भिन्न जन्मों, देशों और कालोंमें चित्तमें पड़ी हुई वासनाएँ एक साथ किस प्रकार प्रकट हो सकतीं हैं ? इसका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं —

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥४.९॥

जाति-देश-काल-व्यहितानाम्-अपि = जाति, देश और कालसे व्यवधानवाली (वासनाओं) का भी; आनन्तर्यम् = व्यवधान (दूरत्व) नहीं होता है; स्मृति-संस्कारयो: = स्मृति और संस्कारके; एकरुपत्वात् = एकरूप होनेसे — समानविषयक होनेसे।

जाति, देश और कालकृत व्यवधानवाली वासनाओंका भी व्यवधान नहीं होता है; क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप (समानविषयक) होते हैं।

“स्मृतिसंस्कारयोरैक्यं रुपे तावद् यतः स्थितम्।

अतो जात्यादिभिलिङ्गैर्व्यवहितोऽप्यनन्तरः ॥ १८९ ॥ योगसूत्रसारः”

क्योंकि स्मृति और संस्कार की एकरुपता (एकाकारता) होने के कारण जाति, स्थान, व काल से अन्तर उत्पन्न होनेपर भी यथासमय वासनाएं प्रकट हो जाती हैं।

कृषीवलो यथा केदारात् केदारान्तरं जलं निनीषुः प्रतिवन्धावरणभेदमात्रं करोति तथैव धर्मादि निमित्तं प्रकृतीनां परिणामेन प्रयोजकम्। योगिनोऽहङ्कारादुत्पन्नेषु चित्तेषु व्यापारनानात्वे योगिनः चित्तमेकमेव प्रयोजकम्। जन्मादिपञ्चविधचित्तेध्यानजं चित्तमेव वासनारहितम्। चतुर्विधायां कर्मजात्यां शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण, अशुक्लाकृष्णरुपायां चतुर्थी योगनां, यस्य यादृशं कर्म तदनुगुणमेव फलम् तस्य। पुनस्तत्फलानुगुणवासनानामभिव्यक्तिः सर्वेषु। संस्कारात् स्मृतिः, स्मृतेश्च भोगः, योगानुभवाच्च पुनः संस्कारस्मृत्यादयः- अतः जन्मशतेन, दूरदेशतया, कल्पशतेन वा व्यवहितानामपि वासानानां अव्यवहितवत् कार्यकारित्वं भवति – इति भावः।

व्याख्या — जाति, देश और कालका निकट होना वासनाओंके संस्कारोंके प्रकट होनेका कारण नहीं होता है; बल्कि उनको प्रकट करनेवाला कारण उनका अपना-अपना अभिव्यञ्जक-संस्कार (प्रकट करनेवाला संस्कार) होता है। वह संस्कार चाहे कितने ही पिछले जन्मोंके हों और चाहे उनमें कितना ही देश और कालका व्यवधान (फासला) हो अभिव्यञ्जक मिलनेपर तुरंत प्रकट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ — जब कर्मफल (कर्मविपाक) यह हो कि मनुष्य किसी पशुयोनिमें जाय तो वह उन सब वासनाओंके संस्कारोंके जगानेमें अभिव्यञ्जक हो जाते हैं जो उस जातिके बनानेवाले अथवा उनमें भोगे जानेवाले हैं। चाहे वे सैंकड़ों जन्म पहलेके बने हुए हों, चाहे सहस्रों वर्ष व्यतीत हो गये हों और कितने ही दूर देशोंके क्यों न बने हों। यह व्यवधान उनके प्रकट होनेमें रुकावट न डाल सकेंगे, क्योंकि स्मृति संस्कारोंके सदृश उत्पन्न होती है। जैसे संस्कार हों वैसी स्मृति होती है। अन्यथा किसी भी योनिमें जन्म लेते ही स्तनपानादि इष्ट साधन की स्मृति उसीके समान वासनाके बिना कैसे उत्पन्न हो सकती है ?

सङ्गति — जब वासनाओंके अनुसार ही जन्म होता है और कर्मोंके अनुसार वासनाएँ तो सबसे पहले जन्म देनेवाली वासना कहाँसे आयी ? प्रथम जन्मका क्या निमित्त था ? अथवा प्रथम जन्म बिना निमित्तके ही हो गया) इस शङ्का का उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं —

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ ४.१०॥

तासाम् = उन (वासनाओं) को; अनादित्वं च = अनादिता भी है; आशिष:, = आशिषके — अपने कल्याणकी इच्छाके; नित्यत्वात् = नित्य होनेसे।

उन वासनाओं को आशिष (अपने कल्याणकी इच्छा) के नित्य होनेसे अनादित्व भी है।

"वासनानामनादित्वं नित्यत्वादाशिषस्तथा।

चित्तं तद्वासनाविद्धं चितेर्भोगाय कल्पते ॥ १९० ॥ योगसूत्रसारः"

चित्तमें अपने कल्याणकी इच्छा अनादि है और नित्य भी है। चित्त उस जिजीविषा अर्थात् जीवित रहने की इच्छासे अनुविद्ध होनेके कारण चितिके (पुरुषके) भोगका कारण बनती है। अर्थात् वासनाओं या संस्कारों का प्रवाह अनादिकाल से निरन्तर प्रवर्त्तमान है।

व्याख्या — आशिष — अपने कल्याणकी इच्छा कि मेरे सुख-साधन सदैव बने रहें। उनसे मेरा वियोग कभी न हो। यह इच्छा सर्वप्राणियोंमें सदैव पायी जाती है। यही संकल्प-विशेष सब वासनाओंका कारण है। इसके सदासे बने रहनेके कारण वासनाओंका सदासे बना रहना है। यह इच्छा (संकल्प-विशेष) प्रवाहसे अनादि है इसलिये वासनाओंका भी प्रवाहसे अनादित्व सिद्ध होता है, इसका कोई आदि नहीं है।

इस सूत्रके भाष्यमें भाष्यकार व्यासजीने प्रसङ्गसे चित्तके परिमाणका विशेषताके साथ वर्णन किया है। उसको बतलानेके लिये व्यासभाष्यका अनुवाद निम्नलिखित प्रकारसे है।

तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी। कस्मात्। जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते। तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति।

घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीर-परिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति।

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः।

तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम्। निमित्तं च द्विविधम् — बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम्। तथा चोक्तम् — ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति। तयोर्मानसं बलीयः। कथं ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत्। ।।१०।।

अर्थ — आशिषके अर्थात् आशीर्वादके नित्य होनेसे उन वासनाओंका अनादित्व पाया जाता है। 'मा न भूवं भूयासम्' 'ऐसा न हो कि मैं न होऊं' किंतु 'बना रहूँ' यह आशिष अर्थात् अपने सदा बने रहनेकी प्रार्थना (इच्छा) हर-एक प्राणधारीमें पायी जाती है। यह स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि वह जन्तु जो अभी उत्पन्न हुआ है और जिसने इस जन्ममें किसीभी प्रमाणसे मरनेके दुःखको अनुभव नहीं किया है, वह भी दुःख अनुभवसे पीछे होनेवाले स्मृतिके निमित्त मरण-त्राससे द्वेष करता है। स्वाभाविक वस्तु निमित्तके आश्रय नहीं होती इस कारण यह चित्त अनादि वासनाओंसे बँधा हुआ निमित्तके वशसे किसी वासनाको लब्ध करके पुरुषके भोग और आयु आदि प्राप्त कराता है।

अर्थात् यद्यपि चित्त अनादि अनेक जन्मोंकी विलक्षण वासनाओंसे अनुविद्ध (युक्त) है तथापि सब वासनाएँ अभिव्यक्त (प्रकट) नहीं होतीं। किंतु जो कर्म फल देनेको उन्मुख हुआ है वही कर्म जिनका व्यञ्जक होता है, वे वासनाएँ उदित होकर पुरुषके भोगमें निमित्त होतीं

हैं, अन्य वासनाएँ दबी रहतीं हैं। यहाँ प्रसङ्गसे भाष्यकार चित्तके परिमाणके सम्बन्धमें अन्योंके तथा योगदर्शनके सूत्रकारके विचार बतलाते हैं —

'घटप्रासाद——युक्त इति' = कई एक दर्शनोंका मत है (जैन-मत है) कि जिस प्रकार दीपकका प्रकाश, दीपकको घटमें रखनेसे संकुचित हो जाता है और महलमें रखनेसे विकसित हो जाता है, इसी प्रकार चित्त (मनुष्य, हाथी, चींटी आदि) जिस शरीरमें जाता है उस परिमाणका आकार-मात्र हो जाता है; इसलिये उसकी (सूक्ष्म शरीरमें रहते हुए) मृत्युके समय 'अन्तराभाव' (अर्थात् पूर्वदेह त्यागकर देहान्तर-प्राप्तिरुप अन्तरा या मध्यावस्थामें चित्तकी एक शरीरसे दूसरे किसी शरीरमें जानेकी अवस्था) परलोकगमन अर्थात् एक स्थूल शरीरका छोड़ना और (उसी सूक्ष्म शरीरमें रहते हुए जन्म लेनेके समय) 'संसार' परलोकसे आगमन अर्थात् दूसरे स्थूल शरीरमें प्रवेश करना 'युक्त' सिद्ध होता है।

'वृत्तिरेव——आचार्यः' = आचार्य अर्थात् योगदर्शनके सूत्रकार श्रीपतञ्जलि महाराजका यह सिद्धान्त है कि इस विभु चित्तकी वृत्ति ही सङ्कोच-विकासवाली है (चित्त सङ्कोच-विकासवाला नहीं है, क्योंकि वह विभु है) "और यह (चित्तका वृत्तिमात्रसे शरीरमात्रमें) सङ्कोच-विकास धर्मादि (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य) निमित्तकी अपेक्षासे होता है। यह निमित्त दो प्रकारके होते हैं — बाह्य और आध्यात्मिक। शरीर (इन्द्रिय, धन आदि) की अपेक्षा रखनेवाले स्तुति, दान, अभिवादन आदि बाह्य निमित्त हैं। यहाँ आदि-शब्दसे निन्दा, दूसरोंकी चीजें हड़पना, दूसरोंकी स्थावर सम्पत्ति पर अतिक्रमण करना आदि अधर्म साधनोंको भी समझ लेना चाहिये। और चित्तमात्रके अधीन अर्थात् चित्तमात्रसे ही होनेवाले श्रद्धा आदि (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, वैराग्य आदि) आध्यात्मिक निमित्त हैं। और ऐसा ही पूर्व आचार्य (पञ्चशिखाचार्य) ने कहा है — यह जो योगियोंके मैत्री आदि तथा श्रद्धा आदि विहार (प्रयत्नसाध्य व्यापार) हैं वे बाह्य साधन (शरीर आदि) की अपेक्षासे रहित हैं और अति प्रकृष्ट (अति उत्तमशुक्ल) धर्मको उत्पन्न करते हैं। इन दोनों (बाह्य और आध्यात्मिक साधनों) में से मानस (आध्यात्मिक) बलवान् है; क्योंकि ज्ञान-वैराग्य जो मानव-धर्म हैं, उनसे अधिक प्रबल कोई बाह्य साधन नहीं है। चित्त-बलके बिना (केवल) शारीरिक-बलसे कौन दण्डक वनको (खरदूषणादि चौदह हजार राक्षसोंका क्षय करके राक्षसोंसे) शून्य करनेका उत्साह (श्रीरामचन्द्रजी के सदृश) कर सकता है (तथा) कौन अगस्त्य मुनिके समान समुद्रको पी सकता है।"

सर्वधर्मान् परित्यज्य मोक्षधर्मं समाश्रयेत्।

सर्वे धर्माः सदोषाः स्युः पुनरावृत्तिकारकाः ॥

इज्याचारदमाहिंसा दानस्वाध्यायकर्मणाम् ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।। (याग्यवल्क्य स्मृति १.१.८)

यज्ञाचार, दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय प्रभृति कर्मोंमें योगके द्वारा आत्मदर्शन ही परमधर्म है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है कि —

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।

बुद्ध्यायुक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।२.३९।।

हे पार्थ ! तुम्हें सांख्य विषयक ज्ञान कहा गया और अब इस (कर्म) योग से सम्बन्धित ज्ञान को सुनो जिस ज्ञान से युक्त होकर तुम कर्मबन्ध का नाश कर सकोगे।

सर्व विज्ञानसम्पन्नः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।

अपश्यत् स च मैत्रेय ! आत्मानं प्रकृतेः परम् ।। २.१३.३७।। (विष्णुपुराणम्)

हे मैत्रेय ! जड़-भरतजी सभी प्रकारके विज्ञानोंसे सम्पन्न थे, समस्त शास्त्रोंके अर्थोंके वेत्ता थे, अपनी आत्माको प्रकृतिसे पृथक् देखते थे।

न पपाठ गुरुप्रोक्तं कृतोपनयनः श्रुतिम् ।

न ददर्श च कर्माणि शास्त्रणि जगृहे न च ।। २.१३.३९।। (विष्णुपुराणम्)

यज्ञोपवीत संस्कार हो जानेपर गुरुके द्वारा पढ़ाये जानेपर भी वेदाध्ययन नहीं करते थे। वे न तो किसी कर्म पर ध्यान देते थे और न शास्त्रोंको पढ़ते थे।

भाष्यका स्पष्टीकरण —

१. तासाम्—-दृश्यते। आशिषके नित्य होनेसे वासनाओंका तथा जन्मोंका प्रवाहसे नित्य होना सिद्ध किया है।

२. सा न स्वाभाविकी——मुपादत्ते।। नास्तिकोंके इस तर्कका कि तत्काल उत्पन्न हुए जन्तुका इष्ट वस्तुओंके देखनेमें हर्ष और अहितकर वस्तुओंके देखनेमें शोक प्रकट करना कमल-पुष्पके खिलने और मुरझानेके सदृश स्वाभाविक है। इसका युक्तिसे खण्डन किया है कि कमलका खिलना और मुरझाना भी स्वाभाविक नहीं, किंतु सूर्यकी किरणोंके निमित्तसे है; क्योंकि स्वाभाविक वस्तुएँ सदा एक-सी रहतीं हैं — जैसे अग्निकी उष्णता। इसी प्रकार तत्काल उत्पन्न हुए बच्चेका हर्ष, शोक स्वाभाविक नहीं किंतु पूर्व जन्मोंमें सुख-दुःखके अनुभवोंकी स्मृति उसका निमित्त है।

३. तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं——इति।। चित्तका अनादि अनेक जन्मोंकी वासनाओंसे चित्रित होना और पुरुषके भोगका सम्पादन कराना सिद्ध किया है। (यह सिद्धान्त सब दर्शनकारोंको अभिमत है) ।

४. घटप्रासाद——युक्त इति।। नैयायिकों तथा वैशेषिकोंका मत दिखलाते हैं, न्याय और वैशेषिकने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके उन सूक्ष्म परमाणुओंको जिनका कोई विभाग न हो सके और मनको अणु (सूक्ष्म) परिमाण माना है। दिशा, काल, आकाश तथा आत्माको विभु (व्यापक) महत् परिमाण माना है। अणु और विभु दोनों नित्य होते हैं। अनेक परमाणुओंसे मिलकर जो पदार्थ बनते हैं वे मध्यम परिमाणवाले होते हैं, जैसे पृथ्वी, जल आदि। ये अनित्य हैं; क्योंकि संयोगका विभाग होना आवश्यक है। यह मध्यम परिमाणवाले पदार्थ वास्तवमें न अणु हैं न विभु। परंतु एक-दूसरेकी अपेक्षासे परस्पर अणु और महत् भी कहलाते हैं, जैसे पृथ्वीकी अपेक्षासे घट अणु है और घटकी अपेक्षासे पृथ्वी महत् परिमाणवाली है। इन दोनों दर्शनोंमें चित्तकी संज्ञा मनकी है जिसमें सब जन्मोंके वासनारूप संस्कार रहते हैं। मन दीपकके तुल्य प्रकाशवाला है। जिस प्रकार एक काँचकी चिमनीमें प्रकाशमान ज्योतिका प्रकाश घटमें रखनेसे उसके परिमाणके अनुसार संकुचित और बड़े मकानमें रखनेसे उसके परिमाणके अनुसार विकसित होता है। इसी प्रकार अणु परिमाण मन संकोच-विकासवाला है, सूक्ष्म शरीररूपी चिमनीमें प्रकाशमान जब वह किसी छोटे चींटी, मच्छर आदिके स्थूल शरीरमें जाता है तो उसका प्रकाश उसके शरीरके परिमाणके अनुसार संकुचित हो जाता है और जब मनुष्य, हाथी, ऊंट आदि जैसे बड़े स्थूल शरीरमें होता है तो उसके परिमाणके अनुसार विकसित हो जाता है।

तदभावादणु मनः। (वैशेषिक-दर्शन- ७,१.२३)

उसके अर्थात् विभुत्वके अभावसे मन अणु है।

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु। (३.२.५९- न्याय-दर्शन)

उक्त हेतु अर्थात् युगपत् ज्ञानके न होनेसे मन अणु है।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि इस न्याय और वैशेषिकमें बतलाये हुए मनकी संज्ञा सांख्य और योगमें अहंकार है।

५. वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः।। इससे भाष्यकारने योगदर्शनके सूत्रकारका सिद्धान्त बतलाया है अर्थात् चित्त धर्मी विभु है, उसमें संकोच विकास नहीं होता, उसके धर्म-वृत्तियोंमें ही संकोच-विकास होता है। वृत्तियोंका लाभ जन्म है और उनके छिप जानेका नाम मृत्यु है। ये वृत्तियाँ नैयायिकोंके गुण नहीं हैं किंतु द्रव्य हैं।

शङ्का — चित्त प्रधान प्रकृतिका कार्य होनेसे विभु अर्थात् महत् परिमाणवाला नहीं हो सकता। और यह सांख्य तथा योग-सिद्धान्तके विरुद्ध भी है।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गं।। (सांख्यसूत्र-१.१२४)

कारणवाला अर्थात् कार्य, अनित्य, अव्यापी, क्रियावाला अनेक आश्रयवाला; ये कार्यके लिङ्ग हैं (जो कारण प्रकृतिको बतलाते हैं)
।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंङ्गम् ।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥ (सांख्यकारिका)

कारणवाला, अनित्य, अव्यापी, क्रियावाला, अनेक आश्रित, चिन्ह, अवयववाला, पराधीन, व्यक्त होता है और इससे उलटा अव्यक्त।

समाधान — उपर्युक्त सांख्यसूत्र तथा कारिकामें प्रकृति और विकृतिके लक्षण बताये हैं। सांख्य और योगने अणुत्व और विभुत्वको न्याय और वैशेषिकके (परमाणु आदिकी अपेक्षासे) पारिभाषिक अर्थमें नहीं प्रयोग किया है, किंतु (गुणोंके परिणामकी अपेक्षासे) अव्यक्त और व्यापी अर्थमें प्रयोग किया है। उन्होंने आठ प्रकृतियाँ, मूलप्रकृति, महतत्त्व, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ और १६ विकृतियाँ, पाँच स्थूलभूत और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ मानी हैं। मूलप्रकृति निरपेक्ष प्रकृति है, अन्य सात प्रकृतियाँ सापेक्ष अर्थात् अपनी प्रकृतियोंकी अपेक्षा विकृति और विकृतियोंकी अपेक्षा प्रकृति हैं। प्रत्येक प्रकृति अपनी विकृतिमें व्यापी होनेसे उसकी अपेक्षा विभु है और उसमें अव्यक्त (सूक्ष्म अप्रकट) रूपसे अनुगत रहनेके कारण उसकी अपेक्षा अणु (सूक्ष्म) है। और विकृतिरूपसे अव्यापी और व्यक्त (प्रकट) होती है। इसी प्रकार (मूल प्रकृतिके अतिरिक्त सातों प्रकृतियोंमेंसे) हरेक प्रकृतिके प्रकृति और विकृति होनेकी अपेक्षासे उपर्युक्त लक्षण जानना चाहिये।

मूल प्रकृति अपने प्रकृति रूपसे अव्यक्त तथा गुणोंके साम्य परिणामवाली होनेसे परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है, केवल उसकी व्यक्त विकृतियोंसे और गुणोंके विषम परिणामोंसे उसकी सत्ता अनुमानगम्य है। गुणोंके साम्य परिणामवाली होनेसे पुरुषके भोग अपवर्ग सम्पादनमें भी निष्प्रयोजन है। भाव यह है कि प्रकृति केवल विकृतिरूपसे ही अपनेको व्यक्त कर सकती है, प्रकृतिरूपसे नहीं। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, स्वयं किसीकी विकृति नहीं है। इसलिये अव्यक्त रूपसे प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है, केवल सत्तामात्र अनुमानगम्य और आगमगम्य है। योगीजन जो विवेक-ख्यातिमें तीनों गुणोंके अलग-अलग परिणामोंको साक्षात् करते हैं, उससे गुणोंके साम्य परिणामकी सत्ताका अनुमान करते हैं। अर्थात् महतत्त्वके साक्षात्कारसे मूलप्रकृति अनुमेय है। और यदि उस साक्षात्कारको मूल प्रकृति ही मान लिया जाय तो वह व्यक्त होनेसे किसी और अव्यक्त प्रकृतिकी अपेक्षावाली होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आ

जायगा। इसलिये चित्त यद्यपि प्रधान प्रकृतिकी अपेक्षा अव्यापी लिङ्ग और विषम परिणामवाला है, तथापि अन्य सब विकृतियोंकी प्रकृति होनेसे सारी सृष्टिकी अपेक्षा व्यापी अर्थात् विभु है। इसलिये इसकी संज्ञा महतत्त्व अर्थात् विभु परिणामवाला तत्त्व की गयी है।

चित्तमें 'अहम्' भाव पैदा करके भिन्नता करनेवाली महतत्त्वकी विकृति अहंकार है। सांख्य तथा योगकी परिभाषामें प्रकृति उपादान कारण और धर्मी तथा विकृति कार्य, धर्म, परिणाम और वृत्ति एकार्थक शब्द हैं। इसलिये वृत्ति शब्द चित्तके धर्म अहंकारके लिये प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् विभु चित्तका संकोच-विकास उसके धर्म अहंकाररूपसे होता है। इसी कारण सांख्यने अहंकारमें ही कर्तापन बतलाया है। यथा 'अहंकारः कर्ता न पुरुषः' इस सम्बन्धमें अगले सूत्रोंमें विशेष व्याख्या की जायगी।

शङ्का — मन न अणु है न विभु है, किंतु मध्यम परिणामवाला है। जैसे —

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा वास्यादिवच्चक्षुरादिवच्च । (सांख्यसूत्र-५.६९) सक्रियत्वात् गतिश्रुतेः। (सांख्यसूत्र-५.७०)

मनकी व्यापकता नहीं है करण होनेसे, इन्द्रिय होनेसे, क्रियावाला होनेसे और (परलोकमें) गति सुननेसे इससे मनके विभु होनेका खण्डन है।

न निर्भागत्वं तद्योगात् घटवत्। (सांख्यसूत्र-५.७१)

वह निरवयव भी नहीं है, क्योंकि उसका घटके समान योग है। इससे अणु होनेका खण्डन किया है।

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥२.१.३॥ मुण्डकोपनिषद्"

इसी 'परमात्म-तत्त्व' से प्राण, मन तथा समस्त इन्द्रियों का जन्म होता है; तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा सभी को धारण करने वाली पृथ्वी का भी जन्म होता है। इससे चित्तका मध्यम परिमाण होना सिद्ध है।

समाधान — सांख्यने आठ प्रकृतियाँ और १६ विकृतियाँ मानी हैं जैसा ऊपर बतला आये हैं। यहाँ 'मन' शब्दका 'महतत्त्व' प्रकृतिके लिये नहीं प्रयोग हुआ किंतु सोलह विकृतियोंमें जो ग्यारह इन्द्रियाँ हैं, उस मन इन्द्रियके लिये (५-६९. ७०. ७१. सांख्यदर्शन) प्रयोग हुआ है। वह केवल विकृति होनेसे न विभु है, न अणु है; किंतु मध्यम परिमाणवाला है और (मुण्डकोपनिषद् २.१.३) में पुरुषके शुद्ध स्वरूप अर्थात् परब्रह्मको अक्षर, अव्यक्त, प्रकृतिसे परे तथा सब कार्य-जगत् का निमित्त कारण बतलाया है। प्राण, मन, इन्द्रियादिमें परस्पर भिन्नता अथवा उपादान कार्य-भाव नहीं बतलाया गया है।

श्रुतिमें मनको चित्त अर्थमें विभु ही बतलाया है। जैसे —

अनन्तं वै मनः। ॥ बृहदारण्यकोपनिषद ३,१.९ ॥

चित्त अनन्त (विभु) है।

सारांश — 'वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनी' का थोड़े-से शब्दोंमें इस प्रकार स्पष्टीकरण समझ लेना चाहिये कि वृत्ति, परिणाम, धर्म और विकृति तथा प्रकृति, उपादान कारण और धर्मी एकार्थक शब्द हैं। प्रकृति अपनी विकृति की अपेक्षा विभु अर्थात् व्यापक होती है। इसलिये पाँचों तन्मात्राएँ तथा ११ इन्द्रियाँ विभु अहंकारकी वृत्तिरूप हैं और अहंकार भी विभु चित्तका वृत्तिरूप ही है।

"अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं गतम्।

अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्।। ३.२९८.१७ ।। (महाभारतम्)"

जैसे घटान्तर्वर्ती आकाश घटाभिमानी होनेसे यत्र-तत्र गति करता है, आकाश अपने स्वरूपसे कहीं नहीं जाता-आता, वैसे ही हृदयकी उपाधिसे अहंकारको अङ्गुष्ठ-मात्र पुरुष कहा गया है।

ब्रह्मसूत्रमें भी इस विषयका निर्णय किया गया है —

शब्दादेव प्रमितः।।१.३.२४।। (ब्रह्मसूत्र)

वहाँपर कहे हुए शब्दसे ही यह सिद्ध होता है कि अङ्गुष्ठ-मात्र परिमाणवाला पुरुष परमात्मा ही है। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति इति श्रूयते तथा अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्। इत्यादि श्रुतियोंके आधार पर।

"अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥२.१.१२॥ (कठोपनिषद्)"

हमारी आत्मसत्ता के अन्तर् में प्रतिष्ठित 'पुरुष' अङ्गुष्ठमात्र है। वही भूत और भविष्य का ईश्वर है; उसका साक्षात्कार हो जाने से व्यक्ति किसी से सकुचाता नहीं, न ही उसे किसी के प्रति जुगुप्सा होती है। यही है 'वह' जिसकी तुम्हें अभीप्सा है।

अन्तःस्थ 'पुरुष' अङ्गुष्ठमात्र ही है; 'वह' धूमरहित प्रज्ज्वलित अग्नि के सदृश है। 'वही' 'अपने' भूत और 'अपने' भविष्य का ईश्वर है। आज भी केवल 'वह' है, कल भी केवल 'वह ' होगा। यही है 'वह' जिसकी तुम्हें अभीप्सा है।

"चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।

द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने ॥ ४.५८॥ (महोपनिषत्)"

चित्ताकाश, चिदाकाश एवं (भौतिक) आकाश—ये ही तीन आकाश कहे गये हैं। हे मुने! इन तीनों में से चिदाकाश अति सूक्ष्म बतलाया गया है । हे मुनिश्रेष्ठ ! एक देश (विषय) से दूसरे देश (विषय) में गमन करते समय निमेष भर का (वृत्तिशून्य) मध्यकाल आता है, वही चिदाकाश है— ऐसा जानना चाहिए। यदि तुम उस अतिश्रेष्ठ चिदाकाश में सभी संकल्पों को छोड़कर प्रतिष्ठित होते हो, तो निश्चय ही सर्वात्मक शान्त पद को प्राप्त करोगे । चिदाकाश की स्थिति तक पहुँच जाने के बाद जिस सुन्दर, उदार एवं वैराग्यरस से ओत-प्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही सहज समाधि कहा जाता है। जब यह बोध हो जाता है कि दृश्य पदार्थों की सत्ता है ही नहीं और राग-द्वेष आदि समस्त दोषों की समाप्ति हो जाती है; तब उस समय अभ्यास बल के द्वारा जो एकाग्र-रति (आनन्द) प्रादुर्भूत होती है, उसे ही समाधि कहा जाता है । दृश्य जगत् की सत्ता का अभाव जब अन्त:करण में बोधरूप में आता है, तभी वह संशयरहित ज्ञान का स्वरुप कहलाता है। वह ही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही आत्म कैवल्य रुप है, इसके सिवाय अन्य सभी कुछ असत्य है।

"कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।

कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥४१॥ (शुकरहस्योपनिषद्)"

यह जीव कार्यरुप उपाधि वाला और ईश्वर कारण रुप उपाधि वाला है। इन कार्य और कारण रुप उपाधियों को छोड़ देने पर विशुद्ध ज्ञान रुप ब्रह्म ही शेष रहता है।

सङ्गति — जब वासनाएँ अनादि हैं तो उनका अभाव भी नहीं हो सकता और उनके अभाव न होनेसे मुक्ति असम्भव है। अर्थात् इन अनादि वासनाओंका उच्छेद कैसे हो इसका उत्तर देते हैं —

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ४.११॥

हेतु-फल-आश्रय-आलम्बनै: = हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे (वासनाओंका); संगृहीतत्वात् = संगृहीत होनेसे; एषाम् = इनके (हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके); अभावे= अभावमें; तद्-अभाव: = उनका (वासनाओंका) अभाव होता है।

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे वासनाओंके संगृहीत होनेसे इनके (हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके) अभावसे उन (वासनाओं) का अभाव होता है।

"हेतुफलाश्रयालम्बैस्सङ्गृहीतास्तु वासनाः।

हेत्वादीनामभावे ताः विनाशं यान्ति सर्वथा ॥ १९१ ॥ योगसूत्रसारः"

हेतु, फल, आश्रय व आलम्बन से ही वासनाओं का संग्रह होता है। अतः इन उपर्युक्त चार कारणोंका अभाव होनेसे सभी वासनाओंका भी सर्वथा विनाश हो जाता है।

वासना न केवलं व्यवधानरहिता अपि चादिशून्याः। वासनस्ताः हेत्वादीनालम्ब्य प्रवर्तन्ते। तत्र हेतुः साक्षात्परम्परया वा- अविद्या, फलं शरीरादि स्मृत्यादि च, आश्रयश्चित्तं, आलम्बनं यदेवालम्बनमनुभवस्य तदेव वासनानामपीति ज्ञेयम्। एषामभावे वासनानामप्यभावः।

वासनाएँ केवल व्यवधानसे ही रहित नहीं होतीं अपितु अनादि भी हैं। वे वासनाएँ हेतु आदि चार कारणोंको आलम्बन बनाकर प्रवृत्त होतीं हैं। उनमें-से हेतु साक्षात् अथवा परम्परा से अविद्यादि हैं, और वासनाओंका फल जाति, आयु और भोग जैसे कि शरीरादि तथा स्मृत्यादि ये फल हैं, और उन वासनाओंका आश्रय चित्त है, और आलम्बन अर्थात् इन्द्रियोंके विषय, जो अनुभवका आलम्बन है वही उस वासनाका भी आलम्बन जानना चाहिये। इन चारोंके अभावमें वासनाओंका भी अभाव हो जाता है।

"वासनाश्च निवर्तेरन् कथं द्रव्यत्त्वसम्भवे।

इत्येवं वासनानाशे संदिह्यात्पुरुषः क्वचित् ॥ १९२ ॥ योगसूत्रसारः"

वैशेषिक-दर्शनके अनुसार वासनाएँ द्रव्य-रुप हैं क्योंकि वे मनके अन्तर्गत हैं। और द्रव्य परमाणु-रुपसे नित्य होते हैं तो संदेह होता है कि पुरुषकी वासनाओंका नाश कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर अगले सूत्रकी व्याख्यामें दिया जायगा।

"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।। (१.१.५ वैशेषिक दर्शन)"

अर्थ — पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल दिशा, आत्मा, और मन ये नौ द्रव्य है। वैशेषिक दर्शनके अनुसार।

व्याख्या — १. वासनाओंका हेतु-अविद्या आदि क्लेश, शुक्ल, कृष्ण तथा दोनों मिश्रित सकाम कर्म हैं।

२. वासनाओंका फल — जाति, आयु और भोग हैं।

३. वासनाओंका आश्रय — अधिकारसहित चित्त है।

४. वासनाओंका आलम्बन — इन्द्रियोंके विषय हैं।

यद्यपि वासनाएँ अनादि हैं और अनन्त हैं तथापि वे सब इन्हीं हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके सहारे रहतीं हैं। इनकी स्थितिमें ही वासनाओंकी उत्पत्ति होती है और अभावमें नाश। विवेक-ख्यातिद्वारा तत्त्वज्ञानसे अविद्या आदि क्लेशोंका उनके फल, आश्रय और आलम्बनसहित अभाव हो जाता है, उनके नाश होनेपर वासनाओंका भी अभाव हो जाता है।

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.११ ॥

हेतु आदिके उदाहरण ये हैं। यथा — धर्मसे सुख, अधर्मसे दुःख, सुखमें राग और दुःखमें द्वेष होता है। इन राग और द्वेषसे प्रयत्न होता है। उस प्रयत्नसे, मन, वाणी और शरीरसे चेष्टा करता हुआ किसीपर अनुग्रह करता है और किसीकी हानि। ऐसा करनेसे फिर धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार यह छः अरोंवाला संसार-चक्र चलता है। इस प्रतिक्षण घूमते हुए चक्रको चलानेवाली अविद्या है। वही सब क्लेशोंका मूल होनेसे अनन्त-अनादि वासनाओंका हेतु (कारण) है। जिसके आश्रय होकर जो उत्पन्न होता है वह उसका फल है तथा धर्म-अधर्मके सुख-दुःख भोग फल हैं। अधिकारसंयुक्त चित्त वासनाओंका आश्रय है, क्योंकि जिस चित्तकी फलभोगरुप सामर्थ्य समाप्त हो गयी है उसमें ये वासनाएँ निराश्रय होकर नहीं ठहर सकतीं। जिसके सम्मुख होनेसे जो वासना प्रकट होती है वही उसका आलम्बन है (वे रुप, रस आदि इन्द्रियके विषय हैं) । इस प्रकार सब वासनाएँ हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे संगृहीत हैं (इसलिये यद्यपि ये वासनाएँ अनादि और अनन्त हैं तथापि) इन हेतु आदि चारोंके अभाव होनेपर उनके आश्रय रहनेवाली वासनाओंका अभाव हो जाता है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.११ ॥

उन वासनाओंके अनन्त होनेसे उनका नाश कैसे होता है ? इस आशङ्काको करके उन वासनाओंके नाशका उपाय कहते हैं —

वासनाओंका समीपवर्ती (वर्तमान) ज्ञान कारण है। उस सुखदुःखादिके ज्ञानके राग-द्वेषादि कारण हैं। उन राग-द्वेषादिकोंका कारण अविद्या है। इस प्रकार वासनाओंका कारण साक्षात् अथवा परम्परासे अविद्या है। वासनाओंके फल शरीरादि और स्मृत्यादि हैं। वासनाओंका स्थान चित्त है। जो ज्ञानका विषय है, वही वासनाओं (संस्कारों) का विषय है। इससे उन हेत्वादिकोंसे अनेक वासनाओंका भी संग्रह व्यापन हो रहा है अर्थात् अनेक वासनाएँ व्याप्त हैं। जब वासनाओंके हेत्वादिकोंका नाश हो जाय अर्थात् ज्ञान और योगसे उन हेत्वादिकोंको जले हुए बीजके बराबर कर दिया जाय तो जड़के न रहनेसे वासनाएँ नहीं उगतीं अर्थात् शरीरादिको नहीं आरम्भ करतीं। इस प्रकार अनन्त वासनाओंका नाश हो जाता है।

मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं मानसेन मनसा साधु पश्यति ऋषयः प्रजा असृजन्त मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ॥ ७९.१२॥ (महानारायणोपनिषत्)

मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य-ज्ञान होता है, और उस में जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं, उन से परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी-अपनी सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इससे मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है, ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं। इस से मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं।

“श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।४.३३।। श्रीमद्भगवद्गीता”

हे परन्तप ! द्रव्यों से सम्पन्न होने वाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। हे पार्थ ! सम्पूर्ण अखिल कर्म ज्ञान में समाप्त होते हैं, अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है।

सङ्गति — अभावका कभी भाव नहीं होता और भावका कभी अभाव (नाश) नहीं होता। इस कारण वासनाओंका और उनके हेतु, अविद्या आदि क्लेशोंका जो भावरूप हैं अभाव कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं —

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ ४.१२॥

अतीत-अनागतम् = भूत और भविष्यत् ; स्वरुपतः-अस्ति = स्वरूपसे रहते हैं क्योंकि ; अध्व-भेदात् = कालसे भेद होता है; धर्माणाम् = धर्मोंका।

धर्म अतीत और अनागत (भूत और भविष्यत्) स्वरूपसे रहते हैं, क्योंकि धर्मोंका कालसे भेद होता है।

"अतीतानगताः धर्माश्चित्तं धर्मि स्वरूपतः।

धर्माणामेव भेदोऽयं धर्मि भेदविवर्जितम् ॥ १९३ ॥ योगसूत्रसारः"

धर्म अतीत और अनागत-रूपसे रहते हैं और चित्त धर्मी-स्वरूपसे रहता है। अतीत और अनागत-रूपसे धर्मोंमें भेद होता है और धर्मी-चित्त भेदोंसे रहित होता है। पदार्थों के धर्मों में भेद होने से जिन पदार्थों का काल बीत चुका है और जिन पदार्थो का अभी समय नहीं आया है वे सभी पदार्थ स्वरुप से अस्तित्व में होते ही हैं। जैसे घटके होने या न होनेसे मिट्टीमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

व्याख्या — वासनाएँ और उनके हेतु आदिका अभाव कहनेसे यह अभिप्राय नहीं है कि उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है। अभिप्राय यह है कि वे वर्तमान अवस्थाको छोड़कर भूत अवस्थामें चले जाते हैं। जितने धर्म हैं वे सदा धर्मीमें बने रहते हैं। जबतक भविष्यत् अवस्थामें रहते हैं तबतक वे अपना कार्य प्रकट नहीं करते हैं। केवल वर्तमान अवस्थामें अपना कार्य दिखाते हैं। फिर जब वे अपना कार्य बंद कर देते हैं तो वर्तमान अवस्थासे भूत अवस्थामें चले जाते हैं। इसका (एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ ३.१३॥) विस्तारपूर्वक वर्णन विभूतिपादके ३.१३वें सूत्रकी व्याख्या में कर दिया है।

नैयायिकों तथा वैशेषिकोंने अभावको भी एक अलग पदार्थ निरुपण करके पाँच प्रकारका माना है।

१. प्रागभाव — उत्पत्तिसे पहले अभाव, जैसे घटकी उत्पत्तिसे पहले घटका अभाव होता है।

२. प्रध्वंसाभाव — वर्तमान वस्तुका अभाव, जैसे घटका मुद्गर आदिके प्रहारसे टूट जाना।

३. अन्योन्याभाव — एक-दूसरेमें भेदरूप अभाव — जैसे घटका वस्त्रमें अभाव और वस्त्रका घटमें अभाव है।

४. अत्यन्ताभाव — जो न उत्पन्न हुआ हो और न उत्पन्न हो सके, जैसे बन्ध्याका पुत्र।

५. सामयिकाभाव — जो समय-समयपर उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त हो। जैसे घटके एक स्थानसे दूसरे स्थानपर चले जानेसे उसका अभाव।

वेदान्त, योग और सांख्यका सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। इसका यह अर्थ है कि कोई भी कार्य पैदा नहीं होता है किन्तु कार्यकी अभिव्यक्ति होती है। कारणमें कार्य पहलेसे ही विद्यमान होता है। केवल संस्थानादि विशेषसे उसका आविर्भाव होता है। जैसे कि गीतामें बतलाया गया है —

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

असत् वस्तु का 'भाव' उत्पत्ति नहीं होती और सत् वस्तुका 'अभाव' नाश नहीं होता अर्थात् कार्य सत् है, अपनी सत्ता रखता है, उसका न कभी अभाव था न आगे होगा। कार्य-कारण और धर्म-धर्मी पर्यायवाचक हैं, कार्य (धर्म) सदा अपने कारण (धर्मी) में सत्-भावसे अपने स्वरूपसे बना रहता है। भेद केवल इतना ही है कि वर्तमानकालमें व्यक्त, स्थूल प्रकटरुपसे और भविष्यत् तथा भूतकालमें अव्यक्त (सूक्ष्म — अप्रकट) रूपसे रहता है। जिसकी अभिव्यक्ति आगे होनेवाली है वह अनागत (भविष्य), जिसकी अभिव्यक्ति पीछे हो चुकी वह अतीत (भूत) और जो व्यापारमें उपारूढ़ हुआ अभिव्यक्त हो रहा है वह उदित (वर्तमान) रूपसे रहता है। इसी कारण योगीको त्रैकालिक पदार्थ-विषयक योगज ज्ञान हो सकता है।

आविर्भूतप्रकाशानां अनुपप्लुतचेतसाम् ।

अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ।। १.३७ ।। (वाक्यपदीयम्)

जिनके प्रकाशके आवरणका क्षय हो गया है तथा जिनका चित्त उपद्रवोंसे रहित है उनके लिये भूत और भविष्यका ज्ञान प्रत्यक्षके समान ही होता है।

इसलिये उपर्युक्त पाँचों अभावोंमेंसे तीसरे (३) 'अन्योन्याभाव' में वस्त्रमें घटका पहलेसे अभाव था। उस अभावसे ही अभाव घटकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार चौथे (४) 'अत्यन्त अभाव' में बन्ध्याके पुत्रका पहलेसे अभाव था उस अभावसे ही अभावकी उत्पत्ति होती है। पाँचवें (५) 'सामयिक अभाव' में घटके एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जानेमें उसका नाश नहीं होता है; क्योंकि वह दूसरे स्थानपर अपने स्वरूपसे विद्यमान है इसलिये भावसे अभाव नहीं होता। (१) 'प्रागभाव' उत्पत्तिसे पूर्व अनागत कालमें घट अपने कारण (धर्मी) मिट्टीमें अव्यक्त (सूक्ष्म) रूपसे विद्यमान था, इसलिये अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हुई। (२) 'प्रध्वंसाभाव' में घटके टूटनेसे वह अपने वर्तमान मार्गको छोड़कर अपने कारण (धर्मी) मिट्टीमें अव्यक्त (सूक्ष्म) रूपसे छिप गया, इसलिये भावसे अभाव नहीं हुआ। इसी प्रकार वासनाओंका नाश नहीं होता; किंतु वे भूतावस्थामें (अव्यक्त) हो जातीं हैं अर्थात् छिप जातीं हैं। और अपना कार्य जन्म, आयु और भोग आगेके लिये बंद कर देतीं हैं।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.१२ ॥

शङ्का यह है कि चित्तमें रहनेवाली वासनाएँ और वासनाओंके स्मृत्यादिरुप फल कार्य-कारण भावसे एक कालमें नहीं होते, इससे वासनाओंका और उनके फलोंका भेद है, तो कैसे माना जाय कि चित्तरूपी धर्मी, अपने धर्मोंके साथ एकरूप है ? इस शंकाका उत्तर देते हुए धर्म-धर्मीकी एकरूपताका प्रतिपादन करते हैं —

इस दर्शनमें सर्वथा न रहनेवाली वस्तुओंकी उत्पत्ति युक्तियुक्त नहीं समझी जाती, क्योंकि सत् और असत् पदार्थोंका मेल हो ही नहीं सकता। शश-श्रृंगादि (खरगोशके सींग आदि) जो सर्वथा असत् हैं, उनका किसी सद्वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं देखा गया है। यदि कार्यको निरुपाख्य (असत्, तुच्छ) माना जाय तो किसको उद्देश्य करके कारण प्रवृत्त होते हैं, जो वस्तु नहीं है उसको समझकर कोई भी प्रवृत्त नहीं होता। सद्वस्तुओंका असद्वस्तुओंके साथ विरोध है। इसलिये सत् और असत् का कोई सम्बन्ध नहीं और जो वस्तु अपने स्वरुप अनागतादि को लाभ किये हुए है, वह क्योंकर निरुपाख्य और अभावरुप हो सकती है। स्वरुपको प्राप्त हुई वस्तु अपने विरुद्ध रूपको नहीं ग्रहण करती, इससे जो चीज है उसका नाश नहीं हो सकता और जो चीज नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तो उन-उन धर्मसे बदलनेवाला (धर्मी) चित्तादि सदा एकरूप ही रहता है। उसमें तीनों कालोंमें रहनेवाले धर्म अधिक रूपसे रहते हैं। वे धर्म अपने कालमें स्थित हुए स्वरुपको नहीं छोड़ते और जब केवल वर्तमान कालमें रहते हैं तो भोगके योग्य बन जाते हैं। इससे धर्मोंका ही भूत, भविष्यत्

आदि रूपसे काल (मार्ग) भेद है। उस रूपसे ही कार्य-कारण भाव इस दर्शनमें माना जाता है, इससे मोक्षपर्यन्त एक ही चित्त धर्मी रूपसे बना रहता है जिसको मोक्षतक अलग नहीं कर सकते।

यही बात ब्रह्मसूत्रके इस सूत्र द्वारा स्पष्ट होती है —

'असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' (ब्रह्मसूत्र २।१।१७)

असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।तदात्मानं स्वयमकुरुत।तस्मात् तत्सुकृतमुच्यत इति — इस तैत्तिरीय श्रुतिके आधार पर इस सूत्रकी रचना की गयी है।

आरम्भ में यह सम्पूर्ण विश्व 'असत्' (अस्तित्वहीन) एवं 'अव्यक्त' था, इसी में से इस 'व्यक्त सत्ता' का प्रादुर्भाव हुआ। उसने अपना सृजन 'स्वयं' ही किया; अन्य किसी ने उसको नहीं सृजा। इसी कारण इसके सम्बन्ध में कहा जाता है यह 'सुकृत' अर्थात् बहुत सुचारु एवं सुन्दर रूप से रचा गया है।

सांख्य दर्शन का सिद्धान्त है कि कार्य कारण रुप में पहले से ही विद्यमान रहता है। जैसे- गन्ने में रस, दूध में घी, तिलमें तेल पहले से ही मौजूद होते हैं। इसे सत्कार्यवाद का सिद्धान्त कहा जाता है।

कुशल योगी अनागतका साक्षात्कार करके वर्तमानमें उसके क्रियान्वयनमें सहायता करनेके लिये प्रयत्न करता है। जैसे कि अर्जुन कालात्मक कृष्णके शरीरमें भीष्मादि को प्रवेश करते हुए देखकर भावि युद्धमें प्रवृत्त हुआ।

अथवा जैसे कुशल कारीगर पत्थरमें पहलेसे ही रही हुई प्रतिमाको देखकर अभिव्यक्ति-मात्र देता है।

"तथा सर्गश्चितो रूपादभिन्नोऽपि वपुर्मयः।

सुषुप्तावस्थया चक्रपद्मलेखाः शिलोदरे ।। ६.४६.२३।। योगवासिष्ठः"

यह औपचारिक रचना ईश्वर की निराकार बुद्धि से उतनी ही अविभाज्य है, जितनी पत्थर में खुदी हुई कमल के फूलों के गोलाकार रूप, निराकार पत्थर के महान शरीर से अलग नहीं हैं।

"यथा स्थिताश्चितेरन्तस्तथेयं जगदावली ।

शिलान्तः पद्मलेखाली मरिचान्तश्चमत्कृतिः ॥ ६.४६.२४ ॥ योगवासिष्ठः"

संसार की ये अंतहीन जंजीरें, सभी देवता की (परमचिति की) असीम बुद्धि में जुड़ी हुई हैं; जिस प्रकार कमल के गुच्छों को एक साथ पत्थर में तराशा जाता है; और बहुत सारे बीज के रुप में, एक लंबी मिर्चके अंदर एक साथ सेट होते हैं।

"नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।

कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥ ११.२२.४३ ॥" (श्रीमद्भागवतपुराणम्)

'यद्यपि प्रतिक्षण ही शरीरों की उत्पत्ति और नाश होता रहता है, तथापि काल की गति अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण उनका प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होना दिखाई नहीं देता। भावान्तर ही अभाव है। वासनाके अभावका अर्थ है उसका अव्यक्त भावमें स्थित हो जाना।'

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥६.१.४॥ (छान्दोग्योपनिषद्)"

हे श्वेतकेतु! यदि हम मूल धातु मिट्टीको जान लें तो मिट्टीसे बना हुआ सबकुछ जाना जाता है। उनके अलग-अलग नाम-रूप तो मिट्टीके ही विकार (परिणाम-मात्र) हैं। जिस प्रकार (एक ही मिट्टी के बने) भिन्न-भिन्न पात्रों को देखकर, उनके अलग-अलग नाम, रङ्ग और रूपोंको देखकर उनके मिट्टी द्वारा बने होने का आभास नहीं किया जा सकता है किन्तु वास्तव में वे मिट्टी के बने होते हैं। अर्थात् पात्रों में मृत्तिकात्व है यही सत्य है। मिट्टीमें कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल नाम-रूप बदलते हैं। वैसे ही काल और कर्म-चक्रके प्रभावसे मनरूपी दर्पणमें दृश्य बदलते हैं, न तो दर्पण बदलता है न द्रष्टा-चेतन।

प्रकृति अपने कार्योंकी अपेक्षासे ही सद्रूपा प्रतीत होती है, स्वरूपसे नहीं। जैसे शुक्तिमें चाँदी दृश्य होनेसे तथा जड़ होनेसे। जैसे जलमें फेन, तरङ्ग, बुलबुले आदि विवर्त अवस्था-भेदसे होते हैं, जलमें स्वरूपसे कोई परिवर्तन नहीं होता वैसे ही सत्य भी निरपेक्ष तथा त्रिकालाबाधित होता है।

सङ्गति — धर्मोंका स्वरूप बताते हैं — अर्थात् धर्मों और धर्मी का स्वरूप बताते हैं — अर्थात् कार्योंका मूलकारण बताते हैं —

ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मानः ॥ ४.१३ ॥

ते = वे (धर्म), व्यक्तसूक्ष्माः = प्रकट और सूक्ष्म; गुणात्मानः = गुणस्वरुप हैं।

वे धर्म प्रकट और सूक्ष्म गुणस्वरुप हैं।

“त्र्यध्वानो खल्वमी धर्मा व्यक्तसूक्ष्माश्च तत्त्वतः ।

गुणानां तन्निवेशात्ते गुणात्मानो भवन्ति च ॥ १९४ ॥योगसूत्रसारः”

तीनों कालों में विद्यमान रहने वाले सभी पदार्थ व्यक्त या प्रकट एवं सूक्ष्म रुप से (अप्रत्यक्ष रुपसे) अस्तित्व में रहते हैं।

“व्यक्तास्तु वर्तमानास्ते धर्मा, भूतेन्द्रियेषु च।

अतीतानागतास्सूक्ष्माः धर्मा भूतादिगोचराः ॥ १९५ ॥ योगसूत्रसारः”

जो वर्तमान धर्म हैं वे प्रकट कहलाते हैं, अतीत और अनागत धर्म जो पञ्चभूत और इन्द्रियोंमें रहते हैं वे सूक्ष्म अर्थात् अप्रकट कहलाते हैं। जो धारण करे उसे धर्म कहते हैं।

व्याख्या — सब धर्म तीनों मार्गोंवाले हैं। वर्तमान मार्गमें व्यक्त (स्थूल) अर्थात् प्रकट होनेवाले होते हैं, और अतीत तथा अनागत मार्गमें अव्यक्त = सूक्ष्म अर्थात् छिपे रहते हैं। ये सारे धर्म महत्तत्त्वसे लेकर स्थूलभूतों-पर्यन्त तीनों गुणोंके ही परिणामविशेष हैं। वास्तवमें देखा जाय तो सब पदार्थ महत्तत्त्वसे लेकर भूत-भौतिकतक गुणोंका संनिवेश-विशेष (तरकीब) मात्र होनेसे गुणस्वरुप ही हैं। अर्थात् पृथ्वी आदि पाँचों स्थूलभूत पञ्चतन्मात्रा-स्वरुप हैं। पञ्चतन्मात्रा तथा एकादश इन्द्रियाँ अहंकार-स्वरुप हैं। अहंकार महत्तत्त्व स्वरुप है। महत्तत्त्व प्रधान (मूलप्रकृति) स्वरुप है और “प्रधान” गुण-त्रय-स्वरुप है। इस प्रकार परम्परासे यह सारा प्रपञ्च गुण-त्रय-स्वरुप ही है। यद्यपि गुणोंका असली स्वरुप हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा कि भगवान् वार्षगण्य का वचन है —

गुणानां परमं रुपं न दृष्टिपथमृच्छति।

यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्।इति।। ‘षष्ठितंत्र’

गुणोंका असली रुप दिखायी नहीं देता और जो दृष्टिगोचर होता है वह माया-सा है और विनाशी है।

अर्थात् कारणरूप गुण देखनेमें नहीं आते हैं और जो दीखते हैं, वे माया अथवा व्यामोहक इन्द्रजालकी तरह तुच्छ हैं। लौकिक मायाके समान क्षण-भङ्गुर, अतः "सुतुच्छकम्" अत्यन्त-तुच्छ कहा अर्थात् अल्प-सार अथवा स्थिरांशके अभाव होने से, माया जैसा कहा है। मायाके तीनों सत्त्वादि गुण परिणामी होनेसे कूटस्थ-नित्य (आत्मा की) अपेक्षा से तुच्छ हैं और गुणों के कार्य तो दृश्यमान होनेसे गुणोंकी अपेक्षा भी तुच्छ हैं जो भी वस्तु पैदा होती है, वह मरती है- 'फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना। 'यद् जन्यं तद् अनित्यम्, यत्कृतकं तद् अनित्यम्, 'यद् दृष्टं तन्नष्टम्' इसके अनुसार सर्वदृश्य जगत् नश्वर है। अतः सुतुच्छ कहा है। भाव यह है कि यह सब कार्य गुणत्रयात्मक रुप अपने कारण प्रधान स्वरुप ही है। अस्ति, भाति और प्रिय-रुप अधिष्ठान ही वास्तविक सत्य है नाम-रुपात्मक प्रपञ्च मायारुप होनेसे क्षणभङ्गुर है।

वैश्वरूप्यात् प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः।।५३.१२०।। (वायुपुराणम्-पूर्वार्धम्)

अविद्या आदि क्लेश और वासनाओं से अनुगत वैचित्र्यसे यह विश्वरुपात्मिका प्रकृति का एक अदभुत विपरिणाम है। इस ज्योतिर्मण्डल का ठीक-ठीक वर्णन कोई भी मनुष्य चर्मचक्षु से देखकर नहीं कर सकता है इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्र और अनुमान का आश्रय लेते हैं।

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं च महेश्वरम्।

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥४.१०॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्)"

माया को प्रकृति की शक्ति जानो तथा माया के अधीश्वर को 'महेश्वर' समझो; 'उसी' (महेश्वर) के अवयव रुप सम्भूतियों से यह समस्त जगत् व्याप्त है।

मार्कण्डेयपुराणमें कहा है कि —

"त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया ।

संमोहितं देवि समस्तमेतत् त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥९१.४॥"

भावार्थ — तुम अनन्त बलसम्पन्न वैष्णवी शक्ति हो । इस विश्व की कारणभूता परा माया हो । देवि ! तुमने इस समस्त जगत को मोहित कर रखा है। तुम्हीं प्रसन्न होने पर इस पृथ्वी पर मोक्ष की प्राप्ति कराती हो।

"प्रकृत्या सर्वमेवेदं जगदन्धीकृतं विभो।

रजसा तमसा चैव व्याप्तं सर्वमनेकधा।।१२.३०९.३५।। (महाभारतम्)"

प्रभो ! प्रकृतिने इस सम्पूर्ण जगत् को अन्धा बना रखा है। उसीके संयोगसे समस्त पदार्थ अनेक प्रकारसे रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त हो रहे हैं।

"एतद्धि क्षरमित्युक्तं क्षरतीदं यथा जगत्।

जगन्मोहात्मकं प्राहुरव्यक्तं व्यक्तसंज्ञकम्।।१२.३०८.३६।। महाभारतम्"

इससे भिन्न जो तत्त्व है, उसे अक्षर कहा गया है। इस प्रकार उस अव्यक्त अक्षरसे उत्पन्न हुआ यह व्यक्तसंज्ञक मोहात्मक जगत् क्षरित होनेके कारण क्षर नाम धारण करता है।

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।७.१४।। (श्रीमद्भगवद्गीता)"

यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है। अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है। परन्तु जो मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं।

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।१४.३।। (श्रीमद्भगवद्गीता)"

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन ! मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्ति-स्थान है और मैं उसमें जीवरूप गर्भका स्थापन करता हूँ। उससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है।

"एतेषामेव पाशानां माया कारणमुच्यते ।

मूलप्रकृतिरव्यक्ता सा शक्तिर्मयि तिष्ठति ॥ ७.३०॥कूर्मपुराणम्-उत्तरभागः"

इन अविद्या आदि पाशोंका कारण माया है और वह अव्यक्त नामवाली मूलप्रकृति मुझमें ही प्रतिष्ठित है।

" शिविकादारुसङ्घातो रचनास्थितिसंस्थितः ।

अन्विष्यतां नृपश्रेष्ट तद्भेदे शिविका त्वया ।। ३८०.२८ ।।" (अग्निपुराणम्)

रचना की कला विशेष से निर्मित यह पालखी लकड़ियों का समुदाय मात्र है। तुम इसकी लकड़ियों को अलग-अलग करके उनमें से पालखी ढूढ़ निकालो तो। ऐसे ही अपने देहको तथा संसारमें बनी हुई समस्त वस्तुओंको जैसे कार, ट्रेन, प्लेन, घर, पुल आदि को समझो।

"एवं छत्रं शलाकाभ्यः पृथग्भावो विमृश्यताम् ।।

क्व जातं छत्रमित्येष न्यायस्त्वयि तथा मयि ।।४८-८७।। (नारदपुराणम्-पूर्वार्धः)"

ऐसे ही छतरी में से उसकी तानों को निकाल लेने पर छतरी का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। ऐसे ही अपने शरीरको तथा मेरे शरीरको समझो।

सङ्गति — जब तीनों गुण ही सम्पूर्ण पदार्थोंके कारण हैं तो पदार्थोंको अलग-अलग धर्मीरूप कैसे कह सकते हैं ? इसका उत्तर अगले सूत्रमें —

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ ४.१४ ॥

परिणाम-एकत्वात् = परिणामके एक होनेसे; वस्तु-तत्त्वम् = वस्तुकी एकता होती है।

परिणामके एक होनेसे वस्तुकी एकता होती है।

"अङ्गाङ्गिभावतस्तत्त्वं गुणानामेकमिष्यते।

परिणामो बहूनां हि तैलादीनां प्रदीपवत् ॥ १९६ ॥ योगसूत्रसारः”

यद्यपि गुणोंमें अङ्गाङ्गी-भाव है तथापि त्रिगुणों का एक रुप में परिणाम होने से वस्तु या पदार्थ में एकत्व होता है। जैसे तेल, बत्ती और आग सब मिलकर एक प्रदीप-रुप परिणाम को प्राप्त होते हैं।

त्रिष्वपि गुणेषु क्वचित् सत्व मङ्गि क्वचिद्रजः क्वचिच्च तम इति गुणानामङ्गाङ्गिभावोऽस्ति। यद्यपि त्रयो गुणाः तथाऽपि तेषामङ्गाङ्गित्वात् वस्तुनस्तत्वमेकत्वम्। यथा तैलवर्तिवह्नीनामेकः प्रदीपपरिणामस्तथाऽयम्।

तीनों गुणोंमें कहीं सत्त्व-गुण अङ्गी होता है और दूसरे दो गुण उसके अङ्ग होते हैं, इसी प्रकार कहीं रजोगुण अङ्गी होता है तो कहीं तमोगुण अङ्गी होता है, इस तरह गुणोंका अङ्गाङ्गी-भाव होता है। यद्यपि तीनों गुण अङ्गाङ्गी-रुपसे रहते हैं तथापि उनका तत्त्व एक ही होता है। जैसे तैल, बत्ती और अग्निका एक ही प्रदीप परिणाम होता है।

व्याख्या — यह ठीक है कि तीनों गुण ही सब पदार्थोंके कारण हैं, पर वे अपने प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभावसे अङ्ग-अङ्गीभावसे गति कर रहे हैं। कहीं सत्त्वगुण अङ्गी है अर्थात् प्रधान है और रज, तम उसके अङ्ग अर्थात् गौण हैं। इसी प्रकार कहीं रज अङ्गी है और कहीं तम अङ्गी है और शेष गुण उसके अङ्ग हैं। इस कारण उनकी परिणामकी एकतासे वस्तु एक ही कही जाती है। इन गुणोंके अङ्ग-अङ्गीभावमें भी नाना प्रकारके भेद होते हैं। इस कारण उनके परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। परिणामकी भिन्नतासे वस्तुएँ भिन्न-भिन्न धर्मोंवाली होतीं हैं — जैसे यह महत्तत्त्व है, यह अहंकार है, यह इन्द्रियाँ हैं, यह पृथ्वी है, यह जल है इत्यादि।

“सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रज: ।

गुरु वरणकमेव तम: प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति: ॥ १३ ॥ (सांख्यकारिका)”

सत्त्वगुण को ‘हल्का तथा प्रकाशक’ माना जाता है, रजोगुण को ‘उत्तेजक तथा चञ्चल’ माना है एवं तमोगुण को ‘भारी तथा अवरोधक’ अर्थात् रोकनेवाला माना गया है। “प्रदीप” की तरह मिलकर तीनों गुणों का व्यापार एक ही प्रयोजन के लिये होता है। अर्थात् दीपक के सदृश एक उद्देश्य (पुरुषके भोग अपवर्ग) से इनकी वृत्ति (काम) है।

१. सत्त्व, रजस् और तमस् का साम्य परिणाम ‘प्रधान’ मूलप्रकृति है।

२. सत्त्वमें रजस्, तमस् का लिङ्गमात्र विषम परिणाम महत्तत्त्व है।

३. सत्त्व महत्तत्त्वमें अहम् वृत्तिसे भेद उत्पन्न करनेवाला रजस्-तमस् का किञ्चित् अधिक विषम परिणाम अहंकार है।

४. अहंकारके सत्त्वप्रधान अंशमें रजस्-तमस् का विषम-परिणाम ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। इसमें भी सत्त्वप्रधान अंशसे मन, रजःप्रधान अंशसे ज्ञानेन्द्रियाँ और तमःप्रधान अंशसे कर्मेन्द्रियाँ — इन इन्द्रियोंमें भी परस्पर भेद करनेवाली गुणोंकी न्यूनाधिकता हैं

५. अहङ्कारके तमःप्रधान अंशमें रजस्-तमस् का परिणाम पाँचों तन्मात्राएँ हैं। इन पाँचोंमें भी गुणोंकी न्यून-अधिकता परस्पर भेदक है।

६. इन तन्मात्राओंमें भी रजस्-तमस् के न्यून-अधिक विषम-परिणामरुप पाँचों स्थूल भूत परस्पर भेदवाले हैं।

इन पाँचों स्थूल भूतोंके धर्म सब भौतिक पदार्थ सत्त्वगुणकी प्रधानतामें प्रकाशवाले, हलके, सुख देनेवाले, रजस् की प्रधानतामें उत्तेजक, प्रवृत्त करनेवाले और दुःख देनेवाले तथा तमस् की प्रधानतामें भारी, रोकनेवाले और प्रमाद तथा मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

इसलिये यद्यपि गुण तीन हैं; तथापि जैसे बत्ती, तेल और अग्नि मिलकर एक-दूसरेको सहायता देते हुए प्रकाशका काम देते हैं; इसी प्रकार तीनों गुण मिलकर पुरुषके उपयोगके लिये अलग-अलग वस्तुओंको भिन्न-भिन्न रूपमें उत्पन्न करते हैं।

"सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।।१४.९।। (श्रीमद्भगवद्गीता)"

हे भारत सत्त्वगुण सुखमें नियुक्त करता है और रजोगुण कर्मोंमें नियुक्त किया करता है तथा तमोगुण सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुए विवेकज्ञानको अपने आवरणात्मक स्वभावसे आच्छादित करके फिर प्रमादमें नियुक्त किया करता है। प्राप्त कर्तव्यको न करनेका नाम प्रमाद है।

"सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।१४.११।।(श्रीमद्भगवद्गीता)"

जिस समय जो गुण बढ़ा हुआ रहता है? उस समय उसके क्या चिह्न होते हैं? सो बतलाते हैं –, जब इस शरीरके समस्त द्वारोंमें यानी आत्माकी उपलब्धिके द्वारभूत जो श्रोत्रादि सब इन्द्रियाँ हैं उनमें? प्रकाश उत्पन्न हो — अन्तःकरण यानी बुद्धिकी वृत्तिका नाम प्रकाश है और यही ज्ञान है। यह ज्ञान नामक प्रकाश जब शरीरके समस्त द्वारोंमें उत्पन्न हो — तब इस ज्ञानके प्रकाशरूप चिह्नसे ही समझना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है।

"लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१४.१२।।(श्रीमद्भगवद्गीता)"

उत्पन्न हुए रजोगुणके चिह्न ये होते हैं —, हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ लोभ — परद्रव्यको प्राप्त करनेकी इच्छा, प्रवृत्ति — सामान्यभावसे सांसारिक चेष्टा और कर्मोंका आरम्भ तथा अशान्ति — उपरामताका अभाव और हर्ष और रागादिका प्रवृत्त होना तथा लालसा अर्थात् सामान्यभावसे समस्त वस्तुओंमें तृष्णा — ये सब चिह्न रजोगुणके बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं।

"अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१४.१३।।(श्रीमद्भगवद्गीता)"

हे कुरुनन्दन अप्रकाश अर्थात् अत्यन्त अविवेक, प्रवृत्तिका अभाव, तथा उसका कार्य प्रमाद और मोह अर्थात् अविवेकरूप मूढ़ता — ये सब चिह्न तमोगुणकी वृद्धि होनेपर उत्पन्न होते हैं।

गुण तीन होनेपर भी वे वियोज्य नहीं होते अर्थात् हमेशा एक-दूसरेके साथ ही रहते हैं। जैसा कि गीतामें कहा है —

"न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।१८.४०।।(श्रीमद्भगवद्गीता)"

पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग के देवताओं में ऐसा कोई प्राणी (सत्त्वं अर्थात् विद्यमान वस्तु) नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त (रहित) हो।

प्रधानतत्वेन समं त्वचा बीजमिवावृतम् ।

वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः ॥१.२.३५॥ (विष्णुपुराणम्)

जिस तरह बीजके छिलके से बीज ढँका रहता है, उसी तरह महत्तत्व भी प्रधान तत्त्वसे आवृत था। उस महत्तत्त्वसे तीन प्रकारका अहङ्कार उत्पन्न हुआ १. वैकारिक (सात्त्विक), २. तैजस (राजस) एवं ३. भूतादि (तामस) ॥३५॥

त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत ।

भूतेन्द्रियाणां हेतुस्स त्रिगुणत्वान्महामुने ।

यथा प्रधानेन महान्महता स तथावृतः ॥१.२.३६॥ (विष्णुपुराणम्)

यह तीनों प्रकारका अहङ्कार भी महत्तत्त्वसे उद्भूत हुआ। हे महामुने ! वह त्रिगुणात्मक होनेके कारण पृथिव्यादि भूतों तथा इन्द्रियोंका कारण है। जिस तरह महत्तत्व प्रकृतिसे आवृत था उसी तरह वह तीनों प्रकारका अहङ्कार भी महत्तत्त्वसे आवृत हुआ ॥३६॥

भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दतन्मात्रकं ततः ।

ससर्ज शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दलक्षणम् ॥१.२.३७॥ (विष्णुपुराणम्)

भूतादि (तामस) अहङ्कार ने भी विकृत होकर शब्द तन्मात्रा तथा शब्द गुणवाले आकाश नामक महाभूत को उत्पन्न किया ॥३७॥

शब्दमात्रं तथाकाशं भूतादिः स समावृणोत् ।

आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह ॥१.२.३८॥ (विष्णुपुराणम्)

उस शब्द तन्मात्रा तथा आकाशको उस भूतादि (तामस अहङ्कार) ने आवृत किया। (शब्दतन्मात्रा सूक्ष्म) आकाश ने भी विकृत होकर स्पर्श तन्मात्राको उत्पन्न किया ॥३८॥

बलवानभवद्वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ।

आकाशं शब्दमात्रं तु स्पर्शमात्रं समावृणोत् ॥१.२.३९॥ (विष्णुपुराणम्)

उस स्पर्श तन्मात्रासे स्पर्श नामक गुणवाला वायु उत्पन्न हुआ। स्पर्श तन्मात्राको आकाश तथा शब्द-तन्मात्राने आवृत कर लिया।॥३९॥ इस तरहसे बहुत लम्बा सृष्टिक्रमका वर्णन विष्णुपुराणमें मिलता है।

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥३५॥ (आत्मोपनिषद्)"

सर्वोच्च सत्य वह (शुद्ध चेतना) है जो यह अनुभव करता है, कि "न तो मन का नियंत्रण है, न ही इसकी उत्पत्ति है अर्थात् इसके खेल में आना, "न मैं बद्ध हूँ, न ही मैं एक उपासक हूँ, न मैं मोक्षाकांक्षी हूँ, अर्थात् न ही मैं मुक्ति का साधक हूँ, न ही मैंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है" लेकिन जब हम उस (परम तत्त्वको) को मन और बुद्धि के विकृत उपकरणों से देखते हैं तब हमें यह मायामय संसार दीखता है।अतः सत्य बात तो यह है कि किसी का (निरोध) लय नहीं है, किसी की उत्पत्ति नहीं है, कोई आबद्ध (बँधा) हुआ नहीं है, कोई साधक नहीं है, कोई (मुमुक्षु) अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने वाला नहीं है तथा कोई मुक्त भी नहीं है, यही वास्तविक स्थिति है।

सत्य तो यह है कि वह परब्रह्म न तो जन्म लेता है और न ही जन्मरहित है, न वह बन्धन में रहता है, न ही साधक है, न ही वह मोक्ष की इच्छा वाला है और न ही वह मुक्त है (वह इन सबसे परे है।) ॥ (जन्म लेने वाली काया के साथ वह प्रकट होता दीखता है, इसलिए वह जन्म रहित नहीं है, लेकिन जन्म तो काया का होता है, चेतना का नहीं, पात्र बनते-दूटते हैं, उनमें रहने वाला जल या आकाश तो पात्र के जन्म और क्षय से मुक्त है, इसलिए अजन्मा है। इसी भाव से उसे न मुक्त कह सकते हैं, न अमुक्त, न मोक्षाकांक्षी।

यथा रथादयः स्वप्ने भान्तीव नैव सन्ति ते ।

तथा जाग्रद्-अवस्थायां भूतानि च न सन्ति वै ॥१,२३६.३६॥ (गरुडपुराणम्)

जैसे स्वप्नमें हाथी, घोड़ा, रथ आदि दीखते है पर होते नहीं वैसे ही जाग्रत अवस्थामें हमें पञ्च-भूतात्मक संसार दीखता है वास्तव में होता नहीं।

“न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ताथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता॥४.३.१० ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद)”

उस अवस्था में न तो वास्तविक रथ होते हैं, न पशुओं को जोतने के लिए रथ का कोई उपकरण और न ही वहां सड़कें होती हैं, लेकिन वह रथ, पशु और सड़कें बनाता है। उस अवस्था में कोई सुख नहीं है, कोई आनंद नहीं है, कोई परम-आनंद नहीं है, लेकिन वह सुख, आनंद और परम-आनंद पैदा करता है। उस राज्य में कोई ताल नहीं है, कोई जलाशय नहीं है, कोई नदियाँ नहीं हैं, लेकिन वह ताल, जलाशय और नदियाँ बनाता है। वह वास्तव में कर्ता है।

वहाँ न रथ है, न पथ है न घोड़े हैं, न कोई रथ हाँकने वाला लेकिन यह देखो स्वप्न-मोटर हरहराती हुई चली जा रही है। ड्राइवर चला रहा है। मालिक बैठा हुआ है। सड़क कहीं जाती नहीं है। पर कहते हैं, यह सड़क कहाँ जाती है? यह स्वप्न कौन देखता है? हमारे लिए ये जो तीन अवस्थाएँ है, ये ईश्वर के बरदान हैं। पाप-पुण्य करके, अपने जीवन को विकसित या अविकसित-गिराने के लिए या उठाने के लिए जाग्रत-अवस्था है और नयी सृष्टि की रचना का हमारे अन्दर सामर्थ्य है, यह स्वप्नावस्था है और सबके उपसंहार का भी हमारे अन्दर सामर्थ्य है, हम सब बना सकते हैं, यह स्वप्न है। हम सब बिगाड़ सकते हैं, यह सुषुप्ति है और हम नया-नया अविष्कार कर सकते हैं यह जाग्रत है।

शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध आदिके हजारों प्रकार होते हैं फिर भी उनको एक (विषय) शब्दसे कहा जा सकता है ऐसे ही जल, वायु और अग्निके अनेक प्रकार होते हैं फिर भी यदि उन्हें एक शब्दमें कहना हो तो चिकनाई, तिरछापन और उष्णता के नामसे कहा जा सकता है। जैसे मिठाई की दुकानमें अनेक प्रकारकी मिठाइयाँ होतीं हैं फिर भी दूकान पर लिखा होता है {मिठाई की दूकान} तथा समोसा, नमकीन-सेव, दाल-मौंठ, मठड़ी, पकौड़ी, कचौरी आदि सबको नमकीन कह देते हैं। और परमार्थतः यदि देखा जाय तो कचौरी के अंदर कचौरी-पना मिलेगा ही नहीं। दाल,आटा, पानी, मसाले आदिको कचौरी नहीं कह सकते हैं। लेकिन व्यवहारमें उसका नाम कचौरी है। तथा जैसे तन्तुओं में भेद होनेपर भी कपड़ा एक ही कहा जाता है और जैसे एक ही सोनेसे अनेक प्रकारके आभूषण बन जाते हैं पर सोना एक ही होता है।

सङ्गति — शंका — जिस प्रकार स्वप्नमें चित्तके अतिरिक्त और कोई वस्तु भावरुपसे नहीं होती है, केवल अकेले चित्तसे ही सब कल्पित होते हैं। इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें भी चित्तसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। सब चित्तकी ही रची हुई हैं। चित्त अनादि वासनाओंसे चित्रित है। इस कारण उसको अपनी-अपनी वासनाओंके अनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुएँ प्रतीत होतीं हैं। वास्तवमें चित्तसे भिन्न न कोई ज्ञान है और न कोई बाहर की वस्तु ही है। जब चीजें भिन्न-भिन्न दीखतीं हैं तो आप उनको एक ही हैं ऐसा कैसे कह सकते हैं ? इसका समाधान अगले सूत्रमें दिया गया है —

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ ४.१५॥

वस्तु-साम्ये = वस्तुके एक होनेपर (भी); चित्त-भेदात् = चित्तके भेदसे; तयो: – विभक्त: पन्थाः = उन दोनोंका (चित्त और वस्तुका) अलग-अलग मार्ग है।

वस्तुके एक होनेपर भी चित्तके भेदसे उन दोनों (चित्त और वस्तु) का अलग-अलग मार्ग है।

"दृष्टं बहुविधं ज्ञानं वस्तुन्येकविधे तथा।

अतो ज्ञानार्थयोर्भिन्नः पन्था इत्येव निश्चयः ॥ १९७ ॥ योगसूत्रसारः"

वस्तुके एक होनेपर भी अनेक चित्तों में उस वस्तुका ज्ञान भिन्न-भिन्न होता है। अतः चित्तोंका अन्तर होने से उन दोनों अर्थात् वस्तु और उसके ज्ञान के मार्ग अलग अलग होते हैं। अर्थात् वे सम्पूर्णतया विभिन्न हैं।

एकस्यां रूपलावण्यवत्यां योषिति रागिणस्सुखं, सपत्न्यास्तु द्वेषः, वेदान्तिनस्तूदासीनता, परिव्राजकस्य घृणा- इत्येकवस्तुनि भिन्नप्रत्ययः दृश्यते। अतः ज्ञानं विषयाद् भिन्नम्।

एक ही रुप-लावण्यवती स्त्री में उसके प्रेमियोंको सुख होता है और उसकी सौतको तथा दुश्मनोंको द्वेष होता है तथा वेदान्ती को उदासीनता एवं परिव्राजक को घृणा। इस प्रकार एक ही वस्तुमें लोगोंके अलग-अलग विचार होते हैं अतः ज्ञान विषयसे भिन्न है।

व्याख्या — प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरुपमें स्थिर है और बहुतसे चित्तोंका विषय बन सकती है। पर वह न एक चित्तकी कल्पना की हुई होती है, न अनेक चित्तोंकी। क्योंकि एक ही वस्तुको देखकर चित्तके अवस्था-भेदसे किसीको सुख होता है, किसीको दुःख; किसीको मोह और किसीको उदासीनता। यदि चित्तसे भिन्न वह वस्तु न होती तो इतने चित्तोंका विषय न बन सकती। फिर वही वस्तु अनेक चित्तोंको नाना प्रकारके भावोंसे प्रतीत हो रही है। इस कारण वस्तुएँ चित्तकी कल्पनासे नहीं होतीं हैं; बल्कि चित्तसे भिन्न और उससे बाहर अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखतीं हैं।

जब चित्तमें धर्म प्रबल होता है तब वस्तु एक होनेपर भी सुखका ज्ञान होता है। जब अधर्म प्रबल होता है तब उसी वस्तुसे दुःखका ज्ञान होता है। जब अविद्या (तमोगुणात्मक मोह या अविवेक) प्रबल होती है तब मूढ़ताका ज्ञान होता है अर्थात् किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है (एक प्रकारका विषाद हो जाता है) और जब सम्यक्-दर्शन होता है तब माध्यस्थ्य-ज्ञान होता है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.१५ ॥

यदि कोई शंका करे कि ज्ञानसे भिन्न घटादि पदार्थ हों, तो एक अथवा अनेक वस्तु कहना चाहिये। जब कि एक विज्ञान (चित्त) ही संस्कारवशसे कार्य-कारण भावको प्राप्त हुआ घटपटादिरुपसे भासता है तो यह कैसे कह सकते हैं कि एक अथवा अनेक वस्तु हैं ? इसका उत्तर देते हैं —

ज्ञान और ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ घटादि) का भिन्न मार्ग है अर्थात् ये दोनों भिन्न ही हैं। क्योंकि एक वस्तुमें चित्तों (विज्ञानों) का भेद रहता है। अर्थात् स्त्री आदि एक पदार्थके मिलनेपर स्त्रीकी सुन्दरतामें अनेक देखनेवालोंके चित्तकी भिन्नता सुख-दुःख-मोहरुपसे प्रतीत होती है। जैसे एक सुन्दर रुपवाली स्त्री मिल जाय तो कामीका चित्त सुखी होता है। उस स्त्रीकी सपत्नी (सौत) का चित्त उससे दुःखी होता। और संन्यासीका चित्त उससे उदासीनता अर्थात् उपेक्षा करता है। जब एक ही वस्तुमें अनेक प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ होतीं हैं तो स्त्री आदि चित्तके कार्य नहीं हैं। यदि एक चित्तके ही कार्य हों तो, एक ही रुपसे ज्ञान हो। और दूसरी बात यह है कि यदि वस्तुको चित्तका कार्य माना जाय तो जिस पुरुषके चित्तका कार्य, वह वस्तु है उसके चित्तके दूसरी वस्तुमें लग जानेपर, वह वस्तु कोई वस्तु ही न रहे ?

यदि कहो कि वह वस्तु नहीं रहती, तो अन्य पुरुषोंको वह कैसे मालूम होती है ? प्रतीत होनेसे, वस्तु चित्तका कार्य नहीं है। यदि यह माना जाय कि बहुत-से चित्त मिलकर एक वस्तुको उत्पन्न करते हैं तो बहुतोंकी बनायी हुई चीजोंसे एक चित्तकी बनायी हुई चीज विलक्षण होनी चाहिये। यदि विलक्षण नहीं मानते तो कारणोंसे भिन्न-भिन्न होनेपर भी कार्यका भेद न रहनेसे जगत् को बिना कारणके अथवा एक रूप मानना होगा। बात यह है कि यदि कारणोंके भिन्न होनेपर भी कार्य भिन्न-भिन्न न माने जायँ, तो सब जगत् जो कि अनेक कारणोंसे उत्पन्न हुआ है वह एकाकार होना चाहिये। अथवा कारण विशेषका सम्बन्ध न रहनेसे स्वतन्त्रतासे कारणशून्य होना चाहिये।

शङ्का — यदि एक चित्त (विज्ञानात्मक) से अनेक वस्तु नहीं होती (तो) तुम्हारे मतमें एक त्रिगुणात्मक चित्तसे एक ही पुरुषको सुख-दुःख-मोहरूप अनेक ज्ञान कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् जैसे तुम्हारे मतमें एक चित्त अनेक रूपसे परिणत होता है, वैसे हमारे मतमें विज्ञान भी अनेक कार्य-कारणभावसे अवस्थित है।

उत्तर — हमारे मतमें त्रिगुण यथार्थ हैं। जब चित्तसे अर्थ (घटादि) का ज्ञान होता है तो धर्माधर्मसहकारी (साथ रहनेवाले) कारण होते हैं। उन धर्मादिकोंके प्रकाश और तिरोभावसे चित्तका तत्तद्रूपसे प्रकाश होता है। जैसे कामेच्छु पतिके पास स्त्री हो तो धर्म-सहकारी चित्त-सत्त्वप्रधान होकर सुखमय परिणत होता है। और अधर्मके साथ रहनेसे सौतका रजःप्रधान चित्त दुःखरूपसे परिणत होता है। अधिक अधर्मका सम्बन्ध होनेसे क्रुद्ध सौतका तमःप्रधान चित्त मोहमय (अज्ञानमय) होता है। इससे सिद्ध हुआ कि विज्ञान (चित्त) से भिन्न बाह्य ग्राह्य अर्थ होता है। तो विज्ञान (चित्त) और अर्थके स्वरूपका भेद होनेसे कार्य-कारणभाव (विज्ञान और अर्थका) नहीं है। कारणके भेद न होनेसे भी यदि कार्यभेद माना जाय तो दण्डसे भीति आदि भी होने चाहिये। इससे अर्थका ज्ञानसे भेद ही है।

बुद्धि, चित्त, विज्ञान ये तीनों शब्द एकार्थक हैं।

यहाँ उन क्षणिक विज्ञानवादियोंकी शंकाओंका समाधान किया गया है जो क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त वस्तुकी सत्ताको अनुमानद्वारा नहीं मानते। उनका अनुमान है कि जो ज्ञेय है वह विज्ञानसे भिन्न नहीं है; क्योंकि विज्ञानसे भिन्न दशामें उसकी उपलब्धि (विषयका ज्ञान) नहीं होती। जैसे विज्ञानसे विज्ञान अभिन्न है वैसे ही घटादि ज्ञेय भी विज्ञानसे अभिन्न हैं। उनकी शंकाका समाधान इस प्रकार किया गया है कि वस्तु एक होनेपर भी चित्त (विज्ञान) का भेद दिखलायी देता है, जैसे स्त्रीरूप वस्तु एक दशामें बनी रहती है किन्तु उसको देखकर पतिको सुख, सपत्नीको दुःख, कामीको मोह और निष्काम संन्यासीको उसमें उपेक्षा विज्ञान होता है। इस प्रकार विज्ञान (चित्तवृत्ति) चार हैं किन्तु वस्तु एक ही बनी रहती है। जो एक है वह अनेकोंसे भिन्न है। जैसे एक नीलका ज्ञान अनेक पीतादि ज्ञानोंसे भिन्न है वैसे ही एक स्त्रीरूप वस्तु अपने अनेकों विज्ञानोंसे भिन्न है। इसलिये ज्ञान और ज्ञेय एक नहीं हो सकते। ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विषय है।

एक प्रकृतिरूप वस्तुसे चित्त अनेक प्रकारका क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि चित्त और घटादि पदार्थ दोनों त्रिगुणात्मक हैं। जबतक चित्तमें धर्म, अधर्म, अविद्याका सम्बन्ध रहता है तबतक सत्त्व, रजस् और तमस् की क्रमशः अधिकता होनेसे सुख, दुःख और मोह हुआ करते हैं। तत्त्वज्ञान होनेसे उन त्रिगुणात्मक वस्तुओंमें उपेक्षा हो जाती है। इसलिये अर्थ विज्ञानसे भिन्न है। इसीसे ही जगत् मिथ्यावाद, जगत् स्वप्नवाद, दृष्टि सृष्टिवाद (ज्ञानके साथ ही वस्तुका होना) के भ्रमोंका समाधान समझना चाहिये।

सङ्गति — शङ्का — वस्तुकी सत्ता सत्त्वचित्तोंके ही अधीन ठहरती है; क्योंकि भिन्न-भिन्न चित्तको एक ही वस्तु उनके भावके अनुसार ही भिन्न-भिन्नरूपसे प्रतीत होती है। इसका समाधान अगले सूत्रमें —

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ ४.१६॥

न-च = नहीं और; एक-चित्त-तन्त्रम्= एक चित्तके अधीन है; वस्तु= वस्तु; तत्= वह (वस्तु); अप्रमाणकम्= बिना प्रमाणके अर्थात् बिना चित्तके; तदा= उस समय, किं स्यात् = क्या होगी।

ग्राह्य वस्तु एक चित्तके अधीन नहीं है; क्योंकि वह (वस्तु) बिना प्रमाण (चित्त) के उस समय क्या होगी ?

"चित्तनाशे प्रमाणं न चित्तस्यातः स्वतन्त्रता।

ज्ञानसहभुवं चेत्थमर्थम् सूत्रे निरस्यति ॥ १९८ ॥ योगसूत्रसारः"

चित्तके बिना कोई भी वस्तु प्रमाणित ही नहीं होती अतः चित्तकी स्वतन्त्रता है। और ज्ञानके साथ ही पैदा होती है, यह बात भी ठीक नहीं क्योंकि जब मन किसी दूसरी चीजमें लग जाता है तब वह वस्तु नष्ट नहीं हो जाती। कोई भी वस्तु किसी भी एक ही चित्त के द्वारा अधीनस्थ या नियंत्रित नहीं होती है, क्योंकि जब उस चित्त का अस्तित्व नहीं रहेगा तब वह वस्तु होगी या नहीं होगी ?

ज्ञानादतिरिक्तोऽर्थ इति भवतु, तथापि ज्ञानेनैव भास्यत्वात् सुखादिवद् भोग्यत्वात् ज्ञानसहभूरेवार्थ इति मतसमीचीनमिति वदति। सर्वजनसमानः स्वतन्त्रोऽर्थः, प्रतिपुरुषं प्रवर्तमानानि चित्तानि स्वतन्त्राणि।

हमको एक ही कालमें सभी विषयोंका ज्ञान नहीं होता अर्थात् हमारे ज्ञानसे अतिरिक्त भी बहुतसे विषय होते ही हैं, तथापि "विषय" ज्ञानके द्वारा ही भासमान होते हैं जैसे हमारे सुख-दुःख आदि, क्योंकि वे भोग्य हैं इसलिये ज्ञानके साथ ही उनका अस्तित्व है। यही मत समीचीन है ऐसा कहते हैं। क्योंकि वस्तुकी सत्ता स्वतन्त्र है और प्रत्येक पुरुषमें प्रवर्त्तमान चित्त भी स्वतन्त्र हैं।

व्याख्या — यदि एक चित्तके ही अधीन वस्तुको माना जाय तो जब वह चित्त किसी दूसरे विषयमें लगा हो तो अथवा निरुद्ध हो गया हो तो उस समय उसका अभाव होना चाहिये। लेकिन हम देखते हैं कि वह विद्यमान रहती है। इसको स्पष्ट रूपसे यों समझो कि शरीरका जो भाग पींठ या हाथ आदि जिस समय दिखलायी न दे तो उसको उस समय चित्तका विषय न होनेसे अविद्यमान नहीं कह सकते। इस कारण वस्तुकी सत्ता स्वतन्त्र है, चित्तके अधीन नहीं।

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.१६ ॥

यदि वस्तु एक चित्त (विज्ञान) के ही अधीन हो अर्थात् ज्ञानके साथ ही वह वस्तु उत्पन्न हो तो चित्तके अन्य विषयमें लगनेपर, व्यग्र होनेपर अथवा निरुद्ध होने (रुकने) पर वह वस्तु अप्रमाणक हो जाय अर्थात् उसके स्वरूपका ग्रहण करनेवाला कोई न रहे, ऐसी होगी तो फिर वह होगी ही क्या ? क्योंकि वह दूसरेका विषय नहीं बनी और एक चित्तसे उसके स्वरूपका सम्बन्ध नहीं अथवा चित्तके साथ सम्बद्ध हुई भी वह वस्तु कहाँसे उत्पन्न होगी ? और जो इसके अनुपस्थित भाग हैं वे भी न होंगे और पींठके न ग्रहण होनेसे पेट भी ग्रहण न किया जायगा। इससे अर्थ (वस्तु) स्वतन्त्र है और सब पुरुषोंके लिये साधारण है, और चित्त (विज्ञान) भी प्रत्येक पुरुषमें स्वतन्त्र है। उन वस्तु और चित्त (विज्ञान) के सम्बन्धसे जो उपलब्धि है वह पुरुषका भोग है।

चित्तका और विषयका जब संयोग होता है तब भोग होता है और जब वियोग होता है तब मोक्ष होता है।

सङ्गति — शङ्का — यदि वस्तुकी सत्ता स्वतन्त्र होती तो वह सदा चित्तको ज्ञात रहती, लेकिन कभी ज्ञात होती है, कभी नहीं। यह बात सिद्ध करती है कि वह चित्तके अधीन है। इसका समाधान अगले सूत्रमें दिया गया है।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ ४.१७॥

तत्-उपराग-अपेक्षित्वात् = उस पदार्थके उपराग (विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षावाला होनेसे, चित्तस्य = चित्तको; वस्तु = वस्तु; ज्ञात-अज्ञातम् = ज्ञात और अज्ञात होती है।

चित्तको वस्तुके जाननेमें उसके उपराग (विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षा होती है इसलिये उसको (चित्तको) वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है।

"अयोवद् विषयेमैतदुपरक्तञ्च मानसम्।

तमादत्ते जहात्यन्यं ज्ञाताज्ञातास्तथा हि सः ॥ १९९ ॥ योगसूत्रसारः"

विषय चुम्बकके समान हैं और चित्त लोहेके समान है अथवा विषय अग्निके समान हैं और चित्त लोहेके समान है, जैसे अग्निके सम्पर्कसे लोहा भी लाल-लाल हो जाता है और अग्निके शान्त होनेपर लोहा अपने पूर्व-रूपमें आ जाता है। वैसे ही चित्त को वस्तु का ज्ञान होना एवं न होना वस्तु के साथ उपराग की अपेक्षा से तथा कालभेदसे होता है।

व्याख्या — उपराग = इन्द्रिय-सन्निकर्षद्वारा जो विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ता है उसको उपराग कहते हैं। विषय अयस्कान्तमणि (चुम्बक पत्थर) के समान हैं और चित्त लोहेके समान है। विषय इन्द्रिय-सन्निकर्षद्वारा अपनी ओर आकर्षित कर अपने आकारसे चित्तको चित्रित कर देता है। इस प्रकार जिस विषयसे चित्त उपरक्त होता है अर्थात् जिस विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वह विषय उसे ज्ञात होता है। वस्तुके ज्ञात-अज्ञात-स्वरूप होनेसे चित्त परिणामी है न कि वस्तुको स्वयं उत्पन्न करनेवाला।

यहाँ यह भी बतला देना उचित प्रतीत होता है कि जब इन्द्रियद्वारा चित्तके साथ जिस वस्तुका सम्बन्ध होता है अर्थात् जब जैसा विषयाकार चित्त होता है तब उसमें चेतन प्रतिबिम्बरुप स्फुरण होता है (यह स्फुरण या उपलब्धि वृत्तिसे भिन्न है) तो उसी वस्तुको अथवा चित्तवृत्तिको अपने प्रतिबिम्बद्वारा पुरुष जानता है, अन्य वस्तुको नहीं। घटादिके सम्बन्धसे चित्तकी घटादि ज्ञानरुप वृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। इससे चित्तके विषय ज्ञात और अज्ञात हैं इसीसे यह परिणामी है। पौरुषेय-बोध भिन्न है और मानसिक बोध भिन्न।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.१७ ॥

यदि ज्ञान प्रकाशक होनेसे ग्रहणरुप है और घटादि वस्तु ग्राह्यरुप अर्थात् ग्रहण करनेयोग्यरुप है, तो एक बार ही सब वस्तुओंका ग्रहण क्यों नहीं होता ? इस आशङ्काको हटाते हैं —

घटादि वस्तुओंके उपरागकी अर्थात् अपने आकारको चित्तके लिये समर्पणरुप प्रतिबिम्ब-सम्बन्धकी अपेक्षा होनेसे (इन्द्रिय-संन्निकर्षद्वारा विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे) चित्तमें बाहरकी वस्तु ज्ञात और अज्ञात कहलाती है। तात्पर्य यह है कि सब पदार्थोंको अपना स्वरुपलाभ करानेमें चित्तकी और सामग्रीकी अपेक्षा है (अथवा चित्तरुप सामग्रीकी अपेक्षा है) नीलादि ज्ञान, अपनी उत्पत्तिमें इन्द्रिय प्रणालीद्वारा चित्तमें समाये हुए अर्थ-सम्बन्धकी, सहकारिकारणरुपसे अपेक्षा करता है। क्योंकि चित्तसे भिन्न अर्थका बिना किसी सम्बन्धके ग्रहण नहीं हो सकता। इस कारण जो वस्तु अपने प्रतिबिम्बस्वरुपको चित्तके लिये देती है उसी वस्तुको उस वस्तुका ज्ञान व्यवहारके योग्य बनाता है। इससे वह वस्तु ज्ञात कहलाती है और जिसने अपना स्वरुप नहीं दिया वह 'अज्ञात' रुपसे बोली जाती है। जिस जानी हुई वस्तुमें सादृश्यादि किसी पदार्थका ज्ञान, संस्कारोंको जगाता हुआ यदि सहकारी कारण मिल जाय तो उसी वस्तुका स्मरण होता है। इससे न सब जगह ज्ञान हो सकता है और न सर्वत्र स्मृति। इसलिये ज्ञानको ग्रहणरुप होनेपर और घटादिकोंको ग्राह्य माननेसे कोई विरोध नहीं आता।

सत्त्वस्य प्रकाश-रुपता च प्रतिबिम्ब-ग्रहण-क्षम-नैर्मल्य-मात्रं, तथापि तप्तायोवद् व्यवहारतो बुद्धि-सत्त्व-प्रकाशोऽपि ज्ञान-शब्देनोक्तः ।

अन्तःकरणकी जो प्रकाशरुपता कही जाती है वह तो केवल उसके प्रतिबिम्ब-ग्रहणकी योग्यताके कारण अथवा निर्मलता-मात्रके कारण कही जाती है, फिर भी जैसे व्यवहारमें कहते हैं कि 'लोहा गरम है' वैसे ही बुद्धि-सत्त्वको ज्ञान शब्दसे कहा जाता है।

"यतो निर्याति विषयो यस्मिन् चैव प्रलीयते।

हृदयं तत् विजानीयात् मनसः स्थितिकारणम्।।" (वासिष्ठ)

जहाँसे विषय निकलता है, जहां जा करके लीन हो जाता है, उसी स्थानका नाम हृदय है। अर्थात् हृदय ही मनकी स्थितिका कारण है। चित्तस्थान को हृदय कहा जा सकता है। जैसे वल्व या ट्यूबलाइट में प्रकाश का कारण बिजली है। यह अनुभवगम्य विषय है।

।। ब्रह्माजीका ऋषियोंको उपदेश — अनुगीतापर्व ।।

"अतः परं प्रवक्ष्यामि सत्वक्षेत्रज्ञयोर्यथा।

संयोगो विप्रयोगश्च तन्निबोधत सत्तमाः।।१४.५०.७।। (महाभारतम्)"

ब्रह्माजी बोले- श्रेष्ठ महर्षियो ! अब मैं यह बता रहा हूँ कि सत्त्व (बुद्धि)और क्षेत्रज्ञका (जीवात्माका) परस्पर संयोग और वियोग कैसे होता है ? इस विषयको ध्यान देकर सुनो ।। ७ ।।

"विषयो विषयित्वं च सम्बन्धोऽयमिहोच्यते।

विषयी पुरुषो नित्यं सत्वं च विषयः स्मृतः ।।१४.५०.८।। (महाभारतम्)"

इन दोनोंमें यहाँ यह विषय-विषयीभाव सम्बन्ध माना गया है। इनमें पुरुष तो सदा विषयी और सत्त्व विषय माना जाता है ।। ८ ।।

"व्याख्यातं पूर्वकल्पेन मशकोदुम्बरं यथा।

भुज्यमानं न जानीते नित्यं सत्वमचेतनम्।

यस्त्वेवं तं विजानीते यो भुङ्क्ते यश्च भुज्यते।। १४.५०.९।। (महाभारतम्)"

पूर्व अध्याय में मच्छर और गूलर के उदाहरण से यह बात बतायी जा चुकी है कि भोगा जाने वाला अचेतन सत्त्व नित्य स्वरूप क्षेत्रज्ञ को नहीं जानता, किंतु जो क्षेत्रज्ञ है वह इस प्रकार जानता है कि जो भोगता है वह आत्मा है और जो भोगा जाता है, वह सत्त्व है ।। ९ ।।

" नित्यं द्वन्द्वसंयुक्तं सत्वमाहुर्मनीषिणः।

निर्द्वन्द्वो निष्कलो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः।।१४.५०.१०।। (महाभारतम्)"

मनीषी पुरुष सत्त्व को द्वन्द्वयुक्त कहते हैं और क्षेत्रज्ञ निर्द्वन्द्व, निष्कल, नित्य और निर्गुण स्वरूप है ।। १० ।।

"समः संज्ञानुगश्चैव स सर्वत्र व्यवस्थितः।

उपभुङ्क्ते सदा सत्वमपः पुष्करपर्णवत्।। १४.५०.११।। (महाभारतम्)"

वह क्षेत्रज्ञ समभाव से सर्वत्र भली भाँति स्थित हुआ ज्ञान का अनुसरण करता है। जैसे कमल का पत्ता निर्लिप्त रहकर जल को धारण करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सदा सत्त्व का उपभोग करता है ।। ११ ।।

"सर्वैरपि गुणैर्विद्वान्व्यतिषक्तो न लिप्यते।

जलबिन्दुर्यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः।।१४.५०.१२।।

एवमेवाप्यसंयुक्तः पुरुषः स्यान्न संशयः।"

जैसे कमल के पत्ते पर पड़ी हुई जल की चंचल बूँद उसे भिगो नहीं पाती, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष समस्त गुणों से सम्बन्ध रखते हुए भी किसी से लिप्त नहीं होता। अत: क्षेत्रज्ञ पुरुष वास्तविकमें असंग है, इसमें संदेह नहीं है।

"द्रव्यमात्रमभूत्सत्वं पुरुषस्येति निश्चयः।।१४.५०.१३।।

यथा द्रव्यं च कर्ता च संयोगोऽप्यनयोस्तथा।"

यह निश्चित बात है कि पुरुष के भोगने योग्य द्रव्यमात्र की संज्ञा सत्त्व है तथा जैसे द्रव्य और कर्ता का सम्बन्ध है, वैसे ही इन दोनों का सम्बन्ध है।

" यथा प्रदीपमादाय कश्चित्तमसि गच्छति।

तथा सत्त्वप्रदीपेन गच्छन्ति परमैषिणः।।१४.५०.१४।। (महाभारतम्)"

जैसे कोई मनुष्य दीपक लेकर अन्धकार में चलता है, वैसे ही परम तत्त्व को चाहने वाले साधक सत्त्व रुप दीपक के प्रकाश में साधन मार्ग पर चलते हैं।

"यावद्द्रव्यं गुणस्तावत्प्रदीपः सम्प्रकाशते।

क्षीणे द्रव्ये गुणे ज्योतिरन्तर्धानाय गच्छति।।१४.५०.१५।। (महाभारतम्)"

जब तक दीपक में द्रव्य और गुण रहते हैं, तभी तक वह प्रकाश फैलाता है। द्रव्य और गुण का क्षय हो जाने पर ज्योति भी अन्तर्धान हो जाती है।

"व्यक्तः सत्वगुणस्त्वेवं पुरुषोऽव्यक्त इष्यते।

एतद्विप्रा विजानीत हन्त भूयो ब्रवीमि वः।।१४.५०.१६।। (महाभारतम्)"

इस प्रकार सत्त्वगुण तो व्यक्त है और पुरुष अव्यक्त माना गया है। ब्रह्मर्षियों! इस तत्त्व को समझो। अब मैं तुम लोगों से आगे की बात बताता हूँ ।।१६।।

सङ्गति — बाह्य जगत् को चित्तसे भिन्न सिद्ध करके अब आत्माको चित्तसे भिन्न दिखाते हैं।

शङ्का — यदि यह मान लिया जाय कि चित्तसे अलग वस्तुएँ हैं और चित्तको उनके उपरागसे ज्ञात और अज्ञात होतीं हैं तो फिर आत्मा (पुरुष) को चित्तसे अलग माननेकी आवश्यकता नहीं और यदि माना भी जाय तो पुरुष भी चित्तके सदृश परिणामी होता है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ ४.१८॥

सदा ज्ञाता: = सदा ज्ञात रहतीं हैं; चित्त-वृत्तय: = चित्तकी वृत्तियाँ; तत्-प्रभो: = उस चित्तके स्वामी; पुरुषस्य = पुरुषके; अपरिणामित्वात् = परिणामी न होनेसे।

चित्तका स्वामी पुरुष परिणामी (बदलनेवाला) नहीं है, इसलिये चित्तकी वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहतीं हैं।

"चित्तवृत्तिस्सदा ज्ञाता पुंसस्सा कूटवर्तिनः।

परिणमि यतश्चित्तं पुमाँस्तत्संविवर्जितः ॥ २००॥ योगसूत्रसारः"

ऐसे कूटस्थ पुरुषको (चित्तके स्वामी जीवात्माको) अपरिणामी या अपरिवर्तनशील होनेसे उसे चित्तकी सभी वृत्तियाँ सदैव ज्ञात रहती हैं। क्योंकि चित्त परिणामी है और पुरुष परिणामसे रहित है।

व्याख्या — चित्तका जब बाहरके विषयके साथ सम्बन्ध होता है तो वह उसको ज्ञात होता है और जब सम्बन्ध नहीं होता तो अज्ञात होता है, इसलिये वह कभी बाहरके विषयको जानता है, कभी नहीं जानता है। वह जानने न जानने — इन दोनों अवस्थाओंमें बदलता रहता है। यह उसमें परिणाम होता रहता है, इसलिये वह परिणामी है। पर पुरुषमें यह परिणाम नहीं होता। वह सदा चित्तकी वृत्तियोंका साक्षी है। चाहे उसमें कोई विषय हो या न हो, चित्तका कार्य केवल इतना ही है कि वह जिस विषयसे सम्बन्ध रखता हो उसके आकारमें परिणत होकर उसके स्वरूपको अपने स्वामी चिति (पुरुष) के सामने रख दे। पुरुषको चित्तके ऐसे परिणामका सदा ही ज्ञान बना रहता है। इस ज्ञानसे पुरुषमें चित्तकी भाँति कोई परिणाम नहीं होता। अर्थात् चित्तके विषय घटादि हैं और पुरुषका विषय वृत्तिसहित चित्त है। विषयोंके होते हुए चित्त कभी उन विषयोंको जानता है, कभी नहीं, पर पुरुष अपने चित्तको वृत्तिसहित सर्वदा जानता है। कभी न जानता तो परिणामी होता। अपने काममें सदा जानी हुई भोग्यरूप चित्तवृत्तियाँ ही भोक्ता पुरुषको परिणामशून्य जतलातीं हैं। मानसिक ज्ञानमें अर्थाकारतारूप सम्बन्धकी आवश्यकता है, पर पौरुषेय ज्ञानमें पुरुष अर्थाकार (वस्तुके आकारमें परिणत) नहीं होता, किंतु प्रतिबिम्ब-सम्बन्धसे ज्ञातामात्र होता है। यद्यपि चित्त जड़ है, इससे उसमें ज्ञान (बोध) नहीं हो सकता, तथापि जैसे लोहपिण्डमें अग्निके प्रवेश होनेसे लोह भी प्रकाशरूप होता है, वैसे ही ज्ञानरूप पुरुषके साथ भोग्यता-सम्बन्ध होनेसे चित्तमें ज्ञान कहा जाता है। चित्तको जहाँ-तहाँ प्रकाशरूप कहा है वह इसलिये कि शुद्धतासे प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी इसमें शक्ति है। एक बात और भी है कि चित्तका सर्वदा ज्ञाता पुरुष न हो तो 'मैं सुखी हूँ अथवा नहीं, इत्यादि संशय भी होना चाहिये, सो होता नहीं। इससे भी पुरुष परिणामी नहीं है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.१८ ॥

प्रमाता (जाननेवाला) पुरुष भी जिस समय नील पदार्थको जानता है, उस समय पीतादिसे सम्बन्ध रखनेवाले चित्तके आकारका ग्रहण न करनेसे कदाचित् परिणामी हो जायगा, इस आशङ्काको हटाते हैं —

जो प्रमाण-विपर्ययादिरूप चित्तकी वृत्तियाँ होतीं हैं, उनको ग्रहण करनेवाला चित्तका अधिष्ठाता पुरुष सब कालमें ही जानता है; क्योंकि पुरुषका परिणाम नहीं होता। यदि वह पुरुष परिणामी हो तो परिणामके कभी-कभी होनेसे चित्तकी वृत्तियोंको सदा जाननेवाला नहीं बन सकता। तात्पर्य यह है कि चैतन्यरूप पुरुष, चित्तका सर्वदा स्वामी है और निर्मल अन्तःकरण भी उसके साथ सदैव रहता है। वह चित्त जिस पदार्थके साथ सम्बन्ध करता है, उसी पदार्थका ज्ञाता पुरुष कहलाता है; क्योंकि घटाद्याकार वृत्तियोंमें चेतनका प्रतिबिम्ब-सा पड़ता है। इससे पुरुषमें परिणामिताकी शङ्का कभी नहीं हो सकती।

सङ्गति — शङ्का — अग्निकी भाँति चित्त ही वस्तुका भी प्रकाशक है और अपना भी, इसलिये चित्तसे अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती। इसका समाधान अगले सूत्रमें —

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ ४.१९॥

न = नहीं; तत् = वह चित्त; स्व-आभासम् = स्वप्रकाश (अपनेको आप ही प्रकाश करनेवाला अर्थात् जाननेवाला) है; दृश्यत्वात् = दृश्य होनेसे।

चित्त स्वप्रकाश नहीं है; क्योंकि वह दृश्य है।

"स्वाभासं न कदाप्येतत् दृश्यत्वाच्चित्तमग्निवत्।

न ह्यग्निस्तमसा गूढः पूर्व रूपं प्रकाशते ॥ २०१ ॥ योगसूत्रसारः"

वह चित्त कभी भी अग्निके समान स्वप्रकाश नहीं है दृश्य होने अथवा प्रकृति से निर्मित होने के कारण ज्ञेय है अर्थात् ज्ञाता नहीं है। अग्नि भी जब राखसे ढ़क जाता है तब अपने पूर्व-रूपको प्रकाशित नहीं करता। "अग्नि" अग्निको नहीं दीखती, किसी अन्य चेतन पुरुषको ही दिखती है क्योंकि अग्नि जड़ है। यदि अग्नि पहले अन्धकारसे ढ़का हुआ था बादमें उसने अपना प्रकाश किया ऐसा यदि किसीने कहीं देखा हो तो हम अग्निको पुरुषके समान स्वप्रकाश कह सकते हैं पर ऐसा होता नहीं। अग्नि स्वयंको "मैं अग्नि हूँ" इस प्रकार नहीं जानता अतः पुरुष ही स्वप्रकाश है, अग्नि नहीं। यह भावार्थ है।

अग्निवत् वृत्तय एव स्वप्रकाशा भवेयुः किं वृत्तिसंवेदिना पुरुषेणेति चेत्- न ; यतश्चित्तं परिणामि नीलादिवदतस्तत् स्वाभासं न भवति किन्तु स्वव्यतिरिक्तद्रष्ट्रापेक्षम्। चित्तस्य तु प्रकाशाप्रकाशादिधर्मवत्त्वात् गुणवैषम्यकारणेन वह्न्यादिदृष्टान्तमप्यत्र न सङ्गच्छत इति भावः ॥

व्याख्या — जिस प्रकार दूसरी इन्द्रियाँ और शब्दादि विषय दृश्य होनेसे स्वप्रकाश (अपने आप ही प्रकाश करनेवाले अर्थात् जाननेवाले) नहीं हैं, उसी प्रकार चित्त भी दृश्य होनेसे स्वप्रकाश नहीं है, किंतु पुरुषसे प्रकाश्य और जानने योग्य है। अग्निका दिया हुआ दृष्टान्त भी यहाँ लागू नहीं हो सकता। अग्नि जड़ है, उसको स्वयं अपना ज्ञान नहीं होता, उसको जाननेके लिये किसी अन्य ज्ञानवालेकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार चित्त भी जड़ है, उसे जाननेके हेतु उससे अलग चिति (पुरुष) को मानना पड़ेगा। चित्तके दृश्य होनेमें एक प्रमाण यह भी है कि उसमें सुख, दुःख, भय, क्रोध, राग आदिके जो परिणाम होते हैं वे दूसरेसे देखे जाते हैं; जैसे — मैं सुखी हूँ, मैं क्रोधमें था, मुझे अमुकमें राग है, अभी मेरा मन शान्त है इत्यादि। इससे सिद्ध है कि चित्तकी इस अवस्थाको देखनेवाला उससे अतिरिक्त चेतन पुरुष है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.१९ ॥

यदि सत्त्वगुणकी प्रधानतासे चित्तको ही प्रकाशक मान लिया जाय तो उसको ही अर्थका (विषयका) और अपने स्वरूपका प्रकाशक माननेसे 'यह घट है' इत्यादि व्यवहार हो जायँगे, पुरुषको माननेकी क्या आवश्यकता है। इस शङ्काको हटानेके लिये यह सूत्र है।

वह चित्त, स्वाभास अर्थात् अपने स्वरूपका स्वयं प्रकाशक नहीं है, किंतु पुरुषसे प्रकाश्य है। क्योंकि वह दृश्य (देखनेके योग्य अथवा प्रकाशके योग्य) है। जो-जो दृश्य है, वह-वह द्रष्टासे प्रकाश्य है, यह व्याप्ति है। जैसे घटादि दृश्य हैं और द्रष्टासे प्रकाश्य हैं। चित्त भी दृश्य है, इससे स्वयं प्रकाशक नहीं हो सकता।

सङ्गति — शङ्का — यदि मान लिया जाय कि चित्त ही विषयका ज्ञान कराता है और चित्त ही अपना ज्ञान भी करता है। तो उपर्युक्त दोषकी निवृत्ति हो जाती है। तो अगले सूत्रमें इसका उत्तर देते हैं —

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ ४.२० ॥

एक-समये-च = एक-समयमें और; उभय-अनवधारणम् = दोनोंका विषय और चित्तका ज्ञान नहीं हो सकता।

और एक-समयमें दोनों विषय और चित्तका ज्ञान नहीं हो सकता।

"स्वरूपार्थौ यतश्चित्तं नादत्ते द्वयमेकदा।

स्वाभासं च ततस्तन्न केवलं दृश्यमिष्यते ॥ २०२ ॥ योगसूत्रसारः"

और इस प्रकार एक ही समयमें एक साथ चित्त व विषय {स्वरुप और पररुप} दोनों का बोध या ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वे दोनों ही स्वप्रकाश नहीं है अर्थात् दोनों ही दृश्य कोटि में हैं। मस्तिष्क, बुध्दि और चित्त ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

व्याख्या — यदि यह कहा जाय कि चित्त ही विषयका ज्ञान प्राप्त करता है और चित्तको ही अपना ज्ञान होता है तो इसमें यह दोष आता है कि एक समयमें दो ज्ञान नहीं हो सकते अर्थात् एक विषय-ज्ञान, दूसरा विषयवाले चित्तका ज्ञान। इस कारण चित्तसे अतिरिक्त इसका साक्षी अन्य चेतन पुरुषका मानना अनिवार्य है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.२० ॥

उक्तार्थमें एक शङ्का तो यह है कि चित्तका दृश्यत्व सिद्ध नहीं हुआ, इससे दृश्यत्व साध्यके तुल्य है, इसलिये 'दृश्यत्व' हेतु 'साध्यसम' हेत्वाभास है। और दूसरी शङ्का यह है कि पुरुषकी बुद्धिके व्यापारको जानकर ही हित-प्राप्ति और अहित-निवृत्तिके लिये वृत्तियाँ होतीं हैं तथापि 'क्रुद्धोऽहम्' , 'अत्र मे रागः' 'मैं क्रोधी हूँ' , 'मेरी इसमें प्रीति है' , इत्यादि प्रवृत्तियाँ बिना बुद्धिकी वृत्तिके नहीं हो सकतीं, तो फिर बुद्धिको ही स्वप्रकाशक क्यों न माना जाय ? इन दोनों शङ्काओंका उत्तर इस सूत्रमें दिया है —

'यह वस्तु सुखका हेतु अथवा दुःखका हेतु है' , इस प्रकार व्यवहारकी योग्यता करनेवाला एक वस्तु-सम्बन्धी बुद्धिका वृत्तिरुप व्यापार है। और 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार व्यवहारका सम्पादक बुद्धिका वृत्तिरुप व्यापार दूसरा है। अर्थज्ञान-कालमें ऐसे दो विरोधी व्यापारोंका होना असम्भव है अर्थात् एक कालमें चित्त अपने स्वरूपको और वस्तुओंको निश्चित नहीं कर सकता, इससे चित्त स्वप्रकाशक नहीं है; किन्तु उक्त प्रकारके दो व्यापारोंको करनेके बाद ही दो प्रकारके स्फूर्तिरुप (प्रकाशरुप उपलब्धि) वृत्तियोंसे भिन्न है। फलोंका भान होता है अर्थात् फलरुप भान होता है, इसलिये बहिर्मुखरुपसे ही अपनेमें रहनेवाले चित्तको पुरुष स्वयं जानता है, इससे पुरुषमें ही वह फल है, चित्तमें नहीं।

वृत्तिका तात्पर्य —

घट और चित्त दोनोंका चित्तको एक ही क्षणमें ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये इन दोनोंका साक्षी पुरुष है। 'घटमहमद्राक्षम्' 'घट को मैंने देखा' इस प्रकारका जो स्मृतिज्ञान होता है वह चित्त और घटके अनुभवसे उत्पन्न होता है। एक चित्तके क्षणमें ही नहीं हो सकता, इसलिये इन दोनोंका अनुभवकर्ता इनसे पृथक् पुरुष है।

सङ्गति — शङ्का — यदि ऐसा मान लिया जाय कि एक चित्तसे विषय ग्रहण किया जाता है और उस विषयसहित चित्तको दूसरा चित्त ग्रहण करता है तो विषय और चित्त दोनोंका ज्ञान हो सकता है। इसका उत्तर अगले सूत्रमें —

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥४.२१॥

चित्त-अन्तर-दृश्ये = एक चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य माननेमें; बुद्धिबुद्धेः = चित्तका चित्त होना; अतिप्रसङ्गः = अनवस्था दोष होगा; स्मृति-सङ्करः च = और स्मृतियोंका गड़बड़ हो जाना भी।

यदि पहले चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य माना जाय तो चित्त (ज्ञान) के चित्त (ज्ञान) का अनवस्था दोष होगा और स्मृतियोंका संकर भी हो जायगा।

"वृत्त्यन्तरेण ग्राह्यत्वे वृत्तेरतिप्रसङ्गात् ।

अनन्तवृत्तिबोधे स्यादनन्तस्मृतिसंकरः ॥ २०३ ॥ योगसूत्रसारः"

यदि वृत्यन्तरको स्वीकार करेंगे तो अर्थात् एक चित्तका दूसरे चित्तसे ज्ञान मानेंगे तो ऐसा मानने पर दूसरी बुद्धि के कारण उसमें अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा । तथा इस तरह अनन्त वृत्तियोंको माननेपर सभी स्मृतियों के परस्पर घुल-मिल जानेका दोष भी उत्पन्न हो जायेगा।

व्याख्या — यदि यह माना जाय कि क्षण-क्षणमें चित्त बदलता रहता है, अर्थात् एक चित्तने एक विषय ग्रहण किया और उस विषयसहित चित्तको दूसरे चित्तने। इसी प्रकार उसको तीसरेने, तीसरेको चौथेने, तो यह क्रम बराबर चलता रहेगा — कभी समाप्त न हो सकेगा, इसमें अनवस्था दोष आ जायगा, अर्थात् पहले एक वस्तुका ज्ञान, फिर उस वस्तुके ज्ञानका ज्ञान, इस प्रकार कभी एक ज्ञान भी समाप्त न होने पायेगा। दूसरा दोष स्मृतिसंकरका है। जितनी बुद्धियोंका अनुभव है, उतनी ही स्मृति होगी। अनुभव अनन्त हैं, जब उन सबकी स्मृति होने लगे तो उनके संकर होनेसे यह स्मृति किसकी है ? यह धारणा न हो सकेगी अर्थात् उनमें गड़बड़ी हो जायगी। कुछ पता न चल सकेगा कि किसकी कौन-सी स्मृति है। इस कारण चित्तसे अतिरिक्त द्रष्टा पुरुषको मानना ही पड़ता है। इस सूत्रके द्वारा बौद्धमतका खण्डन किया गया है। क्योंकि ये लोग द्रष्टा पुरुषको न मानकर चित्तको ही सबकुछ मानते हैं। बौद्धलोग पाँच स्कन्धोंमें चित्तकी सीमा निर्धारित करते हैं। वे पाँच स्कन्ध इस प्रकार हैं — १. रूप, २. वेदना, ३. संज्ञा, ४. संस्कार, ५. विज्ञान। विज्ञानमात्र क्षणिक शून्य ही परम तत्त्व है और आत्मा नामकी कोई चीज नहीं है। यह उनका सिद्धान्त है। इनमें विज्ञानका अर्थ होता है विषयोंका अनुभव, वेदना का अर्थ होता है दुःख, संज्ञा और रूप का मतलब होता है शब्द और अर्थ, संस्कार माने वासना। बौद्ध दर्शनमें यही चित्तका स्वरुप है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.२१ ॥

बुद्धिका स्वयं ग्रहण न हो, पर एक बुद्धिका द्वितीय बुद्धिसे ग्रहण हो जायगा (फिर पुरुषान्तर क्यों मानना ?) इस आशङ्का का उत्तर देते है —

यदि बुद्धिको जाननेवाली द्वितीय बुद्धि मानेंगे तो वह दूसरी बुद्धि भी अपने स्वरूपको न जानकर अन्य बुद्धिको प्रकाशित करनेमें असमर्थ है, इससे उस द्वितीय बुद्धिको ग्रहण करनेवाली तृतीय बुद्धि कल्पित करनी चाहिये और उसकी भी ग्राहिका अन्य, इस प्रकारकी अनवस्था हो जायगी तो बिना पुरुषके अर्थज्ञान नहीं होगा; क्योंकि बिना बुद्धिके ज्ञान हुए अर्थज्ञान होता नहीं (इससे बुद्धिसे भिन्न पुरुष मानना चाहिये) । दूसरा दोष यह होगा कि स्मृतियोंका मेल हो जायगा। रूप और रसमें जो बुद्धि उत्पन्न हुई है उस बुद्धिको ग्रहण करनेवाली अनन्त बुद्धियोंके उत्पन्न होनेसे, उन बुद्धियोंसे उत्पन्न संस्कार भी अनेक होंगे। उन अनेक संस्कारोंसे जब एक बार ही बहुत-से स्मृतिज्ञान किये जायँगे तो बुद्धिके समाप्त न होनेसे बहुत-सी बुद्धि स्मृतियोंकी एक बार ही उत्पत्ति होगी। एक बार ही उत्पत्ति माननेसे किस विषयमें यह स्मृति हुई है, यह ज्ञान न हो सकेगा तो स्मृतियोंका मेल हो जायगा। इस गड़बड़ीसे यह रुपविषयमें स्मृति है, यह रसविषयमें, इस प्रकारका विभक्त ज्ञान न हो सकेगा।

क्योंकि वह आत्मा ही अपरिणामी अर्थात् अपरिवर्तनशील है। केवल वही ज्ञान प्राप्त करनेकी क्षमता रखता है अन्य कोई नहीं। किसी भी पदार्थ या वस्तु के ज्ञानका ग्रहण वही कर सकता है जो अपरिवर्तनीय हो। परिवर्तनशील को एक समयमें दो पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। यह उसके (जड़ पदार्थके) वशकी बात नहीं है। आत्मा या द्रष्टा ही ज्ञान-स्वरुप है, चित्त नहीं। इस विषयमें यह श्रुति है —

“ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥ २.१ ॥ (तैत्तिरीयोपनिषद्)”

ब्रह्मवेत्ता ‘परम तत्त्व’ को प्राप्त करता है; क्योंकि प्राचीन ऋचाओं में यही कथन है, ”’ब्रह्म’ ‘सत्य’ है, ‘ब्रह्म’ ‘ज्ञान’ है ‘ब्रह्म’ ‘अनन्त’ है।” जो व्यक्ति सत्ता की हृद्गुहा में निहित ‘उसको’ खोज लेता है ‘उसको’ ही प्राणियोंके परम व्योम में ‘उसे’ पा लेता है, वही समस्त कामनाओं को परितृप्त करता है तथा वही उस विज्ञानमय तथा बोधपूर्ण ‘अन्तरात्मा’ के साथ ‘ब्रह्म’ में निवास करता है।

आत्मा शब्दकी व्युत्पत्ति लिङ्गपुराणमें इस प्रकारसे है —

" यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानयम्।।

यच्चास्य सततं भावस्तस्मादात्मा निरुच्यते।। ७०.९६ ।। (लिङ्ग पुराण)"

अर्थ यह है कि जो आत्मा सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ रुप से सबको व्याप्त करके रहता है "आप्लृ" व्याप्तौ + मनिँन्। स्वादि गण पठित धातु से (आप्नोति = व्याप्नोति) और स्वप्न अवस्था में तैजस रुप से सब कुछ ग्रहण करता है। (आदत्ते = गृह्णाति =स्वीकरोति) और जाग्रत अवस्था में वैश्वानर रुप से सभी विषयों का भोग करता है अद भक्षणे (अत्ति = भुङ्क्ते) और चौथा लक्षण है सन्तत भाव (अतति = अत, सातत्यगमने) तुरीय रुप से तीनों अवस्थाओं में सतत वर्तमान रहता है, व्याप्त रहता है, हमेशा ज्ञान स्वरुप ही रहता है। अत्यते, गम्यते, प्राप्यते, लभ्यते तपोऽनुष्ठानादिभिः यः स आत्मा। "जो व्याप्त करता है, ग्रहण करता है, सम्पूर्ण विषयों का भोग करता है और जिसकी सदैव सत्ता बनी रहती है, उसको आत्मा कहा जाता है।"

सङ्गति — अब अगले सूत्रमें पतञ्जलिके मतमें वृत्तिका भान कैसे होता है इसका प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् पुरुष क्रियारहित और अपरिणामी है और ज्ञान प्राप्त करने अथवा किसी विषयको ग्रहण करनेमें क्रिया और परिणाम दोनों होते हैं। फिर पुरुष चित्तके विषयका ज्ञान कैसे कर सकता है ? इसका समाधान अगले सूत्रमें —

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ ४.२२॥

चिते: = चिति अर्थात् चेतन पुरुषको, अ-प्रति-संक्रमाया: = जो क्रिया अथवा परिणाम-रहित है; तद-आकार-आपत्तौ = स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी तरह आकारकी प्राप्ति होनेपर, स्व-बुद्धि-संवेदनम् = अपने विषयभूत बुद्धि (चित्त) का ज्ञान होता है।

पुरुषको, जो क्रिया अथवा परिणाम-रहित है, स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी प्राप्ति होनेपर अपने विषयभूत चित्त का ज्ञान होता है।

पुरुष का विषयों के साथ सीधा सम्बन्ध न होकर के, विषयों के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए चित्त का ज्ञान होता है।

"चैतन्यं तदसंकीर्णं स्वबुद्धिवृत्तिवेदनम् ।

बुद्धिवृत्तिस्वरुपे तु तद्रूपं जायते पुनः ॥ २०४ ॥ योगसूत्रसारः"

चेतन आत्मा सभी प्रकारके सङ्ग से रहित है लेकिन विषय को ग्रहण किए हुए चित्त के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित होने से उसे स्वयं के चित्तका ज्ञान हो जाता है। अर्थात् बुद्धिवृत्तिके आकारको धारण कर लेता है।

व्याख्या — यद्यपि अपरिणामी भोक्तृशक्ति पुरुष अप्रतिसंक्रम अर्थात् किसी विषयसे सम्बद्ध न होनेसे निर्लेप है तथापि विषयाकार परिणामी बुद्धि (चित्त) में प्रतिबिम्बित हुआ तदाकार होनेसे वह उस बुद्धि (चित्त) की वृत्तिका अनुपाती (अनुसारी) हो जाता है। इस प्रकार चैतन्य प्रतिबिम्बित ग्राहिणी बुद्धि-वृत्ति (चित्त-वृत्ति) के अनुकारमात्र होनेसे ही बुद्धिवृत्तिमें अभिन्न हुआ वह चेतन ज्ञान-वृत्ति कहा जाता है। परमार्थमें वह चेतन ज्ञाता नहीं है। क्योंकि चेतनके प्रतिबिम्बका आधार होनेसे जो चित्तका चेतनाकार हो जाना है वह तदाकारापत्ति है। इस तदाकारापत्तिके होनेसे जो चित्तमें दर्शन-कर्तृत्व है उसको लेकर ही चेतनको द्रष्टा कहा जाता है, वास्तवमें तो यह दृषिमात्र ही है।

"द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥२.२०॥" (पातञ्जलयोगसूत्र)

द्रष्टा जो चेतनमात्र ज्ञानस्वरुप आत्मा है । यद्यपि वह शुद्ध अर्थात् निर्विकार होता हुआ भी बुद्धिवृत्ति के अनुसार देखनेवाला है।

अर्थात् निर्विकार पुरुषमें दर्शनकर्तृत्व ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं है, किंतु जैसे निर्मल जलमें प्रतिबिम्बित हुए चन्द्रमामें अपनी चञ्चलताके बिना ही जलरुप उपाधिकी चञ्चलतासे चञ्चलता भासती है वैसे ही चित्त-प्रति-बिम्बित जो चेतन है वह भी स्वाभाविक ज्ञातृत्व और भोक्तृत्वके बिना ही केवल प्रति-बिम्बाधार चित्तके विषयाकार होनेसे तदाकार भासता है।

अथवा चेतन पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़नेसे चित्तका जो चेतनवत् आकार होना है वह तदाकारापत्ति है। ऐसी तदाकारापत्ति हुए चित्तमें जो ज्ञातृत्व है उसीका निर्विकार पुरुषमें आरोप होता है।

इस प्रकार चैतन्य-प्रतिबिम्बित चित्त ही चिदाकार हुआ अपनेको दृश्य और चेतनको द्रष्टा कर देता है। वास्तवमें पुरुष द्रष्टा नहीं है केवल ज्ञानस्वरुप है, चित्त और चेतनका अभिन्न रुपसे भान होनेसे ही ऐसा कहा गया है। निम्न वाक्यसे चेतनको बुद्धिवृत्ति-अविशिष्ट (अपृथग्भूत) कहा गया है।

न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।

गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते।।

जिस गुफामें शाश्वत (नित्य) ब्रह्म निहित है वह गुफा न पाताल है, न पर्वतोंकी गुफा है, न अन्धकार है, न समुद्रोंकी खाड़ी है, किंतु प्रतिबिम्बित चेतनसे अभिन्न-सी जो बुद्धिवृत्ति (चित्तवृत्ति) है उसीको कवि (ब्रह्मज्ञानी) ब्रह्मगुहा कहते हैं। अविशिष्टा बुद्धिवृत्तिका अर्थ है चैतन्यके साथ एकीभूत-सी बुद्धिवृत्ति।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१.२.१२॥ (कठोपनिषद्)

अध्यात्मयोग के द्वारा उस 'देव' का बोध प्राप्त करके, जो 'पुराण' (पुरातन) है तथा जिसका दर्शन दुर्लभ है, कारण, वह हमारी गूढता में प्रविष्ट हो गया है, गुह्य-सत्ता में निहित है एवं पदार्थों की हृद्गुहा में स्थित है; उसे जानकर ज्ञानी एवं धीर पुरुष हर्ष और शोक का परित्याग कर देता है।

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा बुद्धिसंनिधिमत्तया ।

यथा यथा भवेद्बुद्धिरात्मा तद्वदिहेष्यते ॥४६.२५॥ (सौरपुराणं)

इसे स्फटिक मणि के उदाहरण से भी समझा जा सकता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि के सम्पर्क में कोई अन्य रंग का पदार्थ आ जाता है। तब वह स्फटिक मणि भी उसी रंग की दिखने लगती है। लेकिन वास्तव में स्फटिक मणि का असली स्वरुप कभी भी नहीं बदलता। वह सदा साफ व स्वच्छ ही रहती है। ठीक इसी प्रकार जब आत्मा के सम्पर्क में विषय को ग्रहण किया हुआ चित्त आता है। तो आत्मा को भी उसके विषय का ज्ञान हो जाता है। लेकिन वह आत्मा उस विषय के साथ न ही तो कोई क्रिया करता है और न ही उसके साथ किसी तरह का सङ्ग-साथ। वह आत्मा तो निर्विकार व अपरिवर्तनीय ही रहता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि रहता है।

उपर्युक्त व्याख्या व्यासभाष्यानुसार है। यह सूत्र अधिक महत्त्वका है इसलिये भोजवृत्तिका भाषार्थ भी यहाँ देते हैं —

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.२२ ॥

यदि बुद्धि स्वयंप्रकाश नहीं है और भिन्न बुद्धिसे उसका ग्रहण नहीं होता तो बुद्धिका-ज्ञानरूप व्यवहार कैसे होता है ? इस आशङ्काको करके अब अपना सिद्धान्त कहते हैं —

पुरुष जो कि चैतन्यरुप है, वह किसीसे मिला हुआ नहीं अर्थात् जैसे सत्त्व, रजस् आदि गुणोंका जब अङ्गाङ्गिभाव लक्षण परिणाम होता है तो वे गुण अपने प्रधान गुणके-से रूपको धारण कर लेते हैं। अथवा जैसे लोकमें फैलते हुए परमाणु एक विषय (घटादि) को बना देते हैं, वैसे चैतन्य शक्ति नहीं है, क्योंकि वह सर्वदा एकरूप सुप्रतिष्ठित रहती है, उस चैतन्यशक्तिके सङ्ग होनेसे जब बुद्धि चैतन्य-सी हो जाती है, और जब चेतन शक्ति बुद्धिवृत्तिमें प्रतिफलित हुई बुद्धिवृत्तिसे मिली हुई जानी जाती है, तब (चितिको) बुद्धिमें अपने स्वरुपका ज्ञान होता है।

वृत्तिका तात्पर्य यह है कि यद्यपि जैसे बुद्धिका क्रियाद्वारा घटादि सम्बन्ध होता है, वैसे चितिका बुद्धिके साथ संयोग नहीं है; क्योंकि चिति परिणाम शून्य है। तथापि जैसे सूर्यका जलमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे चितिका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, इससे बुद्धिको चिदाकारता होनेसे चितिको बुद्धिवृत्तिसहित बुद्धिका भान होता है।

सङ्गति — पिछले आठ सूत्रोंमें यह सिद्ध करके कि बाह्य-जगत् और पुरुष चितिसे भिन्न हैं, अब यह बताते हैं कि चित्तको ही बाह्य वस्तु और आत्मा मानने और उससे अतिरिक्त इन दोनोंका अस्तित्व न माननेमें क्यों भ्रान्ति होती है ?

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ ४.२३॥

द्रष्टृ-दृश्य-उपरक्तम् = द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ; चित्तम् = चित्त; सर्वार्थम् = सारे अर्थोंवाला (आकारवाला) होता है।

द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ चित्त सारे अर्थोंवाला (सारे रुपोंवाला) होता है।

“मन्तव्यार्थोपरक्तं तत् सद्विषयञ्च मानसम् ।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं हि चित्तं सर्वार्थमुच्यते ॥ २०५ ॥ योगसूत्रसारः”

चित्त का आत्मा – दृष्टा व विषय के साथ सम्बन्ध हो जाने से द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ वह चित्त सभी प्रयोजन (भोग एवं अपवर्ग) कि सिद्धि करने वाला हो जाता है। अर्थात् सभी अर्थों वाला प्रतीत होता है।

व्याख्या — १. चित्त, गुणोंका प्रथम सात्त्विक विषम परिणाम, प्रसवधर्मी (क्रियावाला), परिणामी और अचेतन (जड़) है। यह उसका अपना ग्रहण स्वरुप है।

२. पुरुषसे प्रतिबिम्बित होकर चित्त चेतन अर्थात् ज्ञानवाला प्रतीत होता है। यह उसका द्रष्टासे उपरक्त हुआ गृहीता स्वरुप है। इसीसे ही चित्तको चेतन और उससे अन्य किसी पुरुषके न होनेकी भ्रान्ति होती है।

३. बाह्य विषयोंसे प्रतिबिम्बित होकर चित्त उन-जैसा भासने लगता है। यह उसका दृश्य उपरक्त ग्राह्य स्वरुप है। इसीसे यह भ्रान्ति होती है कि चित्तसे अतिरिक्त कोई बाह्य विषय और बाह्य जगत् नहीं है।

वास्तवमें चित्त, बाह्य जगत् और वस्तुएं और पुरुष तीनों अलग-अलग हैं और अपनी अलग-अलग सत्ता रखते हैं।

चित्त केवल दृश्य (अर्थ) से ही उपरक्त (सम्बद्ध) नहीं होता है, किंतु अपनी वृत्ति (प्रतिबिम्ब) द्वारा विषयी पुरुष (प्रतिबिम्बित चेतन) भी उसके साथ सम्बन्धवाला है। इसीसे 'घटमहं जानामि' (मैं घटको जानता हूँ) यह जो प्रत्यक्षरुप ज्ञान है वह विषय और विषयी इन दोनोंका उपस्थापक होता है, केवल दृश्य अर्थका ही उपस्थापक नहीं होता है।

इस प्रकार चित्त अचेतन विषयरूप होते हुए भी चेतन और विषयीके सदृश होनेसे चेतनाचेतन स्वरूप तथा विषय-विषयी अर्थात् दृश्य-द्रष्टारूपसे भासता हुआ स्फटिकमणि (बिल्लोर) के सदृश अनेक रूपवाला है।

जिस प्रकार एक स्फटिकमणि (बिल्लोर) के पास एक नीला पुष्प और एक लाल पुष्प रख दें तो वह एक बिल्लोर ही नीले फूल और लाल फूलके प्रतिबिम्ब से और तीसरे अपने निज रूपसे तीन रूपवाला प्रतीत होता है, इसी प्रकार एक ही चित्त विषय और पुरुषके प्रतिबिम्बसे और तीसरे अपने रूपसे ग्राह्य, गृहीता और ग्रहणस्वरूप होकर तीन रूपवाला हो जाता है अर्थात् अपने रूपसे ग्रहणाकार, विषयके प्रतिबिम्बसे ग्राह्याकार और पुरुषके प्रतिबिम्बसे ग्राहकाकार होनेसे चित्त सर्वार्थ (सर्वरूप) है।

अथवा सिनेमाके साधारण श्वेत रङ्गकी चादर (पर्दा) के सदृश चित्तका अपना ग्रहणाकार रूप है। विद्युत् से प्रकाशित चादरके समान उसका आत्मासे प्रकाशित द्रष्टृ उपरक्तरूप है और चित्रोंसे युक्त चादर-जैसा विषयसहित चित्तका ग्राह्याकार दृश्य उपरक्त रूप है। इस प्रकार चित्त सर्वार्थ (सर्वरूप) है।

चित्तकी इस सर्वार्थता (सर्वरूपता) के ही कारण किन्ही-किन्ही अभ्यासियोंको चित्तको पुरुषके प्रतिबिम्बसे भासते हुए उसके गृहीत्राकार स्वरूपको देखकर यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि चित्तके अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष (आत्मा) नहीं है तथा उसके दृश्यके प्रतिबिम्बसे भासते हुए ग्राह्याकार स्वरूपको देखकर किसी-किसीको यह भ्रम होता है कि चित्तसे भिन्न कोई ग्राह्य वस्तु नहीं है। *

* चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।

चित्तं हि जायते नान्यच्चितमेव निरुध्यते॥ १०.१४५ ॥ (सद्धर्मलङ्कावतारसूत्रम्)

चित्तकी ही प्रवृत्ति होती है और चित्तकी ही विमुक्ति होती है। चित्तको छोड़कर दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका नाश होता है। चित्त ही एकमात्र तत्त्व है।

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।

देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥ -(लंकावतार सूत्र, ३.३३)

अर्थात् बाह्य दृश्यजगत बिलकुल विद्यमान नहीं है। चित्त एकाकार है। परन्तु वही चित्त इस जगत में विचित्ररूपों से देखा जाता है। कभी वह चित्त देह के रूप में तो कभी भोगके (वस्तुओंके उपभोग के) रूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसलिये चित्त की ही वास्तविक सत्ता है। जगत उसी चित्त का परिणाम है।

चित्तमात्रं न दृष्योस्ति द्विधा चित्तं हि दृश्यते।

ग्राह्य ग्राहक भावेन शाश्वतोच्छेद वर्जितम्।। (लंकावतारसूत्र, ३.६५)

चित्त दो प्रकारो के प्रतीत होते है। (१) ग्राह्य-विषय, (२) ग्राहक-विषयी — यही बात को बताते है। ग्रहण करनेवाली वस्तु की उपलब्धि के समय तीन पदार्थ उपस्थित होते हैं — एक तो जिसका ग्रहण करना हो वह (घट-पटादि विषय). दूसरा वस्तु को ग्रहण करनेवाला (विषयी-कर्ता) और तीसरी वस्तु है उन दोनों का परस्परसंबंध अर्थात् ग्रहण।। ग्राह्य, ग्राहक और ग्रहण अथवा ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान, ये तीन सर्वत्रविद्यमान होते हैं। साधारण दृष्टि से ये तीन वस्तु की सत्ता है। परन्तु ये तीन ही एकाकारबुद्धि (या विज्ञान अथवा चित्त) के परिणाम हैं, जो वास्तविक नहीं है, परन्तु काल्पनिक है। भ्रान्त दृष्टिवाला व्यक्ति ही इस त्रिपुटी की कल्पना करके इनको भेदवाला बनाता है।

विज्ञानवादी बौद्धोंके द्वारा जो तर्क उपस्थापित किये जाते हैं उनका वर्णन करते हुए आदि शंकराचार्य उपदेशसाहस्री में कहते हैं कि —

'अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते'॥ १८.१४२॥ (उपदेशसाहस्री)

अर्थात् चित्त ही द्विविध रूपसे प्रतीयमान होता है (१) ग्राह्य-विषय, (२) ग्राहक-विषयी ॥ भ्रान्त दृष्टिवाला व्यक्ति ही अभिन्न बुद्धिमें ग्राह्य, ग्राहक, ग्रहण — इस त्रिपुटीकी कल्पना कर उसे भेदवती बनाता है। ॥

अविभागो हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवान् इव लक्ष्यते ॥ ४॥ ४.२ बौद्धपक्षे योगाचारमतं (सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहः) ॥

उनका यह भ्रम समाधिद्वारा आत्माके साक्षात्कारसे दूर हो सकता है। अर्थात् समाधिकालमें जो सविकल्प प्रज्ञा होती है, उस प्रज्ञामें प्रतिबिम्बित अर्थ भिन्न है और जिसमें विषयका प्रतिबिम्ब पड़ता है वह प्रज्ञा भिन्न है तथा प्रतिबिम्बित पदार्थयुक्त प्रज्ञाको अवधारण करनेवाला जो पुरुष है वह भिन्न है। चित्त ही सबकुछ नहीं हो सकता; क्योंकि गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य सब भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं। जिस प्रकार दर्पण के सामने दो अलग-अलग रंग के वस्त्र रख दिए जाए तो वह दर्पण दो रंग का नजर आएगा । जहाँ तक एक रंग के वस्त्र की परछाई उस दर्पण पर पड़ेगी वहाँ तक वह दर्पण उसी रंग का दिखाई देगा । और जहाँ से दूसरे रंग के वस्त्र का क्षेत्र (प्रतिबिम्ब) शुरु होगा वहाँ से वह दर्पण दूसरे रंग का दिखाई देगा । इन दोनों के अतिरिक्त उस दर्पण का अपना वास्तविक स्वरुप भी होता है । इस प्रकार अज्ञानता के कारण एक ही प्रकार का दर्पण हमें तीन प्रकार का दिखाई देता है। ठीक इसी अज्ञानता के कारण हम चित्त को विषयों और आत्मा से अलग होते हुए भी उसे उन्हीं के रूप में मानने की भूल करते हैं । इस अज्ञानता को समाधि के द्वारा ही दूर किया जा सकता है । श्रुति में भी कहा है कि —

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१.५॥ (केनोपनिषद्)

'वह' जो मन के द्वारा मनन नहीं करता, १ 'वह' जिसके द्वारा मन स्वयं मनन का विषय बन जाता है, 'उसे' ही तुम 'ब्रह्म' जानो, न कि इसे जिसकी मनुष्य यहां उपासना करते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषत् में भी यह विषय स्पष्ट किया गया है —

अथात आदेशो 'नेति नेति' । न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति । अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति । प्राणा वै सत्यम् । तेषामेष सत्यम् ॥ २,३.६ ॥

(अब से (ब्रह्म के बारे में) आदेश 'नेति नेति' (यह नहीं, यह नहीं) है।

इसके अलावा दूसरा आदेश (मार्ग) नहीं है। दूसरा उपदेशक्रम नहीं है।)

अब इसका नाम 'सत्य का सत्य ' रहेगा। प्राण ही सत्य हैं। उनका यह सत्य है।

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तं सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ ६ ॥

उस व्यक्ति का रूप हल्दी से रंगे कपड़े के समान है, या भूरे भेड़ की ऊन की तरह, या इंद्रगोप नामक लाल रंग के कीट की तरह, या आग की जीभ की तरह, या सफेद कमल की तरह, या बिजली की चमक की तरह है। जो यह जानता है – उसका वैभव बिजली की चमक के समान है। अब, इसलिए, ब्रह्म का वर्णन — "यह नहीं, यह नहीं" (नेति, नेति); क्योंकि "यह नहीं" के अलावा कोई अन्य और अधिक उपयुक्त विवरण नहीं है। अब ब्रह्म का पद-नाम — "सत्य का सत्य।" प्राणवायु सत्य है और यह (ब्रह्म) उसका भी सत्य है।

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद□ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषा□ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ ७.२५.२ ॥ (छान्दोग्योपनिषत्)

अब अगला आत्माके (स्वयं के) संदर्भ में अनंत के बारे में निर्देश का अनुसरण करता है — आत्मा ही वास्तव में, नीचे है। यही ऊपर है। यही पीछे है। यही पूर्व अर्थात् पहले है। यही दक्षिण की ओर है। यही उत्तर की ओर है। आत्मा (स्वयं), वास्तव में, यह सब है। "वास्तव में, जो इसे देखता है, इस पर चिंतन करता है और स्वयं के साथ स्व-खेल में इस आनंद को समझता है, स्वयं में आनन्दित होता है। शरीर में रहते हुए भी वह एक स्व-शासक बन जाता है। वह असीमित स्वतंत्रता प्राप्त करता है सारी दुनिया उसकी है। "लेकिन जो इससे अलग सोचते हैं, उनके शासक अन्य होते हैं, वे विनाशी दुनिया में रहते हैं। उन्हें सारी दुनिया में कोई स्वतंत्रता नहीं है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।

अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ २.२.१२ ॥ (मुण्डकोपनिषत्)

यह सब कुछ अमृतस्वरूप 'ब्रह्म' ही है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं; 'ब्रह्म' ही हमारे सम्मुख है, 'ब्रह्म' ही पश्चात् है, हमारे दक्षिण में भी हमारे उत्तर में भी, हमारे नीचे तथा हमारे ऊपर भी, यह सर्वत्र व्याप्त है। यह सम्पूर्ण अद्भुत विश्व केवल 'ब्रह्म' ही है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।७.१९।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ परमात्मा ही है', ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

पतञ्जलि ने भी योगसूत्रके दूसरे पादमें —

"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः॥२.२६॥"

निश्चल और निर्दोष विवेकज्ञान ही हान का (कैवल्य का) उपाय है ।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.२३ ॥

इस प्रकार पुरुषसे जाना हुआ चित्त, सब वस्तुओंके ग्रहण करनेकी शक्तिके कारण, सब व्यवहारोंके निर्वाह-योग्य होगा, यह कहते हैं —

द्रष्टा पुरुष है, उसके साथ चित्त भी चेतन-सा हो जाता है और जब दृश्य विषयोंके साथ सम्बन्ध करता है अर्थात् विषयाकाररूपी परिणामको प्राप्त होता है, तब वही चित्त सब वस्तुओंको ग्रहण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न होता है। जैसे निर्मल स्फटिक (बिल्लोर) दर्पण (शीशा) आदि ही प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेमें समर्थ होता है वैसे रजोगुण और तमोगुणसे अनाक्रान्त, शुद्ध चित्त सत्त्व ही, चेतनका प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें समर्थ होता है। रज और तम, दोनों अशुद्ध होनेके कारण प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं। वह चित्त रज और तमको दबाता हुआ सत्त्वप्रधान बनकर स्थिर दीपककी शिखा (चोटी) के आकार-सा चेतनके प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्तिके कारण सदा एक रूपसे परिणत होता हुआ मोक्षतक रहता है। जैसे चुम्बकके निकट होनेपर लोहेका चलना प्रकट होता है। ऐसे ही चैतन्य रूप पुरुषके निकट सत्त्वका अभिव्यंग्य चैतन्य प्रकट हो जाता है। इसीसे इस शास्त्रमें दो प्रकारकी चिच्छक्ति (ज्ञानशक्ति) मानी जाती है। एक नित्योदिता (नित्य उदित), द्वितीय अभिव्यंग्य (प्रकाश होने योग्य) नित्योदिता। चेतन शक्ति पुरुष है। उसीकी निकटतासे प्रकाशनीय है चैतन्य, जिसका ऐसा सत्त्व प्रकटित होता है, वही अभिव्यंग्य चिच्छक्ति है। वह अत्यन्त समीप होनेसे पुरुषका भोग्य है। अर्थात् नित्योदित कूटस्थ चिच्छक्तिका सुखादिकी समानरूपताको प्राप्त हुई, चित्प्रतिबिम्बरूप चिच्छक्ति भोग है। वही सत्त्व, शान्त ब्रह्मवादी सांख्यों (योगाचार्यों) से परमात्माद्वारा अधिष्ठेय अर्थात् कर्मानुकूल सुख-दुःखका भोक्ता कहा जाता है। तीनों गुणोंवाले, सुख-दुःखादि रूप (घटादि) जो कि बिना किसी विशेषताके, किसी गुणके प्रधान होनेसे प्रतिक्षण परिणत होते रहते हैं, वे कर्मानुसारी (चित् प्रतिबिम्बयुक्त) शुद्ध सत्त्वमें, अपने आकारको समर्पण करनेसे ज्ञेय बन जाते हैं। जिसमें चेतनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिसका विशिष्ट आकार विषयोंके आकारको ग्रहण करनेसे बनता है और जो वस्तुतः चेतन न होनेपर भी चित् प्रतिबिम्बके बलसे चेतन-सा प्रतीत होता है वह पहला चित्त सत्त्व ही सुख-दुःखरूप भोगका अनुभव करता है। वही भोग पुरुषके भी अत्यन्त निकट होनेसे भेद-ज्ञान न होनेसे अभोक्ता पुरुषका भी भोग कहा जाता है। इसी अभिप्रायसे विन्ध्यवासी (किसी आचार्य) ने कहा है कि — चित्त सत्त्वका दुःखादि ही पुरुषका दुःखादि है और अन्यत्र भी लिखा है कि 'बिम्बके रहते हुए, प्रतिबिम्बित छायाके सदृश छायाका प्रकट होना प्रतिबिम्ब शब्दसे कहा जाता है'। वैसे ही चित्त सत्त्वमें भी पुरुषके प्रतिबिम्बके तुल्य चैतन्यका प्रकट होना 'प्रतिसंक्रान्ति' शब्दका अर्थ है। तात्पर्य यह है कि दो प्रकारका भोग है, एक चिदवसानतारूप और दूसरा परिणामलक्षण। प्रतिबिम्बित चिच्छक्तिरूप पुरुषका चिदावसानतारूप भोग है और प्रतिबिम्बित हुआ है चैतन्य जिसमें ऐसी सुखादि आकारसे परिणत होनेवाली बुद्धि (चित्त) का परिणामलक्षण भोग है।

शङ्का यह है कि जिसका परिणाम नियत अर्थात् परिच्छिन्न हो ऐसी निर्मल वस्तुका, निर्मल (शुद्ध) वस्तुमें प्रतिबिम्ब पड़ता है; जैसे मुखका शीशेमें। परंतु अत्यन्त निर्मल पुरुषकी अपेक्षा, जो अशुद्ध सत्त्व है, उसमें अत्यन्त निर्मल, व्यापक, अपरिणामी (परिणामशून्य) पुरुषका प्रतिबिम्ब कैसे पड़ता है ? उत्तर यह है कि — प्रतिबिम्बके स्वरूपको न जानकार शङ्काकारने यह कहा है — क्योंकि सत्त्वमें प्रकाशनीय चैतन्य शक्तिका पुरुषकी निकटतासे प्रकटित हो जाना ही प्रतिबिम्ब है, और पुरुषमें जैसी चेतनशक्ति है उसीकी छाया भी इसमें प्रकट होती है। यह कहना कि अत्यन्त निर्मल पुरुष, अशुद्ध सत्त्वमें कैसे प्रतिबिम्बित होता है, यह भी व्यभिचरित है अर्थात् अत्यन्त शुद्ध वस्तुका भी अपनेसे अशुद्ध वस्तुमें प्रतिबिम्ब पड़ता है। जैसे निर्मलतासे निकृष्ट जलादिमें अत्यन्त निर्मल सूर्यादि प्रतिबिम्बित हुए मालूम होते हैं। यह कहना कि व्यापकका प्रतिबिम्ब नहीं होता, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यापक आकाशका शीशेमें प्रतिबिम्ब मालूम होता है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब माननेमें कोई दोष नहीं। दूसरी शङ्का यह है कि सत्त्वगुणके परिणामरूप बुद्धि सत्त्व (अन्तःकरण) में पुरुषकी निकटतासे प्रकाशित चिच्छक्तिका जो बाह्य वस्तुओंके सम्बन्ध होनेपर भोग है, वही पुरुषका भोग है, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यदि प्रकृति परिणाम रहित है तो चित्त सत्त्व कैसे हो सकता है ? और यदि प्रकृतिमें परिणाम होता है तो वह परिणाम उसका क्यों होता है ? और यह कहना कि पुरुषार्थ कर्त्तव्यता को अर्थात् पुरुषको सुख-दुःखादि देनेके लिये प्रकृतिका परिणाम होता है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि 'पुरुषार्थ मुझे करना चाहिये' इस प्रकारकी इच्छाको 'पुरुषार्थ कर्तव्यता' कहते हैं। प्रकृति जड़ है। उसमें ऐसी इच्छा पहले कहाँसे आयी ? और यदि वैसी इच्छा है तो प्रकृतिको जड़ क्यों कहा जाता है ? (उत्तर) प्रकृतिमें अनुलोम और प्रतिलोम — दो प्रकारके स्वाभाविक परिणाम होते हैं। वे ही परिणाम 'पुरुषार्थकर्तव्यता' कहलाते हैं। वह परिणामरूप शक्ति, जड़ प्रकृतिमें भी स्वाभाविक है। इस प्रकृतिका बहिर्मुख रूपसे महत्-आदिसे लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त अनुलोम परिणाम होता है; फिर अपने-अपने कारणमें प्रवेशद्वारा (अर्थात् पृथ्वीका जलमें, जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें इत्यादि रूपसे) अस्मितातक प्रतिलोम

परिणाम होता है। इस तरह जब पुरुषके भोगोंकी समाप्ति हो जानेसे प्रकृतिकी स्वाभाविक उक्त दोनों शक्तियाँ नष्ट हो जातीं हैं, तब मुक्त पुरुषके प्रति प्रकृति कृतार्थ हुई (अपने कामको समाप्त करनेवाली) (उस मुक्त पुरुषके लिये) फिर परिणामको नहीं आरम्भ करती। जड़ प्रकृतिको ऐसी पुरुषार्थ-कर्तव्यता माननेसे कोई दोष नहीं।

शङ्का — यदि ऐसी स्वाभाविक शक्ति प्रकृतिमें है तो मुमुक्षु पुरुष मोक्षके लिये क्यों प्रयत्न करता है ? यदि मोक्ष इष्ट न हो तो मोक्षका उपदेशक शास्त्र व्यर्थ ही हो जाय। अर्थात् जब इच्छादि प्रकृतिमें ही है तो मुक्ति और बन्धन प्रकृतिके ही अधीन हुए, फिर पुरुष क्यों यत्न करता है ?

उत्तर — प्रकृति और पुरुषका भोग्य-भोक्तारुप सम्बन्ध अनादिकालसे है, उसके रहते हुए प्रकटित हुआ है चैतन्य जिसमें ऐसी प्रकृतिको 'कर्तृत्वाभिमान' 'मैं करता हूँ' इस प्रकारका अभिमान होता है, उस अभिमानसे दुःखका अनुभव होता है। दुःखके अनुभव होनेसे (पुरुष) यह चाहता है कि मुझे यह अत्यन्त दुःखनिवृत्ति कैसे हो, तो दुःखनिवृत्तिके उपायके उपदेशक शास्त्रकी अपेक्षा प्रकृतिको होती है। दुःख-निवृत्तिका इच्छुक कर्माधिकारी अन्तःकरण शास्त्रोपदेशका विषय है। अन्य दर्शनोंमें भी इस प्रकारका ही अविवेकी शास्त्रमें अधिकारी है। वही अधिकारी मोक्षके लिये यत्न करता हुआ, ऐसे शास्त्रोपदेशरूपी कारणकी अपेक्षासे मोक्षरूप फलको प्राप्त होता है। सब कार्य अपनी सामग्रीको प्राप्त होनेपर ही स्वरुपको लाभ करते हैं। प्रकृतिके प्रतिलोम परिणामद्वारा उत्पन्न मोक्षरुप कार्यकी ऐसी ही सामग्री शास्त्रादि प्रमाणोंसे निश्चित है। द्वितीय प्रकारसे उपपादन नहीं हो सकता, तो शास्त्रोपदिष्ट यम, नियम, विवेक-ज्ञानादि रुप सामग्रीके बिना मोक्ष कैसे हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ

कि विषयोंके आकारको ग्रहण करनेवाला और प्रकट हुआ है चैतन्यप्रतिबिम्ब जिसमें ऐसा अन्तःकरण विषयोंका निश्चय करके सब व्यवहारोंको चलाता है। इस प्रकारके कथनसे ऐसे ही चित्तको मानते हुए और जगत् स्वसंवेदन चित्तमात्र है (स्वेन स्वरुपेण संवेदनं प्रकाशो यस्य तच्चित्तं तदेव) अर्थात् अपने स्वरुपसे ही प्रकाश है जिसका ऐसा केवल चित्त ही जगत् है, इस प्रकार कहनेवाले लोग समझाये जाते हैं। (क्योंकि चित्तसे भिन्न ज्ञाता, ज्ञेयादि भी हैं)।'

विशेष वक्तव्य — ॥ सूत्र ४.२३॥ वार्तिककार (विज्ञानभिक्षु) और तत्त्व वैशारदीकार (वाचस्पति मिश्र) ने इस सूत्रपर और इससे पूर्व सूत्रपर जो भाष्य लिखा है, उसका तात्पर्य निम्न प्रकार है —

भोक्ता पुरुष परिणामशून्य है, इससे उसमें कहीं आना-जाना नहीं होता, किन्तु बुद्धिवृत्तिमें वह प्रतिबिम्बित-सा होता है, इसलिये बुद्धिवृत्तिको चेतन-तुल्य बना देता है। अन्यथा 'घटमहं जानामि' 'मैं घटको जानता हूँ' यह बुद्धिवृत्ति चेतन भावार्थ नहीं हो सकती; क्योंकि अहं पदका अर्थ केवल जड़ बुद्धि नहीं है। जैसे बुद्धि (अन्तःकरण) इन्द्रियादिद्वारा अर्थोंके सन्निकर्षसे अर्थों (घटादिकों) के आकारमें परिणत होकर अर्थाकार होती है, वैसे ही पुरुषके अत्यन्त सन्निकर्ष भोग्य-भोक्तृत्वरुप सम्बन्धसे उसके प्रतिबिम्बको ग्रहण करके आत्माकार बन जाती है। परिणाम बुद्धिमें ही होता है, वह बहिर्मुख होकर विषयाकार होती है (विषयाकार होनेसे ही, मनकी स्वप्नावस्थामें तत्तदाकारसे वृत्तियाँ होती रहतीं है) और अन्तर्मुख होकर आत्माकार प्रतिबिम्बको ग्रहण करना ही उसकी आत्माकारता है। वस्तुतः प्रतिबिम्बके न होनेपर भी बुद्धिका आत्माकार हो जाना ही प्रतिबिम्ब है। अपने (इस प्रकार) प्रतिबिम्बद्वारा ही चेतन भोक्ता कहलाता है। अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व — ये सब बुद्धिवृत्तिमें वास्तविक हैं और पुरुषमें आरोपित हैं। तात्पर्य यह कि बुद्धिवृत्ति तत्तदाकारसे परिणत हुई अपने स्वरुपको पुरुषके लिये समर्पण करती है, इससे पुरुषमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व समझा जाता है। और आत्मा भी प्रतिबिम्बद्वारा अपने रुपको बुद्धिके अर्पण करता है, इससे बुद्धि चेतन समझी जाती है। आत्माकार-सा बुद्धिवृत्तिका हो जाना प्रतिबिम्बके तुल्य होनेसे प्रतिबिम्ब कहलाता है। केवल वृत्तियोंका बोध भी क्रोधादि वृत्तियोंके तुल्य है, वह 'जानामि' 'मैं जानता हूँ' इस वृत्तिका विषय होता है। इस सूत्रमें चित्तको 'सर्वार्थ' कहा है। इस शब्दका अर्थ यह है कि चित्त ग्राह्य, ग्रहण, गृहीता — इन सबको ग्रहण करता है 'अयं घटः' 'यह घट है' इस व्यवसायात्मक ज्ञानके अनन्तर 'घटमहं जानामि' 'मैं घटको जानता हूँ' इस प्रकारका जो अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है वह भी पूर्व-ज्ञानके तुल्य साक्षिभाष्य है, इसलिये सर्वार्थ कहना ठीक है। इस उत्तर-ज्ञानमें ज्ञेय, ज्ञाता,

ज्ञान — तीनों समान होते हैं। 'द्रष्टृदृश्योपरक्तम्' अर्थात् पुरुष और विषय-दोनोंके आकारवाला चित्त होता है। पुरुष और बुद्धिकी अत्यन्त समीपता है, इससे शब्दाद्याकारादिवत् पुरुषाकार बुद्धिवृत्ति होकर पुरुषमें प्रतिबिम्बित होती है, उस बुद्धिवृत्तिका प्रकाश होना ही पुरुषमें शब्दादिका ज्ञान और पुरुषका ज्ञान कहलाता है। इससे पुरुष-ज्ञानके लिये पुरुषान्तर अथवा ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं और न कर्मकर्तृविरोध है अर्थात् 'अहं जानामि' 'मैं जानता हूँ' इत्यादि प्रतीतियोंका आश्रय होनेसे कर्ता और उक्त प्रतीतियोंका विषय होनेसे आत्मा कर्म होता है। पर आत्माके विरुद्ध कर्मकर्तृत्व कैसे रह सकते हैं इस प्रकारका विरोध नहीं है। क्योंकि अन्तःकरणको द्वार माना जाता है। जैसे स्फटिकमणि दोनों तरफ भिन्न-भिन्न प्रकारकी वस्तुओंके और अपने स्वरूपके साथ तीनों रूपवाला-सा प्रतीत होता है वैसे ही चित्तकी दशा है (यहाँ स्फटिकका दृष्टान्त सर्वांशमें नहीं है, क्योंकि उसमें प्रतिबिम्बमात्र पड़ता है और चित्त तदाकारसे परिणत भी होता है। इससे उस-उस वस्तुके साथ मेल होनेसे वैसा-वैसा प्रतीत होनेमात्रमें दृष्टान्त है)

सब वस्तुओंको भ्रममात्रसे कल्पित मानना भी ठीक नहीं। सीपमें जो चाँदीका अथवा रज्जुमें जो सर्पका ज्ञान होता है वह सारूप्य दोषसे है, इससे अविद्याकी सर्वत्र कल्पना करना अयुक्त है। भ्रम-स्थलोंमें विषयका आकार चित्तमें रहता है, विषय सत्य ही है।

जिन सांख्ययोगी वेदान्तियोंने विवेकद्वारा गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य — इन तीनोंको परस्पर विजातीयरूपसे पृथक्-पृथक् जान लिया है, वही समदर्शी है, उन्होंने ही पुरुषके-स्वरूपको जान लिया है। अन्य जो अविवेकी हैं वे सब भ्रांतिमें हैं। उनकी उपेक्षा न करनी चाहिये, किंतु कृपा करके उनको बोधन कराना चाहिये।

सङ्गति — चित्तातिरिक्तात्मसद्भावे हेत्वन्तरमाह — चित्तसे अतिरिक्त आत्माके सद्भावमें एक अन्य कारण बतलाते हैं। शङ्का — जब चित्तसे सब व्यवहार चल रहे हैं और उसीमें सब वासनाएँ रहतीं हैं तो द्रष्टा प्रमाणशून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध होता है। इसका समाधान अगले सूत्रमें चित्तसे अन्य भोक्ता है इस प्रकार दिया गया है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ ४.२४॥

तत् = वह = चित्त; असंख्येय-वासनाभिः-चित्रम्-अपि = अनगिनत वासनाओंसे चित्रित हुआ भी; पर-अर्थम् = दूसरेके लिये है; संहत्य-कारित्वात् = संहत्यकारी होनेसे।

चित्त गणनातीत (अनगिनत) वासनाओंसे संवलित अर्थात् चित्रित हुआ भी परार्थ है; अर्थात् अपने से भिन्न पुरुष के लिये है क्योंकि वह संहत्यकारी है।

" चित्तं संहत्यकारित्त्वात् परार्थमिति कथ्यते ।

तदसंख्येयसंस्कारैश्चित्रितं अपि गेहवत् ॥ २०६ ॥ योगसूत्रसारः"

जो संहत्यकारी होता है वह परार्थ हुआ करता है, घर के समान। जैसे घरमें अनेक चीजें होती हैं और वे सब चीजें घरके मालिकके लिये होती हैं, वैसे ही वह चित्त अनंत या अनगिनत वासनाओं से चित्रित होने पर भी जीवात्मा के लिये है, क्योंकि संघात स्वभाववाला होने से वह दूसरों के लिए प्रयोजन सिद्ध करने वाला होता है।

व्याख्या — जो वस्तु कई चीजोंसे मिलकर कामकी बनती है वह संहत्यकारी कहलाती है। जैसे मकान, शय्या, रथ आदि। संहत्यकारी वस्तु अपने लिये नहीं होती, बल्कि किसी दूसरेके लिये होती है, जैसे कार, बंगला, पलँग आदि अपने लिये नहीं हैं; बल्कि किसी दूसरेके यात्रा करने, रहने और आराम करनेके लिये हैं। इसी प्रकार चित्त भी सत्त्व, रजस् और तमस् गुणोंके अङ्ग-अङ्गीभावके मेलसे सत्त्वप्रधान बना है। इसलिये वह भी संहत्यकारी है और किसी दूसरेके लिये होना चाहिये सो पुरुषके ही भोग-अपवर्गके लिये इसकी प्रवृत्ति होती है।

यद्यपि यह ठीक है कि अनन्त वासनाओं (कर्म-वासना, क्लेश-वासना) से चित्रित होनेके कारण चित्तहीको भोक्ता मानना चाहिये, क्योंकि जो वासनाका आश्रय होता है वह भोगका आश्रय होनेसे भोक्ता बन सकता है, अन्य नहीं। तथापि जड़ संहत्यकारी होनेसे वह चित्त स्वार्थ नहीं किंतु परार्थ ही है अर्थात् पुरुषके ही भोग अपवर्ग सम्पादनके लिये जानना चाहिये। इसलिये सुखाकार जो चित्त है, वह चित्तके भोगार्थ नहीं है और तत्त्वज्ञानाकार जो चित्त है, वह भी चित्तके अपवर्गार्थ नहीं, किंतु यह दोनों प्रकारका चित्त परार्थ है और वह जो इस भोग और अपवर्ग अर्थसे अर्थवाला है, वही असंहत केवल पुरुष है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.२४ ॥

यदि उक्त प्रकारके चित्तसे ही सब व्यवहार चलते हैं, तो प्रमाणरहित द्रष्टा क्यों माना जाता है ? इस शङ्काको करके द्रष्टामें प्रमाण देते हैं —

वह चित्त ही असंख्यात वासनाओंसे नाना प्रकारका हुआ अपने स्वामीके लिये है अर्थात् भोक्ता जीवके भोग और मोक्षरूपी प्रयोजनको सिद्ध करता है; क्योंकि मिलकर काम करनेवाला है। जो-जो मिलकर काम करते हैं वे अन्यके लिये होते हैं। जैसे शय्या, आसनादि (मिले हुए किसी पुरुषके लिये होते हैं) सत्त्व, रज, तम — ये तीनों चित्तरूपसे परिणत होनेवाले मिलकर कार्य करते हैं, इससे पर (दूसरे) के लिये हैं। जो इनसे पर (भिन्न) है वह पुरुष है।

शङ्का — शय्या, आसनादिके दृष्टान्तसे तो शरीरवाला ही 'पर' सिद्ध होता है और तुमको तो केवल चिन्मात्र पुरुष इष्ट है, दृष्टान्त उससे विपरीतकी सिद्धि करता है, तो 'संहत्यकारित्वात्' यह हेतु तुम्हारा इष्टसाधक नहीं।

उत्तर — यह ठीक है कि समान्यरूपसे केवल परविषयिणी व्याप्ति (जो-जो मिलकर कार्य करता है वह-वह परार्थ है, इस प्रकारकी) गृहीत होती है। परंतु सत्त्वादि गुण तो मिलकर कार्य करनेवाले ही हैं, इनसे विलक्षण कोई अन्य धर्मी होना चाहिये, ऐसा विचार करनेपर सत्त्वादि गुणोंसे विलक्षण, असंहत चिन्मात्ररूप भोक्ता सिद्ध होता है। जैसे काष्ठोंसे घिरे हुए पर्वतमें विलक्षण धूमसे पर्वतकी लकड़ियोंसे उत्पन्न अन्य वन्हियोंसे विलक्षण प्रकारका ही वन्हि (अग्नि) अनुमित होता है। वैसे यहाँ भी भोग्य सत्त्व गुणसे, परार्थताका अनुमान करनेपर उससे विलक्षण ही भोक्ता, स्वामी, चेतनरूप, असंहत (किसीसे नहीं मिला हुआ) सिद्ध होता है। यदि उस पर (पुरुष) में परत्वधर्म, सर्वोत्कृष्टत्व (सबसे उत्तमतारूप) ही माना जाय तो भी तमोगुण-प्रधान विषयोंसे शरीर उत्तम है, क्योंकि यह प्रकाशरूप इन्द्रियोंका आश्रय है। उस शरीरसे भी उत्तम इन्द्रियाँ हैं। उन इन्द्रियोंसे भी उत्तम चित्तसत्त्व है। उस चित्तका भी जो प्रकाशक है, जिसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं, वह चेतनरूप ही है, उसमें मेल कहाँसे हो सकता है।

'संघातपारार्थ्यात् (सांख्य सू. १/६६) इस कापिलसांख्य में संघात को जो परार्थ रूप से बतलाया गया है, वहाँ 'संहनन' शब्द का 'आरम्भक संयोग' अर्थ विवक्षित है और वह अवयव-अवयवी के अभेद से शय्या, आसन, गृहादि कार्यों तथा सत्त्वादि गुणों में विद्यमान है, न कि पुरुष में। घर घरमें नहीं रहता, कोई अन्य ही घरमें रहता है। कार कारमें सवारी नहीं करती, कोई अन्य ही कारमें सवारी करता है। क्योंकि चिद्रूप विज्ञाता निरवयव पदार्थ है। अतः निष्कर्ष यह हुआ कि प्रकृति और उसके कार्य के परार्थत्व का अनुमान करनेसे पुरुष का बोध हो जाता है।

सङ्गति — अब योगशास्त्रका फल जो कैवल्य है उसका निर्णय करनेके लिये अगले दस सूत्रोंका उपक्रम करते हैं — यहाँतक चित्त और पुरुषका भेद युक्तिद्वारा बतलाया गया, पर आत्मा कैसा है, क्या है ? यह युक्तिसे नहीं जाना जा सकता; क्योंकि यह अनुभवका विषय है, इसका वास्तविक स्वरूप समाधिद्वारा जाना जा सकता है। इसको अगले सूत्रमें बतलाते हैं —

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ ४.२५॥

विशेष-दर्शिन: = (विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें) भेदके देखनेवालेकी; आत्म-भाव-भावना = आत्मभावकी भावना; विनिवृत्ति: = निवृत्त हो जाती है।

विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें भेदके देखनेवालेकी आत्मभावकी भावना निवृत्त हो जाती है।

“ सत्व पुरुषयोर्भेदं जानाति संयमी च यः ।

विनिवृत्ता भवत्यस्य तदात्मभावभावना ॥ २०७ ॥ योगसूत्रसारः”

चित्त और पुरुषमें भेदज्ञानसे (विवेक ज्ञान से) संयमसिद्ध योगीकी स्वयं के विषय में उठने वाली सभी जिज्ञासाएँ शान्त हो जाती हैं। अर्थात् ऐसे योगी जिन्हें विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हें स्वयं को जानने की इच्छा की समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या — आत्मभावभावना = आत्मविषयक भावना ही आत्मभाव-भावना है। आत्मभावकी चिन्ता कि मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, क्या था, कैसा था, यह शरीर क्या है, यह शरीर आदि कैसे बना है और क्यों है, आगे क्या होंऊंगा, कैसे होऊंगा, मैं देह हूँ या मन हूँ ? इत्यादि।

विशेषदर्शिन: = पुरुष और चित्तके भेदको विवेकख्यातिद्वारा साक्षात् करनेवाला विवेकज्ञानी।

विवेकख्यातिद्वारा जब योगीको पुरुष और चित्तका भेद साक्षात् हो जाता है तब उसकी आत्मभावना कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ इत्यादि निवृत्त हो जाती है। वह चित्तमें ही सारे परिणामोंको देखता है और उसके धर्मोंसे भिन्न अपनेको अपरिणामी ज्ञानस्वरुप अनुभव करने लगता है।

जिस पुरुषके चित्तमें यह भावना होती है, वही आत्मज्ञान-उपदेशका अधिकारी है और वही योगाभ्यासद्वारा विवेक-ज्ञानका सम्पादन करता है। उसी विवेकज्ञानसे यह आत्मभाव-भावना निवृत्त होती है। जिसको यह आत्मभाव-भावना ही नहीं उसको न तो इस आत्मज्ञानके उपदेशका अधिकार ही है, न उसको विवेकज्ञान ही उत्पन्न होता है और न आत्मभाव-भावनाकी निवृत्ति होती है।

किसके चित्तमें यह भावना उदय हुई है और किसके चित्तमें नहीं उदय हुई है इसका भाष्यकार इस अनुमानसे जान लेना बतलाते हैं कि जैसे वर्षा ऋतुमें तृणोंके अंकुरोंका प्रादुर्भाव देखकर उन तृणोंके बीजोंकी सत्ताका अनुमान किया जाता है वैसे ही जिस पुरुषको मोक्षमार्ग-श्रवणसे रोमाञ्च, हर्ष और अश्रुपात होवे उस पुरुषने विवेक-ज्ञानके बीजभूत तथा अपवर्गके साधन जो यम, नियम आदि कर्म हैं उनका पूर्वजन्ममें अनुष्ठान कर लिया है और उसके चित्तमें आत्मभाव-भावनाका उदय भी है। जिन पुरुषोंकी पूर्वजन्ममें शुभ कर्मोंके अनुष्ठानके अभावसे केवल पूर्व पक्षमें (अनात्मवाद में) ही रुचि हो और सिद्धान्तमें (चित्तातिरिक्त आत्मवाद में) अरुचि हो उनके चित्तमें अनुमानसे आत्मभाव-भावनाका अनुदय जान लेना। जो योगी सत्त्वपुरुषान्यताख्याति से सम्पन्न है उसकी आत्म विषयिणी भावना निवृत्त हो जाती है।

पूर्व-पक्षः — पूर्व पक्ष क्या है ? परलोकादि के नास्तित्व में जिसकी रुचि है अर्थात् कर्म-फल नामकी कोई चीज नहीं है अर्थात् कर्मजन्य फल नहीं होता है क्योंकि परलोकी के अभावसे परलोक का भी अभाव होता है अर्थात् परलोक नहीं है, इसमें आस्था रखते हैं। हमने आजतक परलोकसे किसीको आते-जाते नहीं देखा इसलिये परलोकका अभाव है। इस प्रकार पूर्व जन्ममें जिन्होंने पुण्यकर्म नहीं किये हैं उनको आत्मचिन्तन की प्रेरणा नहीं होती, उलटा अपने देहको ही आत्मा मानने में रुचि होती है।

सिद्धान्त क्या है ? पञ्चविंशति-तत्त्व के निर्णय अर्थात् साक्षात्कार के विषय में जिनकी अनास्था रहती है, उसे योगतत्त्वका अनधिकारी समझना चाहिये। पच्चीस तत्त्वोंके विषय में निर्णय होना ही सिद्धान्त है। उस सिद्धान्तमें जिसकी अरुचि हो उनको आत्मभाव-भावनाका उदय कभी नहीं होता। जो लोग सिद्धान्त का अनुशीलन करके विशेष-दर्शनमें कुशल हो जातेहैं उनकी आत्मभाव-भावना निवृत्त हो जाती

है। क्योंकि वे जानते हैं कि स्वर्ग-नरक, प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा मोक्षादि जितनी भी विचित्र-रूपता है वह सब चित्तकी ही होती है, न कि सदा एक-रुप, चिन्मात्र, साक्षी पुरुषकी।

यह जो भावना रूपी विचित्र परिणाम है वह आत्मा का नहीं होता किंतु चित्तका ही होता है क्योंकि चित्त अविद्या जन्य है, अविद्या ही चित्तका धर्म है। पुरुष तो अविद्याशून्य है और शुद्ध है तथा पाप-पुण्यसे रहित है और इसीलिये जन्म-मरण, सुख-दुःखादिसे अपरामृष्ट (असम्बद्ध) है। इस प्रकारके दर्शनको ही विशेष-दर्शन कहते हैं। जो इस विशेष-दर्शनमें कुशल है उसकी चित्तमें जो आत्म-भावना है वह निवृत्त हो जाती है। यह अर्थ है।

श्रुति में भी कहा है कि —

"यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति।

एतं ह वाव न तपति। किमहं साधु नाकरवम्।

किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते।

उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥ ९.१ ॥ (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली)

'ब्रह्म' का वह आनन्द जहाँ से कुछ भी प्राप्त किए बिना वाणी वापिस लौट आती है तथा मन भी जहाँ पहुँच कर विस्मय से चकित होकर लौट आता है, 'ब्रह्म' के उस आनन्द को कौन जानता है? वह चाहे इस जगत् में, चाहे अन्यत्र, कहीं भी, भयभीत नहीं होता। वास्तव में उसको कोई सन्ताप (दुःख) नहीं होता तथा ये पीड़ापूर्ण भाव उसके मन में नहीं आते- कि "मैंने सत्कर्म को करना क्यों छोड़ दिया तथा मैंने उस पापकर्म का आचरण को क्यों किया? क्योंकि जो 'नित्यब्रह्म' को जानता है वह इन्हें जानता है, वह यह जानता है कि ये उसके 'आत्मतत्त्व' के समान ही हैं; हाँ, वह जानता है कि ये शुभ एवं अशुभ दोनों क्या हैं तथा 'ब्रह्म' को ऐसा जानते हुए वह आत्मा को मुक्त करता है। और यही है उपनिषद्, यही है वेद का रहस्य।

पञ्चशिखाचार्य ने भी ऐसा ही कहा है —

'आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेन' द्वितीयो रागादिक्षयादिति।

कर्मक्षयात् तृतीयं स्यात् व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्।।

अर्थात् प्रथम मोक्ष ज्ञानसे होता है और दूसरा राग-द्वेषादि के क्षय से तथा तीसरा कर्मक्षय से।

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति।।४.४.२२।। (बृहदारण्यकोपनिषद)

ब्राह्मण लोग इसे वेदों के अध्ययन के माध्यम से, यज्ञोंके, बलिदानोंके माध्यम से, दानोंके, उपहारों के माध्यम से और अनाशक-तपस्या के माध्यम से प्राप्त करना चाहते हैं जो विनाश की ओर नहीं ले जाता है। इसे जानकर ही व्यक्ति साधु (मुनि) बन जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥२.२.९॥ (मुण्डकोपनिषद्)

हृदय की सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, तथा मनुष्य के कर्मों का क्षय हो जाता है, जब उस 'परतत्त्व' का दर्शन हो जाता है, जो एक साथ ही अपरा सत्ता एवं 'परम सत्ता' है।

पापक्षयाच्छुद्धमतिर्वाञ्छति ज्ञानमुत्तमम् ।।

ज्ञानं हि मोक्षदं ज्ञेयं तदुपायं वदामि ते ।। ३३-४६ ।। (नारदपुराणम्- पूर्वार्धः)

पापका क्षय होनेपर उत्तम ज्ञानकी अभिलाषा होती है। ज्ञान को ही मोक्षदायी जानना चाहिये, उस ज्ञानका उपाय मैं तुम्हें बताता हूँ। भय शोकादि की निवृत्तिका नाम ही मोक्ष है और उसके उपायका नाम बुद्धियोग है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०.१०।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

जो पुरुष मुझमें प्रेम रखते हुए मेरा भजन करते हैं, उन समस्त बाह्य तृष्णाओंसे रहित निरन्तर तत्पर होकर भजन-सेवन करनेवाले पुरुषोंको, किसी वस्तुकी इच्छा आदि कारणोंसे भजनेवालोंको नहीं, किंतु प्रीतिपूर्वक भजनेवालोंको यानी प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवालोंको, मैं वह बुद्धियोग देता हूँ। मेरे तत्त्वके यथार्थ ज्ञानका नाम बुद्धि है, उससे युक्त होना ही बुद्धियोग है। वह ऐसा बुद्धियोग मैं (उनको) देता हूँ कि जिस पूर्णज्ञानरूप बुद्धियोगसे वे मुझ आत्मरूप परमेश्वरको आत्मरूपसे समझ लेते हैं। वे कौन हैं जो मच्चित्ताः आदि श्लोकों में कहे हुए प्रकारोंसे मेरा भजन करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।१०.९।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

मुझमें ही जिनका चित्त है वे मच्चित्त हैं तथा मुझमें ही जिनके चक्षु आदि इन्द्रियरूप प्राण लगे रहते हैं — मुझमें ही जिन्होंने समस्त करणोंका उपसंहार कर दिया है वे मद्गतप्राण हैं अथवा जिन्होंने मेरे लिये ही अपना जीवन अर्पण कर दिया है वे मद्गतप्राण हैं। ऐसे मेरे भक्त आपसमें एक दूसरेको (मेरा तत्त्व) समझाते हुए एवं ज्ञान, बल और सामर्थ्य आदि गुणोंसे युक्त मुझ परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए सदा संतुष्ट रहते हैं अर्थात् संतोषको प्राप्त होते हैं और रमण करते हैं अर्थात् मानो कोई अपना अत्यन्त प्यारा मिल गया हो उसी तरह रतिको प्राप्त होते हैं।

सङ्गति — इस प्रकार चित्त और पुरुषकी भिन्नता सिद्ध करके जब उन दोनों को अलग-अलग समझ लेता है अर्थात् चित्त ही कर्ता, ज्ञाता और भोक्ता है ऐसा अभिमान निवृत्त हो जानेपर क्या होता है ? अर्थात् विशेष-दर्शनके (असाधारण-दर्शनके) उदय होनेपर विशेष-दर्शीका चित्त कैसा होता है ? इस बातको (सम्प्रज्ञात-योगको) अगले सूत्रमें बतलाते है —

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ ४.२६॥

तदा = तब (विशेष दर्शनके उदय होनेपर); विवेकनिम्नम् = विवेककी ओर निम्न अर्थात् झुका हुआ — विवेकमार्ग संचारी; कैवल्यप्राग्भारम् = कैवल्यके प्राग्भारवाला अर्थात् कैवल्यके अभिमुख; चित्तम् = विशेषदर्शीका चित्त होता है।

विशेष दर्शनके उदय होनेपर विशेषदर्शीका चित्त विवेक-मार्ग-संचारी होकर कैवल्यके अभिमुख होता है।

" विषयैः पूर्णमज्ञानाच्चित्तं ज्ञानोदये पुनः।

कैवल्याभिमुखं याति विवेकख्यातिभारतः ॥ २०८ ॥ योगसूत्रसारः”

जब विषयोंके ज्ञानका पूर्ण अभाव हो जाता है और जब योगी विवेकज्ञान की प्राप्ति कर लेता है तब उसका चित्त विवेकख्यातिके भारसे विवेक ज्ञान के मार्ग पर निरंतर लगा हुआ कैवल्य की ओर अभिमुख हो जाता है।

व्याख्या — निम्न — जलके प्रवाहके संचारयोग्य जो ढलवाँ अर्थात् झुका हुआ प्रदेश है वह निम्न कहलाता है।

प्राग्भार — ऐसी उठी हुई भूमि अर्थात् ऊंचे प्रदेशको जहाँ जलका प्रवाह रुक जाता है उसे प्राग्भार कहते हैं।

यहाँ चित्तकी उपमा बहते हुए जलसे दी गयी है, जिस प्रकार पानी नीचेकी ओर बहता है इसी प्रकार योगीका चित्त जो पहले अविवेकके मार्गमें बहता हुआ विषयोंकी ओर जा रहा था विशेषदर्शनसे वह मार्ग बंद हो जाता है और चित्तका प्रवाह आत्मानात्मरूप विवेक-ज्ञानके मार्गकी ओर निम्न होकर कैवल्य-प्राग्भारके अभिमुख हो जाता है। अर्थात् चित्त अज्ञानके कारण जो संसारी विषयोंमें लगा हुआ था, विशेषदर्शनद्वारा विवेक-ज्ञान होनेपर उसकी प्रवृत्ति कैवल्यकी ओर हो जाती है। इसी प्रकारकी उपमा सूत्र १.१२ की व्याख्या में दी गयी है।

“अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।।१.१२।।”

चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

भगवान् वेद व्यास जी ने अभ्यास और वैराग्य को बड़े सुन्दर रूपक से वर्णन किया है जो इस प्रकार है – चित्त एक उभयतोवाहिनी नदी है जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता रहता है, इसकी दो धाराएं हैं; एक संसार-सागर की ओर, दूसरी कल्याण-सागर की ओर बहती रहती है। जिसने पूर्व-जन्म में सांसारिक विषयों के भोगार्थ कार्य किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विषय मार्ग से बहती हुई संसार-सागर में जा मिलती है और जिसने पूर्व-जन्म में कैवल्यार्थ प्रयास किया है, काम किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक मार्ग में बहती हुई कल्याण-सागर में जा मिलती है। संसारी लोगों की प्रायः पहली धारा तो जन्म से ही खुली होती है किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र, गुरु तथा आचार्य की सेवा से एवं ईश्वर चिन्तन से खोलते हैं। पहली धारा को बन्द करने के लिए विषयों के श्रोत पर वैराग्य का बन्ध लगाया जाता है और अभ्यास की कुदाली से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोद कर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक के श्रोत में डाल दिया जाता है तब प्रबल वेग से वह सारा प्रवाह कल्याण रुपी सागर में जा कर लीन हो जाता है। इस कारण अभ्यास तथा वैराग्य दोनों ही इकट्ठे मिलकर चित्त की वृत्तियों के निरोध के साधन हैं।

विषय-प्राग्-भार माने विषयाभिमुख, बहिर्मुख और अज्ञान-निम्नम् माने अज्ञान-मार्ग-सञ्चारि, और कैवल्य-प्राग्भार माने कैवल्यके अभिमुख और विवेक-निम्नम् माने विवेकमार्गमें अन्तर्मुख होकर कैवल्यकी शुरुआत होती है।

उस समय विशेषदर्शनकी अवस्था में जब आत्मभाव-भावना विनिवृत्त हो चुकी होती है तब चित्त विक्षेपशून्य होकर विवेकके कारण कैवल्यप्राग्भार अर्थात् कैवल्याभिमुख होते हुए विवेकनिम्न स्वभावसे ही विवेकनिम्न अर्थात् विवेकमार्गसञ्चारि होकर विवेकनिष्ठ होता है। ऐसा अर्थ है।

सङ्गति — अब इस विवेककी तरफ झुके हुए चित्तमें जो विघ्न उत्पन्न होते हैं उनका कारण क्या है तथा उनके त्यागका उपाय क्या है ? अर्थात् विवेक-प्रवाही चित्तमें भी बीच-बीचमें कभी-कभी व्युत्थानकी वृत्तियाँ क्यों उत्पन्न होतीं हैं ? तथा इस विशेषदर्शी को

संप्रज्ञात-समाधिसे क्या प्रयोजन है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर अगला सूत्र प्रवृत्त होता है। अर्थात् इस बातको अगले सूत्रमें बतलाते हैं —

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ ४.२७॥

तत् = उस (विवेक-ज्ञानके); छिद्रेषु = छिद्रोंमें — बीच-बीचमें — अन्तरालमें; प्रत्यय-अन्तराणि = दूसरी (व्युत्थानकी) वृत्तियाँ; संस्कारेभ्यः = (पूर्व व्युत्थानके) संस्कारोंसे होती हैं।

उस विवेक-ज्ञानके बीच-बीचमें अन्य व्युत्थानकी वृत्तियाँ भी (पूर्व व्युत्थानके) संस्कारोंसे उदय होती रहतीं हैं।

"ये समाध्यन्तरालेषु जाताश्चेतर प्रत्ययाः ।

ज्ञेया व्युत्थानसंस्कारैर्नाशात् श्चित्तविनाशनात् ॥ २०९ ॥ योगसूत्रसारः"

जो समाधिमें विवेकज्ञान होने के बाद भी बीच-बीच में पूर्व जन्म के संचित और बची हुई वासनाके संस्कारों के कारण व्युत्थान की स्थिति विवेकज्ञान के साथ आती रहती है। अन्तःकरणके उच्छेद द्वारा उनका नाश करना चाहिये।

व्याख्या — छिद्र = विवेकज्ञानके बीचमें कभी-कभी होनेवाला विवेक-अभावरूप अवकाश, अन्तराल अथवा अवसर। अर्थात् कभी-कभी व्युत्थान अवस्था में (व्यवहार कालमें) पूर्व संस्कारोंके कारण 'मैं मनुष्य हूँ' 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि विपरीत भावना-जन्य ज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं।

जबतक चित्तमें पुरुष और चित्तकी भिन्नताका ज्ञान प्रबलतासे रहता है तबतक उसकी प्रवृत्ति कैवल्यकी ओर रहती है, पर जब-जब इस विवेकज्ञानमें शिथिलता आने लगती है, तब-तब व्युत्थानके संस्कार अर्थात् व्युत्थानकी ममता और अहंताकी वृत्तियाँ 'यह मेरा है' 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' 'मैं जानता हूँ' 'मैं नहीं जानता हूँ' इत्यादि उत्पन्न हो जातीं हैं। यह प्रत्ययान्तराणि अर्थात् समाधिकी वृत्तियोंसे भिन्न व्युत्थानकी वृत्तियाँ इसलिये बीचमें उत्पन्न होतीं हैं कि विवेकख्याति (विशेषदर्शन) अभी अत्यन्त परिपक्व नहीं हुई है और अनादिकालसे प्रवृत्त व्युत्थानके संस्कार अभी किंचित् बलवान् हैं।

"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति॥६.१४.२॥ (छान्दोग्योपनिषद्)"

उसके लिए विलंब तभी तक है जब तक वह शरीर से मुक्त नहीं हो जाता; इसके बाद वह पूर्णता को प्राप्त होता है।

"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३.३३।। (श्रीमद्भगवद्गीता)"

ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। सभी प्राणी अपनी प्रकृति पर ही जाते हैं, फिर इनमें (किसी का) निग्रह क्या करेगा।

तो फिर वे (लोग) किस कारणसे आपके मतके अनुसार नहीं चलते दूसरेके धर्मका अनुष्ठान करते हैं और स्वधर्माचरण नहीं करते आपके प्रतिकूल होकर आपके शासनको उल्लङ्घन करनेके दोषसे क्यों नहीं डरते इसमें क्या कारण है इसपर कहते हैं सभी प्राणी एवं ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करते हैं अर्थात् जो पूर्वकृत पुण्यपाप आदिका संस्कार वर्तमान जन्मादिमें प्रकट होता है उसका नाम प्रकृति है उसके अनुसार ज्ञानवान् भी चेष्टा किया करता है। फिर मूर्खकी तो बात ही क्या है इसलिये सभी प्राणी (अपनी) प्रकृति अर्थात् स्वभावकी ओर जा रहे हैं इसमें मेरा या दूसरेका शासन क्या कर सकता है।

सङ्गति — अनादिकालसे सञ्चित दृढतर संस्कारोंका उन्मूलन कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं — अर्थात् उनके त्यागका उपाय बताते हैं —

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ ४.२८॥

हानम् = निवृत्ति; एषाम् = उनकी (व्युत्थानके संस्कारोंकी), क्लेशवत् = क्लेशोंकी तरह; उक्तम् = कही गयी है।

उन (व्युत्थानके संस्कारोंकी) निवृत्ति क्लेशोंकी निवृत्तिके तुल्य कही गयी जाननी चाहिये।

"यथा क्लेशा न रोहन्ति वह्नौ प्रदग्धबीजवत्।

संस्काराश्च तथा पूर्वे ज्ञानदग्धा विनाशिताः ॥ २१० ॥ योगसूत्रसारः"

जैसे अग्निमें जले हुए बीज पुनः अंकुरित नहीं होते वैसे ही ज्ञानाग्निसे जले हुए संस्कार नष्ट हो जाते हैं। इन सभी पूर्व जन्म के संचित और बचे संस्कारों का नाश भी दूसरे पादके दसवें और ग्यारहवें सूत्रों में वर्णित अविद्या आदि पञ्च क्लेशों के समान समझना चाहिये।

व्याख्या — जैसे दूसरे पादके दसवें और ग्यारहवें सूत्रोंमें क्लेशोंका नाश बतलाया है वैसे ही व्युत्थानके संस्कारोंका भी नाश जान लेना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार प्रसंख्यानरूप अग्निसे क्लेश दग्ध-बीज-भावको प्राप्त होकर अपने अंकुर-उत्पादनमें असमर्थ हो जाते हैं वैसे ही विवेक-अभ्यासरूप प्रसंख्यान अग्निसे पूर्वके जन्मोंके व्युत्थानके संस्कार भी दग्धबीज होकर व्युत्थानकी वृत्तियोंको नहीं उत्पन्न करते। अपरिपक्व विवेकनिष्ठ चित्तमें ही व्युत्थानके संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है, परिपक्व ज्ञाननिष्ठ चित्तमें नहीं होता। इसलिये पहले विवेकज्ञानके अभ्याससे विवेकज्ञानके संस्कारोंका सम्पादन करके व्युत्थानके संस्कारोंका निरोध करना चाहिये। फिर निरोधसंस्कारोंसे विवेकके संस्कारोंका क्षय करना चाहिये। उसके पश्चात् निरोधके संस्कारोंका भी असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा लय कर देना चाहिये। विवेक-ज्ञानमें ही अपनेको कृतकृत्य न समझ लेना चाहिये।

"॥ ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः॥२.१०॥"

वे पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रिया योग से सूक्ष्मावस्था को प्राप्त हैं, चित्त को अपने कारण में विलीन करने के साधन द्वारा नष्ट करने योग्य हैं।

"॥ ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥२.११॥"

वृत्तियाँ ध्यान के द्वारा नष्ट करने योग्य हैं।

इन दो सूत्रोंके द्वारा जैसे स्थूल-सूक्ष्म-क्लेशोंका तत्त्व-ज्ञान और चित्त-लयके द्वारा दाह और नाश कहा गया है उसी प्रकार उन व्युत्थानके संस्कारों का भी नाश हो जाता है। यह फलितार्थ है। अर्थात् जिस प्रकार क्लेशों का नाश क्रिया- योग = (तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान) द्वारा किया जाता है । ठीक उसी प्रकार इन पूर्व जन्म के संस्कारों का भी नाश होता है।

"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः॥२.२६॥"

निश्चल और निर्दोष विवेकज्ञान हान का उपाय है। यही हान अर्थात् अज्ञान का परित्याग है और वही द्रष्टा, चेतन आत्मा का 'कैवल्य' अर्थात् मोक्ष है।

सङ्गति — व्युत्थानके निरोधका उपाय विवेक-अभ्यासरुप प्रसंख्यान बतलाकर अब प्रसंख्यानके निरोधका उपाय कहते हुए जीवन्मुक्तिकी परमकाष्ठारूप धर्ममेघ समाधिका स्वरुप कहते हैं —

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ ४.२९॥

प्रसंख्याने-अपि-अकुसीदस्य = प्रसंख्यान ज्ञानमें भी विरक्त है जो योगी उसको; सर्वथा विवेकख्याते: = निरन्तर विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे; धर्म-मेघ:-समाधि: = धर्ममेघ समाधि होती है।

जो योगी प्रसंख्यान ज्ञानसे भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे धर्ममेघ समाधि होती है।

"धर्ममेधस्समाधिस्स्यात् प्रसंख्यानेऽप्यरागिणः ।

विवेकख्यातितो ज्ञेयस्समाधिः क्लेशनाशकः ॥ २११ ॥ योगसूत्रसारः"

जो योगी प्रसंख्यान (सम्यक् ज्ञान) से भी विरक्त है उसको विवेक ज्ञान से उत्पन्न सिद्धियों से अनासक्त हो जाने पर सर्वथा विवेक ख्याति होने से धर्ममेघ नामक क्लेशनाशक समाधि की प्राप्ति होती है।

"सम्प्रज्ञातपराकाष्ठा नूनं धर्मस्य वर्षकः ।

धर्ममेघो महान् योगे मार्गः कैवल्यदायकः ॥ २१२ ॥योगसूत्रसारः"

सम्प्रज्ञात-समाधिकी पराकाष्ठा निश्चित ही धर्मकी वर्षा करनेवाली होती है, धर्ममेघ महान् योगका मार्ग है और कैवल्यको देनेवाला है।

व्याख्या — प्रसंख्यानं = प्रसंख्यान अर्थात् विवेकज-ज्ञान, विवेकका साक्षात्कार, जितने तत्त्व परस्पर विलक्षण स्वरुपवाले हैं; उनका यथाक्रम विचार करना प्रसंख्यान कहलाता है। इसीको विवेकज्ञान भी कहते हैं।

धर्ममेघः = अति उत्तम पुण्य-पापसे रहित परम पुरुषार्थके साधक धर्मकी जो वर्षा करता है वह धर्ममेघ कहलाता है। (भोजवृत्ति)

अकुसीद — ऋण देकर मास-मासमें धनकी वृद्धि करना अर्थात् सूद (व्याज) लेनेको कुसीद कहते हैं। यहाँ जो योगी प्रसंख्यानकी लिप्सावाला है उसके लिये कुसीद और जो फलकी इच्छासे विरक्त है उसके लिये अकुसीद शब्दका प्रयोग हुआ है।

जब ब्रह्मनिष्ठ योगी पर-वैराग्यद्वारा प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञानसे भी किसी फल (सर्वज्ञत्वादि जिनको ३.४९ में बतला आये हैं) की इच्छा नहीं रखता तो उसके विरक्त हो जानेपर इस पर-वैराग्यशील योगीकी सर्वथा विवेक-ख्याति उदय होती है, अर्थात् निरन्तर विवेकज्ञानका प्रवाह बहने लगता है। इससे व्युत्थानके संस्कारोंके बीज नितान्त भस्म हो जाते हैं। इस कारण व्युत्थानकी वृत्तियाँ बीच-बीचमें उत्पन्न नहीं होतीं। ज्ञानकी इस परिपक्व अवस्थाको धर्ममेघ समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधिकी सबसे ऊंची अवस्था विवेक-ख्याति (प्रसंख्यान) है। विवेक-ख्यातिकी परिपक्व अर्थात् निरन्तर रहनेवाली अवस्था धर्ममेघ समाधि है। इसकी पराकाष्ठा ज्ञानप्रसाद-नामी पर-वैराग्य है। जिसका फल असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्बीज समाधि है।

"सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ३.४९॥"

बुद्धि आदि जड़ पदार्थो और पुरुष अर्थात् आत्मा या जीवात्मा दोनों को पृथक्-पृथक् जानने वाले योगीका सभी वर्तमान पदार्थों पर अधिकार हो जाता है अर्थात् उसे सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

"तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयम् अक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ३.५४॥"

योगीको अपनी योग साधना से प्राप्त सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाला, जो सभी पदार्थों के विषयों को तथा सभी कालों भूत, वर्तमान व भविष्य को जानने वाला होता है और यह सब बिना किसी क्रम अर्थात् विभाग के ही पैदा होने वाला ज्ञान होता है । ऐसे ज्ञान को विवेकज या विवेक से उत्पन्न ज्ञान कहा जाता है। इसीको यहाँ प्रसंख्यान कहा गया है।

याज्ञवल्क्य ने कहा है —

"अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।। १.८ ।। (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)"

अर्थात् 'योग' के द्वारा आत्म दर्शन करना ही परमधर्म है।

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ।

वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥ १.६०॥ (पञ्चदशी, तत्त्वविवेकः)

अर्थ — योग वेत्ताओं में श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ इस निर्विकल्प समाधि को धर्ममेघ कहते हैं, क्योंकि यह धर्मरूप अमृत की हजारों धाराओं को बरसाने लगती है। चूंकि यह निर्विकल्प समाधि हजारों 'धर्मामृतधारा' (पुण्य की बाढ़) की वर्षा करती है, इसलिये महान योगी इसे 'धर्ममेघ समाधि' कहते हैं।

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।

समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्म सञ्चये ॥ १.६१॥ (पञ्चदशी, तत्त्वविवेकः)

इस 'धर्ममेघ समाधि' से वासनाएँ जो आगे के कर्मों के कारण हैं। हालाँकि, इस धर्ममेघ समाधि के सिद्ध हो जानेपर, वासनाएँ सम्पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं जिससे (पुण्य-पाप) दोनों प्रकारके संचित कर्म पूरी तरह से नष्ट हो जाते हैं।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।६.४६।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

तपस्वियों और ज्ञानियोंसे भी योगी अधिक है। यहाँ ज्ञान शास्त्रविषयक पाण्डित्यका नाम है उससे युक्त जो ज्ञानवान् हैं उनकी अपेक्षा योगी अधिक श्रेष्ठ है। तथा अग्निहोत्रादि कर्म करनेवालोंसे भी योगी अधिक श्रेष्ठ है इसलिये हे अर्जुन ! तुम योगी बनो।

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः।

सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संध्यामुपास्महे ॥२.१३॥ (मैत्रेय्युपनिषद्)

मोहरूपी माँ मृत्यु को प्राप्त हो गयी और ज्ञानरूपी पुत्र उत्पन्न हो गया है, इस कारण मरण और जन्म के दो सूतक लगे हुए हैं, तो फिर सन्ध्या-वन्दन आदि कार्य किस प्रकार किये जा सकते हैं? ॥ इस प्रकार इस सूत्र में धर्ममेघ नामक समाधि के लक्षण को बताया गया है।

सङ्गति — धर्ममेघ समाधिका फल क्या होता है ? इसका उत्तर अगले सूत्रमें दिया गया है। —

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ४.३०॥

ततः = उस (धर्ममेघ समाधि) से; क्लेश-कर्म-निवृत्तिः = क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है।

उस धर्ममेघ समाधिसे क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है।

"तस्य लाभादविद्याद्याः क्लेशास्सर्वेऽपि नाशिताः ।

कर्माशयाश्च सम्पूर्णं ते भवन्ति विनाशिताः ॥ २१३ ॥ योगसूत्रसारः"

उस धर्ममेघ नामक समाधि के प्राप्त होने से अविद्या से लेकर अभिनिवेश पर्यन्त सभी क्लेश सम्पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं तथा क्लेश-मूलक कर्माशयों (कर्म-समुदायों) की भी समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या — उस धर्ममेघ समाधिकी प्राप्ति होनेपर अविद्या आदि पाँचो क्लेश और शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्रित तीनों प्रकारके कर्म (सकाम कर्म) और उनकी वासनाएँ मूलसहित नष्ट हो जातीं हैं। इस प्रकार क्लेश और कर्मोंके अभावमें योगी जीवन्मुक्त होकर विचरता है और शरीर त्यागनेके पश्चात् विदेह मुक्त पदको प्राप्त होता है अर्थात् पुनः जन्मधारण नहीं करता जैसा कि भाष्यकार लिखते हैं —

'कस्मात् यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्। न हि क्षीणक्लेशविपर्ययः कश्चित्केनचित्क्वचिज्जातो दृश्यत इति।'

क्योंकि विपर्यय ज्ञान अर्थात् अविद्या ही संसारका कारण है। इसलिये जिसके अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये हैं ऐसा पुरुष कोई भी किसी कारणसे भी, कहीं भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा जाता। महर्षि गौतमने भी न्याय-दर्शनमें ऐसा ही कहा है। "वीतराग जन्मादर्शनात्" (न्यायदर्शन ३.१.२५) जिसका राग समाप्त हो गया है ऐसे पुरुषका संसारमें जन्म न देखे जाने से। रागादि का कारण मन के द्वारा सङकल्पना है। मन की सङ्कल्पना में पूर्वजन्म के विषयों में राग के होने से होता है। मन मनुष्य को अन्तःकरण के रुपमें प्रत्येक जन्म में मिलता है जिनमें विषयों के राग भरे होते हैं। उन्हीं के आधार पर मनुष्य अपने अन्तःकरण रुप मनके द्वारा विषयों में राग के कारण विषयों की सङ्कल्पना करता है।

न्याय दर्शन का सूत्र कहता है जिनके रागादि नष्ट हो गए हैं, उनके पुनः जन्म के दर्शन नहीं होते। "वीत राग जन्म अदर्शनात्" = वीतरागी के जन्म नही देखे जाने से।

इस बात की पुष्टि वेदव्यास रचित अध्यात्म रामायण के उत्तरकाण्ड के पाँचवें सर्गके ८. ९. १० श्लोकों के द्वारा हो जाती है।

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिण:।

धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भव।। ८।।

क्रिया अर्थात् कर्म देहान्तर की प्राप्ति के लिए स्वीकारे गए हैं। क्रिया के होने में प्रिय और अप्रिय दोनों परिणाम मिलते हैं। सुरागिण: अर्थात् जो रागी लोग हैं वे कर्म रुप क्रिया तो प्रिय प्राप्ति के लिए करते हैं किन्तु राग के अधीन होने से निश्चय नहीं कि उसके परिणाम प्रिय ही मिलें, अप्रिय भी मिलते हैं। क्योंकि क्रियाएँ राग के अधीन होती हैं। बिना शरीर के क्रिया नहीं हो सकती। क्रिया के द्वारा धर्म अधर्म दोनों की प्राप्ति होती है। इन धर्म और अधर्म के द्वारा देह की प्राप्ति होती है। जिनके धर्म और अधर्म समान अर्थात् तुल्य होते हैं, बराबरी के होते हैं; उन्हें मनुष्य देह की प्राप्ति होती है। इस लिए क्रिया के परिणाम से प्राप्त धर्म अधर्म के द्वारा देहान्तर के निमित्त कर्म स्वीकारे गए हैं। गीता कहती है कि "बिना कर्म के एक पल भी नही बीतता, इस लिए परवश में कर्म करना ही पड़ता है। इस प्रकार कर्मों से निर्मित धर्म और अधर्म से उत्तम मध्यम और निकृष्ट योनियों में जन्म के चक्र से पुनः क्रिया रुप कर्म और कर्म से धर्म का चक्र चलता रहता है जिससे जगत् का व्यापार भी अबाधगति से चलता रहता है।

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।

विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्।। ९।।

संसार का मूलकारण अज्ञान ही है। ”अज्ञानम् एवास्य हि मूलकारणम्” इन शास्त्रीय विधिवाक्यों में उस अज्ञान का नाश ही संसार से मुक्त होने का उपाय बतलाया गया है। अज्ञान का नाश करने में ज्ञान ही समर्थ है। (रागों के वशीभूत) सकामकर्म नही; क्योंकि उस अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला कर्म उसका विरोधी नहीं हो सकता।

नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत्।

ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान्भवेत्।।१०।।

सकामकर्म द्वारा अज्ञान का नाश अथवा राग का क्षय नही हो सकता, उलटा उससे दूसरे सदोष कर्मकी उत्पत्ति होती है, उससे पुनः संसार की प्राप्ति होना अनिवार्य है। इस लिए बुद्धिमान् को ज्ञान और विचार में ही तत्पर होना चाहिए।

उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति ।

तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥ २२ ॥ (नादबिन्दूपनिषत्)

आत्मज्ञान के प्रादुर्भूत होने पर भी प्रारब्ध (संस्कार) स्वयं त्याग नहीं करता, किन्तु जैसे ही तत्त्वज्ञान का प्राकट्य होता है, वैसे ही प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाता है।

देहादीनामसत्त्वात्तु यथा स्वप्ने विबोधतः।

कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम्॥२३॥ (नादबिन्दूपनिषत्)

जैसा कि स्वप्नलोक के देहादिक असत् होने के कारण जाग्रत् होने पर विलुप्त हो जाते हैं, विगत जन्मों में जो किये हुए कर्म हैं, उन्हीं कर्मों को प्रारब्ध कर्म को संज्ञा प्रदान की गई है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।६.४५।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी सम्पूर्ण पापों से शुद्ध होकर अनेक जन्मों से (शनै: शनै:) सिद्ध होता हुआ, तब परम गति को प्राप्त होता है।

सङ्गति — क्लेशकर्मकी निवृत्ति होनेपर क्या होता है ?

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ४.३१॥

तदा = तब क्लेशकर्मकी निवृत्ति हो जानेपर; सर्व-आवरण-मल-अपेतस्य = सारे आवरण मलसे अलग हुए; ज्ञानस्य = ज्ञानके — चित्तके प्रकाशके; आनन्त्यात् = अनन्त होनेसे; ज्ञेयम् = जानने योग्य वस्तु; अल्पम् = थोड़ी रह जाती है।

तब सब क्लेशकर्मोंके क्षय-कालमें सर्व आवरणरूप मलोंसे रहित होकर चित्तरूप प्रकाशके अनन्त होनेसे ज्ञेय पदार्थ (जानने योग्य वस्तु) अल्प हो जाता है।

“सर्वक्लेशविनिर्मुक्तं सर्वदोषववर्जितम् ।

अनन्तं जायते ज्ञानं ज्ञेयमल्पं हि भासते ॥ २१४ ॥ योगसूत्रसारः”

जब चित्त सारे अविद्यादि क्लेशोंसे विनिर्मुक्त तथा राग, द्वेष और मोहसे रहित हो जाता है, तब अनन्त ज्ञानका प्रकाश होता है और ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है। धर्ममेघ समाधि के द्वारा क्लेशों की समाप्ति होने पर विशुद्ध ज्ञान अविद्या आदि आवरण और क्लेश रूपी मल से रहित हो जाता है और रागादि दोष भी समाप्त हो जाते हैं उस समय विशुद्ध ज्ञान की अनंतता से फिर जानने योग्य अत्यंत अल्प बच जाता है।

व्याख्या — चित्त सत्त्वप्रधान सूर्यके सदृश प्रकाशशील है। जिस प्रकार शरद् ऋतुमें मेघ सूर्यके प्रकाशको ढ़क देते हैं, उसी प्रकार रजस्-तमस्-मूलक अविद्या आदि क्लेश और सकाम कर्मकी वासनाएँ चित्तके प्रकाश पर आवरण डाले हुए रहते हैं। बादलोंके हटनेपर जब सूर्यका प्रकाश चारों दिशाओंमें फैलता है तो सारी वस्तुएँ स्पष्ट दीखने लगतीं हैं, ये सारी वस्तुएँ उसके सर्वत्र फैले हुए प्रकाशकी अपेक्षा अति न्यून परिच्छिन्न हैं, इसी प्रकार धर्ममेघ समाधिद्वारा जब रज-तम-मूलक क्लेश और कर्म-वासनाओंके मलका पर्दा चित्तसे हट जाता है तो उसके अपरिमित ज्ञानके सर्वत्र फैले हुए प्रकाशमें कोई वस्तु छिपी नहीं रहती। उसका प्रकाश इतना बढ़ जाता है कि जानने योग्य कोई वस्तु अज्ञात नहीं रह सकती। विषय बहुत न्यून, परिच्छिन्न और ज्ञानका प्रकाश अनन्त अपरिच्छिन्न हो जाता है। ज्ञेय सांसारिक वस्तुएँ उसकी दृष्टिमें अल्प अर्थात् तुच्छ हो जातीं हैं, जैसे व्यापक प्रकाशमें जुगनू।

श्रीव्यासजी महाराज उसके विषयमें निम्न दृष्टान्त देते हैं —

अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत्।

अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोभ्यपूजयत्।।इति।।

अन्धेने मणियोंको बींधा, बिना अंगुलीवालेने उसमें धागा पिरोया, ग्रीवारहितके गलेमें वह डाली गयी और जिह्वारहितने उसकी प्रशंसा की।

अन्धो मणिमविन्दत् । तमनङ्गुलिरावयत् । अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत् । तमजिह्वा असश्चत, इति।।१.११ ।।(तैत्तिरीयारण्यकम्)

अर्थात् जैसे ये सब बातें असम्भव हैं वैसे ही धर्ममेघ-समाधि द्वारा समूल क्लेश-कर्मकी निवृत्ति होनेपर पुरुषका पुनः संसरण भी असम्भव है। यदि कारणका नाश होनेपर भी कार्य की उत्पत्ति होने लगेगी तब तो अन्धे भी मणिमें छिद्र करने लगेंगे ! अर्थात् अन्धा भी देखने लगेगा।

अर्थात् जैसे यह वाक्य आश्चर्यरूप जान पड़ता है, ऐसे आश्चर्यरूप दशा योगीकी इस कालमें होती है।

श्रुति में भी कहा है कि —

“यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतर शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन क शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत् केन कं विजानीयाद्येनेद सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति॥२.४.१४॥ (बृहदारण्यकोपनिषद्)”

“क्योंकि जब द्वैत होता है, तो कोई दूसरे को सूंघता है, कोई दूसरे को देखता है, कोई दूसरे को सुनता है, कोई दूसरे से बोलता है, कोई दूसरे के बारे में सोचता है, कोई दूसरे को जानता है। लेकिन जब सब कुछ आत्मा ही हो गया है, तो कौन किससे किसको सूँघे ? कौन किससे किसको देखे ? कौन किससे किसको सुने, कौन किससे किसको कुछ कहे, और किसके माध्यम से क्या सोचना चाहिए और किसके माध्यम से, क्या जानना चाहिए ? जिससे यह सब जाना जाता है – उसे कोई कैसे जाने ? मेरे प्रिय! ज्ञाता को कोई कैसे जाने ? “

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।७.१८।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

ये सभी भक्त उदार हैं श्रेष्ठ हैं। अर्थात् वे तीनों भी मेरे प्रिय ही हैं। क्योंकि मुझ वासुदेवको अपना कोई भी भक्त अप्रिय नहीं होता परंतु ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय होता है इतनी विशेषता है। ऐसा क्यों है सो कहते हैं ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है वह मुझसे अन्य नहीं है यह मेरा निश्चय है क्योंकि वह योगारूढ़ होनेके लिये प्रवृत्त हुआ ज्ञानी स्वयं मैं ही भगवान् वासुदेव हूँ दूसरा नहीं ऐसा युक्तात्मा समाहितचित्त होकर मुझ परम प्राप्तव्य गतिस्वरूप परब्रह्ममें ही आनेके लिये प्रवृत्त है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।८.१६।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

जिसमें प्राणी उत्पन्न होते और निवास करते हैं उसका नाम भुवन है ब्रह्मलोक ब्रह्मभुवन कहलाता है। हे अर्जुन ब्रह्मलोकपर्यन्त अर्थात् ब्रह्मलोकसहित समस्त लोक पुनरावर्ती हैं अर्थात् जिनमें जाकर फिर संसारमें जन्म लेना पड़े ऐसे हैं। परंतु हे कुन्तीपुत्र केवल एक मुझे प्राप्त होनेपर फिर पुनर्जन्म — पुनरुत्पत्ति नहीं होती।

सङ्गति — धर्ममेघ समाधिसे क्लेशकर्मोंकी निवृत्ति हो जानेपर भी गुण जो स्वतः ही परिणाम स्वभाववाले हैं, विद्यमान रहते हुए उस पुरुषके लिये शरीर और इन्द्रियोंको क्यों नहीं उत्पन्न करते ? इसका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं —

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ४.३२॥

ततः = तब; कृतार्थानाम् = कृतार्थ हुए; गुणानाम् = गुणोंके; परिणामक्रम = परिणामके क्रमकी; समाप्ति: = समाप्ति हो जाती है।

तब कृतार्थ हुए गुणोंके परिणामके क्रमकी अर्थात् उनके उत्पत्ति क्रमों की समाप्ति हो जाती है। तीन गुणों में से किसी भी एक गुण के अतिशय प्रभावी होने या गौण होने पर जो परिवर्तन होता है, उसी को क्रम कहते हैं।

"गुणानां तु कृतार्थानां समाधेरुदयात्तथा।

समाप्तः परिणामस्य क्रमो भोगोपयोगिनः ॥ २१५ ॥ योगसूत्रसारः"

धर्ममेघ समाधिके उदय होनेपर भोगमें उपयोगी गुणोंके परिणामका काम समाप्त हो जाता है। अर्थात् धर्ममेघ समाधिके उदय होनेपर क्लेशकर्मादि की निवृत्ति हो जानेपर वैराग्यके द्वारा पुनः संसार नहीं होता।

"वर्तमाना गुणानाञ्च सा परिणामिनित्यता।

कूटस्थनित्यतता पुंसो ज्ञेया सा नित्यता द्वयोः ॥ २१६ ॥ योगसूत्रसारः"

गुणोंकी परिणामी-नित्यता है और पुरुषकी कूटस्थ-नित्यता है। इस प्रकार दोनोंकी नित्यता जाननी चाहिये। धर्ममेघ समाधि के बाद अपने भोग व अपवर्ग रुपी प्रयोजन को सिद्ध कर चुके गुणों का परिणाम क्रम भी समाप्त हो जाता है। कृतार्थ पुरुषके प्रति गुणोंका परिणाम-क्रम समाप्त हो जाता है।

व्याख्या — गुणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग-अपवर्गके लिये है। जबतक पुरुषके यह दोनों प्रयोजन सिद्ध नहीं हो लेते तबतक वे इसके लिये अपने परिणामके क्रम (शरीर, इन्द्रिय आदिके आरम्भ) को जारी रखते हैं।

धर्ममेघ समाधिसे क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है। उसके फलस्वरूप रजस्-तमस् गुणोंका आवरण हटनेसे ज्ञान अनन्त (अपरिमित) और ज्ञेय अल्प हो जाता है। यह अपरिमित ज्ञान ही प्रकृतिके दोषोंका दिखलानेवाला होनेसे पर-वैराग्यरूप है। उस उत्कृष्ट वैराग्यके बाद गुणोंका जो अनुलोमतया (सीधे) सृष्टि-उन्मुख और प्रतिलोमतया (उलटे) प्रलय उन्मुख प्रधान-अप्रधान भावसे स्थितिरूप परिणाम है, उसके क्रमकी उस पुरुषके प्रति समाप्ति हो जाती है। उस पुरुषके लिये फिर गुण प्रवृत्त नहीं होते।

भाव यह है कि धर्ममेघ समाधिके पश्चात् जब पुरुषके भोग और अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, तो इन गुणोंका उस पुरुषके लिये कोई कार्य शेष नहीं रहता। इस कारण उसकी ओरसे कृतार्थ अर्थात् कर्तव्य पूरा करके अपना परिणाम-क्रम समाप्त कर देते हैं और दूसरे पुरुषोंके इसी प्रयोजनको सिद्ध करनेमें लगे रहते हैं (२.२२)।

"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्॥२.२२॥"

जिसका प्रयोजन अर्थात् भोग और अपवर्गरुप कार्य पूर्ण हो गया है, उस पुरुष के लिए नाश को प्राप्त हुई भी वह प्रकृति नष्ट नहीं होती है, क्योंकि वह दूसरों अर्थात् जिन पुरुषों का प्रयोजन अभी सिद्ध नहीं हुआ, उनके लिये साधारण है। अर्थात् कार्य करती रहती है।

"त्रिविधो मोक्षः ॥ २०॥" (कपिलमुनिप्रणीत तत्त्वसमास-सूत्र)

तीन प्रकारका मोक्ष (वैकृतिक, दाक्षिणिक और प्राकृतिक) होता है।

ज्ञानोद्रेकादुपरतेश्च धर्माधर्मक्षयो भवेत्।

धर्माधर्मक्षयाच्चाथ कैवल्यमिति गीयते ॥

आद्यो हि मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात् ।

कृत्स्नक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम् ॥(पञ्चशिखाचार्य)

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि ज्ञानोद्रेक (तत्त्वज्ञान) द्वारा प्राकृत बन्धसे मोक्ष मिलता है, रागक्षय द्वारा वैकारिक बन्धसे मोक्ष मिलता है, तथा धर्माधर्म के क्षयद्वारा दाक्षिण बन्ध से मोक्ष मिलता है।

"सत्त्व-पुरुषयोः शुद्धि-साम्ये कैवल्यम् ॥३.५५॥"

जब बुद्धि और जीवात्मा की एक समान रुप से शुद्धि हो जाती है । तब वह कैवल्य या मोक्ष की अवस्था कहलाती है।

"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः॥२.२६॥"

निश्चल और निर्दोष विवेकज्ञान हान (मोक्ष) का उपाय है।

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥२.१३॥"

मूल के विद्यमान रहनेतक उस कर्माशय का परिणाम जन्म, आयु और भोग के रूप में प्राप्त होता रहता है।

"अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या चास्वे स्वमिति या मतिः

संसारतरुसंभूतिबीजमेतद्द्विधा स्थितम् ॥६.७.११॥ (विष्णुपुराणम्)”

जो अनात्मा (शरीर आदि) में आत्मा की बुद्धि होती है तथा जो अपनी वस्तु नहीं है, उसमें अपनेपन की बुद्धि होती है; ये दोनों प्रकारके ज्ञान ही संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्तिके बीज हैं।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।१४.२५।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

जो मान और अपमानमें समान अर्थात् निर्विकार रहता है तथा मित्र और शत्रुपक्षके लिये तुल्य है। यद्यपि कोई-कोई पुरुष अपने विचारसे तो उदासीन होते हैं परंतु दूसरोंकी समझसे वे मित्र या शत्रुपक्षवालेसे ही होते हैं इसलिये कहते हैं कि जो मित्र और शत्रुपक्षके लिये तुल्य है। तथा जो सारे आरम्भोंका त्याग करनेवाला है। दृष्ट और अदृष्ट फलके लिये किये जानेवाले कर्मोंका नाम आरम्भ है, ऐसे समस्त आरम्भोंका त्याग करनेका जिसका स्वभाव है वह सर्वारम्भपरित्यागी है अर्थात् जो केवल शरीरधारणके लिये आवश्यक कर्मोंके सिवा सारे कर्मोंका त्याग कर देनेवाला है, वह पुरुष गुणातीत कहलाता है। उदासीनवत् यहाँसे लेकर गुणातीतः स उच्यते यहाँतक जो भाव बतलाये गये हैं, वे सब जबतक प्रयत्नसे सम्पादन करनेयोग्य रहते हैं, तबतक तो मुमुक्षु — संन्यासीके लिये अनुष्ठान करनेयोग्य गुणातीतत्वप्राप्तिके साधन हैं और जब वे स्थिर हो जाते हैं, तो गुणातीत संन्यासीके स्वसंवेद्य लक्षण बन जाते हैं।

सङ्गति — अब यह ‘क्रम’ नामकी कौनसी वस्तु है ? इसका उत्तर अगले सूत्रमें क्रमका स्वरूप बताते हैं —

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ४.३३॥

क्षण-प्रतियोगी = क्षणोंकी सम्बन्धी — प्रतिक्षण होनेवाली; परिणाम-अपरान्त-निर्ग्राह्य: = परिणामकी समाप्तिपर ग्रहण करने योग्य (जो गुणोंकी अवस्थाविशेष है वह) क्रमः = क्रम कही जाती है।

प्रतिक्षण होनेवाली परिणामकी समाप्तिपर जानी जानेवाली (गुणोंकी अवस्थाविशेषका नाम) क्रम है।

“क्षणद्वन्द्वी क्रमो ज्ञेयस्य क्षणप्रचयाश्रयः।

क्रमोऽपरान्तनिर्ग्राह्यः परिणामस्य तत्त्वतः ॥ २१७ ॥ योगसूत्रसारः”

क्षणसे विलक्षण, क्षण ही जिसका निरुपक है, ऐसे क्षण के कार्य या परिणाम समाप्त होने पर जो ज्ञात होता है उसे क्रम कहते हैं।

व्याख्या — क्रम अविरल क्षण प्रवाह स्वरुप है। क्षणोंकी निरन्तर (परम्पराके) धाराके आश्रित जो परिणामोंकी निरन्तर परम्परा है, उसको परिणामक्रम कहते हैं अर्थात् क्षण-क्षणमें जो प्रत्येक वस्तुमें परिणाम होता रहता है; उसको क्रम कहते हैं। परिणाम इतना सूक्ष्म होता है कि ग्रहण नहीं हो सकता। वह होते-होते अन्तमें स्थूलरूप होनेपर दिखलायी देने लगता है। जैसे वस्त्र कितना ही सुरक्षित क्यों न रखा जाय, एक समयपर इतना जीर्ण हो जाता है कि हाथ लगानेसे फटने लगता है। यह परिणामक्रम उसी समय नहीं हुआ बल्कि प्रत्येक क्षणमें होता रहा है। परन्तु इतने सूक्ष्मरूपमें हो रहा था कि देखा नहीं जा सकता था, अन्तमें बहुत-से परिणामोंका स्थूलरूपमें होनेपर वह दिखलायी देने लगा। वृक्षादि में भी इसी प्रकार अवयवोंकी उपचय-अपचय भाव परम्परा होती है। यही गुणोंके धर्मपरिणाम और लक्षण-परिणामका क्रम है। अर्थात् परिणामोंकी जो आगे-पीछेकी एक धारा या सिलसिला है वह क्रम है। किसी क्रमका आरम्भ एक विशेष क्षणमें होता है और समाप्ति एक दूसरे क्षणमें। पहले क्षणको, जहाँसे क्रम आरम्भ होता है, पूर्वान्ति और अन्तिम क्षणको, जहाँ यह क्रम समाप्त होता है, उसे अपरान्त कहते हैं।

यह क्रम धर्म, लक्षण और अवस्था — तीनों परिणामोंमें पाया जाता है। ऊपर वस्त्रके उदाहरणसे बताया है कि अवस्था-परिणामका क्रम सूक्ष्मरूपसे होता हुआ दिखायी नहीं देता है। उसका अन्तिम फल ही प्रत्यक्ष होता है। धर्म और लक्षण-परिणामका क्रम भी जो दिखलायी देता है वह भी कई परिणामोंका स्थूलरूप ही है; जो क्रम प्रत्येक क्षणमें सूक्ष्मरूपसे होता रहता है, वह इनमें भी साक्षात् नहीं दिखायी देता।

यह परिणाम-क्रम गुणोंमें बराबर होता रहता है यदि यह शङ्का हो कि गुण तो नित्य हैं, उनमें परिणाम कैसे हो सकता है ? उसका समाधान करते हैं। अतीतावस्थासे शून्य होनामात्र ही नित्यका सामान्य लक्षण है न कि अपरिणामी होना। इसलिये नित्यता दो प्रकारकी होती है — एक कूटस्थ नित्यता, दूसरी परिणामी नित्यता।

१. कूटस्थ नित्यता — स्वरूपसे सदा एक बना रहना और किसी प्रकारका परिणाम न होना। यह पुरुषकी नित्यता है, जिसमें वह सदैव एक रूपमें बना रहता है और उसमें कोई परिणाम नहीं होता।

२. परिणामी नित्यता — अवस्थासे परिणाम होता रहना, स्वरूपसे सदा एक बने रहना। यह परिणामी नित्यता गुणोंकी है। गुण परिवर्तनको प्राप्त होते हुए भी स्वरूपसे नष्ट नहीं होते हैं। उन नित्य धर्मी गुणोंके परिणामोंकी कोई अन्तिम सीमा नहीं प्रतीत होती। जहाँ सीमा प्रतीत होती है वह अन्य धर्मियोंकी है जो अनित्य हैं, जैसे बुद्धि, इन्द्रिय, तन्मात्रा, पाँचो भूत, शरीर आदि।

अब यह शङ्का होती है कि स्थिति और गति अर्थात् सृष्टि-प्रलय प्रवाहरूपसे जो गुणोंमें वर्तमान संसारक्रम है, इस क्रमकी समाप्ति है या नहीं ? यदि समाप्ति मानी जाय तो ऊपर जो कहा गया है कि 'गुणोंके परिणामकी कोई अन्तिम सीमा नहीं' इसका खण्डन होता है और यदि समाप्ति न मानी जाय तो पूर्व सूत्रमें गुणोंके क्रमकी समाप्ति क्यों कही ? इस शङ्काके निवारणार्थ भाष्यकारोंने यह कहा है कि यह प्रश्न एकान्त वचनीय नहीं है अर्थात् एक बार ही 'हाँ' अथवा 'ना' में उत्तर देने योग्य नहीं है किंतु अवचनीय है। प्रश्न तीन प्रकारके होते हैं —

१. एकान्त वचनीय — जो नियमसे एक ही समाधानद्वारा उत्तर देने योग्य है।

२. विभज्य वचनीय — जो विभागपूर्वक उत्तर देने योग्य है।

३. अवचनीय — जिसका उत्तर एकान्तरूपसे एक प्रकारसे कहने योग्य नहीं होता।

जैसे 'क्या सब जगत् जो उत्पन्न हुआ है मरेगा' ? उत्तर — 'हाँ अवश्य मरेगा' । यह एकान्त वचनीय अर्थात् एक ही उत्तर देनेकी योग्यतावाला है। 'क्या जो-जो मरेगा वह सब उत्पन्न होगा'। उत्तर — 'केवल जिसको विवेकज्ञान उदय हो गया है और जो तृष्णा रहित हो गया है वह उत्पन्न न होगा अन्य उत्पन्न होगा' मनुष्य जाति उत्तम है या नहीं ? उत्तर — 'मनुष्य जाति पशुओंसे उत्तम है, देवताओं और ऋषियों से उत्तम नहीं है।' यह विभज्य-वचनीय है। 'यह संसार अन्तवान् है या अनन्त ?' यह अवचनीय है। क्योंकि दोनोंमेंसे एक विशेष कहने योग्य नहीं है। परन्तु आगमप्रमाण (शब्दप्रमाण) से इसका उत्तर यह है कि ज्ञानियोंके संसार-क्रमकी समाप्ति है, अर्थात् ज्ञानियोंका संसार अन्तको प्राप्त होता है, अज्ञानियोंका नहीं होता। ज्ञानी संसारक्रमके समाप्त होनेपर अर्थात् संसारके अन्त होनेपर मुक्त हो कैवल्यपदको प्राप्त होते हैं।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.३३ ॥

उक्त क्रमका लक्षण कहते हैं —

सबसे छोटे कालका नाम क्षण है, (क्षण भी क्रियात्मक और शब्दबोधात्मक परिणाम ही है।) उस क्षणका जो प्रतियोगी (निरुपक) क्षणसे भिन्न परिणाम है, वह गुणोंका क्रम है। जाने हुए क्षणोंमें पीछे जोड़ लगानेसे ही वह ग्रहण किया जाता है। बिना जाने हुए

क्षणोंके उनमें क्रम नहीं जाना जा सकता, इससे उसे 'अपरान्तनिर्ग्राह्य' कहा है।

विशेष वक्तव्य — ॥ सूत्र ४.३३ ॥ में श्रीविज्ञान भिक्षु आदि इस सूत्रमें 'परिणामापरान्त' पाठ मानते हैं। विद्वद्वर श्रीरामानन्दयति कृत मणिप्रभाऽऽख्य वृत्ति में श्रीरामानन्द यति कुछ विभिन्न व्याख्यान करते हैं। वे क्षणप्रतियोगी शब्दका षष्ठी-तत्पुरुष समास नहीं, किंतु बहुव्रीहि समास करते हैं (वही ठीक मालूम होता है) अर्थात् 'क्षणौ प्रतियोगिनौ निरूपकौ यस्य, असौ क्षणप्रतियोगी'। क्षण हैं निरूपक बतलानेवाले जिसके, वह क्षणप्रतियोगी है। क्षण कलांश (परिणामविशेष) को कहते हैं। क्षणोंमें बुद्धिको समाधिस्थ करके ही क्रम (पूर्वापरभाव) जानने योग्य है। इससे यह बता दिया कि क्षणिक परिणाम होता है। उस क्रममें प्रमाण देते हैं —

'अपरान्तनिर्ग्राह्यः'। कहीं क्रम प्रत्यक्ष और कहीं अनुमेय है। मृत्तिकामें पिण्ड, घट, कपाल, कणरूपी चूर्ण प्रत्यक्ष परिणाम होते हैं। उनका पूर्वान्त पिण्ड है और अपरान्त कण है। इनमें पूर्वोत्तर अवधिके ज्ञानसे क्रम, निश्चितरूपसे गृहीत होता है, अर्थात् मृत् पिण्डके अनन्तर घट होता है ऐसा क्रम प्रत्यक्ष है। अच्छे प्रकारसे रखा हुआ वस्त्र भी पुराना पड़ जाता है। वस्त्रमें पुरानापन एक बारमें तो आता नहीं, किंतु क्षण-क्षणमें पूर्वान्त नवीनतासे लेकर पुराणता होती रहती है। अर्थात् नवीन होनेके बाद अत्यन्त सूक्ष्म पुराणता, फिर सूक्ष्म पुराणता इत्यादिरूपसे पुराणता होती रहती है। वहाँपर क्रम अनुमान करने योग्य है। यह क्रम नित्य और अनित्य दोनों प्रकारके पदार्थोंमें होता है। नित्य दो प्रकारके हैं। एक — कूटस्थ नित्य होते हैं जैसे — पुरुष। द्वितीय — परिणामी नित्य होते हैं, जैसे सत्त्वादि गुण। धर्म, लक्षण, अवस्था — इन तीनों प्रकारों (तृतीय पादके १३ वें सूत्रोक्त) से परिणाम होनेपर भी, धर्मीमें स्वरूपका नाश न होना 'परिणामी नित्यता' है। एक धर्मको छोड़कर धर्मान्तरको ग्रहण करना 'परिणाम' है। अनित्य बुद्धि आदि धर्मियोंमें जो क्रम है, वह अवधिसहित है। बुद्धिमें रागादि परिणाम 'पूर्वान्त' और पुरुषका प्रत्यक्ष करना 'अपरान्त' क्रम है। परिणामी नित्य गुणोंमें परिणामका क्रम अवधि (हद) से रहित है। क्योंकि मुक्त पुरुषोंके प्रति गुणोंका परिणाम न होनेपर भी बद्ध जीवोंके प्रति होता ही रहता है।

प्रश्न — सब जीव मुक्त हो सकते हैं या नहीं ? यदि हो सकते हैं, तो प्रकृति (गुणों) का परिणाम अवधिसे रहित मानना ठीक नहीं और नहीं हो सकते तो तत्त्वज्ञानमें किसे विश्वास होगा अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर भी यदि मुक्त नहीं हो सकते तो तत्त्वज्ञानमें विश्वास उठ जायगा, विश्वास उठनेसे कोई मुमुक्षु नहीं रहेगा; इत्यादि दोष होंगे।

उत्तर — तीन प्रकारका प्रश्न हो सकता है — एकान्त वचनीय, विभज्य वचनीय, अवचनीय। यदि पहला प्रश्न किया जाय कि क्या सब उत्पन्न हुए मरेंगे ? तो यह एकान्तवचनीय है, अर्थात् कहना चाहिये कि हाँ अवश्य मरेंगे। आपका किया हुआ जो दूसरा प्रश्न है, वह 'विभज्यवचनीय' है अर्थात् विभाग करके उत्तरणीय है — कि जिसे तत्त्वज्ञान होगा, वह मुक्त हो जायगा और जिसे नहीं होगा, वह नहीं। जीव अनन्त हैं, सृष्टि-प्रलय भी अनन्त है। इससे सबकी मुक्ति नहीं हो सकती। तीसरा प्रश्न यह हो सकता है कि प्रकृतिका परिणामक्रम समाप्त होता है या नहीं ? इसके उत्तर दो हो सकते हैं — प्रथम यह है कि निश्चित नहीं कर सकते कि समाप्त होता है या नहीं। द्वितीय यह है कि जो ज्ञानी है, उनके लिये समाप्त होता है; अन्योंके लिये नहीं। वास्तविक परिणामक्रम परिणामी नित्य गुणोंमें है और पुरुषमें कल्पित है, वस्तुतः नहीं अर्थात् बुद्धिके परिणामोंका आरोप है इत्यादि भाष्यका तात्पर्य है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।२.१३।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

आत्मा किसके सदृश नित्य है इसपर दृष्टान्त कहते हैं —

जिसका देह है वह देही है उस देहीकी अर्थात् शरीरधारी आत्माकी इस वर्तमान शरीरमें जैसे कौमार बाल्यावस्था यौवन तरुणावस्था और जरा वृद्धावस्था ये परस्पर विलक्षण तीनों अवस्थाएँ होती हैं। इनमें पहली अवस्थाके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता और दूसरी अवस्थाकी उत्पत्तिसे आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती तो फिर क्या होता है कि निर्विकार आत्माको ही दूसरी और तीसरी अवस्थाकी प्राप्ति

होती हुई देखी गयी है। वैसे ही निर्विकार आत्माको ही देहान्तरकी प्राप्ति अर्थात् इस शरीरसे दूसरे शरीरका नाम देहान्तर है उसकी प्राप्ति होती है (होती हुईसी दीखती है)। ऐसा होनेसे अर्थात् आत्माको निर्विकार और नित्य समझ लेनेके कारण धीर बुद्धिमान् इस विषयमें मोहित नहीं होता, मोहको प्राप्त नहीं होता।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२.२७।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

जन्मने वाले की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म निश्चित है; इसलिए जो अटल है, अपरिहार्य – है उसके विषय में तुमको शोक नहीं करना चाहिये। जिसमें परिणाम (बदलाहट) होनेपर भी तत्त्वका नाश नहीं होता उसे नित्य कहते हैं। जैसे घड़ेके नाशसे न तो मिट्टीका नाश होता है और न आकाश का। तत्त्वं न विहन्यते, स्वरूपं नातीतं भवति । तत्त्वका नाश नहीं होता, स्वरूप कभी भी अतीत नहीं होता। आत्मा षड्-भाव-विकार-शून्य है, यह सिद्धान्त है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि —

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥ १.१० ॥

प्रकृति नाशवान् है और जीवात्मा अविनाशी है। वह, एक मात्र ईश्वर ही नाशवान प्रकृति और जीवात्मा दोनों पर शासन करता है। उस एकं पर ध्यान करने से और उसके साथ संयुक्त तथा तादात्म्य हो जाने से अन्त में समस्त अज्ञान या भ्रान्ति से मुक्ति मिल जाती है।

अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते ।

अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः ॥१.२.२६॥ (विष्णुपुराणम्)

हे द्विज ! काल रूपी भगवान् अनन्त हैं, इनका कोई अन्त नहीं है, इसलिए संसारकी सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह तथा अनुग्रह कभी भी समाप्त नहीं होते हैं, सदा होते ही रहते हैं।

व्याध उवाच।

न जीवनाशोस्ति हि देहभेदे

मिथ्यैतदाहुर्म्रियतीति मूढाः।

जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति

दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ।।३.२१३.२७।। (महाभारतम्)

धर्मव्याधने कहा — ब्रह्मन् ! देहका नाश होनेपर जीवका नाश नहीं होता। मनुष्योंका यह कथन कि 'जीव मरता है' मिथ्या ही है, किंतु जीव तो इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें चला जाता है। शरीरके पाँचो तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् पाँच भूतोंमें मिल जाना ही उसका नाश कहलाता है। जिसकी तृष्णा क्षीण हो गयी है ऐसे कुशल अर्थात् विवेकज्ञानसम्पन्न ज्ञानी का जन्म नहीं होता, और तद्भिन्न अर्थात् अकुशल पुरुष (अज्ञानी) का ही पुनर्जन्म होता है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥२.३.१२॥ (कठोपनिषद्)

मनुष्य न मन के द्वारा 'परमेश्वर' को देख सकता है, न ही वाणी के द्वारा और न ही चक्षु के द्वारा। "वह है" इस कथन के अतिरिक्त मनुष्य 'उसके' प्रति कैसे सचेतन हो सकता है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥२.३.१३॥ (कठोपनिषद्)

'उस' का बोध "वह है" (अस्तित्व-भाव) एवं 'उसके' 'तत्त्वभाव', दोनों रूपों में प्राप्त करना चाहिये। किन्तु जब मनुष्य 'उसको' वस्तुतः "है" ऐसा जान लेते हैं, तो 'उसका' तत्त्वभाव उस मनुष्य के प्रति उद्भासित हो जाता है।

अत एव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु सन्ततम् ।
ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वाद् अशून्यता ॥

अपरिमित वस्तुका न कभी अंत होता है, न वह घटती और न समाप्त होती है। श्लोकका अर्थ यह है कि यदि संसारी जीवोंको बरावर मोक्ष मिलता रहे तो कभीका यह संसार जीवों से खाली हो जाना चाहिये।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।१३.२०।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही तुम अनादि जानो। और तुम यह भी जानो कि सभी विकार और गुण प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ (ईशावास्योपनिषद्)

परमात्मा सभी प्रकार से सदा सर्वथा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परब्रह्म से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उसी पूर्ण से ही उत्पन्न हुआ है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

सङ्गति — अब कैवल्य के असाधारण स्वरूपका वर्णन करते हैं, गुणोंके परिणामक्रमकी समाप्तिपर कैवल्य कहा गया है। उस कैवल्यका स्वरुप अगले सूत्रमें (योगसूत्रके अन्तिम सूत्रमें) बताते हैं —

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा

चितिशक्तिरिति ॥ ४.३४॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानाम् = पुरुष-अर्थसे शून्य हुए गुणोंका; प्रतिप्रसव: = अपने कारणमें लीन हो जाना; कैवल्यम् = कैवल्य है; वा = अथवा; स्वरुप-प्रतिष्ठा = अपने स्वरुपमें प्रतिष्ठित हो जाना; चितिशक्ति: = चितिशक्तिका (कैवल्य है) इति = और यह पाद तथा योगशास्त्र समाप्त होता है।

पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है; अथवा चिति शक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

"पुरुषार्थे विनिष्पन्ने तच्छून्यो मोहको गुणः।

प्रतिप्रसवमापन्नः केवलो विद्यते सदा ॥ २१८ ॥ योगसूत्रसारः"

गुणोंका कार्य समाप्त होनेपर अर्थात् पुरुषार्थसे शून्य हुए मोहक गुणोंका अपने कारणमें लीन होने के कारण कैवल्य ही शेष रहता है।

"तदा बन्धविनिर्मुक्तः पुरुषो निर्गुणस्सदा।

स्वरूपावस्थितो योगे चैतन्याख्यस्तदा भवेत् ॥ २१९ ॥ योगसूत्रसारः"

तब पुरुष स्वयं निर्गुण होनेसे हमेशा के लिये बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है और चैतन्य नामसे प्रसिद्ध अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है।

"बन्धमोक्षौ न देहस्य न वा पुंसः कदाचन।

बन्धोऽयं चित्तरागस्स्य मोक्षस्स्यादविरागिता ॥ २२० ॥ योगसूत्रसारः"

बन्धन और मोक्ष न तो देहको होता है और न पुरुष (जीवात्मा) को। चित्तमें जमे हुए रागके संस्कारों में बंधे रहने का नाम ही बन्धन है और उस चित्त-राग में वैराग्य हो जाना ही मोक्ष है।

व्याख्या — गुणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग-अपवर्गके लिये है। इसलिये भोग और अपवर्ग ही पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थके लिये गुण शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदिमें परिणत हो रहे हैं। जिस पुरुषका यह प्रयोजन सिद्ध हो गया उसके प्रति इनका कोई कार्य शेष नहीं रहता। तब उस पुरुषके भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थके सम्पादनसे कृतार्थ हुए पुरुषार्थ-शून्य कार्य-कारण-स्वरूप गुण प्रतिप्रसवको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रतिलोम परिणामसे अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। अर्थात् व्युत्थान समाधि और निरोधके संस्कार मनमें लीन हो जाते हैं — मन अहंकारमें, अहंकार बुद्धि (चित्त) में और बुद्धि प्रधान प्रकृतिमें लय हो जाती है। इस प्रकार पुरुषका अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करनेके पश्चात् गुणोंके अपने कारणमें लीन हो जानेका नाम कैवल्य अर्थात् गुणोंका उस पुरुषसे अलग होना है। अथवा यों कहना चाहिये कि धर्म चित्तके परिणाम क्रम बनानेवाले गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जानेपर चितिशक्ति पुरुषका चित्तसे किसी प्रकारका संबन्ध न रहनेपर अपने स्वरुपमें अवस्थित हो जानेका नाम कैवल्य है। इसकी सविस्तर व्याख्या तृतीय पादके ५५ वें सूत्रमें कर दी गयी है। यहाँ यह और जान लेना चाहिये कि जैसे वेदान्तमें अज्ञानकी निवृत्ति और परमानन्दस्वरूप ब्रह्म-प्राप्तिको समकाल होनेपर भी कहीं अज्ञानकी निवृत्तिको जैसे 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' और फिर अन्तमें सारी माया निवृत्त हो जाती है और कहीं ब्रह्मकी प्राप्तिको जैसे 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (३.२.९. मुण्डकोपनिषद्) 'वस्तुतः वह जो कि उस 'परम ब्रह्म' को जानता है वह स्वयं 'ब्रह्म' ही हो जाता है;' मुक्ति कहा है। वैसे ही यहाँपर भी गुणोंका प्रतिप्रसव और चितिशक्तिकी स्वरुपप्रतिष्ठा इन दोनोंके समकाल होनेपर भी तात्पर्यकी एकता होनेसे कैवल्यके दो लक्षण कहे हैं। लक्षणभेदसे कैवल्यका भेद नहीं किया है।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।

तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ (सांख्यकारिका)॥

यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिसे जब कि धर्म आदि अकारण बन जाते हैं, (धर्म-अधर्म आदि के अकारणत्व को प्राप्त होने पर) अर्थात् आत्मज्ञान की प्राप्ति से, धर्म अधर्म आदि सृष्टि के हेतु अर्थात् कारणरुप में न रहने पर (पूर्वजन्म के) संस्कारों के कारण (कुम्हार के) चाक के घूमने के समान शरीर को धारण किए हुए ठहरा रहता है ।

कारिका की व्याख्या — प्रकृति पुरुष के भेदरुप, विशुद्ध, अपरिशेष एवं केवल स्वरुप आत्मज्ञान के होने पर तत्त्वज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् उसका सूक्ष्मशरीर पुनः स्थूलशरीर धारण नहीं करता। इसके कारण का उल्लेख कारिका के द्वितीय चरण मे किया गया हे (धर्मादीनामकारणप्राप्तौ) क्योंकि सूक्ष्मशरीर में स्थित बुद्धि के धर्म-अधर्म, अज्ञान, राग, विराग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य आदि सात भाव ही पुनर्जन्म के कारण होते हैं, किन्तु आत्मज्ञान द्वारा ये भाव भुने हुए बीज के समान पुनर्जन्म के रुपमें अंकुरित नहीं होते हैं। यही धर्म आदि भावों का अकारणत्व को प्राप्त होना है। इस ज्ञानकी अवस्था में भी तत्क्षण स्थूलशरीर का पात नहीं होता, अपितु वह प्रारब्धकर्म (पूर्वजन्म के कर्मो) तथा ग्रहण किए हुए अन्न-पान आदि के संस्कार से उसीप्रकार स्थित रहता है, जिसप्रकार कुम्हार द्वारा वर्तन बनाते हुए जब वह चाक को चलाना बन्द कर देता है (फिर भी चाक को चलाना बांड देने पर भी) वह पूर्वप्राप्त शक्ति के द्वारा निरन्तर चलता रहता है। तुरन्त बन्द नहीं होता, क्योकि उसमें गति के संस्कार रहते हैं। अतः तत्त्वज्ञानी के स्थूलशरीर की स्थिति पूर्वजन्म के संस्कारों के भोगपर्यन्त ही रहती है। तत्पश्चात् उसके त्रिविध दु:खों की आत्यन्तिकनिवृत्ति होने के कारण उसे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृतौ ।

ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥ (सांख्यकारिका)

शरीरके छूट जानेपर और चरितार्थ होनेसे प्रधानकी (प्रकृतिकी) निवृत्ति होनेपर ऐकान्तिक (अवश्य होनेवाले) और आत्यन्तिक (बने रहनेवाले) दोनों प्रकारके कैवल्यको प्राप्त होता है।

कारिका की व्याख्या — शरीरभेद से अभिप्राय यह है कि प्रारब्धकर्म के संस्कारों की समाप्ति होनेपर होनेवाला शरीर-पात। इससे पूर्व तत्त्वज्ञान के कारण प्रकृति, पुरुषके भोग-अपवर्ग रुप प्रयोजन की सिद्धि होने से, सृष्टिरुप कार्य से विरत हो जाती है। अतः अव्यक्त प्रकृति के विरत होने के कारण आगे का सष्टिकार्य अवरुद्ध हो जाता है और पूर्वजन्मों में किए गए कर्मों को स्थूलशरीरद्वारा भोग लेने से उनकी समाप्ति हो जाती है। तदनन्तर तत्त्वज्ञानी का शरीरपात हो जाता है और उसके त्रिविध दुःखों की एकान्तिक (निश्चितरुपसे) आत्यन्तिक (हमेशा के लिए) समाप्ति हो जाती है। इसप्रकार यही पुरुष का एकान्तिक एवं आत्यन्तिक स्वरुप वाला दो प्रकार का कैवल्य अर्थात् मोक्ष होता है।

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति पुरुषः ।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति: ॥ ६२ ॥ (सांख्यकारिका)

पुरुष न बन्ध को प्राप्त होता है, न मुक्त होता है और न एक भव से दूसरे भव में जाता है। बुद्ध्यादि नाना आश्रय (उपकरण) वाली (अनेक का आश्रय लेने वाली) प्रकृति ही एक भव से दूसरे भव में जाती है, मुक्त होती है और बद्ध होती है। उसीका (प्रकृति का ही) संसरण होता है।

न संदृशे तिष्ठति रुपमस्य

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।

हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २.३.९॥ (कठोपनिषद्)

'उसने' 'अपने' शरीर को (अपने रूप को) दृष्टि की पहुँच में ग्राह्य नहीं रखा है, न कोई मनुष्य 'इसे' चक्षुओं से देख पाता है, परन्तु हृदय, मन तथा अतिमन के प्रति यह अभिव्यक्त होता है। जो 'उसे' जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।

सूत्रके अन्तमें 'इति' शब्द इस पादकी तथा योगशास्त्रकी समाप्तिके लिये लाया गया है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४.३४ ॥

अब फलरूप मोक्षके सामान्यस्वरूपको कहते हैं — जो सत्त्वादि गुण भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थको समाप्त कर चुके उनका जो उलटे-उलटे परिणामकी समाप्ति होनेपर क्षणोंमें विकारका पैदा न होना अथवा वृत्तियोंके तुल्यरूपकी निवृत्ति होनेपर चेतनशक्तिका अपने स्वरूपमात्रमें स्थिति करना मोक्ष कहा जाता है, केवल हमारे ही दर्शन (मत) में मोक्षावस्थामें पुरुष इस प्रकारका चेतनरूप नहीं होता, किंतु अन्य दर्शनोंमें भी विचार करनेपर स्वरूपावस्थित ही होता है।

जैसे — आत्मा क्षणिक विज्ञान नहीं है — संसारावस्थामें कर्ता, भोक्ता और विचार करनेवाला आत्मा प्रतीत होता है। अन्यथा यदि एक कोई चेतन उस प्रकारका न हो और ज्ञानक्षणोंको ही, जो कि पूर्वापरविचारसे शून्य हैं आत्मा माना जाय तो कर्म और फलका सम्बन्ध नियमपूर्वक नहीं हो सकता और किये हुए की हानि, नहीं किये हुएकी प्राप्तिरूप दोष भी हो। जिसने शास्त्रोंमें ही कहे हुए कर्मको किया है, वही यदि भोक्ता रहे तो सबकी प्रवृत्ति कल्याणप्राप्तिके लिये और दुःखकी निवृत्तिके लिये हो सकती है। ग्रहण करना या छोड़ना विचारसे ही होता है। इससे और ज्ञानक्षणोंको परस्पर भिन्न होनेसे (पूर्वापर) विचारशून्यता है। यदि कोई उनका अनुसन्धान करनेवाला न रहे तो किसीका भी व्यवहार नहीं चल सकता। इससे जो कर्ता, भोक्ता, अनुसन्धाता (विचार करनेवाला अथवा जाननेवाला) है वह आत्मा है यह व्यवस्था की जाती है। मोक्षावस्थामें केवल चैतन्यरूप ही आत्मा रहता है; क्योंकि मोक्षदशामें तो ग्राह्य-ग्राहकरूप अर्थात् ग्रहण करना आदि सब व्यवहारोंके न रहनेसे केवल चैतन्य ही शेष रहता है। वह चैतन्य, अपने स्वरूपको जाननेसे नहीं है, किंतु स्वरूपसे है; क्योंकि विषयोंको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य ही चेतनका स्वरूप है। अपने स्वरूपको ग्रहण करना नहीं (ऐसा ही श्रुति बतलाती है)

यथा — 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ? – (बृहदारण्यकोपनिषत् २-४-१४)'

सबके जाननेवाले विज्ञाताको किससे जाना जा सकता है। तथा 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ?' जिससे ये सब कुछ जाना जाता है उसको किससे जानें ? जैसे चेतनसे गृहीत हुई वस्तु 'यह है' इस प्रकार ग्रहण की जाती है और चेतनका स्वरूप 'अहं' अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार ग्रहण किया जाता है। आपसमें विरुद्ध, बहिर्मुखता और अन्तर्मुखतारूप दो व्यापार एक कालमें नहीं हो सकते तो चेतनस्वरूपसे ही शेष रहता है। इससे मोक्षावस्थामें गुणोंके कार्योंकी समाप्ति होनेपर केवल चैतन्यरुप ही आत्मा रहता है यही ठीक है, और संसारदशामें तो ऐसे ही आत्माको कर्ता, भोक्ता और अनुसंधाता होना सब ठीक है।

आत्माका संसारदशा और मुक्ति-अवस्थामें एक ही रुप है। देखिये जो ये प्रकृतिके साथ अज्ञानमूलक भोग्यका भोग करनारूप अनादि स्वाभाविक सम्बन्ध है उसके होनेपर और जो पुरुषार्थ-कर्तव्यतारूप शक्तियोंके होनेसे (चौथे पादके २३ वें सूत्रोक्त) प्रकृतिका महत्तत्त्व आदि रुपसे परिणाम है, उसमें संयोग होनेपर जो आत्माका अधिष्ठाता (स्वामी) बनना अर्थात् अपने प्रतिबिम्बको समर्पण करनेकी शक्ति अन्तःकरणमें पड़े हुए चेतन प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी शक्ति रखना, तथा चेतनके सम्बन्धसे बुद्धिमें कर्तृत्व, भोक्तृत्वका निश्चय है, उसीसे स्मृतिपूर्वक व्यवहारोंकी सिद्धि हो जायगी; फिर अन्य तुच्छ कल्पनाओंसे क्या प्रयोजन ? (अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं) यदि इस प्रकारके मार्गको छोड़कर आत्मामें पारमार्थिक कर्तृत्वादि धर्मोंको स्वीकार किया जाय, तो आत्माको परिणामी मानना पड़ेगा। परिणामी और अनित्य माननेपर आत्माका आत्मभाव अर्थात् एकरससे रहना न बनेगा। क्योंकि एक ही समयमें, एक रुपसे, परस्पर

विरुद्ध अवस्थाओंका ज्ञाता नहीं हो सकता। जैसे जिस अवस्थामें आत्मामें समवाय, सम्बन्धसे सुख उत्पन्न हुआ, उसी अवस्थामें आत्मामें दुःखका अनुभव करना नहीं हो सकता तो अवस्थाओंके भेद होनेसे अवस्थाओंसे अभिन्न अवस्थावालेका भेद मानना चाहिये। भेद माननेसे परिणामी मानना पड़ेगा और परिणामी माननेपर न आत्मामें आत्मभाव रह सकता है, न नित्यभाव। इसलिये योगाचार्य तथा सांख्याचार्य आत्माका संसार-दशामें और मुक्ति-अवस्थामें एक ही रूप स्वीकार करते हैं।

आत्मा वृत्ति-ज्ञानसे विलक्षण स्वयंप्रकाश ज्ञान-स्वरूप है। जो वेदान्ती लोग (उपनिषदों तथा व्यास भगवान् के तात्पर्यको भली प्रकार न समझकर) चिदानन्दमय होना, आत्माकी मुक्ति मानते हैं उनका मत ठीक नहीं है। क्योंकि आनन्द सुखरूप ही है और सुख सर्वदा ज्ञेय (जानने योग्य) रूपसे ही भान होता है और ज्ञेयता बिना ज्ञानके नहीं हो सकती, तो ज्ञान ज्ञेय दो पदार्थोंको माननेसे (उनके माने हुए) अद्वैतवादकी हानि होगी। मुक्ति-प्राप्त आत्माको सुखरूप मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान, ज्ञेय एक नहीं हो सकते। अद्वैतवादी लोग कर्मात्मा और परमात्माके भेदसे दो प्रकारका आत्मा मानते हैं, तो जिस प्रकारसे कर्मात्माको सुख-दुःखका भोग होता है उसी रूपसे यदि कर्मात्माके तुल्य परमात्माको सुख-दुःखका भोक्ता माना जाय तो परमात्मा परिणामी और अज्ञानी हो जाय। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीयोपनिषद् २.१) आदि श्रुतियोंसे परमात्मा ज्ञानस्वरूप ही सिद्ध होता है और जहाँ कहीं आनन्द शब्द ब्रह्मके साथ आया है वहाँ उसको ज्ञान-अर्थमें लेना चाहिये और यदि सुखके अर्थमें लिया जाय तो वह अपर-ब्रह्म = शबल-ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) अर्थात् ईश्वरका बोधक होगा न कि पर-ब्रह्म = शुद्धब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म अर्थात् परमात्माका, क्योंकि सुख प्रकृतिके सत्त्व गुणमें है और शुद्ध ब्रह्म परमात्मा प्रकृतिसे परे है। और यदि आत्माको साक्षात् भोग नहीं होता, किन्तु बुद्धिद्वारा आरोपित भोग होता है अर्थात् परमात्मासे प्राप्त भोक्तृत्वको उदासीनरूपसे अधिष्ठाता हुआ स्वीकार करता है। यह माना जाय तो हमारे मतमें (योगोक्त मतमें) प्रवेश होगा। आत्मा आनन्द (सुख) रूप है, यह पहले ही खण्डन कर दिया। और यदि आत्माको अविद्या स्वभाव माना जाय तो स्वयं स्वभावशून्य होनेसे अर्थात् अपनेमें किसी धर्मके न रहनेसे शास्त्रका अधिकारी कौन रहेगा ? क्योंकि सर्वदा मुक्त होनेसे परमात्मा (शास्त्रका अधिकारी) नहीं हो सकता, और न अविद्या स्वभाव होनेसे कर्मात्मा (शास्त्रका) अधिकारी हो सकता है। तो अधिकारी न होनेसे सब शास्त्र व्यर्थ हो जायँगे। यदि जगत् को अविद्यामय माना जाय तो वह अविद्या किसको है ? यह विचार किया जाता है — परमात्माको अविद्या है, यह नहीं कह सकते; क्योंकि वह नित्यमुक्त है और विद्यारूप है अर्थात् चैतन्यरूप है। और न कर्मात्माको अविद्या है क्योंकि वह (अविद्याके) स्वयं स्वभावशून्य होनेसे-शशविषाण (खरगोसके सींग) के तुल्य होनेसे अर्थात् कल्पनामात्र होनेसे अविद्याके साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है ? यदि यह कहा जाय कि विचारमें न आना ही अविद्याका अविद्यापन है अर्थात् जो सूर्यकिरणोंके स्पर्शसे ही नीहार (बर्फका कुहर) के तुल्य नष्ट हो जाय वह 'अविद्या' है, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जो वस्तु कुछ काम करती है उसे अवश्य किसीसे भिन्न अथवा अभिन्न कहनी चाहिये। और अविद्याका संसाररूपी कार्यका करना अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। उस कार्यके करनेपर भी अनिर्वचनीय अविद्याको माननेसे कोई भी पदार्थ निर्वचनीय न रहेगा तो ब्रह्म भी निर्वचनीय न ठहरेगा अर्थात् सत्य ज्ञानादिरूपसे उसका निरूपण न हो सकेगा। इससे चैतन्यरूप अधिष्ठातृताके सिवा पुरुषका अन्यरूप सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् वृत्तिज्ञानसे विलक्षण स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा है।

आत्मत्वादि जातियोंसे भिन्न मुक्तात्मा अधिष्ठान चैतन्यरूप है — जो नैयायिक आदि (गौतम मुनि और कणाद मुनिके अभिप्रायको न जानकर) बुद्धिके योगसे आत्माको चेतन मानते हैं और बुद्धिको भी मनके संयोगसे उत्पन्न मानते हैं; जैसे कि इच्छा, ज्ञान-प्रयत्नादि जीवात्माके गुण व्यवहारदशामें अर्थात् संसारावस्थामें आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। उन्हीं गुणोंसे आत्मा स्वयं ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता कहा जाता है और मोक्षदशामें तो मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेसे मिथ्याज्ञानमूलक राग-द्वेषादि सब गुणोंकी भी निवृत्ति हो जाती है तो आत्माके विशेष ९ गुण अर्थात् ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख, द्वेष, धर्म, अधर्म, संस्कार — इन सबका अत्यन्त नाश हो जाता है; फिर आत्मा अपने स्वरूपमात्रमें स्थित होता है। यह उनका पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्षदशामें नित्यत्व, व्यापकत्व आदि गुण तो आकाशादिकोंके भी रहते हैं, इससे उनसे विलक्षण आत्माका चैतन्यरूप अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। आत्मत्व जातिका सम्बन्ध ही आकाशादिकोंसे विलक्षणता है, यह नहीं कह सकते। क्योंकि आत्मत्व-जातिका योग तो संसारी जीवोंमें भी है (मुक्तात्माको

संसारियोंसे विलक्षण होना चाहिये) इससे आत्मत्वादि जातियोंसे भिन्नता मुक्तात्माकी अवश्य माननी चाहिये; और वह भिन्नता अधिष्ठानचैतन्यरुप माननेसे ही घट सकती है अन्यथा नहीं।

आत्मा 'अहम्' प्रतीतिका विषय नहीं, किंतु केवल चिद्रूप अधिष्ठाता है — जो मीमांसक लोग (जैमिनि मुनिके सिद्धान्तको ठीक-ठीक न समझते हुए) आत्माको कर्म-कर्तारूप मानते हैं, उनका पक्ष भी ठीक नहीं है। उनकी प्रतिज्ञा है कि 'अहम्' (मैं) प्रतीति (ज्ञान) से ग्रहणके योग्य आत्मा है, 'अहम्' प्रतीतिमें आत्माको (आश्रयता सम्बन्धसे) कर्तृत्व और (विषयता-सम्बन्धसे) कर्मत्व है। पर यह उनका मन्तव्य अयुक्त है। क्योंकि प्रमातृत्वरुप कर्तृत्व और प्रमेयत्वरुप कर्मत्वका विरोध है (प्रमाता जाननेवाला, प्रमेय जाननेयोग्य) अर्थात् जाननेवाला और जाननेयोग्य होना ऐसे विरुद्ध धर्मोंका एक कालमें, एक पदार्थमें समावेश नहीं हो सकता। जो विरुद्ध धर्मोंके अधिष्ठान हैं, वे एक नहीं; जैसे — भाव और अभाव। कर्तृत्व, कर्मत्व भी परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। यह कहना कि कर्तृत्व और कर्मत्वका विरोध नहीं, किंतु कर्तृत्व और करणत्वका है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि विरोधी धर्मोंका अध्यारोप दोनों स्थानोंमें तुल्य होनेसे केवल कर्तृत्व और करणत्वका ही विरोध है, कर्तृत्व-कर्मत्वका नहीं, यह कौन कह सकता है ? (अर्थात् कोई नहीं कह सकता) इससे आत्माको अहं प्रतीतिका विषय न मानकर, केवल चिद्रूप अधिष्ठाता ही मानना चाहिये।

आत्मा अव्यापक शरीर-तुल्य परिमाणवाला और परिणामी नहीं है — जो द्रव्यबोध पर्यायभेदसे अर्थात् नामान्तर रखकर आत्माको अव्यापक शरीर-तुल्य परिमाणवाला और परिणामी मानते हैं, उनका पक्ष तो उठकर ही मरा हुआ है अर्थात् बिलकुल ही निकम्मा है; क्योंकि परिणामी माननेसे चेतन कहाँ रहा वह तो जड़रुप हो गया। (जो परिणामी है वह अचेतन है यह व्याप्ति है) जड़ माननेपर आत्मामें क्या आत्मभाव रहा इससे अधिष्ठातृतारुप चैतन्य ही आत्मा है।

आत्मामें साक्षात् कर्तृत्व धर्म नहीं है — कोई कर्तारूप ही आत्माको मानते हैं। जैसे — घटादि विषयोंके समीप होनेपर, जो ज्ञानरुप क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रियाका विषय संवेदन अर्थात् विषयोंका प्रकाशरुपी फल है। उस फलमें फलका स्वरुप प्रकाश-रुपसे भासित होता है और विषय ग्राह्यरुपसे तथा आत्मा ग्राहकरुपसे; क्योंकि 'घटमहं जानामि' 'घटको मैं जानता हूँ' इस आकारसे वह फल उत्पन्न होता है। क्रियाका कारण कर्ता ही है, इससे कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्माका ही रुप है। यह पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं। (क्योंकि इन विकल्पोंका उत्तर नहीं बन सकता) यह बताओ कि संवित्तिरुप फलोंका कर्ता आत्मा एक कालमें ही होता है अथवा क्रममें ? एक किसी कालमें सबोंका कर्ता मानो तो अन्य क्षणोंमें कर्ता नहीं रहेगा (तो आत्माको कर्ता मानना ठीक नहीं) और क्रमसे कर्ता होना भी एकरुप आत्माका नहीं घट सकता; क्योंकि यदि उसे एक रुपसे ही कर्ता माना जाय तो वह सर्वदा (व्यापक होनेसे) पास तो है ही, सब फल भी एकरुप होने चाहिये। और यदि अनेकरुपसे कर्ता माना जाय तो परिणामी होनेसे चिद्रूप नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माको चैतन्यरुप माननेवालोंको आत्मामें साक्षात् कर्तृत्व धर्म नहीं मानना चाहिये, किंतु कूटस्थ, नित्य, चिद्रूप आत्माका कर्ता होना जैसा हमने प्रतिपादन किया है, वह ही ठीक है।

जो ऐसा मानते हैं कि विषयोंके ज्ञान अथवा प्रकाश द्वारा आत्मामें ग्राहकता-शक्ति प्रकट हो जाती है, उनका पक्ष भी उक्त विकल्पोंसे खण्डित जानना चाहिये।

आत्मा विमर्शरुपसे चेतन नहीं है। कोई विमर्शरुपसे आत्माको चेतन मानते हैं, वे कहते हैं कि बिना विमर्श (विचार) के आत्माको चेतनरुप नहीं बतला सकते। चैतन्यरुप जगत् से भिन्न है; पर, विचारके सिवा अन्यथा उसकी स्थिति नहीं हो सकती (अर्थात् विचाररुप ही है) यह पक्ष भी अयुक्त है; क्योंकि विचारका नाम 'विमर्श' है। वह बिना अस्मिता (द्वितीय पादके ६ सूत्रोक्त) के नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा (अन्तःकरण) में पैदा होनेवाला विमर्श 'अहमेवंभूतः' 'मैं ऐसा हूँ' इस आकारसे जाना जाता है। और इस प्रतीतिमें अहं शब्दसे भिन्न आत्म-रुपी अर्थका प्रकाश होनेसे विकल्पस्वरुपता अर्थात् यथार्थज्ञानसे भिन्नता है। स्वभावसिद्ध निश्चयात्मक ज्ञान बुद्धिका धर्म है, चेतनका नहीं; क्योंकि कूटस्थ नित्य होनेसे चैतन्य सदा एकरुप रहता है। चितिको नित्य होनेसे ही अहंकारमें अन्तर्भाव

नहीं कर सकते। इससे आत्माको विचाररूप सिद्ध करनेवालेने बुद्धिको ही आत्मा भ्रान्तिसे समझ लिया है। प्रकाशरूप आत्माके स्वरूपको नहीं समझा।

सब दर्शनोंमें आत्माका अधिष्ठातृतारूप ही और वृत्तियोंके सदृश रूपोंको छोड़कर स्वरूपमें स्थित होना ही चिति-शक्तिका कैवल्य सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार सब दर्शनोंमें ही अधिष्ठातृताको छोड़कर आत्माका अन्य रुप नहीं बन सकता। जड़से भिन्न चैतन्यरूपता ही 'अधिष्ठातृता' है। जो चित्तरुपसे अधिष्ठान करता है, वह ही (बुद्धिको) भोग्य बनाता है। और जो चेतनसे अधिष्ठित है वह सब कामोंके योग्य होता है। इस प्रकार आत्माको नित्य माननेसे प्रकृतिके व्यापारकी निवृत्ति होनेपर जो आत्माका मोक्ष हमने वर्णन किया है उसे छोड़कर अन्य मतोंकी कोई गति नहीं। इससे यह युक्ति-युक्त कहा है कि वृत्तियोंके सदृश रूपोंको (जो कि प्रतिबिम्बित होते रहते हैं) छोड़कर अपने स्वरुपमें स्थित होना चितिशक्तिका कैवल्य (मुक्ति) है।

नोट — यहाँ यह न समझना चाहिये कि वृत्तिकारने अन्य दर्शनोंका खण्डन किया है, किंतु 'अन्य शास्त्रोंमें ऐसी ही मुक्ति बन सकती है' यह सिद्ध कर कैवल्य (मुक्ति) के स्वरुपका निरुपण किया है।

उपसंहार

मुक्त्यर्हचित्तं परलोकमेयज्ञसिद्धये धर्मघनः समाधिः।
द्वयी च मुक्तिः प्रतिपादितास्मिन् पादे प्रसङ्गाद् अपि चान्यद् उक्तम्॥

चतुर्थ पाद में कैवल्यभागीय चित्त, परलोक, मेय और ज्ञ-सम्बन्धी सिद्धियाँ, धर्ममेघसमाधि तथा दो प्रकारकी मुक्तिका स्वरुप प्रतिपादित हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रसङ्गतः अन्य (प्रकृत्यापूरादि) विषय भी कहे गये हैं

उक्त प्रकारसे (इस पादमें) अन्य सिद्धियोंसे भिन्न सब सिद्धियोंकी मूल समाधि-सिद्धिको कहकर अन्य जातिमें परिणामरूप सिद्धिकी प्रकृतिकी पूर्णता कारण है, "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥४.२॥" {शरीर एवं इन्द्रियों का भिन्न जाति में परिवर्तन प्रकृति (उपादान कारण) के आपूरण से संभव होता है।} यह सिद्ध कर; धर्माधर्मके प्रतिबन्धकको हटाने मात्रमें शक्ति है; यह दिखाकर सिद्धिजन्य पाँचों चित्तोंका अस्मितामात्रसे होना बतलाकर — (निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥४.४॥) {जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, समाधिसे उत्पन्न जो पाँच प्रकारके सिद्ध निर्माण चित्त हैं, उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है वही वासनारहित है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति और वासनाएँ नहीं होतीं। इस कारण क्लेश नष्ट होनेसे योगीका पुण्य-पापसे सम्बन्ध नहीं होता। दूसरों (चार-जन्म, ओषधि, मन्त्र और तपसे उत्पन्न होनेवाले सिद्ध निर्माण-चित्तों) की तो कर्म और वासनाएँ विद्यमान रहतीं हैं।}

एक समयमें भोगनिवृत्तिके लिये बहुत-से चित्तों और शरीरोंकी अस्मितामात्रसे उत्पत्ति बतलानेवाले शब्दोंके प्रामाणिक होनेमें जो संदेह उत्पन्न होते हैं उनको दिखलाकर सूत्र ४ की प्रसङ्गानुसार व्याख्या कर, पाँच प्रकारकी सिद्धियोंसे उत्पन्न हुए निर्माण चित्तोंमेंसे समाधिजन्य चित्तको अपवर्गका भागी बतलाकर, योगीके कर्मोंकी, लौकिक कर्मोंसे विचित्रताको सिद्ध कर, कर्मजफलानुकूल वासनाओं (संस्कारों) के प्रकट होनेको समर्थनकर, कार्य-कारणकी एकता सिद्ध करनेसे व्यवधान (बीच) युक्त वासनाओंकी समीपताको सिद्धकर, वासनाओंके अनन्त होनेपर भी, हेतु-फलादिद्वारा उनका नाश बताकर, भूतादि कालोंमें घटादि धर्मोंकी स्थितिको उपपादन कर, विज्ञानवादियोंकी शङ्काओंको निवृत्तकर, चित्तद्वारा पुरुषको ज्ञाता माननेसे सब व्यवहारोंकी सिद्धिको निरुपणकर, पुरुषके होनेमें प्रमाण दिखाकर, मुक्तिके निर्णयके लिये दस सूत्रोंसे, क्रमसे उपयोगी अर्थोंको कहकर, अन्य शास्त्रोंमें भी 'ऐसी ही मुक्ति बन सकती है' यह सिद्धकर, मुक्तिके स्वरुपका निर्णय किया। इस प्रकार योगसूत्रव्याख्यामें कैवल्य नामवाले चौथे पादकी व्याख्या समाप्त हुई।

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम्।

साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यन्तं भयमूचिरे ॥२.२८॥ (पञ्चदशी)

गौड़पादाचार्य ने यह भी कहा है कि सगुण ब्रह्म का ध्यान करने वाले योगी निर्विकल्प समाधि में (ज्ञातृज्ञेयादिविभागशून्य समाधिमें) अत्यन्त भयभीत होते हैं। यही हाल अद्वैत का है।

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शस्सर्वयोगिभिः ।

योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥२.२९॥ (पञ्चदशी)

उनके शोध प्रबंध में कहा गया है कि सगुण योगियों के लिए यह अस्पर्श-योग (अछूत योग) नामवाली समाधि अत्यंत कठिन है। जैसे उजाड़ जंगलों में बच्चे भयभीत होते हैं, वैसे ही निर्विकल्प समाधि में योगी भयभीत होते हैं, भले ही कोई वास्तविक भय न हो।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।७.२९।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

जरा (वृद्धावस्था) और मरण (मृत्यु) से मोक्ष पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको भी जान जाते हैं।

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम्।

यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥१.११॥ (मैत्रेय्युपनिषद्)

मनुष्यों का चित्त जितना बाह्य विषय-भोगों में आसक्त रहता है, उतना यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाए, तो फिर बन्धनों से कौन मुक्त न हो जाए ? (अर्थात् सभी मुक्त हो जाएँ) ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।८.२८।। (गीता)

योगी इसको (शुक्ल और कृष्णमार्गके रहस्यको) जानकर वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है और आदिस्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

निदानं तापानामुदितमथ तापाश्च कथिताः

सहाङ्गैरष्टाभिर्विहितमिह योगद्वयमपि॥

कृतो मुक्तेरध्वा गुणपुरुषभेदः स्फुटतरो

विविक्तं कैवल्यं परिगलिततापा चितिरसौ॥

इस प्रकार योग दर्शनमें सर्वप्रथम क्लेशादि तापोंके कारण को बतलाया गया तथा तापोंका भी प्रतिपादन किया गया, अष्टाङ्गों के साथ दो प्रकारके (सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात) योग का उपपादन किया गया। मुक्ति दिलाने का मार्ग, जो प्रकृति-पुरुषका भेदज्ञान है, वह अत्यन्त स्पष्ट रूपसे कहा गया। जिसके समस्त औपाधिक ताप दूर हो गये हैं, ऐसी चितिशक्ति का विशुद्ध कैवल्य बतलाया गया।

पातञ्जलं महत्सूत्रं व्यासभाष्यकरं तथा।

वाचस्पतेस्तथान्येषां वाक्यञ्चालम्ब्य तत्त्वतः ॥

भाषायां योगसूत्राणां निबन्धोऽयं कृतो मया।

अहं तु करणं चास्मिन् कारणं गुर्वनुग्रहः ॥

॥ समाप्तम् इदं पातञ्जल-योग-सूत्रम् ॥

|| श्री पातञ्जल-योग-सूत्राणि ||

|| महर्षि पतञ्जलि प्रणीतं योगदर्शनम् ||

|| समाधि-पादः ||

अथ योगानुशासनम् ॥१॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥५॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥६॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१२॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥१४॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥१७॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम् ॥२५॥

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥२६॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥२९॥

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां

भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥३५॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥३६॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥३८॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

परमाणु परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु

तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥४१॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥४८॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥४९॥

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

॥इति पतञ्जलि- विरचिते योग- सूत्रे प्रथमः समाधि- पादः ॥

|| साधन-पादः ||

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥३॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥५॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥६॥

सुखानुशयी रागः ॥७॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥८॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥९॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१०॥

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥११॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च

दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं

भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥२१॥

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥२६॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥२७॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः ॥२८॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२९॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥३३॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका

मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥३६॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासम्बोधः ॥३९॥

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥४०॥

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन- योग्यत्वानि च ॥४१॥

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥४२॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ॥४३॥

स्वाध्यायाद् इष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥४४॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

स्थिरसुखम् आसनम् ॥४६॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥४७॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥४८॥

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४९॥

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः

परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥५१॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥५३॥

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५५॥

॥इति पतञ्जलि- विरचिते योग-सूत्रे द्वितीयः साधन- पादः ॥

|| विभूति-पादः ||

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥१॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥५॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥६॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥७॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥८॥

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ

निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥१०॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥१२॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥१५॥

परिणामत्रयसंयमाद् अतीतानागतज्ञानम् ॥१६॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्

सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥१७॥

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥१९॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

कायरुपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे

चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥२१॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म

तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२३॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥२४॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥२५॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥२६॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥२७॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥२८॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥२९॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥३०॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३१॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥३२॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥३३॥

हृदये चित्तसंवित् ॥३४॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः

परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३५॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥३६॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥३७॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च

चित्तस्य परशरीरावेशः ॥३८॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३९॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥४०॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥४१॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल-

समापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥४२॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥४३॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥४४॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥४५॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥४६॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥४७॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं

सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५०॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥५१॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥५३॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयम् अक्रमं

चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५४॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥५५॥

॥इति पतञ्जलि- विरचिते योग- सूत्रे तृतीयो विभूति- पादः ॥

|| कैवल्य-पादः ||

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥१॥

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥२॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु

ततः क्षेत्रिकवत् ॥३॥

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥४॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥६॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥८॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य

स्मृतिसंस्कारयोरेकरुपत्वात् ॥९॥

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥११॥

अतीतानागतं स्वरुपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥१२॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥१३॥

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥१४॥

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥१६॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥१७॥

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥१८॥

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥१९॥

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥२०॥

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥२१॥

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥२२॥

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥२३॥

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥२४॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥२५॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥२६॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥२८॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा

विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥२९॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥३०॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥३१॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥३३॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं

स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥३४॥

॥इति पतञ्जलि-विरचिते योग-सूत्रे चतुर्थः कैवल्य-पादः ॥

॥इति श्री पातञ्जल-योग-सूत्राणि ॥

योग दर्शन की रुपरेखा —

महर्षि पतञ्जलि प्रणीत योग दर्शन चार पादों में विभक्त है; समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद।

समाधिपाद —

प्रथमपाद में समाधि का निरुपण होने के कारण यह समाधिपाद कहलाता है। इसमें योग का उद्देश्य और निर्देश, वृत्तियों का लक्षण, योग के उपाय और समाधि के भेद वर्णित हैं।

चित्त की वृत्तियों को नियंत्रित करना योग है। प्रचलित भाषा में चित्त का अर्थ मन है। जैसे झील के स्तब्ध पानी में पत्थर फैंकने पर असंख्य वृत्ताकार लहरें पैदा होती हैं और हम उसमें अपनी आकृति नहीं देख पाते, ऐसे मन के समुद्र में विषयों के कंकर पड़ने पर, यह राग-द्वेष आदि जनित वृत्तियों से विचलित रहता है, इसलिये हम आत्मा के स्वरुप को नहीं देख पाते।

योग का सारा विधान चित्त की वृत्तियों को थामना है। क्लिष्ट, अक्लिष्ट स्वरुप वाली पांच वृत्तियाँ कही गई हैं — प्रमाण, विपर्यय (मिथ्याज्ञान), विकल्प (शब्दजंजाल), निद्रा और स्मृति।

इन पर नियंत्रण पाने के कई उपाय बतलाए गये हैं। उनमें प्रमुख हैं — अभ्यास और वैराग्य, ईश्वर प्रणिधान, प्राणायाम, अभिमत (इच्छित) पदार्थ पर ध्यान।

समाधिपाद में चित्तकी एकाग्रता से प्राप्त होने वाली सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि एवं चित्त निरोध पर प्राप्त होने वाली असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि का वर्णन है। यही योग की चरम सीमा कैवल्य है, मोक्ष है।

साधनपाद —

साधनपाद में समाधि प्राप्ति के साधनों का वर्णन है जिनसे मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति क्या है? जीव क्यों मुक्त होना चाहता है? किससे मुक्त होना चाहता है? उत्तर है — दुःख से। अर्थात् दुःखों से छुटकारा पाना ही मुक्ति है। इसीलिये सांख्यदर्शन का प्रथम सूत्र है —अथ त्रिविधदुःखात् अत्यन्त निवृत्तिः अत्यन्त पुरुषार्थः। अर्थात् तीनों प्रकार के दुःखों से नितान्त छुटकारा मुक्ति है।

वे दुःख तीन प्रकार के हैं — १.आध्यात्मिक २.आधिदैविक ३.आधिभौतिक। आध्यात्मिक वे हैं जो आपके शरीर व मन से उत्पन्न होते हैं जैसे व्याधि, मानसिक रोग; आधिदैविक अर्थात् प्रकृतिक आपदाएं जैसे भूकंप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि; आधिभौतिक जो अन्य प्राणियों से प्राप्त होते हैं जैसे सांप का काटना या किसी दुष्ट से आघात पहुंचना।

साधनपाद में दुःखों के स्रोत पांच क्लेश कहे गये हैं — अविद्या (मिथ्याज्ञान), अस्मिता (मैं हूँ का भाव), राग (आसक्ति) , द्वेष (घृणा) और अभिनिवेश (जीवनमोह, मृत्युभय)। अविद्या इन चारों की जननी है। अनित्य में नित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुख एवं अनात्मा में आत्मा का भाव रखना अविद्या है। जड़ शरीर और आत्मा में एकात्म-भाव रखना अस्मिता है। सुख में आसक्ति राग है। दुःख की अनुभूति पर होने वाले क्रोध का नाम द्वेष है। जीवन में मोह या मृत्यु से भय अभिनिवेश है। क्लेशों से अभिभूत होकर मनुष्य शुभाशुभ कर्म करता है और कर्मविधान के अनुरुप जन्म-मत्यु के बन्थन में पड़ता है।

साधनपाद में मध्यम स्तर के साधकों के लिए “क्रियायोग” (तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान) का विधान किया गया है तथा सामान्य स्तर के लोगों को योग पथ पर चलने के लिये “अष्टाङ्गयोग” का उपदेश किया गया है। ये हैं — यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

साधनपाद से सुस्पष्ट हो जाता है कि योग की पद्धति सार्वजनीन है। सभी लोगों के लिए भी इसके द्वार खुले हैं।

हत्यारा, छली-कपटी, चोर, लम्पट, लोभी जो दवाईयों एवं खाद्यान्नों में मिलावट से नहीं हिचकिचाता — ऐसे लोग भी अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यम-नियमों के पालन से अपनी आत्मा को पवित्र कर के, ईश्वर प्रणिधान आदि अन्य साधनों के अनुष्ठान से, मोक्ष पथ कर अग्रसर हो सकते हैं।

विभूतिपाद —

विभूतिपाद में, योग साधनों के निष्ठापूर्वक अनुष्ठान के उपरान्त मिलने वाली सिद्धियों अथवा विभूतियों का वर्णन है जैसे अन्यव्यक्ति के मनकी बात जान लेना, सैकड़ों मील दूर बैठे व्यक्ति से विचारोंका आदान- प्रदान करना, अपने पूर्व जन्मों के विषय में जान पाना; समाधि अवस्था में जमीनसे २-३ फुट ऊपर उठना, आकाश में उड़ना इत्यादि।

योग दर्शन में इन सिद्धियों का अभिप्राय साधक को आश्वस्त करना है कि वह सही मार्ग पर है। इन सिद्धियो को, प्रदर्शित करना निषिद्ध है क्योंकि ये योग के लक्ष्यकी प्राप्ति में बाधक हैं।

कैवल्यपाद —

योग का ध्येय है आत्मा को प्रकृति के संयोग से मुक्त कराना। योगानुष्ठान से जब आत्मा प्रकृति से पृथक् हो जाता है और केवल अपने स्वरुप में अवस्थित हो जाता है, तब उसे कैवल्य कहते हैं। कैवल्य अवस्था में आत्मा परमात्मा का साक्षत्कार करता है क्योंकि वह

अन्तर्यामी होने से, आत्मा में नित्य स्थित है। आत्मा की यह स्थिति प्रकृति से वियोग और परमात्मा से संयोग कहलाती है। यही मोक्ष है, मुक्ति है, परमधाम है, निर्वाण है।

कैवल्यपाद में वासना और कर्म का रुप, प्रकृति और चित्त का स्वरुप, आत्माका चित्तसे तादात्म्य, आत्मा और प्रकृति के बन्ध का स्वरुप, आत्माका प्रकृतिसे वियोग तथा आत्माका निज स्वरुपमें अवस्थान का वर्णन किया गया है।

तदनुसार योग का अनुष्ठान करके, जन्म-मृत्यु अर्थात् आवागमन को थाम कर, मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।